ओ३म्

यजुर्वेदभाष्यम्

प्रथमोऽध्यायः

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—स्वराड्बृहती [क], ब्राह्म्युष्णिक् [र]।
स्वरः—मध्यमः [क], ऋषभः [र]॥

प्रभु की प्रेरणा का स्वरूप

॥ ओ३म् ॥ [क] इ॒षे त्वो॒र्जे त्वा॑ वा॒यव॑ स्थ दे॒वो वः॑ सवि॒ता प्रार्प॑यतु॒ श्रेष्ठ॑तमाय॒ कर्म॑ण॒ऽआप्या॑यध्वमघ्न्या॒ऽइन्द्रा॑य भा॒गं [र] प्र॒जाव॑तीरनमी॒वाऽअ॑य॒क्ष्मा मा व॑ स्ते॒नऽई॑शत॒ माघश॑ꣳसो ध्रु॒वाऽअ॒स्मिन् गोप॑तौ स्यात ब॒ह्वीर्यज॑मानस्य प॒शून् पा॑हि॥ १॥

जीव प्रभु से प्रार्थना करता है कि मैं **त्वा**=आपके चरणों में उपस्थित हुआ हूँ, **इषे**=प्रेरणा प्राप्त करने के लिए (इष प्रेरणे, Impel, urge, incite, animate), न केवल प्रेरणा प्राप्त करने के लिए, अपितु **त्वा**=आपके चरणों में आया हूँ **ऊर्जे**=शक्ति और उत्साह के लिए। आप मुझे उत्तम प्रेरणा प्राप्त कराइए, उस प्रेरित लक्ष्य तक पहुँचने के लिए शक्ति दीजिए और शक्ति के साथ उत्साह भी दीजिए कि मैं उस लक्ष्य तक पहुँचने में कभी ढीला न पड़ जाऊँ। 'प्रेरणा, शक्ति व उत्साह'—तीनों से युक्त जीवन ही तो वास्तविक जीवन है। हे प्रभो! मुझे तो आप बस, यही जीवन प्राप्त करने के योग्य कीजिए।

इस उपासक जीव को प्रभु प्रेरणा देना आरम्भ करते हैं और कहते हैं कि—

१. **वायवः स्थ**=(वा गतौ) हे जीवो! तुम गतिशील हो—अकर्मण्यता तुम्हें छू भी नहीं गई। 'आत्मा' शब्द का अर्थ ही सतत गतिशील है। अकर्मण्यता यदि जीर्ण और शीर्ण कर देती है तो क्रियाशीलता विकास व प्रादुर्भाव का कारण बनती है। वस्तुतः क्रियाशीलता ही जीवन है।

२. **सविता देवः वः श्रेष्ठतमाय कर्मणे प्रार्पयतु**=बस, तुम कुछ ऐसी अनुकूलता पैदा करो कि सुप्रेरक विद्वान् तुम्हें श्रेष्ठतम कर्म में प्रेरित करें। (प्रार्थनायां लोट्)।

३. **आप्यायध्वम्**=इस प्रकार तुम दिन प्रतिदिन बढ़ो। बढ़ने का मार्ग यही है कि मनुष्य क्रियाशील हो और फिर वह क्रियाशीलता श्रेष्ठतम कर्मों की ओर झुकाववाली हो।

४. **अघ्न्याः** (अ+हन्+य)=तुम हिंसा न करनेवालों में उत्तम बनना। तुम्हारा प्रत्येक कार्य ऐसा हो जो निर्माण व हित के उद्देश्य से चल रहा हो, किसी भी कार्य में ध्वंस व विनाश न हो।

५. **इन्द्राय भागम्**=तुम परमैश्वर्यशाली मुझ प्रभु के लिए सेवनीय अंशों को ही अपनानेवाले बनो (भज सेवायाम्)। तुममें प्रकृति का आधिक्य न होकर प्रभु का आधिक्य हो, अर्थात् प्रेय के पीछे न मरकर तुम श्रेय को अपनानेवाले बनो। अपने जीवनों को ऐसा

बनाकर तुम–

६. प्रजावती:=उत्तम सन्तानवाले बनो। तुम्हारे जीवन में यह एक महती असफलता होगी यदि तुम्हारी सन्तान ठीक न हुई।

७. अनमीवा:=इस जीवनयात्रा में ऐसे ढंग से चलना कि तुम रोगाक्रान्त न हो जाओ। तुम्हारा यह शरीररूप रथ टूट न जाए। ऐसा हुआ तो यात्रा कैसे पूरी होगी? पाँचवें संकेत 'इन्द्राय भागम्' का ध्यान करोगे तो नीरोग रहोगे ही। प्रभुभक्त अस्वस्थ नहीं होता, प्रकृति में आसक्त ही रोगी हुआ करता है।

८. अयक्ष्मा:=तुम्हें यक्ष्मा न घेर ले, तुम इस राजरोग के चक्कर में न आ जाओ। प्रकृति का ठीक प्रयोग करने से रोग आएँगे ही क्यों?

९. मा वः स्तेनः ईशत=स्तेन तुम्हारा ईश न बन जाए। बिना श्रम के धन-प्राप्ति की इच्छा ही 'स्तेन' है। यह Horse races, lotteries, crossword puzzles, तथा विविध प्रकार के सट्टों (speculations) के रूप में प्रकट होती है। इससे सदा दूर रहना। यह मनुष्य को कामचोर बनाकर आरामपसन्द बना देती है और इस प्रकार बीमारियों व व्यसनों की शिकार कर देती है।

१०. मा अघशंसः (ईशत)=पाप को अच्छे रूप में चित्रित करनेवाला कोई व्यक्ति तुम्हारे विचारों पर शासन करनेवाला न बन जाए।

११. ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात=इस गोपति में तुम ध्रुव होकर रहना। 'गावः इन्द्रियाणि'–गौवें इन्द्रियाँ हैं, इनका रक्षक प्रभु है। गौ का अर्थ वेदवाणी करें तो उन वेदवाणियों का पति प्रभु है ही। इस प्रभु में तुम ध्रुव होकर रहना। जो प्रभु से दूर हुआ वही इस द्वन्द्वात्मक जगत् (दुनिया) की चक्की के दो पाटों में आकर पिस गया। प्रभु ही विश्वचक्र के केन्द्र की कीली हैं–उन्हीं में तू स्थिरता से निवास करना।

१२. बह्वी:=बहुत होना। संसार में आत्मकेन्द्रित-सा होकर स्वार्थरत व्यक्ति न बन जाना। अधिक-से-अधिक प्राणियों से अपना तादात्म्य स्थापित करने का प्रयत्न करना, औरों से 'अयुत' होना। **'एकोऽहं बहु स्याम'** मैं एक से बहुत हो जाऊँ, इस बात का ध्यान रखना, औरों के दु:ख को भी अनुभव करना।

१३. और अन्त में **यजमानस्य**=इस सृष्टि-यज्ञ को चलानेवाले मुझ प्रभु के **पशून्** (कामः पशुः, क्रोधः पशुः)=काम-क्रोधादि पशुओं को **पाहि**=बड़ा सुरक्षित रखना। ग्लुकोज़ को बड़ी सावधानी से रखने की आवश्यकता नहीं होती, परन्तु आर्सनिक को तो अलमारी में बन्द रखना आवश्यक है ही। चिड़ियाघर में मृग को बहुत बन्धन में रखना आवश्यक नहीं होता, परन्तु शेर को दृढ़ पिंजरे में रखना कितना आवश्यक है? इसी प्रकार इन काम-क्रोध को भी रखना तो है, परन्तु पूर्ण नियमन में। प्रार्थना भी तो 'नियंसत्' है, न कि 'नष्ट कर दे' यह है। काम संसार का मूल है–प्रजननात्मक काम पवित्र है, आवश्यक है, परन्तु यही अनियन्त्रित होकर शक्ति का विनाश करके क्षयकारक हो जाता है। क्रोध भी आवश्यक है, परन्तु स्वयं अनियन्त्रित होने पर अनर्थों का मूल हो जाता है।

जीव ने प्रभु से 'प्रेरणा' देने की याचना की थी–प्रभु ने इन तेरह वाक्यों में जीव को प्रेरणा दी है। ये तेरह वाक्य ही **'सत्याकारास्त्रयोदश'**–सत्य के तेरह स्वरूप हैं। इस प्रेरणा को अपनानेवाला जीव उन्नति-पथ पर आगे बढ़ता हुआ एक दिन 'परमेष्ठी'–परम

स्थान में स्थित होता है। यह प्रजा की रक्षा करने से प्रजापति कहलता है। इस प्रकार यह इस मन्त्र का ऋषि '**परमेष्ठी प्रजापति:**' होता है।

भावार्थ—जीव प्रभु से प्रेरणा माँगता है। प्रभु उसे तेरह वाक्यों में बड़ी सुन्दर प्रेरणा देते हैं। इस प्रेरणा को अपनाने से ही जीव '**परमेष्ठी**' बन सकता है।

ऋषि:—परमेष्ठी प्रजापति:। **देवता**—यज्ञ:। **छन्द:**—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वर:**—धैवत:॥

यज्ञिय-जीवन

वसो॑: प॒वित्र॑मसि॒ द्यौर॑सि पृथि॒व्य॑सि मात॒रिश्व॑नो घ॒र्मो॒ऽसि वि॒श्वधा॑ऽअसि। प॒र॒मेण॒ धाम्ना॒ दृꣳह॑स्व॒ मा ह्वा॒र्मा ते॑ य॒ज्ञप॑तिर्ह्वार्षीत्॥ २॥

शतपथ (१। ७। १। ९, १४) में '**यज्ञो वै वसु:**' इन शब्दों में वसु का अर्थ यज्ञ किया है। 'वासयति' इस व्युत्पत्ति से यह ठीक भी है, क्योंकि यज्ञ ही बसाता है। यज्ञ के अभाव में नाश-ही-नाश है। '**नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्य: कुरुसत्तम**' यज्ञहीन का न यह लोक है, न परलोक। इस यज्ञ के द्वारा मनुष्य के जीवन का सुन्दर निर्माण होता है, अत: प्रभु प्रेरणा देते हुए कहते हैं—

१. **वसो:**=यज्ञ से **पवित्रम् असि**=तू पवित्र-ही-पवित्र बना है। हमारे जीवनों में जितना-जितना यज्ञ का अंश आता जाता है, उतना-उतना ही हमारा जीवन पवित्र बनता जाता है। यज्ञ परार्थ व परोपकार है। वह पुण्य के लिए होता है। अयज्ञ स्वार्थ है, परापकार है, परपीड़न है और पाप का कारण है। २. इस यज्ञ से ही तू **द्यौ: असि**=प्रकाशमय जीवनवाला है। तेरा मस्तिष्करूप द्युलोक ज्ञान-सूर्य से चमकता है। यज्ञ में प्रथम स्थान देवपूजा का है। यह देवपूजा तेरे मस्तिष्क को अधिक और अधिक ज्योतिर्मय करती चलती है। ३. **पृथिवी असि**='प्रथ विस्तारे', इस यज्ञ से तू अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाला है। यज्ञमय जीवन विलासमय जीवन का प्रतिरूप=उलटा है, अत: यह शक्तियों के विस्तार का कारण बनता है। ४. **मातरिश्वन: घर्म: असि**=इस यज्ञमय जीवन के कारण ही तू वायु=प्राण की उष्णतावाला है, अर्थात् तेरी प्राणशक्ति की वृद्धि हुई है। ५. इस बढ़ी हुई शक्ति से ही तू **विश्वधा: असि**=सबका धारण करनेवाला बनता है। तेरी शक्ति सदा औरों के रक्षण का कारण बनती है। ६. यह औरों की रक्षा करनेवाली शक्ति ही तो उत्कृष्ट शक्ति है। निकृष्ट तेज औरों का नाश करता है, मध्यम तेज अपने ही धारण में विनियुक्त होता है, परन्तु उत्कृष्ट तेज सभी के धारण का कारण बनता है। इस **परमेण धाम्ना**=उत्कृष्ट तेज से **दृंहस्व**=तू अपने को दृढ़ बना और सबका धारण करता हुआ 'विश्वधा' बन।

७. **मा ह्वा:**=अपने जीवन में तू कभी कुटिल गतिवाला मत बन, सदा सरल मार्ग को अपनानेवाला बन। यज्ञ के साथ कुटिलता का सम्बन्ध है ही नहीं। ८. **ते**=तेरे विषय में **यज्ञपति:**=इस सृष्टि-यज्ञ का रक्षक प्रभु **मा ह्वार्षीत्**=कठोर नीति का अवलम्बन न करे। प्रभु ने कहा और तूने किया। प्रभु के इस 'साम'—शान्त उपदेश को तू सदा सुन। तेरे विषय में प्रभु को 'दान, भेद व दण्ड' के प्रयोग की आवश्यकता ही न हो। आर्जव=सरलता ही ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग है। इस मार्ग का अनुसरण करके ही यह 'परमेष्ठी'=परम स्थान में स्थित होगा और यज्ञ की भावना को अपनानेवाला 'प्रजापति' बनेगा।

भावार्थ—यज्ञ से मैं पवित्र, ज्योतिर्मय, विकसित शक्तियोंवाला, प्राणशक्ति से पूर्ण और लोकहित करनेवाला बनूँ। अपने को शक्तियों से दृढ़ बनाऊँ, कुटिल नीति को अपनाकर

कभी दण्ड का भागी न बनूँ।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—भुरिग्जगती। **स्वरः**—निषादः॥

पवित्रता

वसोः॑ प॒वित्र॑मसि श॒तधा॑रं॒ वसोः॑ प॒वित्र॑मसि स॒हस्र॑धारम्।
दे॒वस्त्वा॑ सवि॒ता पु॑नातु॒ वसोः॑ प॒वित्रे॑ण श॒तधा॑रेण सु॒प्वा॒ काम॑धुक्षः॥ ३॥

१. वही प्रेरणा देते हुए प्रभु कहते हैं—**वसोः**=यज्ञ से **पवित्रम् असि**=तूने अपने को पवित्र बनाया है। यहाँ 'शतधारम्' शब्द क्रियाविशेषण के रूप में है। 'शतं धारा यस्मिन्', (धारा इति वाङ्नाम)। जिस यज्ञ द्वारा पवित्रीकरण की क्रिया में शतशः वेदवाणियों का उच्चारण किया गया है। सैकड़ों ही क्या **सहस्रधारम्**=सहस्रों वेदवाणियों का उच्चारण हुआ है। ऐसी **वसोः**=यज्ञ की प्रक्रिया से **पवित्रम् असि**=तूने अपने को पवित्र बनाया है। वैदिक संस्कृति में मनुष्य यज्ञमय जीवन बिताता है। इस यज्ञमय जीवन की प्रेरणा उसे शतशः, सहस्रशः उच्चारण की गई वेदवाणियों से प्राप्त होती है, जिन्हें वह अपने इस यज्ञिय-जीवन में समय-समय पर प्रयुक्त करता है।

२. **(क) सविता देवः**=सबको प्रेरणा देनेवाला, दिव्य गुणों का पुञ्ज वह प्रभु **त्वा**=तुझे **पुनातु**=पवित्र करे। जो मनुष्य प्रातः-सायं प्रभु-चरणों में उपस्थित होता है उसका जीवन पवित्र बनता ही है। उपासना के समान पवित्र करनेवाला अन्य कुछ नहीं है। **(ख) सविता देवः**=उदय होकर सबको कर्मों में प्रेरित करनेवाला प्रकाशमय सूर्य **त्वा पुनातु**=तुझे पवित्र करे। रोगकृमियों के संहार द्वारा सूर्य पवित्रता और नीरोगता प्रदान करता है।

३. **वसोः**=यज्ञ से **पवित्रेण**=अपने को पवित्र बनानेवाले **शतधारेण**=शतशः वेदवाणियों का उच्चारण करनेवाले पुरुष के साथ, अर्थात् उसके सम्पर्क में आने के द्वारा **सुप्वा**=तू अपने को उत्तम प्रकार से (सु) पवित्र करनेवाला (पू) हुआ है। मनुष्य यज्ञशील, ज्ञानी पुरुषों के सम्पर्क से उन-जैसा ही बनता हुआ अपने उत्थान को सिद्ध करता है। सत्सङ्ग—**'पापान्निवारयति योजयते हिताय'** पाप से हटाकर हित में जोड़ता है। वेद में कहा है—हे प्रभो! ऐसी कृपा कीजिए कि—**'यथा नः सर्व इज्जनः संगत्या सुमना असत्'** हमारे सभी जन सत्सङ्ग से उत्तम मनोंवाले हों। एवं, पवित्र बनने के तीन उपाय हैं—१. यज्ञमय जीवन बिताना, यज्ञों में लगे रहना, २. प्रभु की उपासना करना, ३. यज्ञशील ज्ञानियों के सम्पर्क में रहना। इन उपायों को क्रिया में लानेवाले व्यक्ति से प्रभु कहते हैं कि वस्तुतः **काम्**=उस अवर्णनीय आनन्द देनेवाली वेदवाणी को तो तूने ही **अधुक्षः**=दूहा है। इसका दोहन करने के कारण यह अपने जीवन में ऊँचा उठता हुआ 'परमेष्ठी' बना है। यह यज्ञशील बनकर सभी का पालन करने से 'प्रजापति' है।

भावार्थ—हम यज्ञ, उपासना व सत्सङ्ग से अपने जीवनों को पवित्र बनाएँ।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

वेदवाणी

सा वि॒श्वायुः॒ सा वि॒श्वक॑र्मा॒ सा वि॒श्वधा॑याः।
इन्द्र॑स्य त्वा भा॒गꣳसोमे॒नात॑नच्मि॒ विष्णो॑ ह॒व्यꣳर॑क्ष॥ ४॥

१. जिस वेदवाणी के दोहन का पिछले मन्त्र में वर्णन है **सा**=वह वेदवाणी

विश्वायुः='विश्वम् आयुः यस्याः'=सम्पूर्ण जीवन का वर्णन करनेवाली है, जीवन के किसी भी पहलू को उसमें छोड़ा नहीं गया। ब्राह्मण आदि वर्ण और ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों के कर्त्तव्यों का इस वाणी में उल्लेख है, पति-पत्नी, भाई-भाई, भाई-बहिन, पिता-पुत्र, आचार्य-शिष्य, ग्राहक-दुकानदार, राजा-प्रजा सभी के कर्त्तव्यों का वर्णन वहाँ मिलता है। २. **सा विश्वकर्मा**=यह वेदवाणी सभी के कर्मों का वर्णन करती है। अधिकारों पर यह बल नहीं देती। वस्तुतः जीवन को सुन्दर बनाने के लिए आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्य पर बल दे और अधिकार की चर्चा न करे। इसी को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहते हैं कि—'**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**' (गीता)। तुम्हारा अधिकार कर्म का ही है, फल का नहीं।

३. इस कर्तव्यभावना को जागरित करने के लिए **सा विश्वधायाः**=यह वेदवाणी सम्पूर्ण ज्ञान-दुग्ध को पिलानेवाली है (विश्व+धेट् पाने)। इसमें सब सत्यविद्याओं का ज्ञान दिया गया है। यह व्यापक ज्ञान देनेवाली है। वेदवाणी का नाम 'गौ' भी है, ज्ञान इसका दूध है। अपने ज्ञान-दुग्ध से यह सबका पालन व धारण करती है। वेदवाणी का वर्णन करके प्रभु कहते हैं कि **इन्द्रस्य भागम् त्वा**=परमैश्वर्यशाली मुझ प्रभु के ही अंश=छोटेरूप तुझे **सोमेन**=सोम के द्वारा **आतनच्मि**=(तंच्) टंच बना देता हूँ—बिल्कुल ठीक-ठाक कर देता हूँ। आहार का अन्तिम सार ही यह वीर्य है। इसके द्वारा प्रभु हमारे शरीर को स्वस्थ बनाते हैं। सोमरक्षा से हमारे मनों में ईर्ष्या-द्वेष उत्पन्न नहीं होता। सोमरूप ज्ञानाग्नि के ईंधन को पाकर हमारा मस्तिष्क दीप्त हो उठता है। एवं, सोम से मनुष्य का शरीर, मन व मस्तिष्क सभी कुछ ठीक-ठीक हो जाता है।

४. उल्लिखित त्रिविध उन्नति करनेवाला यह त्रिविक्रम 'विष्णु' बनता है। इस विष्णु से प्रभु कहते हैं कि **हे विष्णो**=व्यापक उन्नति करनेवाले जीव! **हव्यम् रक्ष**=तू अपने जीवन में सदा यज्ञ की रक्षा करना, अपने जीवन से कभी यज्ञ को विलुप्त न होने देना। '**पुरुषो वाव यज्ञः**' पुरुष है ही यज्ञरूप। यज्ञ से ही तू उस यज्ञरूप प्रभु की उपासना कर पाएगा।

भावार्थ—वेदवाणी सम्पूर्ण जीवन का विचार करती है, कर्मों पर बल देती है, ज्ञान-दुग्ध का पान कराती है। सोम से हम पूर्ण स्वस्थ बनकर प्रभु के ही छोटे रूप बनते हैं। व्यापक उन्नति करते हुए हम हव्य की रक्षा करें, अर्थात् हमारा जीवन सदा यज्ञमय हो।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्चीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

अनृत से सत्य की ओर

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि॥५॥

१. गत मन्त्र में वेदवाणी का वर्णन करते हुए कहा था कि वह हमारे सभी कर्त्तव्यों का प्रतिपादन करती है। प्रस्तुत मन्त्र में उन सब कर्त्तव्यों के अन्दर ओत-प्रोत एक सूत्र का वर्णन करते हैं कि हमारे सब कर्म '**सत्य**' पर आश्रित हों, इसलिए प्रार्थना करते हैं—**अग्ने**=हे संसार के सञ्चालक प्रभो! **व्रतपते**=सब व्रतों के रक्षक प्रभो! **व्रतम् चरिष्यामि**=मैं भी व्रत धारण करूँगा। **तत् शकेयम्**=उस व्रत का मैं पालन कर सकूँ, **तत् मे राध्यताम्**=मेरा वह व्रत सिद्ध हो। **अहम्**=मैं **अनृतात्**=अनृत को छोड़कर **इदम्**=इस **सत्यम्** [सत्सु तायते]=सज्जनों में विस्तृत होनेवाले सत्य को **उपैमि**=समीपता से प्राप्त होता हूँ।

२. व्रत का स्वरूप संक्षेप में यह है कि—'अनृत को छोड़कर सत्य को प्राप्त होना'।

३. प्रभु व्रतपति हैं। हमें इस सत्य-व्रत का पालन करना है। प्रभु का उपासन हमें शक्ति देगा और हम अपने व्रत का पालन कर सकेंगे। सत्य से उत्तरोत्तर तेज बढ़ता है तो अनृत से उत्तरोत्तर तेज क्षीण होता जाता है।

भावार्थ—प्रत्येक मनुष्य को सत्य का व्रत लेना चाहिए। उसका पालन करने से ही वह देवत्व को प्राप्त करता है और प्रभु-प्राप्ति का अधिकारी होता है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—आर्चीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

आदेशक कौन?

कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्वा युनक्ति। कर्मणे वां वेषाय वाम्॥ ६॥

गत मन्त्र में सत्य के व्रत लेने का उल्लेख है। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि प्रभु ही सदा सत्य बोलने की प्रेरणा दे रहे हैं। १. **कः**=वे सुखस्वरूप प्रभु **त्वा**=तुझे **युनक्ति**=सत्य बोलने के लिए प्रेरित करते हैं, क्योंकि सत्य ही मानव जीवन को स्वर्गमय बनाता है। **सः**=वे सदा से प्रसिद्ध प्रभु **त्वा**=तुझे **युनक्ति**=इस सत्य के लिए प्रेरित कर रहे हैं। २. **कस्मै**=सुख-प्राप्ति के लिए वे प्रभु **त्वा**=तुझे **युनक्ति**=कर्मों में व्यापृत करते हैं, **तस्मै**=उस उत्कृष्ट लोक की प्राप्ति के लिए वे **त्वा**=तुझे **युनक्ति**=सत्य में प्रेरित करते हैं। सत्य से 'प्रेय व श्रेय' दोनों की ही साधना होती है। वैशेषिक दर्शन के शब्दों में सत्य ही 'अभ्युदय व निःश्रेयस' को सिद्ध करता है, अतः सत्य ही धर्म है।

३. **वाम्**=हे पति व पत्नी! आप दोनों को वे प्रभु **कर्मणे**=कर्म के लिए प्रेरित कर रहे हैं। निरन्तर कर्म में लगे रहना ही 'सत्य' है, आलस्य व अकर्मण्यता 'असत्य' है। आत्मा का अर्थ 'अत सातत्यगमने'=निरन्तर गमन है। क्रिया ही आत्मा का अध्यात्म व स्वभाव है। क्रिया गई और आत्मत्व नष्ट हुआ।

४. **वेषाय**=(विष्लृ व्याप्तौ) व्याप्ति के लिए, व्यापक बनने के लिए, उदार मनोवृत्ति को धारण करने के लिए वे प्रभु **वाम्**=आपको प्रेरणा देते हैं। संकुचित मनोवृत्ति में असत्य का समावेश हो जाता है, विशालता में ही पवित्रता व सत्य की स्थिति है।

एवं, मन्त्र के पूर्वार्द्ध में कहा है कि (क) सुखस्वरूप, सदा से प्रसिद्ध, स्वयम्भू, सत्यस्वरूप परमात्मा ही सत्य ही प्रेरणा दे रहे हैं तथा (ख) वे प्रभु सत्य की प्रेरणा इस लोक को सुखमय बनाने तथा परलोक को सिद्ध करने के लिए दे रहे हैं। मन्त्र के उत्तरार्द्ध में कहा है कि इस सत्य की प्रतिष्ठा के लिए क्रियाशीलता व उदारता को अपनाना आवश्यक है।

भावार्थ—(क) प्रभु सत्य की प्रेरणा दे रहे हैं (ख) इसी से दोनों लोकों का कल्याण सिद्ध होता है, (ग) सत्य की प्रतिष्ठा के लिए हम क्रियाशील व उदार बनें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—प्राजापत्याजगती। **स्वरः**—निषादः॥

रक्षो-दहन

प्रत्युष्टꣳरक्षः प्रत्युष्टाऽअरातयो निष्टप्तꣳरक्षो निष्टप्ताऽअरातयः। उर्वन्तरिक्षमन्वेमि॥ ७॥

उपासक प्रभु से प्रार्थना करता है—१. **रक्षः**=मेरे न चाहते हुए भी मुझमें घुस आनेवाली ये राक्षस वृत्तियाँ **प्रत्युष्टम्**=(प्रति+उष् दाहे) एक-एक करके दग्ध हो जाएँ। 'रक्षः=र+क्ष'=अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाली भावनाएँ मुझमें उत्पन्न ही न हों। मैं अपने आनन्द के लिए औरों की हानि करनेवाला न होऊँ। २. **अरातयः**=(रा दाने) न देने की वृत्तियाँ **प्रत्युष्टाः**=एक-एक करके दग्ध हो जाएँ। मैं सब-कुछ अपने भोग-विलास में ही व्यय न कर दूँ। मैं सदा त्यागपूर्वक भोगवाला बनूँ, यज्ञशेष का सेवन करनेवाला होऊँ, लोकहित के लिए देकर बचे हुए को खानेवाला बनूँ। ३. **रक्षः**=ये राक्षसी वृत्तियाँ **निष्टप्तम्**=निश्चय से तप के द्वारा दूर कर दी जाएँ और इसी प्रकार **अरातयः**=न देने की वृत्तियाँ **निष्टप्ता**=निश्चय से तप के द्वारा दग्ध हो जाएँ। तपस्या से जीवन की भूमि यज्ञ व दान के लिए अत्यन्त उर्वरा हो जाती है। भोग ही समाप्त हो गया तो औरों के क्षय का प्रश्न ही नहीं रह जाता। ४. यह तपोमय जीवनवाला व्यक्ति निश्चय करता है कि **उरु**=विशाल **अन्तरिक्षम्**=हृदयाकाश को **अन्वेमि**=प्राप्त होता हूँ। मेरी कोई भी क्रिया संकुचित हृदयता से नहीं होती। वस्तुतः विशालता ही हृदय को पवित्र रखती है और उस हृदय में भोगवाद की अपवित्र भावनाएँ जन्म नहीं ले-पातीं। हृदय की विशालता से हम देव बनते हैं न कि राक्षस।

भावार्थ—मेरी राक्षसी वृत्तियाँ दूर हों। मेरी अदान की वृत्तियाँ नष्ट हों। तपोमय जीवन के द्वारा मैं इन्हें दग्ध कर दूँ और विशाल-हृदय बनूँ।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदतिजगती। **स्वरः**—निषादः॥

हिंसकों का संहार

धूर॑सि॒ धूर्व॒ धूर्व॑न्तं॒ धूर्व॒ तं यो॒ऽस्मान् धूर्व॑ति॒ तं धू॒र्व॒ यं व॒यं धूर्वा॑मः।
दे॒वाना॑मसि॒ वह्नि॑तम॒ꣳ सस्नि॑तमं॒ पप्रि॑तमं॒ जुष्ट॑तमं देव॒हूत॑मम्॥ ८॥

१. **धूः असि**=हे प्रभो! वस्तुतः आप ही सब राक्षसी वृत्तियों का संहार करनेवाले हैं, **धूर्वन्तम्**=हमारा संहार करनेवाली इन राक्षसी वृत्तियों का आप **धूर्व**=हिंसन करें। **यः**=जो अदान की वृत्ति भोगासक्त करके **अस्मान्**=हमें **धूर्वति**=हिंसित करती है **तम् धूर्व**=उसे आप समाप्त कर दीजिए। **यम्**=जिस राक्षसी व अदान की वृत्ति को **वयं धूर्वामः**=हम हिंसित करने का प्रयत्न करते हैं **तम् धूर्व**=उसे आप हिंसित कीजिए, ये वृत्तियाँ तो हमारी हिंसा पर तुली हुई हैं। आपकी कृपा से ही हम इन्हें पराजित करके अपनी रक्षा कर सकेंगे। भोगवाद की समाप्ति ही दिव्य जीवन का आरम्भ करती है।

२. हे प्रभो! आप ही **देवानाम्**=सब दिव्य गुणों के **वह्नितमम्**=सर्वाधिक प्राप्त करानेवाले हैं। अन्य मन्त्र में स्पष्ट कहा है—'**यं यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्**'=प्रभु-कृपा से ही मनुष्य उग्र, उदात्त (noble), ज्ञानी, तत्त्वद्रष्टा=(ऋषि) व सुबुद्धि बना करता है। ३. **सस्नितमम्**=(ष्णा शौचे) आप हमारे जीवनों को अधिक-से-अधिक शुद्ध व पवित्र बनाते हैं। आपके चरणों में उपस्थित होने पर सब मलिनताएँ दग्ध हो जाती हैं। आपके उपासना-जल में हमारा जीवन धुल-सा जाता है। ४. **पप्रितमम्**=(प्रा पूरणे), हमारे जीवन-क्षेत्र को शुद्ध करके आप उसे दिव्य गुणों के बीजों से भर देते हैं। यहाँ दिव्य गुणों के अंकुर उपजते हैं और हमारा क्षेत्र दैवीसम्पत्तिरूपी शस्य से परिपूर्ण हो जाता है।

५. **जुष्टतमम्**=(जुषी प्रीतिसेवनयोः) हे प्रभो! आप समझदार व्यक्तियों से प्रीतिपूर्वक सेवन किये जाते हो। **देवहूतमम्**=देवताओं से अधिक-से-अधिक पुकारे जाते हो। देव तो

देव बन ही इसीलिए पाते हैं कि वे आपका उपासन करते हैं। आपके उपासन से उनके अन्दर घुसे हुए 'काम' का दहन हो जाता है। इस कामरूप वृत्र (ज्ञान पर पर्दा डालनेवाले) के विनाश से उन उपासकों का हृदय ज्ञान के प्रकाश से जगमगा उठता है और इस ज्ञान-दीपन से वे देव (देवो दीपनात्) बन जाते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी कृपा से हम नाशक वृत्तियों का ध्वंस करके अपने को सुरक्षित कर सकें। आपकी कृपा से ही हमारा हृदय दैवी वृत्तियोंवाला बन पाएगा। आपका उपासन ही हमें पवित्र करेगा।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

पाँच का नियमन

अह्रुतमसि हविर्धानं दृꣳहस्व मा ह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत्।
विष्णुस्त्वा क्रमतामुरु वातायापहतꣳरक्षो यच्छन्तां पञ्च॥ ९॥

प्रभु उपासक को प्रेरणा देते हैं कि—१. **अह्रुतम् असि**=तू कुटिलता से रहित है। **'सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम्'**—सब प्रकार की कुटिलता मृत्यु का मार्ग है, सरलता ही ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग है। यहाँ **'अह्रुतम्'** आदि पदों में नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग इसलिए है कि ये बातें 'पति-पत्नी' दोनों के लिए हैं। केवल पति के लिए निर्देश होने पर पुल्लिङ्ग का प्रयोग मिलता है, केवल पत्नी के लिए निर्देश होने पर स्त्रीलिङ्ग होगा, सामान्य निर्देश में नपुंसक दिखेगा। २. **हविर्धानम्**=तू हवि का आधान करनेवाला है, यज्ञशील है। यज्ञ करके बचे हुए हव्य पदार्थों का ही तू सेवन करनेवाला है! तू सदा यज्ञशेष='अमृत' का ही ग्रहण करता है। ३. **दृंहस्व**=इस अमृत-सेवन से तू दृढ़ बन। पवित्र भोजन तुझे दृढ़ शरीरवाला ही नहीं, दृढ़ मनवाला भी बनाएगा। ४. **मा ह्वाः**=तू कभी कुटिलता न कर। ५. **ते**=तेरे विषय में **यज्ञपतिः**=सब यज्ञों का रक्षक वह प्रभु **मा ह्वार्षीत्**=प्रेरणारूप सरल उपाय को छोड़कर अन्य उपाय का अवलम्बन न करे। 'साम' को असफलता में ही 'दान-भेद-दण्ड' आवश्यक हुआ करते हैं।

६. **विष्णुः**=तेरे हृदय में स्थित सर्वव्यापक प्रभु **त्वा क्रमताम्**=तुझे सञ्चालित करे। वस्तुतः हृद्देश में स्थित हुआ-हुआ प्रभु ही सबका सञ्चालन कर रहा है। ७. **उरु वाताय**=(वा गतिगन्धनयोः) तेरा जीवन विशाल क्रियाशीलता के द्वारा सब बुराइयों के गन्धन=हिंसन के लिए हो। ८. **रक्षः अपहतम्** =सब राक्षसी वृत्तियाँ नष्ट कर दी जाएँ, और ९. **पञ्च**=पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँचों कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँचों प्राण **यच्छन्ताम्**=वश में किये जाएँ। वस्तुतः प्राण-निरोध इन्द्रियों के मलों का दहन करके उन्हें पवित्र व दीप्त करनेवाला होता है। इस प्रकार प्राण-निरोध इन्द्रिय-निरोध का साधन हो जाता है।

भावार्थ—हम कुटिलता से दूर हों। इसके लिए प्राण-निरोध द्वारा इन्द्रिय-नैर्मल्य को सिद्ध करें और हमारा जीवन अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा से सञ्चालित हो।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—भुरिग्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

प्रभु की प्रेरणा में

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
अग्नये जुष्टं गृह्णाम्यग्नीषोमाभ्यां जुष्टं गृह्णामि॥ १०॥

यह संसार सर्वज्ञ एवं दयालु प्रभु का बनाया हुआ है, अतः न तो यहाँ अपूर्णता है और न ही कोई वस्तु हमारे लिए दुःखद है, परन्तु जब अल्पज्ञता व व्यसनासक्ति से हम वस्तुओं का ठीक प्रयोग नहीं करते तब ये वस्तुएँ हमारे लिए दुःखद हो जाती हैं, इसलिए प्रभु-भक्त निश्चय करता है कि १. मैं **त्वा**=तुझे-संसार के प्रत्येक पदार्थ को **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ, **सवितुः देवस्य**=उस उत्पादक देव की **प्रसवे**=अनुज्ञा में, अर्थात् मैं प्रत्येक पदार्थ का सेवन प्रभु के निर्देशानुसार करता हूँ। प्रभु का आदेश है-'न अतियोग करना, न अयोग करना, प्रत्येक वस्तु का 'यथायोग' करना। गीता के शब्दों में 'युक्त आहार-विहारवाला होना'-सदा मध्यमार्ग में चलना। २. **अश्विनोः**=प्राणापान की **बाहुभ्याम्**=बाहुओं से मैं प्रत्येक पदार्थ का ग्रहण करता हूँ, अर्थात् अपने पुरुषार्थ से कमाकर ही मैं किसी वस्तु को लेने की इच्छा करता हूँ। ३. **पूष्णोः हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों से मैं किसी वस्तु का ग्रहण करता हूँ, अर्थात् किसी भी वस्तु को स्वाद व सौन्दर्य के लिए न लेकर मैं पोषण के दृष्टिकोण से ही उसे ग्रहण करता हूँ। ४. **अग्नये**=अग्नि के लिए **जुष्टम्**=सेवन की गई वस्तु को **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ, अर्थात् प्रत्येक वस्तु को यज्ञ में विनियुक्त करके मैं यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाला बनता हूँ। यज्ञशेष ही 'अमृत' है।

५. **अग्निषोमाभ्यां जुष्टं गृह्णामि**=मैं उस वस्तु को ग्रहण करता हूँ जो अग्नि व सोम के लिए सेवित होती है। हमारे जीवनों में दो मुख्य तत्त्व हैं-अग्नि और सोम। आयुर्वेद में इसी कारण से सब भोजन 'आग्नेय' और 'सौम्य'-इन्हीं दो भागों में बाँटे गये हैं। आग्नेय अंश शक्ति देता है तो सौम्य अंश शान्ति व दीर्घ जीवन का कारण बनता है। मैं उस भोजन का ग्रहण करता हूँ जिसमें ये दोनों ही तत्त्व उचित मात्रा में विद्यमान होते हैं। ऐसे भोजन के ग्रहण से मेरा जीवन रसमय बन जाता है।

भावार्थ-प्रभु की आज्ञा में, प्रयत्नपूर्वक, पोषण के दृष्टिकोण से, मैं पदार्थों का ग्रहण करता हूँ, यज्ञशिष्ट को ही ग्रहण करता हूँ और शान्ति व शक्ति के लिए ही ग्रहण करता हूँ।

ऋषिः-परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**-अग्निः। **छन्दः**-स्वराड्जगती। **स्वरः**-निषादः॥

प्राणिमात्र के लिए

भूताय त्वा नारातये स्वरभिविख्येषं दृंहन्तां दुर्याः पृथिव्यामुर्वन्तरिक्षमन्वेमि पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयाम्यदित्याऽउपस्थेऽग्ने हव्यंरक्ष॥ ११॥

पिछले मन्त्र की भावना 'यज्ञशिष्ट' को ग्रहण करता हूँ' का ही विस्तार इस मन्त्र में है-१. मैं **त्वा**=तुझे **भूताय**=प्राणिमात्र के हित के लिए ग्रहण करता हूँ, **अरातये न**=न देने के लिए नहीं। मैं किसी भी वस्तु को यज्ञार्थ ही ग्रहण करता हूँ, भोगार्थ नहीं। **'त्यक्तेन भुञ्जीथाः'**-त्यागभाव से भोगो-इस आदेश को मैं भूलता नहीं। २. इस यज्ञमय जीवन का ही परिणाम है कि मैं **स्वः**=स्वर्ग को ही **अभिविख्येषम्**=अपने चारों ओर देखता हूँ। यज्ञ से उभयलोक का कल्याण होता ही है। एक-दूसरे को खिलाने से देवताओं का पोषण अति सुन्दरता से होता है, इसके विपरीत सदा अपने ही मुख में आहुति देनेवाले असुर भूखे ही रहते हैं। ३. इस यज्ञ से **दुर्याः**=हमारे घर **दृंहन्ताम्**=दृढ़ बनें। यज्ञ भोगवृत्ति का प्रतिबन्धक है। भोगवृत्ति के प्रतिबन्ध से ही हमारे शरीर, मन व मस्तिष्क दृढ़ बनते हैं। घर की दृढ़ता भी यज्ञिय वृत्ति पर ही निर्भर है। इस वृत्ति के न रहने पर परस्पर लड़ाई-झगड़े होकर घर

समाप्त ही हो जाता है। ४. अतः **पृथिव्याम्**=इस शरीररूप पृथिवी में—उस शरीर में जिसमें प्रत्येक शक्ति का विस्तार (प्रथ विस्तारे) किया गया है, मैं उस **अन्तरिक्षम्**=विशाल हृदयान्तरिक्ष को **अनुएमि**=इस यज्ञवृत्ति की अनुकूलता से प्राप्त होता हूँ। यज्ञिय वृत्ति मेरे हृदय को विशाल बनाती है। ५. इस यज्ञिय वृत्तिवाले पुरुष को प्रभु प्रेरणा देते हैं कि **त्वा**=तुझे **पृथिव्याः**=पृथिवी की **नाभौ**=नाभि में **सादयामि**=बिठाता हूँ। **'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः'**—यह यज्ञ ही भुवन की नाभि है, केन्द्र है, अतः प्रभु ने हमें यज्ञ में स्थापित किया है। गीता के शब्दों में प्रभु ने हमें 'यज्ञसहित उत्पन्न करके कहा है कि इस यज्ञ से तुम फूलो-फलो। यह यज्ञ तुम्हारी सब इष्ट कामनाओं को पूर्ण करनेवाला हो। ६. प्रभु कहते हैं कि मैं तुझे **अदित्याः**=अदिति की **उपस्थे**=गोद में स्थापित करता हूँ। यह अदिति 'अदीना-देवमाता' है। प्रभु मुझे (जीव को) इसके लिए अर्पित करते हैं। इसकी गोद में मैं अदीन व दिव्य गुण-सम्पन्न बनता हूँ। जहाँ मैं हीन भावनावाला नहीं होता वहाँ दैवी सम्पत्ति को प्राप्त करके घमण्डी भी नहीं हो जाता। मुझमें 'अदीनता व नातिमानिता (विनीतता)' का सुन्दर समन्वय होता है। ७. अन्त में प्रभु कहते हैं कि **अग्ने**=हे आगे बढ़नेवाले जीव! **हव्यम् रक्ष**=तू अपने जीवन में सदा हव्य की रक्षा करना। तेरा जीवन यज्ञिय हो। **'पुरुषो वाव यज्ञः'**—यह तेरा आदर्श वाक्य हो और तू यज्ञों से कभी पृथक् न हो।

भावार्थ—यज्ञों के द्वारा हम जीवन को स्वर्गमय बना लें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—अप्सवितारौ। **छन्दः**—भुरिगत्यष्टिः। **स्वरः**—गान्धारः॥

'वायु, सूर्य, जल' द्वारा पवित्रीकरण

पवित्रे॑ स्थो वैष्ण॒व्यौ॑ सवि॒तुर्वः॑ प्रस॒व उत्पु॑ना॒म्यच्छि॑द्रेण प॒वित्रे॑ण॒ सूर्य॑स्य र॒श्मिभिः॑। देवी॑रापोऽअग्रेगुवोऽअग्रेपु॒वोऽग्र॑ऽइ॒ममद्य य॒ज्ञं न॑यता॒ग्रे॑ य॒ज्ञप॑तिꣳ सु॒धातुं॑ य॒ज्ञप॑तिं देव॒युव॑म्॥ १२॥

प्रभु पति-पत्नी को सम्बोधित करके कहते हैं कि १. **पवित्रे स्थः**=तुम दोनों पवित्र जीवनवाले हो। २. **वैष्णव्यौ**=विष्णु के उपासकों में तुम उत्तम हो। विष्णु के उपासक वे हैं जो ['विष्लृ व्याप्तौ'] व्यापक=उदार मनोवृत्तिवाले बने हैं। अथवा जिन्होंने **'त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुः (गोपा अदाभ्यः)'**—इस मन्त्र के अनुसार तीन पग रक्खे हैं, अतः विष्णु कहलाये हैं। तीन पग 'शारीरिक, मानस व बौद्धिक' उन्नति के ही प्रतीक हैं। एवं, तुम दोनों ने शरीर को स्वस्थ बनाया है, मन को निर्मल और बुद्धि को बड़ा उज्ज्वल व तीव्र बनाने का प्रयत्न किया है। ३. **सवितुः**=उस उत्पादक प्रभु के **प्रसवे**=इस उत्पन्न जगत् में **वः**=तुम सबको **उत्पुनामि**=मैं पवित्र करके उन्नति-पथ पर ले-चलता हूँ।

'किन-किनसे पवित्र करता हूँ'? (क) सबसे पहले तो **अच्छिद्रेण पवित्रेण**=इस छिद्र व अवकाश से रहित वायु से। **'पवित्रं वै वायुः'** (तै० १।२।५।११) के अनुसार वायु पवित्र है। यह अच्छिद्र है, क्योंकि इसने सारे अवकाश को भरा हुआ है। वायु स्थान को रिक्त नहीं रहने देती। यह हमारे रुधिर को आक्सीजन प्राप्त कराके शुद्ध करती है और इस प्रकार स्वास्थ्य की साधक होती है। (ख) **सूर्यस्य रश्मिभिः**=सूर्य की किरणों से मैं तुझे पवित्र करता हूँ। सूर्य की किरणें छाती पर पड़ती हैं और रोग-कृमियों का संहार करती हैं। इस प्रकार ये रोगरूप मलों को दूर करके शरीर को शुद्ध बनाती हैं (ग) इन दोनों से बढ़कर **देवीः आपः**=दिव्य गुणोंवाले जल हैं जोकि **अग्रेगुवः**=निरन्तर समुद्र की ओर आगे

और आगे चलते जाते हैं, **अग्रेपुव:**=सबसे अधिक पवित्र करनेवाले हैं, क्योंकि '**आप: सर्वस्य भेषजी:**'—ये जल रोगमात्र के औषध हैं। हे जलो! आप **अद्य**=आज **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **अग्रे नयत**=हमारे जीवनों में आगे ले-चलो, अर्थात् हमारे जीवनों में यज्ञ की भावना बढ़े। **यज्ञपतिम्**=यज्ञ के पालक—निरन्तर यज्ञ करनेवाले को **अग्रे नयत**=उन्नत करो। यह यज्ञ उसके अभ्युदय व नि:श्रेयस का साधक बने। ये यज्ञ उसे **सुधातुम्**=उत्तम धातुओंवाला बनाएँ। उसके शरीरस्थ सब धातु निर्दोष हों। वस्तुत: इस प्रकार धातुओं की निर्दोषता से ही यह यज्ञ मनुष्य को अज्ञात व ज्ञात सभी रोगों से मुक्त करता है। हे जलो! तुम इस **यज्ञपतिम्**=यज्ञपति को **देवयुवम्**=दिव्य गुणों से संयुक्त करनेवाले होओ।

भावार्थ—वायु, सूर्य व जल हमारे जीवन में पवित्रता का सञ्चार करें। इस पवित्रता के परिणामस्वरूप हममें यज्ञियवृत्ति बढ़े। हम उत्तम रस, रुधिर आदि धातुओंवाले होकर स्वस्थ शरीरवाले और दिव्य गुणों की वृद्धि करके उत्तम मनवाले हों।

ऋषि:—परमेष्ठी प्रजापति:। **देवता**—इन्द्र:[उ], अग्नि:[क], यज्ञ:[र]। **छन्द:**—निचृदुष्णिक्[उ], भुरिगार्चीगायत्री[क] भुरिगुष्णिक्[र]। **स्वर:**—ऋषभ:[उ,र], षड्ज:[क]॥

वृत्रतूर्य में इन्द्र-वरण अथवा शोधन

[उ]युष्मा॑ऽइन्द्रो॑ऽवृणीत वृ॒त्रतू॑र्ये यू॒यमिन्द्र॑मवृणीध्वं वृ॒त्रतू॑र्ये॒ प्रोक्षि॑ता स्थ। [क]अ॒ग्नये॑ त्वा॒ जुष्टं॒ प्रोक्षा॑म्य॒ग्नीषोमा॑भ्यां त्वा॒ जुष्टं॒ प्रोक्षा॑मि। [र]दैव्या॑य॒ कर्म॑णे शुन्धध्वं देवय॒ज्यायै॒ यद्वो॑ऽशु॑द्धाः पराज॒घ्नुरि॒दं व॒स्तच्छु॑न्धामि॥ १३॥

१. इस संसार में जीव का मुख्य उद्देश्य काम आदि शत्रुओं का पराजय है। ये काम आदि शत्रु ज्ञान को आवृत करने के कारण 'वृत्र' हैं। इनके साथ किया जानेवाला संग्राम 'तूर्य' है। इन काम आदि का संहार 'वृत्रतूर्य' है। इस **वृत्रतूर्ये**=काम-संहाररूप यज्ञ के निमित्त **युष्मा:**=तुम्हें **इन्द्र:**=उस प्रभु ने **अवृणीत**=वरा है, चुना है। जिन लोगों की जीवन-स्थिति बहुत ही निकृष्ट थी उन्हें तो प्रभु ने भोगयोनियों में भेज दिया। मध्यम स्थितिवालों को मानव-जीवन अवश्य मिला, परन्तु वे काम आदि से प्रतारित होनेवाले 'इ-तर' जन ही रहे (common man काम से (इ) प्रतारित होनेवाले इतर), परन्तु जिन लोगों ने गत मन्त्र की भावना के अनुसार अपने को पवित्र करने का प्रयत्न किया, उन्हें प्रभु ने उस सात्त्विक श्रेणी में रक्खा है जो काम आदि के पराजय में लगे रहते हैं। २. **यूयम्**=तुम भी **वृत्रतूर्ये**=इस काम-संहाररूप संग्राम में **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अवृणीध्वम्**=वरो। उसके साहाय्य के बिना इन प्रबल शत्रुओं का विनाश न हो सकेगा। कामदेव को तो महादेव ही भस्म करेंगे। '**त्वया स्विद् युजा वयम्**'—तुझ साथी के साथ मिलकर ही हम इन शत्रुओं को पराजित कर पाएँगे। ३. उस प्रभु को वरने पर **प्रोक्षिता: स्थ**=तुम प्रकर्षेण (उक्ष सेचने) सिक्त हो जाते हो। यह जल छिड़कना शुद्धि का प्रतीक है, अत: तुम शुद्ध हो जाते हो। अथवा प्रभु के वरण से तुम शक्ति से भर जाते हो—तुम्हारे अङ्ग-अङ्ग में शक्तिरस का सञ्चार हो जाता है। ४. तुम भी यह निश्चय करो कि **अग्नये जुष्टम्**=अग्नि के लिए सेवित **त्वा**=तुझे **प्रोक्षामि**=अपने में सिक्त करता हूँ, अर्थात् प्रत्येक वस्तु को यज्ञ में विनियुक्त करने के बाद ही मैं यज्ञशिष्ट का अपने लिए प्रयोग करता हूँ और **त्वा**=तुझे, अर्थात् प्रत्येक पदार्थ को **अग्नीषोमाभ्याम्**=अग्नि और सोम के लिए **जुष्टम्**=सेवित को **प्रोक्षामि**=अपने में सिक्त करता हूँ। शक्ति (अग्नि) और शान्ति (सोम) की वृद्धि के लिए ही प्रत्येक पदार्थ

का प्रयोग करता हूँ। भोजन भी मेरे लिए यज्ञ का रूप धारण कर लेता है और उसका लक्ष्य होता है 'शक्ति और शान्ति की प्राप्ति'। ५. प्रभु कहते हैं कि प्रत्येक पदार्थ के प्रयोग में उक्त भावना को रखकर तुम **दैव्याय कर्मणे**=दैव्य कर्मों के लिए—आत्मा के लिए हितकर कर्मों के लिए **शुन्धध्वम्**=अपने को शुद्ध कर डालो जिससे **देवयज्यायै**=उस महान् देव से तुम्हारा यजन=सङ्गतीकरण हो सके। **'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयाः'**—जनक आदि ने ऐसे ही कर्मों से सिद्धि प्राप्त की थी। तुम भी इन दैव्य कार्यों से उस देव के सान्निध्य को प्राप्त कर सकोगे। ६. इन दिव्य कर्मों में लगने के द्वारा तुममें **यत् वः**=जो कुछ **अशुद्धाः**=मालिन्य हैं, दोष हैं, वे **पराजघ्नुः**=सुदूर विनष्ट हों। **'योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये'**—योगी लोग आत्मशुद्धि के लिए सदा कर्म किया करते हैं। ७. इस प्रकार **वः**=तुम्हारे **इदं तत्**=इस प्रसिद्ध शोधन कर्म को **शुन्धामि**=शुद्ध कर डालता हूँ, अर्थात् इस प्रकार यह शोधन की प्रक्रिया ठीक रूप से सम्पन्न हो जाती है।

भावार्थ—प्रभु के साहाय्य से हम काम आदि दोषों के संहार में समर्थ हों। दिव्य कर्मों में लगे रहने के द्वारा अपने जीवन को शुद्ध बनाएँ। जो-जो मलिनता है उसे दूर करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—स्वराड्जगती। **स्वरः**—निषादः॥

अदिति के सम्पर्क में

शर्मास्यवधूतꣳरक्षोऽवधूताऽअरातयोऽदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेत्तु।
अद्रिरसि वानस्पत्यो ग्रावासि पृथुबुध्नः प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्तु॥ १४॥

१. गत मन्त्र के अनुसार सब अशुद्धता को दूर करनेवाला तू **शर्म असि**=आनन्द-ही-आनन्द है, अर्थात् तेरा जीवन सचमुच आनन्दमय बना है। २. **रक्षः**=राक्षसी वृत्तियाँ **अवधूतम्**=तुझसे सुदूर कम्पित हुई हैं, अर्थात् नष्ट हो गई हैं, साथ ही **अरातयः**=न देने की वृत्तियाँ भी **अवधूताः**=कम्पित होकर नष्ट हो गई हैं। मेरे जीवन में न भोग-विलासवाली राक्षसी वृत्तियाँ हैं और न ही अदान की वृत्ति है। भोगमय जीवन ही हमें कृपण बनाता है। ३. **अदित्याः त्वक् असि**=अदिति का तू संस्पर्श (त्वच्=Touch) करनेवाला है। अदीना देवमाता के साथ तेरा सम्पर्क है और **अदितिः**=यह अदीना देवमाता भी **त्वा**=तुझे **प्रतिवेत्तु**=सम्यक्तया जाने। तू अदिति से परिचित हो, अदिति तुझसे। इस प्रकार अदिति से तेरा घनिष्ठ सम्बन्ध हो। प्रभु ने अदिति की गोद में ही तो तुझे बिठाया है (मन्त्र ११)। संक्षेप में तू अदीन, अकृपण, हीनता की भावना से रहित 'बहुलाभिमानः'=आत्म-सम्मान की भावनावाला हो और अपने अन्दर दिव्य गुणों का विकास करनेवाला हो।

४. इन्हीं दिव्य गुणों के विकास के कारण तू **अद्रिः**=न विदारण के योग्य—धर्म-पथ से विचलित न होने योग्य **असि**=है (न दृ), तथा आदरणीय (आ+दृ) बना है। ५. **वानस्पत्यः**=तेरा यह सारा क्षेत्र (अन्नमय आदि कोश) वनस्पति का ही विकार है, अर्थात् तूने वनस्पति भोजन को ही स्वीकार किया है। शाकाहारी होने से ही तुझमें राक्षसी वृत्तियाँ नहीं पनपीं। ६. **ग्रावा असि**=तू (गृ) वेदवाणियों का उच्चारण करनेवाला है (ग्रह् वन् आदन्तादेशः) अथवा ज्ञान-विज्ञानों का ग्रहण करनेवाला है। ७. **पृथुबुध्नः**=तू विशाल मूलवाला है। तूने अपनी उन्नति की नींव व्यापक बनाई है। तू शरीर, मन व मस्तिष्क सभी का ध्यान करके चला है। बस, अन्त में यही कहना है कि **त्वा**=तुझे **अदित्याः त्वक्**=अदिति का सम्पर्क

प्रतिवेत्तु=प्राप्त हो। तू सदा अदीन देवमाता के सम्पर्क में निवास कर।

भावार्थ—अदिति के सम्पर्क में रहने से हमारा जीवन सुन्दर व शिव हो।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—निचृज्जगती [क], याजुषीपंक्तिः [र]। **स्वरः**—निषादः [क], पञ्चमः [र]॥

समाजसेवी का स्वरूप

[क]अ॒ग्नेस्त॒नूर॑सि वा॒चो वि॒सर्ज॑नं दे॒ववी॑तये त्वा गृह्णामि बृ॒हद् ग्रावा॑सि वानस्प॒त्यः सऽइ॒दं दे॒वेभ्यो॑ ह॒विः श॑मीष्व सु॒शमि॒ शमीष्व। [र]हवि॑ष्कृ॒देहि॒ हवि॑ष्कृ॒देहि॑॥ १५॥

अदिति के सम्पर्क में रहकर अपने जीवन को सुन्दर बनानेवाला व्यक्ति अपना ठीक परिपाक करके लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त होता है। इसे प्रभु निम्नरूप से प्रेरणा देते हैं—

१. **अग्नेः**=अग्नि का **तनूः असि**=तू विस्तारक है। तूने अपने जीवन में शरीर को पूर्ण स्वस्थ बनाकर उत्साह से परिपूर्ण किया है। 'अग्नि' उत्साह का प्रतीक है। आलसी को 'अनुष्णकः' कहते हैं। प्रभु का सच्चा स्तोता शारीरिक स्वास्थ्य के कारण अग्नि की भाँति चमकता है। २. **वाचो विसर्जनम्**=तू मेरी इस वेदवाणी का चारों ओर (वि) दान करनेवाला है (सर्जन=दान)। सर्वत्र विचरता हुआ तू इस वेदवाणी का प्रचार करता है। ३. **देववीतये**=दिव्य गुणों के प्रजनन—उत्पन्न करने के लिए मैं **त्वा**=तुझे **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ, अर्थात् जैसे एक राष्ट्रपति भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए मन्त्रियों का ग्रहण करता है, उसी प्रकार प्रभु इस यज्ञमय जीवनवाले व्यक्ति का ग्रहण इसलिए करते हैं कि यह लोक में दिव्य गुणों का प्रचार करनेवाला बने। ४. **बृहद् ग्रावा असि**=तू विशाल हृदयवाला और वेदवाणियों का उच्चारण करनेवाला है (गृ)। उपदेष्टा को सदा विशाल हृदय होना चाहिए। संकुचित हृदयवाला होने पर वह शास्त्रों की व्याख्या भी ठीक नहीं करता, वह तो उनका प्रतारण ही करता है।

५. **वानस्पत्यः**=तू वनस्पति का ही प्रयोग करनेवाला है, मांस पर अपना पालन-पोषण करनेवाला नहीं है। ६. **सः**=वह तू **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **इदं हविः**=इस हविरूप भोजन को ही **शमीष्व**=शान्ति देनेवाला बना, अर्थात् तेरा भोजन यज्ञशेष रूप तो हो ही साथ ही वह भोजन सौम्य हो, जो तेरे स्वभाव को शान्त बनाता हुआ तुझमें दिव्य गुणों की वृद्धि का कारण बने। **सुशमि (हविः)**=इस उत्तम शान्ति देनेवाले सौम्य भोजन को **शमीष्व**=शान्ति देनेवाला बना। तेरा भोजन 'हविः' हविरूप तो हो ही **सुशमि**=उत्तम शान्ति देनेवाला भी हो। ७. **हविष्कृत्**=इस प्रकार अपने जीवन को हवि का रूप देनेवाले! तू **एहि**=मेरे समीप आ। **हविष्कृत्**=हविरूप भोजन करनेवाले जीव! तू **एहि**=मेरे समीप आ। प्रभु का सामीप्य उसे ही प्राप्त होता है जो अपने जीवन को लोकहित के लिए अर्पित कर देता है और इस लोकहित—परार्थ की वृत्ति को सिद्ध करने के लिए भोजन का हविरूप होना आवश्यक है। भोजन की पवित्रता से ही मन की पवित्रता सिद्ध होती है।

भावार्थ—हम यज्ञशिष्ट तथा सौम्य भोजनों के द्वारा अपने में दिव्य गुणों की वृद्धि करें और लोकहित के कार्यों में व्यापृत होते हुए वेदवाणी का प्रसार करें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—वायुः[क], सविता[र]। **छन्दः**—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्[क], विराड्गायत्री[र]।
स्वरः—धैवतः[क], षड्जः[र]॥

प्रभु की प्रेरणा

[क]कुक्कुटोऽसि मधुजिह्व इषमूर्जमावद त्वया वयःसङ्घातःसङ्घातं जेष्म वर्षवृद्धमसि प्रति त्वा वर्षवृद्धं वेत्तु परापूतःरक्षः परापूता अरातयोऽपहतःरक्षो वायुर्वो विविनक्तु [र]देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना॥ १६॥

प्रभु कह रहे हैं—१. **कुक्कुटः**=(कुकं पर-द्रव्यादानं कुटति हिनस्ति) तू पर-द्रव्य के आदान की वृत्ति को अपने से दूर करनेवाला **असि**=है। तुझमें कभी भी पर-द्रव्य को लेने की वृत्ति उत्पन्न नहीं होती। **'परद्रव्येषु लोष्ठवत्'**—पर-द्रव्यों को तू मिट्टी के ढेले के समान देखता है, उनके लिए कभी लालायित नहीं होता। २. **मधुजिह्वः**=तू माधुर्य से पूर्ण जिह्वावाला है। तू ज्ञान का प्रसार बड़ी मधुर व श्लक्ष्ण वाणी से करता है। यह तुझे भूलता नहीं कि **'जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्'**=मेरी वाणी के अग्रभाग व मूल में माधुर्य-ही-माधुर्य है। ३. **इषम्**=प्रेरणा को व **ऊर्जम्**=शक्ति को **आवद**=तू चारों ओर लोगों के जीवनों में फूँकने का ध्यान कर।

श्रोतृवृन्द इस उपदेष्टा से कहता है कि—४. **त्वया वयम्**=आपके साथ हम **संघातं संघातम्** =प्रत्येक वासना-संग्राम को **जेष्म**=जीतनेवाले बनें। आपकी प्रेरणा हममें उस उत्साह व शक्ति को भर दे कि हम इन वासनाओं को कुचलने में समर्थ हों। ५. **वर्षवृद्धं असि**= वर्षों के दृष्टिकोण से भी आप बढ़े हुए हो, अतः क्या ज्ञान और क्या अनुभव—दोनों के दृष्टिकोण से परिपक्व हो। आपके पीछे चलकर हमारा कल्याण ही होगा। **वर्षवृद्धं त्वा**= वर्षवृद्ध आपको **प्रतिवेत्तु**=प्रत्येक व्यक्ति प्राप्त कर सके—जान सके, अर्थात् आप लोगों के लिए अगम्य न हों। ६. आपकी कृपा से—आपके इस ज्ञानोपदेश से **परापूतं रक्षः**=(पूतं=washed away) हमारी सब राक्षसी वृत्तियाँ धुल जाएँ। ये वृत्तियाँ हमसे दूर हो जाएँ। **परापूताः अरातयः**=न देने की वृत्तियाँ सुदूर विनष्ट हो जाएँ। हम जहाँ अपने रमण के लिए औरों का क्षय न करें वहाँ हम सदा दान की वृत्तिवाले बने रहें। **रक्षः अपहतम्**=हमारे राक्षसी भाव तो नष्ट ही हो जाएँ।

७. प्रभु उपदेष्टा व श्रोता दोनों से कहते हैं—**वायुः**=अपनी गतिशीलता से सब बुराइयों का हिंसन करता हुआ यह वायुदेव **वः**=तुम्हें **विविनक्तु**=विवेकयुक्त करे। प्रातः शुद्ध वायु का सेवन तुम्हारे मस्तिष्कों को उन्नत व पवित्र करे। **'मेधामिन्द्रश्च वायुश्च'**—इस मन्त्रभाग में वायु का मेधा-प्रदातृत्व स्पष्ट है। ८. यह **सविता देवः**=सब प्राणदायी तत्त्वों को जन्म देनेवाला (**सू**=जन्म देना) और सब दिव्यताओं का कोशभूत सूर्य जो **हिरण्यपाणिः**= स्वर्ण को हाथ में लिये हुए है—जिसके किरणरूप हाथ हमारे अन्दर स्वर्ण का प्रवेश करते हैं, मानो हमें स्वर्ण (gold) के इञ्जैक्शंज दे रहे हों। यह सूर्य **अच्छिद्रेण पाणिना**=अपने निर्दोष किरणरूप हाथों से **वः प्रतिगृभ्णातु**=तुम्हें ग्रहण करे, अर्थात् प्रातःकाल ही उस सूर्य की किरणें तुम्हें प्राप्त हों जो तुम्हें प्राण, शक्ति और दिव्यता देता है और तुम्हारे लिए अत्यन्त हितकर व रमणीय (हिरण्य) है।

भावार्थ—हम अस्तेय धर्म का पूर्णतया पालन करें, मधुर शब्द ही बोलें। प्रातःकालीन वायु व सूर्य के सम्पर्क में आकर स्वस्थ व विवेकयुक्त बनें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्ब्राह्मीपंक्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

भ्रातृव्य वध, आमाद, क्रव्याद अग्नि का दूरीकरण

धृष्टिर॒स्यपा॑ऽग्नेऽअ॒ग्निमा॒माद॑ञ्जहि॒ निष्क्र॒व्याद॑ꣳसे॒धा दे॑व॒यजं॑ वह। ध्रुवम॑सि पृथि॒वीं दृ॑ꣳह ब्रह्म॒वनि॑ त्वा क्षत्र॒वनि॑ सजात॒वन्युप॑दधामि॒ भ्रातृ॑व्यस्य व॒धाय॑॥ १७॥

१. हे जीव! **धृष्टिः असि**=तू शत्रुओं का धर्षण करनेवाला है, क्योंकि तू शरीर में रोगों और मन में काम-क्रोध आदि को नहीं आने देता, इसीलिए तू अग्नि बना है—आगे बढ़नेवाला—निरन्तर उन्नति करनेवाला। २. हे **अग्ने**=उन्नति-पथ पर आगे बढ़नेवाले जीव! **आमादम्**=कच्ची वस्तु को खानेवाली (आम+अद्) **अग्निम्**=अग्नि को **अपजहि**=अपने से दूर कर। कच्चापन दो प्रकार का होता है—(क) अग्नि पर रोटी आदि को पकाया गया, परन्तु उनका ठीक परिपाक नहीं हुआ। वह कच्ची रह गई रोटी व दाल आदि पेटदर्द व अन्य कष्टों का कारण होंगी ही। (ख) वृक्षों पर फल अभी कच्चे हों और उन्हें खाया जाए तो वे भी कष्टकर होंगे, अतः हमें 'आमाद अग्नि' को अपने से दूर रखना है। हमारी जाठराग्नि को इस प्रकार की अपरिपक्व वस्तुएँ न खानी पड़ें। ३. उन्नति के मार्ग पर चलनेवाले इस जीव से प्रभु कहते हैं कि **क्रव्यादम्**=मांस खानेवाली अग्नि को तो **निःसेध**=निश्चय से निषिद्ध कर दे, अर्थात् मांस आदि खाने का विचार ही नहीं करना। मांसाहारी का स्वभाव निश्चय से क्रूर हो जाता है और वह मानवधर्म को ठीक प्रकार से नहीं पाल सकता।

४. **देवयजं वह**=तू अपने जीवन में देवयज्ञ को धारण करनेवाला हो। आमाद अग्नि को दूर करके हम शरीर को नीरोग बनाते हैं और क्रव्याद अग्नि को दूर करके मानस क्रूरता से ऊपर उठते हैं, इस प्रकार हम देवयज्ञ के योग्य हो जाते हैं। इस देवयज्ञ की मौलिक भावना 'केवल अपने-आप न खाना'—केवलादी न बनना है। ५. **ध्रुवम् असि**=तू अपने नियमों पर दृढ़ है। इस व्यवस्थित जीवन से तू **पृथिवीम्**=अपने शरीर को **दृंह**=दृढ़ बना। शरीर का स्वास्थ्य नियमित जीवन पर ही निर्भर है। विशेषकर 'कालभोजी'=समय पर खानेवाला बीमार नहीं पड़ता। ६. शरीर के स्वस्थ होने पर वह अपने ज्ञान को निरन्तर स्वाध्याय से बढ़ाता है। स्वस्थ शरीर में बल की वृद्धि हो जाती है। स्वस्थ व्यक्ति ज्ञान और बल को बढ़ाकर सदा यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होनेवाला होता है। प्रभु इससे कहते हैं कि **ब्रह्मवनि त्वा**=ज्ञान का सेवन करनेवाले तुझे, **क्षत्रवनि त्वा**=बल का सेवन करनेवाले तुझे और **सजातवनि=(सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा।)** तेरे जन्म के साथ ही उत्पन्न किये गये यज्ञ का सेवन करनेवाले तुझे **उपदधामि**=मैं अपने समीप स्थापित करता हूँ, जिससे **भ्रातृव्यस्य**=(भ्रातुर्व्यन् सपत्ने) शत्रुओं के **वधाय**=वध के लिए तू समर्थ हो सके। जब मनुष्य स्वस्थ होकर ज्ञान और बल का सम्पादन करके यज्ञशील बनता है तब वह प्रभु के उपासन के योग्य बनता है। यह प्रभु का उपासन इसे वह शक्ति प्राप्त कराता है कि यह काम आदि शुत्रओं का शिकार न होकर उनका विध्वंस करनेवाला होता है।

भावार्थ—कच्ची वस्तुओं और मांस आदि को त्यागकर हम रोगों व वासनाओं से ऊपर उठें। नियमित जीवन बिताकर शरीर को दृढ़ बनाएँ। ज्ञान, बल व यज्ञ का सेवन करते हुए प्रभु के उपासक बनें और काम आदि शत्रुओं का वध करनेवाले हों।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—अग्निः। छन्दः—ब्राह्म्युष्णिक्[उ], आर्चीत्रिष्टुप्[क], आर्चीपंक्तिः[र]।
स्वरः—ऋषभः[उ], धैवतः[क], पञ्चमः[र]॥

ज्ञान, बल व यज्ञ

[उ]अग्ने ब्रह्म गृभ्णीष्व धरुणमस्यन्तरिक्षं दृꣳह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय। [क]धर्त्रमसि दिवं दृꣳह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय। [र]विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्यऽउपदधामि चित स्थोर्ध्वचितो भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्॥ १८॥

१. हे **अग्ने**=उन्नतिशील जीव! तू **ब्रह्म**=ज्ञान का **गृभ्णीष्व**=ग्रहण कर। ज्ञान ही सब उन्नतियों का मूल है। २. **धरुणमसि**=तू अत्यन्त धैर्य-वृत्तिवाला है, अतः **अन्तरिक्षम्**=अपने हृदयरूप अन्तरिक्ष को **दृंह**=दृढ़ बना। अन्तःकरण का सर्वमहान् गुण धृति ही है। वस्तुतः यह धृति ही धर्म के अन्य सब अङ्गों की नींव है। इसी दृष्टिकोण से महर्षि मनु ने धृति को धर्म का सर्वप्रथम लक्षण कहा है। ३. धृति के द्वारा अन्तःकरण के स्वास्थ्य का सम्पादन करनेवाले **ब्रह्मवनि त्वा**=तुझ ज्ञान का सेवन करनेवाले को, **क्षत्रवनि**=बल का सेवन करनेवाले तथा **सजातवनि**=सह-उत्पन्न यज्ञ का सेवन करनेवाले तुझे मैं **उपदधामि**=अपने समीप स्थापित करता हूँ, जिससे तू **भ्रातृव्यस्य**=शत्रुओं के **वधाय**=वध के लिए समर्थ हो। ४. **धर्त्रम् असि**=तू धारक शक्ति से युक्त है—तेरी स्मृतिशक्ति प्रबल है (तू retentive memory वाला है), **दिवम् दृंह**=तू अपने मस्तिष्करूप द्युलोक को दृढ़ बना। स्मृतिशक्ति से धारण किया हुआ ज्ञान मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाएगा। **ब्रह्मवनि त्वा**=ज्ञान का सेवन करनेवाले तुझे **उपदधामि**=मैं अपने समीप स्थापित करता हूँ, जिससे तू **भ्रातृव्यस्य**=कामादि शत्रुओं के **वधाय**=वध के लिए समर्थ हो सके। ५. वस्तुतः जब मनुष्य शरीर, हृदय और मस्तिष्क—सभी को दृढ़ बना लेता है तब प्रभु-उपासन के लिए पूर्णरूप से तैयार हो चुकता है। **त्वा**=इस तुझे **विश्वाभ्यः आशाभ्यः**=सब दिशाओं से **उपदधामि**=मैं अपने समीप स्थापित करता हूँ। यह व्यक्ति विविध दिशाओं में भटकनेवाली इन्द्रियवृत्तियों को केन्द्रित करके प्रभु में एकाग्र होने का प्रयत्न करता है। ६. हे जीव! **चितः स्थ**=तुम चेतन हो। चेतन ही नहीं **ऊर्ध्व चितः**=उत्कृष्ट चेतनावाले हो, अतः अपने हित को समझते हुए **भृगूणाम्**=ज्ञान-परिपक्व (उत्कृष्ट ज्ञानवाले) लोगों के तथा **अङ्गिरसाम्**=जिनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग लोच-लचकवाले हैं, उनके **तपसा**=तप से **तप्यध्वम्**=तप करनेवाले बनो। भृगुओं का तप 'स्वाध्याय' है तथा अङ्गिरा लोगों का तप 'ऋत' है। तुम अपने जीवन को नैत्यिक स्वाध्यायवाला बनाओ तथा तुम्हारा प्रत्येक कार्य ठीक समय व स्थान पर हो, जिससे तुम भृगुओं की भाँति ज्ञानी तथा अङ्गिरसों की भाँति स्वास्थ्य की दीप्तिवाले बन सको। ज्ञान की दृष्टि से तुम 'ऋषि' बनो तो बल के दृष्टिकोण से एक 'मल्ल' बनो। यही तो आदर्श पुरुष है। 'ऋषि+मल्ल'—(sage+athlete)।

भावार्थ—यदि हम अपने स्वरूप व उद्देश्य को न भूलें तो स्वाध्याय व नियमित जीवन को अवश्य अपनाएँगे।

सूचना—सत्रहवें और अठारहवें मन्त्र में 'ध्रुव, धरुण व धर्त्र' शब्दों का प्रयोग हुआ है। शरीर के लिए जीवन की क्रियाओं में हमें ध्रुवता से चलना है, मानस स्वास्थ्य के लिए धरुण=धृति-सम्पन्न बनना है तथा मस्तिष्क की उज्ज्वलता के लिए प्राप्त ज्ञान को धारण करनेवाले 'धर्त्र' होना है।

मस्तिष्क के लिए 'ब्रह्मवनि'=ज्ञान का सेवन करनेवाला बनना है तो शरीर के लिए 'क्षत्रवनि' बल का सेवन करनेवाले तथा हृदय के लिए 'सजातवनि' यज्ञ आदि उत्तम भावनाओं का सेवन करनेवाला।

ज्ञान, बल और यज्ञ के होने पर व्यक्ति प्रभु का सच्चा उपासक बनता है और शत्रुओं का संहार कर पाता है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

पर्वती बुद्धि—महादेव की पार्वती

शर्मा॑स्यव॑धूत॒ꣳ रक्षो॒ऽव॑धूता॒ऽअरा॑त॒योऽदि॑त्या॒स्त्वग॑सि॒ प्रति॒ त्वादि॑तिर्वेत्तु। धि॒षणा॑सि पर्व॒ती प्रति॒ त्वादि॑त्या॒स्त्वग्वे॑त्तु दि॒व स्क॑म्भ॒नीर॑सि धि॒षणा॑सि पार्व॒तेयी॒ प्रति॑ त्वा पर्व॒ती वे॑त्तु॥ १९॥

जब व्यक्ति ज्ञान, बल व यज्ञ को अपनाता है तब उसका जीवन सुखमय हो जाता है। १. **शर्म असि**=तू आनन्दमय है, क्योंकि **रक्षः**=तूने राक्षसी भावनाओं को **अवधूतम्**=कम्पित करके अपने से दूर किया है, **अवधूताःअरातयः**=न देने की भावना को दूर भागा दिया है। तू **अदित्याः त्वक् असि**=अदीना देवमाता का संस्पर्श करनेवाला है। **त्वा**=तुझे **अदितिः**=यह अदीना देवमाता **प्रतिवेत्तु**=जाने। तू अदिति के सम्पर्क में हो, अदिति तेरे सम्पर्क में हो, अर्थात् तेरा सारा वातावरण ही अदीनता व दिव्य गुणोंवाला हो। संसार में मनुष्य को असभ्य (blunt) तो नहीं बनना, परन्तु गिड़गिड़ाना भी तो नहीं। यथासम्भव दिव्य गुणों का अपने में विकास करना है। इस दैवी सम्पति का आरम्भ 'अभय' से ही होता है। जीव की इस उन्नति में 'बुद्धि' उसकी सहायिका है। आत्मा रथी है तो बुद्धि उसका सारथि है। आत्मा राजा है तो बुद्धि मन्त्रिणी है। आत्मा पति है तो बुद्धि पत्नी है। आत्मा महादेव है तो उसकी पार्वती यह बुद्धि ही है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **धिषणा असि**=तू धारण करनेवाली 'बुद्धि' है। **पर्वती** तू पूरण करनेवाली है (पर्व पूरणे), सब न्यूनताओं को दूर करनेवाली है। **त्वा**=तुझे **अदित्याः त्वक् प्रतिवेत्तु**=अदिति का सम्पर्क सदा प्राप्त रहे ३. तू **दिवः** =प्रकाश की **स्कम्भनीः असि**=धारण करनेवाली है। जैसे 'स्कम्भ' मकान की छत को सदा सहारा देता है, उसी प्रकार जीवन में यह बुद्धि प्रकाश का स्कम्भ है। सारे प्रकाश का साधन यह बुद्धि ही है। यह विकृत हुई और प्रकाश गया। हे **धिषणा**=बुद्धि! तू **पार्वतेयी**=(स्वार्थ में तद्धित प्रत्यय है) पर्वती=पूरण करनेवाली है। **त्वा**=तुझे **पर्वती**=यह पूरण करने की प्रक्रिया **प्रतिवेत्तु**=पूर्ण रूप से जाने, अर्थात् इस बुद्धि में हमारे जीवन को न्यूनताओं से ऊपर उठाकर पूर्ण बनाने की शक्ति सदा बनी रहे। उलटे मार्ग पर जाकर यह हमारे विनाश का कारण न बन जाए। प्रभुकृपा से हमारी यह बुद्धि **पर्वती**=पूरण करनेवाली बनी रहे।

भावार्थ—हमारी बुद्धि पर्वती हो—पूरण करनेवाली हो। यह हमें विनाश के मार्ग पर न ले-जाए।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

शुद्ध बुद्धि का वर्धक 'धान्य' व सूर्यकिरणें

धा॒न्य॒मसि धिनु॒हि दे॒वान् प्रा॒णाय॑ त्वोदा॒नाय॑ त्वा व्या॒नाय॑ त्वा। दी॒र्घामनु॒ प्रसि॑ति॒मायु॑षे धां दे॒वो वः॑ सवि॒ता हिर॑ण्यपा॒णिः प्रति॑गृभ्णा॒त्वच्छि॑द्रेण पा॒णिना॒ चक्षु॑षे त्वा म॒हीना॒ं पयो॑ऽसि॥ २०॥

गत मन्त्र में प्रकाश की आधारभूत, जीवन में सद्गुणों का पूरण करनेवाली बुद्धि का उल्लेख था। इस बुद्धि का निर्माण सात्त्विक आहार से होता है, उस सात्त्विक आहार का वर्णन इस मन्त्र में किया गया है–

१. **धान्यम् असि**=तू धान्य है। **'धाने पोषणे साध्विति धान्यम्'**–पोषण में उत्तम है। तू मानव-शरीर का उत्तमता से पोषण करता है। स्वस्थ शरीर, निर्मल मन व तीव्र बुद्धि को तू जन्म देता है। तू (क) **देवान् धिनुहि**=हमारे जीवन में दिव्य गुणों को प्रीणित कर। तेरे द्वारा सत्त्व की शुद्धि से हममें सात्त्विक गुणों का विकास हो (ख) हम **त्वा**=तुझे **प्राणाय**=प्राण के विकास के लिए स्वीकार करते हैं, तेरे द्वारा हमारी प्राणशक्ति बढ़े। **त्वा**=तुझे **उदानाय**=उदानवायु के ठीक कार्य करने के लिए स्वीकार करते हैं। **'उदानः कण्ठदेशे स्यात्'**–कण्ठदेश–गले के स्थान में कार्य करनेवाला उदानवायु ठीक हो। इसका कार्य ठीक होने पर ही दीर्घ जीवन होना सम्भव है। हम **त्वा**=तुझे **व्यानाय**=सर्वशरीर-व्यापी व्यानवायु के लिए ग्रहण करते हैं। धान्य के प्रयोग से सारा नाड़ी-संस्थान ठीक प्रकार से कार्य करता है और मनुष्य का मस्तिष्क ठीक बना रहता है।

२. **दीर्घाम्**=अत्यन्त विस्तृत शतवर्षगामिनी **प्रसितिम्**=(षिञ् बन्धने) कर्मतन्तु सन्तति का **अनु**=लक्ष्य करके (अनुर्लक्षणे) और इस प्रकार **आयुषे**=उत्तम कर्ममय जीवन के लिए (इ गतौ) हे धान्य! **धाम्** =मैं तेरा ग्रहण करता हूँ। इस धान्य के प्रयोग से मुझे दीर्घ जीवन प्राप्त हो और इस दीर्घ जीवन में मेरा कर्म-तन्तु कभी विच्छिन्न न हो। मैं सदा कर्म करता रहूँ। वानस्पतिक भोजन जहाँ दीर्घजीवन का हेतु बनता है, वहाँ क्रियाशील (active) जीवन को भी जन्म देता है।

३. इस धान्य के प्रयोग के साथ हम सूर्य के साथ अपना सम्पर्क बढ़ाएँ। धान्य में भी वस्तुतः सारी प्राण-शक्ति सूर्यकिरणों द्वारा ही स्थापित होती है। इसलिए मन्त्र में कहते हैं कि **सविता देवः**=सब प्राणशक्ति का उत्पादक यह सूर्यदेव जो **हिरण्यपाणिः**=अपने किरणरूपी हाथों में हिरण्य='हितरमणीय प्राणशक्तिप्रद' तत्त्वों को लिये हुए है, वह सूर्य **वः** तुम्हें **अच्छिद्रेण**=अपने निर्दोष (छिद्र=दोष) **पाणिना**=किरणरूप हाथों से **प्रतिगृभ्णातु**=ग्रहण करे, अर्थात् हम प्रातः सूर्याभिमुख होकर प्रभु का ध्यान करें और यह सूर्यदेव अपने हाथों से हमारे शरीर में हितरमणीय तत्त्वों का प्रवेश करे। उदय होते हुए सूर्य की किरणें सब रोगकृमियों का संहार करती हैं। ४. हे सूर्यदेव! मैं **त्वा**=तुझे **चक्षुषे**=दृष्टिशक्ति की वृद्धि के लिए ग्रहण करता हूँ। **'सूर्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्'** वस्तुतः सूर्य ही चक्षु के रूप में आँखों में रह रहा है। मैं सूर्याभिमुख बैठता हूँ तो सूर्यकिरणें मेरी आँखों में दृष्टिशक्ति का प्रवेश कराती हैं। आँखों की सब निर्बलताएँ व रोग सूर्यकिरणों के ठीक सेवन से अवश्य दूर हो जाते हैं। ५. हे सूर्य! तू **महीनाम्**=अन्य सब महनीय=पूजनीय–उत्तम–मनुष्य को महान् बनानेवाली शक्तियों का **पयः**=आप्यायन–वर्धन करनेवाला है। सूर्यकिरणों के ठीक सम्पर्क से हमारे सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों की शक्तियाँ बढ़ती हैं।

भावार्थ–दिव्य गुणों के वर्धन के लिए बुद्धि का सात्त्विक होना आवश्यक है। बुद्धि की सात्त्विकता के लिए वानस्पतिक भोजन (धान्य) ही ठीक है, साथ ही सूर्यकिरणों का सम्पर्क भी अत्यन्त उपयोगी है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—गायत्री [क], निचृत्पङ्क्तिः [र]। **स्वरः**—षड्जः [क], पञ्चमः [र]॥

ओषधियों का प्रयोग मात्रा में

[क]देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। सं वपामि [र]समापऽओषधीभिः समोषधयो रसेन। सꣳरेवतीर्जगतीभिः पृच्यन्ताꣳ सं मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम्॥ २१॥

गत मन्त्र में धान्य के प्रयोग का उल्लेख है, परन्तु 'वह प्रयोग कैसे हो' इसका प्रतिपादन प्रस्तुत मन्त्र में है—१. **त्वा**=तेरा—तुझ धान्य का **सवितुः देवस्य**=सबके प्रेरक दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु के **प्रसवे**=प्रसव में, अर्थात् प्रभु की अनुज्ञा में प्रयोग करता हूँ। प्रभु की अनुज्ञा में इस धान्य का न अतियोग करता हूँ, न अयोग करता हूँ अपितु यथायोग करता हूँ, **पूष्णो हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों से ग्रहण करता हूँ और **अश्विनोः**=प्राणापानों के **बाहुभ्याम्**=हाथों से ग्रहण करता हूँ, अर्थात् पोषण के दृष्टिकोण से प्रत्येक वस्तु का ग्रहण करता हूँ। २. जिन धान्य आदि ओषधियों का प्रयोग करता हूँ उन्हें **संवपामि**=बड़े उत्तम ढंग से बोता हूँ। **ओषधीभिः**=इन ओषिधियों के साथ **आपः**=जल **सम्**=उत्तमता से सङ्गत हों। ओषधियों का सेचन उत्तम जल से हो। वृष्टिजल से सिक्त ओषधियाँ सात्त्विक गुणोंवाली होती हैं, अमेध्य—गन्दे जल से उत्पन्न ओषधियाँ तामस गुणों को जन्म देती हैं। इन उत्तम जलों के सेचन से **ओषधयः**=ओषधियाँ **रसेन**=रस से **सम्**=सङ्गत हों और ये **रेवतीः**=रयिवतीः—शक्तिरूप धन से पूर्ण ओषधियाँ **जगतीभिः**=गतिशील प्राणियों के साथ **सम् पृच्यन्ताम्**=संयुक्त हों, अर्थात् इन ओषधियों का सेवन व्यक्ति को पुरुषार्थी बनाए। **मधुमतीः**=मधुर रस से परिपूर्ण ये ओषधियाँ **मधुमतीभिः**=परस्पर मधुर व्यवहारवाली प्रजाओं से **संपृच्यन्ताम्**=संयुक्त हों, अर्थात् उन्हें मधुर बनाएँ।

संक्षेप में जिन धान्यों का हमें प्रयोग करना है, उन्हें हम उत्तमता से बोएँ। उनका सेचन भी सदा शुद्ध जल से करें। इससे उनमें सात्त्विक रस की उत्पत्ति होगी। अमेध्य-प्रभव ओषधियाँ शास्त्रों में अभक्ष्य मानी गई हैं। उनसे बुद्धि भी तामस् बनती है। उत्तम जल से सिक्त ओषधियों का सेवन करनेवाले गतिशील तथा मधुर स्वभाववाले होंगे। 'जगतीभिः' विशेषण क्रियाशीलता व निरालस्यता का संकेत करता है तो 'मधुमतीभिः' विशेषण माधुर्य का प्रतिपादक है। एवं, सात्त्विक ओषधियाँ हमें क्रियामय व मधुर स्वभाववाला बनाती हैं।

भावार्थ—शुद्ध जलों से जिनमें रस का सञ्चार हुआ है, उन ओषधियों के प्रयोग से हम अपने शरीर व मानस मलों को दूर करके अत्यन्त क्रियाशील व मधुर जीवनवाले बनें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—यज्ञः [क], अग्निसवितारौ [र]। **छन्दः**—स्वराट्त्रिष्टुप् [क], गायत्री [र]। **स्वरः**—धैवतः [क], षड्जः [र]॥

वर्षिष्ठ अधिनाक में, सर्वोत्तम स्वर्ग में

[क]जनयत्यै त्वा संयौमीदमग्नेरिदमग्नीषोमयोरिषे त्वा घर्मोऽसि विश्वायुरुरुप्रथाऽउरु प्रथस्वोरु ते यज्ञपतिः प्रथताम[र]ग्निष्टे त्वचं मा हिꣳसीद्देवस्त्वा सविता श्रपयतु वर्षिष्ठेऽधि नाके॥ २२॥

हम अपने गृहस्थ को स्वर्ग कैसे बना सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्र में देखिए—पत्नी पति से कहती है—१. **त्वा जनयत्यै संयौमि**=एक उत्तम सन्तान को जन्म देने के लिए मैं आपके साथ मेल करती हूँ, 'जनयती' बनने के लिए। वस्तुतः गृहस्थ में

प्रवेश का मुख्य प्रयोजन उत्तम सन्तान का निर्माण है। पति-पत्नी परस्पर विलास के लिए एकत्र नहीं होते। २. इस मेल का परिणाम जो (अपत्यम्) सन्तान है **इदम्**=यह **अग्नेः**=अग्नि नामक प्रभु का ही है, वह हमारा नहीं है। पति-पत्नी को इस पवित्र भावना से चलना और सन्तान को प्रभु का ही समझना चाहिए। ३. **इदम्**=यह सन्तान **अग्नीषोमयोः**= अग्नि और सोमतत्त्व का है। इसमें 'अग्नि' तत्त्व भी है और 'सोम' तत्त्व भी। पिता से इसने अग्नितत्त्व प्राप्त किया है तो माता से सोमतत्त्व। जीवन का रस इन दोनों तत्त्वों के मेल पर ही निर्भर है। ४. **इषे त्वा**=अन्न-प्राप्ति के लिए मैं आपका ध्यान करती हूँ। अन्न के बिना घर के किसी भी कार्य का चलना सम्भव नहीं है। ५. **घर्मः असि**=इस उत्तम अन्न के सेवन से तू प्राणशक्ति को प्राप्त हुआ है (घर्मः सोमः), तू शक्ति का पुञ्ज बना है। ६. **विश्वायुः**=तू पूर्ण आयुवाला है-व्यापक जीवनवाला है। तूने अपने जीवन में शरीर, मन व मस्तिष्क तीनों की उन्नति का सम्पादन किया है।

७. **उरुप्रथाः**=तू खूब विस्तारवाला बना है (प्रथ विस्तारे), **उरु प्रथस्व**=तू खूब विस्तार को प्राप्त हो। तू जहाँ अपनी सब शक्तियों का विस्तार करे वहाँ तेरा हृदय भी विशाल हो। ८. **यज्ञपतिः**=सब यज्ञों का रक्षक प्रभु **ते**=तेरी सब शक्तियों को **उरु प्रथताम्**= खूब विस्तृत करे, अर्थात् तेरा जीवन भी यज्ञमय हो, यज्ञ के द्वारा ही शक्तियों का विस्तार होता है। ९. इन सबसे बढ़कर बात यह है कि **अग्निः**= वह परमात्मा **ते त्वचम्**=तेरे सम्पर्क को **मा हिंसीत्**=नष्ट न करे, अर्थात् प्रभु के साथ तेरा सम्पर्क सदा बना रहे। इस प्रभु-सम्पर्क ने ही उपर्युक्त सब बातों को हमारे जीवन में लाना है। १०. **सविता देवः**= सबका प्रेरक देव **त्वा**=तुझे **श्रपयतु**=परिपक्व बनाए। तेरी शारीरिक, मानस व बौद्धिक शक्तियों का ठीक विकास हो। इनके ठीक परिपाक के द्वारा वे प्रभु तुझे **वर्षिष्ठे अधिनाके**=सर्वोत्तम स्वर्ग में स्थापित करे।

घर को स्वर्ग बनाने के लिए निम्न बातें अत्यन्त आवश्यक हैं-१. गृहस्थ को सन्तान-निर्माण का आश्रम समझा जाए। २. सन्तानों को हम प्रभु की धरोहर समझें। ३. सन्तानों में शक्ति (अग्नि) व शान्ति (सोम) के विकास का प्रयत्न करें। ४. घर में अन्न की कमी न होने दें। ५. अपनी शक्तियों को क्षीण न होने दें। ६. शरीर, मन व मस्तिष्क-तीनों का ठीक विकास करें। ७. 'विस्तार' हमारा आदर्श शब्द हो-हम हृदय को विशाल बनाएँ। ८. यज्ञों को हम शक्ति-विस्तार का साधन समझें। ९. प्रभु-सम्पर्क से हम कभी अलग न हों। १०. प्रभुकृपा से हमारा ठीक परिपाक हो।

भावार्थ-हम अपने घरों को स्वर्ग बनाने के लिए मन्त्रोक्त दस बातों को अपने जीवन में ढालें।

ऋषिः-परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**-अग्निः। **छन्दः**-बृहती। **स्वरः**-मध्यमः॥

अभय, अनुद्वेग

मा भेर्मा संविक्था ऽअतमेरुर्यज्ञो ऽतमेरुर्यजमानस्य प्रजा भूयात् त्रिताय त्वा द्विताय त्वैकताय त्वा॥ २३॥

पिछले मन्त्र में वर्णित वह व्यक्ति जिसका सवितादेव के द्वारा ठीक परिपाक होता है, सदा निर्भय होता है। उसमें दैवी सम्पत्ति का विकास होता है, जिसका प्रारम्भ 'अभयम्' से होता है, अतः कहते हैं कि १. **मा भेः** =तू डर मत। वस्तुतः जो प्रभु का भय रखता

है, वह संसार में अभय होकर विचरता है। प्रभु से न डरनेवाला सभी से डरता है और प्रभु से डरनेवाला निडर रहता है। **मा संविक्थाः**=(विज् भय-चलन) तू उद्वेग से कम्पित मत हो। ठीक मार्ग पर चलनेवाले को किसी प्रकार का कम्पन नहीं होता। २. **यज्ञः**=तेरा यज्ञ **अतमेरुः**=कभी श्रान्त होनेवाला न हो, अर्थात् तेरी यज्ञीय भावना सदा क्रियामय बनी रहे। ३. उस **यजमानस्य**=सृष्टि-यज्ञ को रचनेवाले प्रभु की **प्रजा**=सन्तान **अतमेरुः भूयात्**=उत्तम कर्मों के करने में थक न जाए। जो व्यक्ति प्रभु के बने रहते हैं, वे थकते नहीं। प्रकृति के उपासक थक जाते हैं। वह विलासमय जीवन के कारण क्षीणशक्ति हो जाते हैं।

प्रभु कहते हैं कि मैं **त्वा**=तुझे **त्रिताय**=(त्रीन् तनोति) ज्ञान, कर्म व भक्ति के विस्तार के लिए प्रेरित करता हूँ और क्योंकि ज्ञानपूर्वक कर्म करने को ही भक्ति कहते हैं, अतः **द्विताय त्वा**=तुझे इन ज्ञान और कर्म का ही विस्तार करने के लिए कहता हूँ। आवश्यक कर्मों की प्रेरणा का आधार ज्ञान ही है, अतः **एकताय त्वा**=मैं तुझे ज्ञान के विस्तार के लिए प्रेरणा देता हूँ। **क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः**=ब्रह्मज्ञानियों में क्रियावान् ही श्रेष्ठ होता है।

भावार्थ—हम अभय व निरुद्वेग हों। हमारा यज्ञ विश्रान्त न हो। हम आलसी न बनें। हम ज्ञान-कर्म व भक्ति तीनों के विस्तारक बनें। ज्ञानपूर्वक कर्म को ही भक्ति मानें। ज्ञान वही है जो हमें क्रियावान् बनाए।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—द्योविद्युतौ। **छन्दः**—स्वराड्ब्राह्मीपंक्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

प्रभु का दाँया हाथ

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। आददेऽध्वरकृतं देवेभ्यऽइन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणः सहस्रभृष्टिः शततेजा वायुरसि तिग्मतेजा द्विषतो वधः॥ २४॥

१. (क) मैं **त्वा**=तुझे (प्रत्येक पदार्थ को) **सवितुः देवस्य**=उस प्रेरक, दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु की **प्रसवे**=अनुज्ञा में **आददे**=ग्रहण करता हूँ। प्रभु की आज्ञा यही है कि 'माप-तोलकर' भोग कर। न अतियोग, न अयोग, अपितु यथायोग सेवन कर। (ख) **अश्विनोः बाहुभ्याम्**=प्राणापानों के प्रयत्न से, अर्थात् मैं प्रत्येक वस्तु को अपने पुरुषार्थ से कमाकर ग्रहण करता हूँ, किसी वस्तु को सेंतमेंत (बिना मूल्य) लेने की कामना नहीं करता। (ग) **पूष्णोः हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों से, अर्थात् पोषण के दृष्टिकोण से ही मैं किसी भी वस्तु का प्रयोग करता हूँ। (घ) **देवेभ्यः अध्वरकृतम्**=देवताओं के लिए यज्ञ में अर्पित की गई वस्तु के यज्ञशेष को ही मैं ग्रहण करता हूँ। **तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः।** जो देवताओं से दी गई वस्तुओं को बिना देवों को दिये खाता है, वह चोर ही है। सारे पदार्थ 'सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, जल, वायु' आदि देवों की कृपा से हमें प्राप्त होते हैं। इन देवप्रदत्त पदार्थों को यज्ञ द्वारा देवार्पण करके ही बचे हुए को खाना चाहिए। **'त्यक्त्येन भुञ्जीथाः'** की भावना यही तो है। २. जो व्यक्ति उल्लिखित चार बातों का ध्यान रखते हुए सांसारिक पदार्थों को स्वीकार करता है, वह **इन्द्रस्य**=शक्तिशाली कर्मों को करनेवाले प्रभु का **दक्षिणः बाहुः**=दाँया हाथ **असि**=बनता है, अर्थात् प्रभु उसे निमित्त बनाकर उत्तमोत्तम कार्य किया करते हैं। ये व्यक्ति अत्यन्त महान् कार्यों को करते हुए दीखते हैं, हमें ये सामान्य पुरुष न लगकर महामानव प्रतीत होने लगते हैं।

३. **सहस्रभृष्टिः**=यह व्यक्ति कार्यों में उपस्थित होनेवाले सहस्रों विघ्नों को नष्ट करनेवाला होता है—उन्हें भून डालनेवाला होता है। ४. **शततेजाः**=इसका जीवन सौ-के-सौ वर्ष तेजस्वी बना रहता है। भोग-मार्ग को न अपनाने से यह कभी क्षीणशक्तिवाला नहीं होता। ५. **वायुः असि**=यह वायु की भाँति निरन्तर क्रियाशील होता है 'वा गतिगन्धनयोः'। यह अपनी क्रियाशीलता के द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाला होता है। ६. **तिग्मतेजाः**=यह प्रखर-तीव्र तेज का धारण करनेवाला होता है, इस तेजस्विता के कारण ही तो यह सब विघ्नरूप अन्धकारों को नष्ट करता हुआ अपने मार्ग पर आगे और आगे बढ़ता है। इस तेजस्विता से ही यह ७. **द्विषतो वधः**=शत्रु का वध करनेवाला होता है। द्वेषरूप शत्रु ही सर्वमहान् शत्रु है और तेजस्विता के साथ इसका समानाधिकरण्य (एक स्थान पर रहना) कभी नहीं होता। जहाँ तेजस्विता है वहाँ द्वेष नहीं, जैसे जहाँ प्रकाश है वहाँ अन्धकार नहीं। इसलिए 'शत-तेजाः' व 'तिग्मतेजाः' यह द्वेष को अपने से दूर करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम प्रयत्न करके वस्तुओं का ठीक प्रयोग करें, और 'प्रभु का दाहिना हाथ' बनने का प्रयत्न करें, परिणामतः हममें वह तेज आएगा जिसमें द्वेष आदि का सब कूड़ा-करकट भस्म हो जाता है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

सत्सङ्ग का माहात्म्य

पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते मूलं मा हिꣳसिषं व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याꣳ शतेन पाशैर्योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक्॥ २५॥

१. संसार की वस्तुओं का प्रयोग स्वार्थ की भावनाओं से ऊपर उठकर करना ही श्रेयस्कर है। इस स्थिति में पर-मांस से स्वमांस के संवर्धन का प्रश्न ही नहीं उठता और वनस्पतियों में भी जीव है, अतः उनके 'पत्रम्, पुष्पम्, फलम्' का प्रयोग हो सकता है, क्योंकि ये हमारे नख-लोमों की भाँति वनस्पतियों के मल हैं। उनके मूल की हिंसा तो हिंसा ही हो जाएगी, अतः भक्त प्रार्थना करता है—हे **देवयजनि पृथिवि**=देवताओं के यज्ञ करने की आधारभूत पृथिवि! मैं **ते**=तेरी **ओषध्याः**=इन ओषधियों के भी **मूलम्**=मूल को **मा हिंसिषम्**=हिंसित न करूँ। हाँ, जिस प्रकार मृत पशु के चमड़े आदि का प्रयोग निषिद्ध नहीं है, उसी प्रकार मृत वनस्पतियों के भी जड़-त्वगादि का ओषधियों में प्रयोग हो सकता है। २. 'इस ऊँचे दर्जे की अहिंसा की भावना हममें उत्पन्न हो सके' इसके लिए कहते हैं कि (क) **व्रजम्=(व्रजन्ति जानन्ति जना येन तम् सत्सङ्गम्)** जिससे मनुष्यों के ज्ञान का वर्धन होता है, उस सत्सङ्ग को **गच्छ**=तुम प्राप्त करो। उस सत्सङ्ग को जो **गोष्ठानम्**=(गौर्वाणी तिष्ठति यस्मिन्) वेदवाणी का प्रतिष्ठा स्थान है, जिसमें सदा ज्ञान की वाणियों का प्रचार होता है, (ख) इन सत्सङ्गों में **द्यौः**=विद्या का प्रकाश **ते**=तेरे लिए वर्षतु (शब्दविद्याया वृष्टिं करोतु) ज्ञान की वर्षा करे। हम सत्सङ्गों में जाएँ और इस ज्ञान की वर्षा से आध्यात्मिक सन्ताप को दूर करके शान्ति का लाभ करें।

३. अब प्रार्थना करते हैं कि (क) हे **सवितः देव**=सबके प्रेरक, दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! आप हमें इस **परमस्यां पृथिव्याम्**=सत्सङ्ग की आधारभूत उत्कृष्ट भूमि में—पृथिवी के प्रदेश में **शतेन पाशैः**=सैकड़ों बन्धनों से **बधान**=बाँधने की कृपा कीजिए।

हमारी सत्सङ्ग की रुचि बनी ही रहे। हमारी परिस्थिति ऐसी हो कि न चाहते हुए भी हमें सत्सङ्ग में जाना ही पड़े। 'माता-पिता की आज्ञा, अपने अध्यक्ष का आदेश, प्रधान या मन्त्री आदि पदों का बन्धन' और इसी प्रकार की शतशः बातें हमें सत्सङ्ग में पहुँचने के लिए कारण बनती रहें। हे प्रभो! बस, आप ऐसी ही व्यवस्था कीजिए कि **'यथा नः सर्व इज्जनः संगत्या सुमना असत्'** जिससे हमारे सभी लोग उत्तम सत्संगति से सदा उत्तम मनोंवाले बने रहें। (ख) हे प्रभो! आप ऐसी कृपा कीजिए कि **यः अस्मान् द्वेष्टि**=जो एक व्यक्ति हम सबके साथ द्वेष करता है **च**=और परिणामतः **यं वयं द्विष्मः**=जिसे हम अप्रिय समझते हैं **तम्**=उसे भी **अतः**=इस उपदेश से **मा मौक्**=रहित मत कीजिए। वह भी सत्सङ्गों में होनेवाले इन उपदेशों से वञ्चित न हो। सत्सङ्गों से वह भी पवित्र मनवाला होकर द्वेषादि मलों से रहित हो जाए।

भावार्थ—हम इस पृथिवी को यज्ञ करने का स्थान समझें। हम वनस्पति की भी हिंसा करनेवाले न हों। सत्सङ्ग हमपर ज्ञान की वर्षा करे। हमें सत्सङ्ग में अवश्य जाएँ, इनसे तो हमारा शत्रु भी वञ्चित न हो।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—स्वराड्ब्राह्मीपंक्तिः[क], भुरिग्ब्राह्मीपंक्तिः[र]।
स्वरः—पञ्चमः॥

अदानवृत्ति का दूरीकरण

[क]अपा॒र॒रुं पृ॑थि॒व्यै दे॑व॒यज॑नाद्वध्यासं व्र॒जं ग॑च्छ गो॒ष्ठानं॒ वर्ष॑तु ते॒ द्यौर्ब॑धान॒ दे॑व सवितः पर॒मस्यां॑ पृथि॒व्या॒ᳯं श॒तेन॒ पाशै॒र्यो॒ऽस्मान्द्वेष्टि॒ यं च॑ व॒यं द्वि॒ष्मस्तम॑तो॒ मा मौ॑क्। [र]अर॑रो दिवं॒ मा प॑प्तो द्र॒प्सस्ते॒ द्यां मा स्क॑न् व्र॒जं ग॑च्छ गो॒ष्ठानं॒ वर्ष॑तु ते॒ द्यौर्ब॑धा॒न दे॑व सवितः पर॒मस्यां॑ पृथि॒व्या॒ᳯं श॒तेन॒ पाशै॒र्यो॒ऽस्मान्द्वेष्टि॒ यं च॑ व॒यं द्वि॒ष्मस्तम॑तो॒ मा मौ॑क्॥ २६॥

१. सब यज्ञ दानशीलता से चलते हैं, अतः हम अदानशीलता को दूर करते हैं। सत्सङ्गति से जहाँ सुमनस्त्व की प्राप्ति की प्रार्थना है, वहाँ साथ ही **'दानकामश्च नो भुवत्'**, अथर्ववेद के इन शब्दों में यही कहा गया है कि हमारे सब व्यक्ति देने की इच्छावाले—इच्छापूर्वक दान देनेवाले हों। यजुर्वेद के शब्दों में **'आशीर्दा'** खूब उत्साह से, इच्छापूर्वक, दिल खोलकर देनेवाले हों और **अररुम्**=न देनेवाले को, कृपण मनोवृत्तिवाले को **पृथिव्यै**=इस पृथिवी पर (पृथिव्यां, ङि=ङे) होनेवाले **देवयजनात्**=देवों द्वारा किये जानेवाले यज्ञकर्मों से—सब भद्र पुरुषों के सामाजिक उत्सवों से **अपवध्यासम्**=दूर करता हूँ (हन् गति)। एक प्रकार से इनका सामाजिक बहिष्कार (Social boycott) करता हूँ। यह सामाजिक बहिष्कार सम्भवतः इनकी इस अदानवृत्ति को दूर करने में सहायक हो। सामाजिक बहिष्कार से भयभीत हुआ वह **व्रजं गच्छ**=सत्सङ्ग में जाए, जो सत्सङ्ग **गोष्ठानम्**=वेदवाणियों के प्रचार का स्थान बनता है। वहाँ सत्सङ्ग में **ते**=तेरे लिए **द्यौः**=ज्ञान का प्रकाश **वर्षतु**=ज्ञान की वर्षा करे। **देव सवितः**=हे प्रेरक देव! **शतेन पाशैः**=सैकड़ों बन्धनों से आप इस **परमस्यां पृथिव्याम्**=सत्सङ्ग की उत्कृष्ट भूमि में **बधान**=हमें बाँध दीजिए। हमें ही क्या, इस अदानशील पुरुष को भी **यः अस्मान् द्वेष्टि**=जो हमसे प्रीति नहीं करता और परिणामतः **यम्**=जिसे **वयम् द्विष्मः**=हम भी नहीं चाहते **तम्**=उस कृपण को भी **अतः**=इस ज्ञानोपदेश से **मा मौक्**=दूर मत कीजिए।

२. **अररुः**=न देनेवाला **दिवम्**=स्वर्ग को **मा पप्तः**=(पत् गतौ) प्राप्त न हो। अदानशील को स्वर्ग कभी नहीं मिलता। इसका इहलोह नरक ही बना रहता है। दान ही यज्ञ की चरम सीमा है। यह दानरूप यज्ञ हमारे इस लोक को भी सुखी बनाता है और परलोक को भी। जो व्यक्ति दानशील बना रहता है, वह भोगप्रवण नहीं होता। भोगप्रवण न होने से उसके शरीर में सोमकण (द्रप्सः=drops of soma) सुरक्षित रहते हैं। ये सुरक्षित सोमकण इसकी ज्ञानाग्नि के ईंधन बनते हैं। इसका ज्ञान-सरोवर इन सोम-कणों की सुरक्षा से सूखता नहीं। बस, इस बात का ध्यान करते हुए सदा दिल खोलकर देनेवाला बनना। तेरी वृत्ति भोगवृत्ति न हो जाए और **द्रप्सः**=ये सुरक्षित सोमकण **ते**=तेरे **द्याम्**=इस मस्तिष्करूप द्युलोक को **मा स्कन्**=(स्कन्दिर्=गतिशोषणयोः) सूखने न दें। तेरा ज्ञान-समुद्र सदा ज्ञान-जल से परिपूर्ण रहे। इसके लिए तू **व्रजं गच्छ**=सत्सङ्ग को प्राप्त कर, उस सत्सङ्ग को जोकि **गोष्ठानम्**=वेदवाणियों का स्थान है। यहाँ **द्यौः**=यह विद्याप्रकाश **ते**=तेरे लिए **वर्षतु**=ज्ञान की वर्षा करे। तेरी प्रार्थना यह हो कि हे **सवितः देव**=प्रेरक प्रभो! हमें **शतेन पाशैः**=सैकड़ों बन्धनों से **परमस्यां पृथिव्याम्**=सत्सङ्ग की इस उत्कृष्ट स्थली में **बधान**=बाँधिए। हमें ही क्या, **यः**=जो **अस्मान् द्वेष्टि**=हमसे द्वेष करता है **च**=और **यं वयं द्विष्मः**=जो हमारा अप्रिय बन गया है **तम्**=उसे भी **अतः**=इन सत्सङ्गों में होनेवाले उपदेशों से **मा मौक्**=मत वञ्चित कीजिए। हमारे शत्रुओं को भी इन सत्सङ्गों का सौभाग्य प्राप्त हो, जिससे वे वहाँ बरसनेवाले ज्ञान-जल से निर्मल होकर शत्रु ही न रहें और वे यज्ञों के महत्त्व को समझकर दानशील बन जाएँ।

भावार्थ—कृपण का सामाजिक बहिष्कार करके उसकी अदानवृत्ति को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। उसे यह समझाना चाहिए कि अदानवृत्ति का परिणाम नरक है, स्वर्ग तो यज्ञिय वृत्ति से ही बनता है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

घर को स्वर्ग बनाना

गायत्रेण त्वा छन्दसा परि गृह्णामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परि गृह्णामि जागतेन त्वा छन्दसा परि गृह्णामि। सुक्ष्मा चासि शिवा चासि स्योना चासि सुषदा चास्यूर्जस्वती चासि पयस्वती च॥ २७॥

'हम इस संसार में किसी भी वस्तु को स्वीकार करें तो किस दृष्टिकोण से'? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं १. हे पदार्थ! मैं **त्वा**=तुझे **गायत्रेण छन्दसा**=(गयाः प्राणाः तान् तत्रे) प्राणों की रक्षा के दृष्टिकोण से, प्राणों की रक्षा की इच्छा से (छन्दः=अभिप्रायः) **परिगृह्णामि**=स्वीकार करता हूँ। (क) हम घर ऐसा बनाएँ जो प्राणशक्ति की वृद्धि के विचार से उत्तम हो, जिसमें सूर्य की किरणों का प्रवेश खूब होता हो, जहाँ वायु का प्रवाह अविच्छिन्न रूप से चलता हो। (ख) घर में उन्हीं खाद्य पदार्थों को जुटाएँ जो प्राणशक्ति के पोषक हों। (ग) उन्हीं क्रियाओं को करें जो प्राणशक्ति का ह्रास करनेवाली न हों। (घ) घरों में इस प्रकार से सत्सङ्ग आदि की व्यवस्था करें, जिससे सबकी मनोवृत्तियाँ उत्तम बनें और सभी लोग प्राणशक्ति-सम्पन्न बने रहें। २. **त्वा त्रैष्टुभेन छन्दसा परिगृह्णामि**=हे पदार्थ! मैं तुझे त्रैष्टुभ छन्द से ग्रहण करता हूँ। इस इच्छा (छन्द) से ग्रहण करता हूँ कि मेरे त्रिविध तापों—आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक दुःखों की निवृत्ति (स्तुभ=to stop) हो।

अथवा मैं इस इच्छा से तेरा ग्रहण करता हूँ कि मेरे घर में **त्रि**=तीनों–प्रकृति, जीव व परमात्मा का **स्तुभ**=स्तवन चले, प्रकृति, जीव व परमात्मा तीनों का विचार ठीक प्रकार से हो।

३. **त्वा जागतेन छन्दसा परिगृह्णामि**=हे पदार्थ! मैं तुझे जगती के हित की इच्छा से ग्रहण करता हूँ। प्रत्येक पदार्थ के ग्रहण में यह दृष्टिकोण बड़ा महत्त्वपूर्ण है कि इस पदार्थ के ग्रहण से मैं लोकहित के लिए अधिक क्षम=समर्थ बन पाऊँ। भोजन ऐसा हो जो मुझे पूर्ण स्वस्थ बनाए, जिससे मैं दीर्घजीवी बनकर देर तक लोकसंग्रहात्मक कर्मों में लगा रहूँ। ४. जब मेरा दृष्टिकोण 'गायत्र, त्रैष्टुभ व जागत' होगा तब मैं अपनी शाला=घर के विषय में कह सकूँगा कि (क) **सु-क्ष्मा च असि**=तू उत्तम निवास के योग्य है (क्षि निवास)। (ख) **शिवा चासि**=तू कल्याणरूप है, (ग) **स्योना च असि**=सुख देनेवाली है, (घ) **सुषदा च असि**=(सु+सद् =बैठना) सब लोगों के लिए उत्तमता से बैठने के योग्य है, (ङ) **ऊर्जस्वती च असि**=बल व प्राणशक्ति से सम्पन्न है (ऊर्ज बलप्राणनयो:), (च) **पयस्वती च**=(ओप्यायी वृद्धौ) तू सब प्रकार से आप्यायन व वर्धन करनेवाली है।

भावार्थ—संसार में प्रत्येक क्रिया में हमारा दृष्टिकोण 'प्राणशक्ति की रक्षा, त्रिविधताप-निवृत्ति व लोकहित' हो। ऐसा होगा तो हमारे घर उत्तम निवास योग्य, मङ्गलमय, सुखद, लोगों से बैठने योग्य, बल-प्राणशक्ति-सम्पन्न व सब प्रकार से वर्धन के कारण होंगे।

सूचना—ऊक् का अर्थ रस लें और 'पयस्' का अर्थ दूध करें तो अर्थ होगा कि हमारे घर अन्न-रसों व दूध से भरपूर हों।

ऋषि:—परमेष्ठी प्रजापति:। **देवता**—यज्ञ:। **छन्द:**—विराड्ब्राह्मीपंक्ति:। **स्वर:**—पञ्चम:।।

प्रोक्षणी का आसादन—पृथिवी की चन्द्र में स्थिति, युद्धों से विरक्ति

पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्नुदादाय पृथिवीं जीवदानुम्। यामैरयँश्चन्द्रमसि स्वधाभिस्तामु धीरासोऽअनुदिश्य यजन्ते। प्रोक्षणीरासादय द्विषतो वधोऽसि॥ २८॥

हमें अपना जीवन इसलिए यज्ञमय बनाना चाहिए कि युद्ध दूर हो सकें। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि १. **क्रूरस्य**=(कृन्तति अङ्गानि) जिसमें अङ्गों का छेदन-भेदन होता है, उस क्रूरता से पूर्ण युद्ध के **विसृप:**=(वि+सृप्) विशेषरूप से फैल जाने से **पुरा**=पहले ही हे **विरप्शिन्**=(वि+रप्) विशेषरूप से ज्ञान का उपदेश करनेवाले (विरप्शिन् इति महत् नाम—निघ० ३।३) विशाल हृदय पुरुष! **अयम्**=यह तू इस **जीवदानुम्**=जीवन के लिए आवश्यक सब पदार्थों को देनेवाली **पृथिवीम्**=पृथिवी को **उत् आदाय**=इस युद्ध से ऊपर उठाकर, अर्थात् युद्ध में न फँसने देकर **यामै:**=अपने प्रयत्नों से—विविध चेष्टाओं से **स्वधाभि:**=(स्वधा इति अन्ननाम—निघ० २।७) अन्नों की भरपूरता के द्वारा **चन्द्रमसि**=(चदि आह्लादे) प्रसन्नता में स्थापित कर। (चन्द्र=हिमांशु, सुधाकर, ओषधीश—Peace, pleasure and plenty)। चन्द्रमा शान्ति, सुख और भरपूरता का प्रतीक है। ज्ञान के उपदेष्टा को चाहिए कि वह इस पृथिवी को युद्धों में न फँसने देकर पूर्ण प्रयत्नों से शान्ति, सुख व भरपूरता में स्थापित करे। पृथिवी तो वस्तुत: अपने अन्नों से जीवन के लिए आवश्यक सब पदार्थों को प्राप्त करानेवाली है। युद्धों के कारण स्थिति विषम हो जाती है और मँहगाई बढ़कर लोगों की परेशानी का कारण हो जाती है। २. इसलिए **धीरास:**=धीर, विद्वान् पुरुष **उ**=निश्चय से **ताम्** =शान्ति, सुख व समृद्धि-(peace, pleasure and plenty)-वाली पृथिवी को **अनुदिश्य**=लक्ष्य बनाकर **यजन्ते**=अपने जीवनों को यज्ञशील बनाते हैं। ये धीर पुरुष लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त होते

हैं। ये लोगों को ज्ञान के प्रकाश से प्रेम का पाठ पढ़ाकर उन्हें युद्धों से दूर रखते हैं। ३. वेद कहता है कि हे धीर पुरुष! तू **प्रोक्षणीः**=प्रकर्षेण ज्ञान का सेवन करनेवाली क्रियाओं को **आसादय**=ग्रहण कर। यज्ञिय चम्मच को तू पकड़। चम्मच से जैसे अग्नि में घी डाला जाता है, उसी प्रकार तू लोगों में ज्ञान की दीप्ति (घृत) का सेचन करनेवाला बन। तू **द्विषतः**=शत्रुओं का **वधः असि**=समाप्त करनेवाला है, द्वेष की भावनाओं को दूर करनेवाला है। तू अपनी ज्ञान की वर्षा से द्वेष की अग्नि को बुझाकर लोगों को प्रेम का पाठ पढ़ानेवाला हो।

भावार्थ—ज्ञानी लोग अपने जीवनों को यज्ञिय बनाकर लोगों को युद्धों से दूर रक्खें, उन्हें प्रेम का पाठ पढ़ाएँ, तभी यह पृथिवी चन्द्र में स्थित होगी—सुख, शान्ति व समृद्धि से पूर्ण होगी।

सूचना—'यामैरयँश्चन्द्रमसि' का सन्धि-छेद 'याम् ऐरयन् चन्द्रमसि' यह भी हो सकता है और तब अर्थ इस प्रकार होगा—**याम्** जिस पृथिवी को **चन्द्रमसि**=सुख, शान्ति व समृद्धि में **ऐरयन्**=प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता। 'ऐरयन्' क्रिया का अध्याहार नहीं करना पड़ता।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—यज्ञः। छन्दः—त्रिष्टुप्[क],[र]। स्वरः—धैवतः॥

'सपत्नक्षित्' पति-पत्नी

[क] प्रत्युष्टꣳरक्षः प्रत्युष्टाऽअरातयो निष्टप्तꣳरक्षो निष्टप्ताऽअरातयः।
अनिशितोऽसि सपत्नक्षिद्वाजिनं त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि।
[र] प्रत्युष्टꣳरक्षः प्रत्युष्टाऽअरातयो निष्टप्तꣳरक्षो निष्टप्ताऽअरातयः।
अनिशिताऽसि सपत्नक्षिद्वाजिनीं त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि॥ २९॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में **सपत्नक्षित्**=सपत्नों (शत्रुओं) का नाश करनेवाले पति-पत्नी का उल्लेख है। जब एक पुरुष की कई पत्नियाँ हों तो वे परस्पर सपत्नियाँ कहलाती हैं। कोई भी पत्नी सपत्नी को नहीं चाहती। इसी प्रकार यदि पत्नी एक से अधिक पतियों को करने लगे तो वे परस्पर 'सपत्न' होंगे और कोई भी पति इन सपत्नों को नहीं सह सकता। पत्नी को चाहिए कि सपत्नों को न होने दे और पति को चाहिए कि वह सपत्नियों को न होने दे। दोनों के लिए यहाँ समान शब्द प्रयुक्त हुआ है कि वे 'सपत्नक्षित्' बनें। २. पति के लिए कहते हैं कि (क) प्रयत्न करो कि **रक्षः**=राक्षसी वृत्तियाँ **प्रत्युष्टम्**=एक-एक करके दग्ध हो जाएँ, (ख) **अरातयः प्रत्युष्टाः**=अदान वृत्तियाँ एक-एक करके भस्म हो जाएँ, (ग) **रक्षः**=ये राक्षसी वृत्तियाँ **निः-तप्तम्**=तपोमय जीवन के द्वारा निश्चय से दूर कर दी जाएँ, (घ) **अरातयः**=ये अदान की वृत्तियाँ भी **निःतप्ताः**=निश्चय से तप के द्वारा सन्तप्त करके नष्ट कर दी जाएँ, (ङ) **अनिशितः असि**=अपने व्यावहारिक जीवन में कभी तेज़ (निशित) नहीं होना। क्रोध के वशीभूत हो कभी तैश में नहीं आ जाना, पत्नी के साथ माधुर्य का ही व्यवहार रखना है। (च) **सपत्नक्षित्**=क्रोध व कटुता में आकर एक पत्नीव्रत का उल्लंघन नहीं करना। घर में सपत्नियों का प्रवेश न होने देना। (ज) **वाजिनं त्वा**=इस प्रकार संयत जीवन के द्वारा शक्तिशाली बने हुए तुझे **वाजेध्यायै**=शक्ति की दीप्ति के लिए **सम्मार्ज्मि**=सम्यक्तया शुद्ध कर डालता हूँ। एक पत्नीव्रत से शक्ति का दीपन होता है।

३. इस प्रकार पति के लिए कहकर यही सारी बात पत्नी के लिए कहते हैं कि (क) **प्रत्युष्टं रक्षः**=तेरे राक्षसी भाव एक-एक करके दग्ध हो जाएँ, (ख) **अरातयः**=अदान की वृत्तियाँ भी **प्रत्युष्टाः**=एक-एक करके नष्ट हों। (ग) **रक्षः**=राक्षसी भाव **निष्टप्तम्**=तप के द्वारा दूर कर दिये जाएँ, (घ) **अरातयः**=अदान वृत्तियाँ भी **निःतप्ताः**=निश्चय से सन्तप्त करके दूर कर दी जाएँ, (ङ) **अनिशिता असि**=तू कभी तेज़ नहीं होती, क्रोध में नहीं आ जाती, (च) **सपत्नक्षित्**=तू पतिव्रतधर्म का पालन करते हुए पति के अतिरिक्त पुरुष को उसका सपत्न नहीं बनाती, (छ) **वाजिनीं त्वा**=एक पतिव्रतधर्म के पालन से संयमी जीवन के कारण शक्तिशलिनी तुझे **वाजेध्यायै**=शक्ति की दीप्ति के लिए **सम्मार्ज्मि**=सम्यक्तया शुद्ध करता हूँ, तेरे जीवन को वासनाओं से रहित करता हूँ। वासनाशून्य जीवन ही तो शक्तिशाली होने से जीवन है। वासनाओं का शिकार हो जाना मृत्यु है।

भावार्थ—पति-पत्नी दोनों ही सपत्नक्षित् बनें, कभी तैश में न आएँ तभी घर स्वर्ग बनेगा।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः॥

मे भव—मेरे बनो

अदित्यै रास्नासि विष्णोर्वेष्पोस्यूर्जे त्वाऽदब्धेन त्वा चक्षुषावपश्यामि। अग्नेर्जिह्वासि सुहूर्देवेभ्यो धाम्नेधाम्ने मे भव यजुषेयजुषे॥ ३०॥

१. हे उन्नतिशील जीव! **अदित्यै**=अदिति के लिए—अखण्डन की देवता के लिए तू **रास्ना**=मेखला **असि**=है। 'अदिति' अखण्डन की देवता है, किसी भी अङ्ग व शक्ति का खण्डित न होना, अर्थात् पूर्ण स्वस्थ होना। स्वास्थ्य के लिए मनुष्य का कटिबद्ध होना आवश्यक है। इस स्वास्थ्य पर ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—ये सब पुरुषार्थ निर्भर हैं। यास्काचार्य ने 'अदिति' का अर्थ 'अदीना देवमाता' किया है, अतः तू अदीनता व दिव्य गुणों के निर्माण के लिए कटिबद्ध है। तू निश्चय करता है कि (क) मैं स्वस्थ बनूँगा, (ख) अदीन बनूँगा, (ग) अपने में दिव्य गुणों के निर्माण का प्रयत्न करूँगा। २. अब स्वस्थ, अदीन व दिव्य जीवनवाला बनकर तू **विष्णवे**=यज्ञ का (यज्ञो वै विष्णुः) **वेष्पः**=अपने में व्यापन करनेवाला **असि**=बना है। तूने अपने में यज्ञिय भावना का पोषण किया है। इस यज्ञ के द्वारा ही तो तुझे यज्ञात्मक प्रभु का उपासन करना है। ३. **ऊर्जे त्वा**=मैं तुझे बल और शक्ति के लिए प्राप्त करता हूँ। ४. **अदब्धेन त्वा चक्षुषा अवपश्यामि**=मैं अहिंसित आँख से तुझे देखता हूँ (नक्ष् to look after)। मैं निरन्तर तेरा ध्यान करता हूँ। वस्तुतः जो भी व्यक्ति अध्यात्म उन्नति के मार्ग पर चलता हुआ लोकहित में प्रवृत्त होता है, प्रभु उसका ध्यान करते हैं **'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमावहो हरिः'**। ५. तू **अग्नेः**=उस सम्पूर्ण प्रकाश के अधिपति प्रभु की **जिह्वा असि**=जिह्वा=वाणी बना है। प्रभु के सन्देश को सर्वत्र फैलाना तेरा ध्येय है। **सु-हूः**=इस कार्य में तू अपनी उत्तम आहुति देनेवाला हुआ है, अर्थात् तू बड़ी मधुरता से प्रजाओं में प्रभु के सन्देश को पहुँचाने के कार्य में लगा है।

यह प्रभु का सन्देशवाहक अब प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! **मे भव**=आप मेरे हो जाइए, अर्थात् मैं सदा आपका बनकर रहूँ, मैं प्रकृति में न फँस जाऊँ। **धाम्ने-धाम्ने**=मैं एक-एक शक्ति को प्राप्त करने में समर्थ बनूँ। **यजुषे-यजुषे**=मैं प्रत्येक कर्म को यज्ञात्मक बना पाऊँ—मेरा प्रत्येक कर्म यज्ञरूप हो। मैं यज्ञ ही बन जाऊँ। **देवेभ्यः**=दिव्य

गुणों की प्राप्ति के लिए मैं यही चाहता हूँ कि आप मेरे हों—मैं सदा आपका बना रहूँ। प्रभु को अपनाने से जहाँ हमारी शक्तियों में वृद्धि होती है वहाँ प्रत्येक कर्म यज्ञिय व पवित्र बनता है। प्रभु से दूर होने का परिणाम इससे विपरीत होता है।

भावार्थ—हम प्रयत्न करें कि प्रभु को अपना सकें। इससे हमारी शक्तियों की वृद्धि होगी और हमारा प्रत्येक कर्म यज्ञमय बनेगा। हम अन्याय से अर्थ-सञ्चय की ओर नहीं झुकेंगे।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—जगती[क], अनुष्टुप्[र]। **स्वरः**—निषादः[क], गान्धारः[र]॥

अनाधृष्ट देवयजन—हवा-धूप

[क]सवितुस्त्वा प्रसवऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः।
सवितुर्वः प्रसवऽ उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। [र]तेजोऽसि
शुक्रमस्यमृतमसि धाम नामासि प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि॥ ३१॥

१. **सवितुः**=उस उत्पादक प्रभु के **प्रसवे**=इस उत्पन्न जगत् में **अच्छिद्रेण पवित्रेण**=छिद्ररहित (gap से शून्य) अथवा निर्दोष वायु से तथा **सूर्यस्य रश्मिभिः**=सूर्य की किरणों से **त्वा**=तुझे **उत्पुनामि**=सब मलों व रोगों से ऊपर उठाकर (उत्=out) पवित्र करता हूँ। 'खुली हवा' और 'सूर्य की किरणें'—ये स्वास्थ्य के मूलमन्त्र हैं। २. तुझे ही क्यों? **वः**=तुम सबको **सवितुः प्रसवे**=उस उत्पादक प्रभु के इस जगत् में **उत्पुनामि** =सब मलों से ऊपर उठाकर पवित्र करता हूँ। (क) **अच्छिद्रेण पवित्रेण**=इस निर्दोष वायु से और (ख) **सूर्यस्य रश्मिभिः**=सूर्य की किरणों द्वारा।

व्यक्ति के स्वास्थ्य के लिए समुदाय का स्वास्थ्य आवश्यक है। यदि मेरे चारों ओर के व्यक्ति अस्वस्थ होंगे तो उनके रोग-कृमियों का मुझपर भी आक्रमण होगा। मैं रोगों से बचा न रह सकूँगा। मैं स्वस्थ होऊँ, सब स्वस्थ हों, सारा वातावरण स्वास्थ्यमय हो।

३. इस स्वस्थ पुरुष को प्रेरणा देते हुए प्रभु कहते हैं कि **तेजो असि**=तू तेजस्वी है। स्वास्थ्य मनुष्य की तेजस्विता का कारण बनता ही है। ४. **शुक्रम् असि**=तू वीर्यवान् है। अथवा (शुक् गतौ) तू क्रियाशील है। ५. **अमृतम् असि**=तू अमृत है। तू रोगरूप मृत्युओं का शिकार नहीं होता। ६. **धाम असि**=तू तेज का पुञ्ज है, परन्तु साथ ही **नाम**=विनम्र स्वभाव है, तेरी शक्ति विनय से सुभूषित है। ७. इस प्रकार **देवानां प्रियम्**=देवताओं का प्रिय है। दिव्य गुणों का तू निवास-स्थान है। ८. **अनाधृष्टम्**=धर्षित न होनेवाला **देवयजनम् असि**=तू देवों के यज्ञ को करनेवाला है, अर्थात् तू निरन्तर देवयज्ञ करता है, तेरा अग्निहोत्र अविच्छिन्न रहता है। 'सब पदार्थों को ये देव ही तो तुझे प्राप्त कराते हैं' इस भावना को न भूलते हुए तू इन सब पदार्थों को देवों के लिए देकर सदा यज्ञशेष को ही खानेवाला बनता है।

भावार्थ—हमारा जीवन 'अनाधृष्ट, देवयजन'—निरन्तर चलनेवाले अग्निहोत्रवाला हो। हम यह न भूलें कि 'देवऋण' से अनृण होने के लिए यह अग्निहोत्र एक जरामर्य सत्र है। इससे हम अत्यन्त वार्धक्य व मृत्यु होने पर ही मुक्त होंगे।

॥ इति प्रथमोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—यज्ञः। छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

अग्नि-बर्हि-स्रुक्

कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि वेदिरसि बर्हिषे त्वा जुष्टां प्रोक्षामि बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामि॥ १॥

१. **कृष्णः असि**=तू आकर्षक जीवनवाला है। पिछले अध्याय में कहा था कि 'तू खुली वायु और धूप' के सेवन से पूर्ण स्वस्थ है। तेजस्वी, क्रियाशील, नीरोग, शक्तिशाली परन्तु नम्र, देवताओं का प्रिय और अविच्छिन्न अग्निहोत्री है। वस्तुतः ऐसा जीवन ही जीवन है। ऐसे जीवनवाला सबको अपनी ओर आकृष्ट करेगा ही। २. **आखरेष्ठः**=(आ+ख+र+स्थ) समन्तात् विद्यमान—आकाश में गति व प्राप्तिवाले प्रभु में तू स्थित है। वस्तुतः सर्वव्यापक प्रभु में स्थित होने से ही इसका जीवन सुन्दर बनता है। ३. **अग्नये जुष्टम्**=अग्नि का प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले—प्रभु का तन्मयता से उपासन करनेवाले **त्वा**=तुझे **प्रोक्षामि**=(प्र+उक्षामि) आनन्द से सिक्त करता हूँ। प्रभु के उपासक का जीवन आनन्दमय होता है। प्रभु में स्थिति के विषय में गीता में कहा है—**यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः। यस्मिँस्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते।** जिसे प्राप्त करके उससे अधिक कोई लाभ प्रतीत नहीं होता और जिसमें स्थित हुआ-हुआ बड़े-से-बड़े दुःख से भी विचलित नहीं होता। ४. प्रभु की प्राप्ति से इसे सब-कुछ प्राप्त हो जाता है (सर्वं विन्दति)। सब-कुछ प्राप्त कर लेने से तू **वेदिः**=(विद् लाभे) लब्धा **असि**=है। ५. इस प्रभु-प्राप्ति के लिए ही **बर्हिषे**=वासना-शून्य हृदय के लिए (उद् बृह्=उखाड़ देना) जिस हृदय में से सब वासनाएँ नष्ट कर दी गई हैं, उस हृदय को **जुष्टाम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले **त्वा**=तुझे **प्रोक्षामि**=आनन्दसिक्त करता हूँ। जो व्यक्ति हृदय को पवित्र बनाने में लगा है, वह उस हृदय में प्रभु के प्रकाश को देखने से एक अवर्णनीय आनन्द का अनुभव करता है। ६. निरन्तर पवित्रता के प्रयत्न में लगा हुआ तू **बर्हिः**=वासना-शून्य हृदयवाला **असि**=बना है और अब जैसे चम्मच से अग्नि में घृत अर्पित किया जाता है, उसी प्रकार तू प्रजाओं में अपनी वाणी से ज्ञान का स्रवण करनेवाला बना है। इन **स्रुग्भ्यः**=ज्ञान प्रस्रवण की क्रियाओं में **जुष्टम्**=प्रीतिपूर्वक लगे हुए **त्वा**=तुझे **प्रोक्षामि**=मैं आनन्दसिक्त करता हूँ।

भावार्थ—हमारा जीवन तीन बातों में व्यतीत हो—हमारे मुख्य ध्येय ये तीन हों—१. **अग्नये**—प्रकाशमय अग्निनामक प्रभु की उपासना, २. हृदय में से वासनाओं को उखाड़ फेंकना (बर्हिषि) और ३. ज्ञान का प्रसार करना—प्रजारूप अग्नि में ज्ञानरूप घृत का प्रस्रवण करनेवाले चम्मच बनना। ये तीन बातें हमारे जीवन को आनन्द से सिक्त करनेवाली होंगी।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—यज्ञः। छन्दः—स्वराड्जगती। स्वरः—निषादः॥

भुवपति, भुवनपति, भूतानाम्पति

अदित्यै व्युन्दनमसि विष्णो स्तुपोऽस्यूर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थां देवेभ्यो भुवपतये स्वाहा भुवनपतये स्वाहा भूतानां पतये स्वाहा॥ २॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति 'स्रुग्भ्यः जुष्टम्' प्रजारूप अग्नि में ज्ञानस्रवण के कार्य में प्रीतिपूर्वक लगे हुए व्यक्ति के उल्लेख के साथ हुई है। 'यह व्यक्ति इस ज्ञानस्रवण=ज्ञान-प्रसार के कार्य में क्यों लगा है?' इस प्रश्न के उत्तर से प्रस्तुत मन्त्र का आरम्भ होता है। २. **अदित्यै**='स्वास्थ्य' के लिए अथवा 'अदीना देवमाता' के लिए, अर्थात् लोगों को 'स्वस्थ, अदीन व दिव्य गुण-सम्पन्न बनाने के लिए **व्युन्दनम्**=तू विशेषरूप से ज्ञान-जल से क्लिन्न (गीला) करनेवाला **असि**=है। तेरे ज्ञान-प्रसार के परिणामस्वरूप लोगों के जीवन स्वस्थ बनते हैं, उनके मनों में अदीनता की भावना उत्पन्न होती है और उनके जीवनों में दैवी सम्पत्ति का आप्यायन होता है। ३. तू **विष्णोः**=यज्ञ का **स्तुपः**=शिखर **असि**=है। यज्ञमय जीवनवालों का तू मूर्धन्य है। तेरा जीवन निरन्तर लोकहित में लगा है। ४. **ऊर्णम्रदसम्**=औरों के दोषों का आच्छादन नकि उद्घोषणा करनेवाले (ऊर्णु=आच्छादने) अत्यन्त मृदु स्वभाव-वाले, परिणामतः मधुर शब्द ही बोलनेवाले **त्वा**=तुझे मैं **स्तृणामि** =आच्छादित करता हूँ। जैसे छत सर्दी-गर्मी, वर्षा व ओलों से बचाती है, इसी प्रकार मैं तुझे आसुर आक्रमणों से सुरक्षित करता हूँ। प्रचारक को औरों के दोषों की उद्घोषणा न करते रहना चाहिए। उसे अत्यन्त मृदुता व मधुरता से ही अपना प्रचार-कार्य करना चाहिए। इस प्रचारक की रक्षा प्रभु करते हैं। ५. इस प्रकार **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों के लिए **स्वासस्थाम्**=(सु+आस उपवेशन स्था) उत्तम आश्रय का स्थान तुझे बनाता हूँ। तुझमें दिव्य गुणों का आधान करता हूँ।

६. **भुवपतये**=(भुवो अवकल्कने, अवकल्कनं चिन्तनम्) चिन्तन व विचार के पतिभूत तेरे लिए **स्वाहा**=उत्तम शब्दों का उच्चारण किया जाता है (सु+आह)। **भुवनपतये**=भुवनों-लोकपदार्थों के पतिभूत तेरे लिए **स्वाहा**=प्रशंसात्मक शब्द कहे जाते हैं। तू चिन्तन व विचार के द्वारा शास्त्रीय ज्ञान का पति तो है ही, साथ ही तू ज्ञान के विषयभूत पदार्थों का भी पति है। तेरा ज्ञान केवल शास्त्रीय ज्ञान न होकर क्रियात्मक भी है। आगम व प्रयोग दोनों में निपुण होने से ही तेरी ज्ञान की वाणी लोगों पर विशेष प्रभाव रखती है। इस प्रकार **भूतानां पतये**=भूतों-प्राणियों की रक्षा करनेवाले तेरे लिए **स्वाहा**=हम शुभ शब्दों का उच्चारण करते हैं।

भावार्थ—लोकहित के लिए ज्ञान का प्रसार आवश्यक है। हम भुवपति=शास्त्र-ज्ञान-निपुण तथा भुवनपति=पदार्थ-प्रयोग-ज्ञान-निपुण बनकर भूतपति=प्राणियों के रक्षक बनें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्चीत्रिष्टुप्[उ], भुरिगार्चीपङ्क्तिः[क], पंङ्क्तिः[र]। **स्वरः**—धैवतः[उ], पञ्चमः[क,र]॥

यजमानस्य परिधिः (प्रभुरूप केन्द्रवाला)

[उ]गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः परिदधातु विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिडऽईडितः। [क]इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिडऽईडितः। [र]मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः परिधत्तां ध्रुवेण धर्मणा विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिडऽईडितः॥ ३॥

१. पिछला मन्त्र 'भूतानां पतये' शब्द पर समाप्त हुआ था। मनुष्यों को अपने जीवन का लक्ष्य 'प्राणियों का रक्षक व पालक बनना', रखना चाहिए। जो व्यक्ति जीवन का यह ध्येय बनाता है, प्रभु उसकी रक्षा करते हैं। मन्त्र में कहते हैं कि वह **गन्धर्वः**=(गां वेदवाचं धारयति) वेदवाणी का धारक **विश्वावसुः**=सबको निवास देनेवाला प्रभु **त्वा**=तेरा **परिदधातु**=

धारण करे। जो लोगों का धारण करता है, प्रभु उसका धारण करते हैं। प्रभु इसका धारण इसलिए करते हैं कि **विश्वस्य अरिष्ट्यै**=सबकी अहिंसा के लिए यह प्रवृत्त हुआ है। लोककल्याण में प्रवृत्त मनुष्य की रक्षा के द्वारा प्रभु लोककल्याण करते हैं। यह यज्ञमय जीवनवाला व्यक्ति **यजमानस्य**=सृष्टि-यज्ञ के प्रवर्तक प्रभु की **परिधिः असि**=परिधि (circumference) होता है, अर्थात् प्रभु इसके जीवन का केन्द्र होते हैं। इसकी सारी क्रियाएँ प्रभु के चारों ओर घूमती हैं। खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते यह प्रभु को कभी भूलता नहीं। ३. **अग्निः**=प्रभु को केन्द्र बनाकर चलने से यह निरन्तर आगे बढ़ता चलता है। इस अग्रगति के कारण यह 'अग्नि' है। ४. **इडः**=(इडा अस्य अस्ति) यह वेद-ज्ञानवाला होता है (इडा=A law) अथवा यह जीवन में एक नियमवाला होता है। इसका जीवन नियमित बन जाता है। ५. **ईडितः**=इसी कारण यह (ईड स्तुतौ) लोगों के द्वारा स्तुत होता है अथवा (ईडितमस्यास्तीति) यह अपने जीवन में प्रभु-स्तवनवाला होता है। ६. **इन्द्रस्य**=उस प्रभु का **दक्षिणः बाहुः असि**=यह दाहिना हाथ है, **विश्वस्य अरिष्ट्यै**=लोक की अहिंसा के लिए प्रभु से की जानेवाली क्रियाओं में यह उन क्रियाओं का माध्यम बनता है। **यजमानस्य**=सृष्टियज्ञ के प्रवर्तक प्रभु की यह **परिधिः असि**=परिधि है, अर्थात् तेरी सब क्रियाओं के केन्द्र प्रभु होते हैं। **अग्निः**=यह आगे बढ़नेवाला है, **इडः**=वेदवाणीवाला है, अथवा जीवन में एक नियमवाला है। **ईडितः**=तू स्तुत्य होता है अथवा तू निरन्तर प्रभु का स्तवन करनेवाला बनता है। ७. **मित्रावरुणौ**=प्राणापान अथवा स्नेह की देवता मित्र और द्वेष-निवारण की देवता वरुण **त्वा**=तुझे **उत्तरतः परिधत्ताम्**=उत्कृष्ट स्थिति में स्थापित करें। ये तेरी उन्नति का कारण बनें। तू **ध्रुवेण**=स्तुति-निन्दा से, जीवन व मरण से न विचलित होनेवाले **धर्मणा**=धर्म से **विश्वस्य**=लोक की **अरिष्ट्यै**=अहिंसा के लिए हो, अर्थात् तेरे स्थिर धारणात्मक कर्म लोक का कल्याण करनेवाले हों। ८. **यजमानस्य परिधिः असि**=उस प्रभु की तू परिधि बन, अर्थात् प्रभु तेरे केन्द्र हों। **अग्निः**=तू आगे बढ़नेवाला बन। **इडः**=नियमित जीवनवाला बन अथवा वेदज्ञान को अपनानेवाला हो, **ईडितः**=इस प्रकार तू स्तुतिवाला बन।

९. प्रस्तुत मन्त्र में 'विश्वस्यारिष्ट्यै' आदि मन्त्रभाग तीन बार आया है। इसका भाव यह है कि हमारे शरीर, मन व बुद्धि की सब क्रियाएँ लेकिहित के लिए हों। सभी क्रियाओं में हम प्रभु को केन्द्र जानकर चलें। हमारी 'जाग्रत्', स्वप्न व सुषुप्ति' अवस्था की स्थूल, सूक्ष्म व कारण-शरीरों से चलनेवाली क्रियाएँ लोकहित की साधक हों। हमारा ज्ञान और हमारी क्रिया व श्रद्धा सब लोकहित का साधन बनें।

भावार्थ—मैं इस योग्य बनूँ कि प्रभु मेरा धारण करें। मैं प्रभु का दाहिना हाथ बनूँ और प्राणापान अथवा प्रेम व अद्वेष मेरे उत्थान का कारण बनें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

प्रभु-स्तवन

वी॒तिहो॑त्रं त्वा कवे द्यु॒मन्त॒ꣳसमि॑धीमहि। अग्ने॑ बृ॒हन्त॑मध्व॒रे॥४॥

गत मन्त्र की समाप्ति 'ईडितः' शब्द पर है, जिसका अर्थ है स्तुतिवाला। वही स्तुति प्रस्तुत मन्त्र में चलती है—हे **कवे**=(कौति सर्वा विद्याः, कु शब्दे) सब विद्याओं का उपदेश देनेवाले, **अग्ने**=सबकी उन्नति के साधक प्रभो! हम **अध्वरे**=अपने इस हिंसा व कुटिलताशून्य जीवन में (ध्वरः हिंसा व कुटिलता) **त्वा**=आपको **समिधीमहि**=दीप्त करने का प्रयत्न करते

हैं, जो आप (क) **वीतिहोत्रम्**=(वीति=प्रकाश, होत्रा=वाक्) प्रकाशमय वाणीवाले हैं। आपकी यह वेदवाणी हमारे जीवन के अन्धकार को नष्ट करके उन्हें प्रकाशमय बनाती है, (ख) **द्युमन्तम्**= ज्योतिर्मय हैं। 'आदित्यवर्णम्' सूर्य के समान आपका वर्ण है। इस सूर्य के समान ही क्या? **दिवि सूर्यसहस्रस्य**=हज़ारों सूर्यों की समुदित ज्योति के समान आपकी ज्योति है। वस्तुतः आपकी ज्योति से ही तो यह सब पिण्ड ज्योतिर्मय हो रहे हैं। **तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**, (ग) **बृहन्तम्**=आप बृहत् हैं (बृहि वृद्धौ), सदा वर्धमान है। आप विशाल-से-विशाल हैं। सारे प्राणियों के आप निवास-स्थान हैं। सर्वत्र समरूप से आप अवस्थित हैं।

इस प्रकार आपका स्तवन करता हुआ मैं भी प्रकाशमय वाणीवाला (वीतिहोत्र) बनूँ। मेरी वाणी सदा लोगों के ज्ञान की वृद्धि का हेतु बने। मेरा जीवन प्रकाशमय हो (द्युमान्), मेरा हृदय विशाल हो। आपकी वेदवाणी का प्रसार करता हुआ मैं भी कवि बनूँ। निरन्तर उन्नति-पथ पर चलता हुआ और औरों को आगे ले-चलता हुआ मैं भी आपकी भाँति अग्नि बनूँ।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन हमारे सामने इस ऊँचे लक्ष्य को रक्खे कि हम 'प्रकाशमय वाणीवाले, ज्योतिर्मय जीवनवाले और विशाल हृदय' बनें। हम आगे बढ़नेवाले 'अग्नि' हों और विद्या का प्रकाश करनेवाले 'कवि' हों।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—निचृद्ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

देव-सदन

समिदसि सूर्यस्त्वा पुरस्तात् पातु कस्याश्चिदभिशस्त्यै।
सवितुर्बाहू स्थऽऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थं देवेभ्यऽआ
त्वा वसवो रुद्राऽआदित्याः सदन्तु॥ ५॥

१. गत मन्त्र में स्तोता ने प्रभु का स्तवन किया था कि हे प्रभो! आप द्युमान् हो। इस स्तोता ने इस द्युमान् प्रभु को अपने में समिद्ध करने का प्रयत्न किया था। उसी प्रयत्न के परिणामस्वरूप यह स्वयं दीप्त हो उठा है। मन्त्र में कहते हैं कि **समित् असि**=हे स्तोतः! तू उस प्रभु को समिद्ध करता हुआ स्वयं समिद्ध हो उठा है—तू चमकनेवाला—दीप्त हो गया है। प्रभु-ध्यान के समय **पुरस्तात् सूर्यः**=सामने वर्त्तमान सूर्य **त्वा**=तुझे **कस्याश्चित्**= किसी भी **अभिशस्त्यै**=हिंसा से **पातु**=बचाए। हम प्रभु का ध्यान कर रहे हों और सामने उदित होता हुआ यह 'हिरण्यपाणि सवितादेव' अपनी किरणों से हमारे शरीरों में स्वर्ण के इञ्जैक्शन लगाता हुआ रोगकृमियों का संहार करे। २. इस प्रकार प्रभु का ध्यान करनेवाले पति-पत्नी से कहते हैं कि आप दोनों **सवितुः**=इस ब्रह्माण्ड के उत्पादक प्रभु के **बाहू स्थः**=बाहु हो, अर्थात् पति-पत्नी दोनों को प्रभु से की जानेवाली क्रियाओं का माध्यम बनना चाहिए। यही समझना चाहिए कि सब क्रियाएँ प्रभु ही कर रहे हैं, हम तो निमित्तमात्र हैं।

३. अब पति-पत्नी में पति के लिए कहते हैं कि **ऊर्णम्रदसम्**=(ऊर्ण आच्छादने) दूसरों के दोषों का आच्छादन करनेवाले नकि उद्घोषणा करनेवाले, अत्यन्त कोमल स्वभाववाले **त्वा**=तुझे **स्तृणामि**=दिव्य गुणों से आच्छादित करता हूँ, जो व्यक्ति पापों की चर्चा न करके शुभ की चर्चा करता है, वह स्वयं भी दिव्य गुणोंवाला बनता है। ४. **देवेभ्यः स्वासस्थम्**=दिव्य गुणों के लिए उत्तम आश्रयस्थल (सु+आस+स्थ) **त्वा**=तुझे **वसवः, रुद्राः आदित्याः**=वसु,

रुद्र और आदित्य **सदन्तु**=अपने बैठने का स्थान बनाएँ, अर्थात् तू सब देवों का निवास-स्थान बन। जो व्यक्ति औरों के अवगुणों को देखता रहता है वह देवों का आश्रयस्थान न बन सब अशुभों का आगार बन जाता है। गुणों को देखनेवाला गुणों की खान बन जाता है।

भावार्थ—प्रभु का ध्यान करते हुए हम दीप्तिमय बनते हैं। दोषों को न देखते हुए हम गुणों के पात्र बनते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—ब्राह्मीत्रिष्टुप्[क], निचृत्त्रिष्टुप्[र]। **स्वरः**—धैवतः॥

घृताची अथवा जुहू, उपभृत्, ध्रुवा

[क] घृताच्य॑सि जु॒हूर्नाम्ना॒ सेदं प्रि॒येण॒ धाम्ना॑ प्रि॒यꣳ सद॒ऽआसी॑द घृ॒ताच्य॑स्युप॒भृन्नाम्ना॒ सेदं प्रि॒येण॒ धाम्ना॑ प्रि॒यꣳ सद॒ऽआसी॑द घृ॒ताच्य॑सि ध्रु॒वा नाम्ना॒ सेदं प्रि॒येण॒ धाम्ना॑ प्रि॒यꣳ सद॒ऽआसी॑द [र] प्रि॒येण॒ धाम्ना॑ प्रि॒यꣳ सद॒ऽआसी॑द। ध्रु॒वाऽअ॑सदन्नृ॒तस्य॒ योनौ॒ ता वि॑ष्णो पाहि पा॒हि य॒ज्ञं पा॒हि य॒ज्ञप॑तिं पा॒हि मां य॑ज्ञ॒न्य॑म्॥ ६॥

पिछले मन्त्र के अन्त में पति के जीवन का चित्रण था। प्रस्तुत मन्त्र में पत्नी के जीवन का उल्लेख है—१. **घृताची असि**=तू घृताची है। घृत शब्द के दो अर्थ हैं—मल का क्षरण और दीप्ति। अञ्च के भी दो अर्थ हैं 'गति और पूजन'। मलावरोध से गति रुकती है। पत्नी घर में सब मलों को दूर करके सामान्य कार्यक्रम को चलाये रखती है, साथ ही ज्ञान की दीप्ति से प्रभु का पूजन करनेवाली होती है। ज्ञानी ही प्रभु का आत्मतुल्य प्रिय भक्त होता है, अतः पत्नी ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न करती है। २. **नाम्ना जुहूः**=तू नाम से 'जुहू' है। 'हु दानादानयोः' दान व आदान करनेवाली है। घर में पति को कमाना है और सब लेन-देन, संग्रह व व्यय पत्नी को ही करना होता है। **अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत्** (मनु०)। दूसरे शब्दों में घर की अर्थसचिव पत्नी होती है। हु धातु का अर्थ 'दानादनयोः' भी मिलता है। तब 'जुहू' शब्द की भावना यह होती है कि जो सबको देकर—खिलाकर पश्चात् यज्ञशिष्ट को खाती है। ३. **सा**=वह तू **प्रियेण धाम्ना**=तृप्ति देनेवाले तेज के साथ **इदं प्रियं सदः**=इस प्रेम के वातावरणवाले घर में **आसीद**=आसीन हो। पत्नी को तेजस्वी होना है। उसका यह तेज उसे उग्र स्वभाव का न बना दे। उसे अपनी तेजस्विता से घर के सारे वातावरण को अत्यन्त कान्त बनाना है। घर एक प्रिय घर हो। घर में किसी प्रकार के कलह का वातावरण न हो।

४. **घृताची असि**=तू मलों व विघ्नों को दूर करके सामान्य कार्यक्रम को चलानेवाली है और ज्ञान-यज्ञ से प्रभु का उपासन करनेवाली है। ५. **नाम्ना उपभृत्**=उपभृत् नामवाली है। सबको पालित व पोषित करनेवाली है। ६. **सा**=वह तू **प्रियेण धाम्ना**=प्रिय तेज से युक्त हुई-हुई **इदं प्रियं सदः**=इस प्रेमपूर्ण घर में **आसीद**=आसीन हो। ७. **घृताची असि**=तू मलों को दूर करके क्रिया-प्रवाह को चलानेवाली है और ज्ञान के द्वारा प्रभु का पूजन करनेवाली है। ८. **नाम्ना ध्रुवा**=तू ध्रुवा नामवाली है। अन्तरिक्ष में ध्रुव तारे के समान तू पतिगृह में ध्रुव होकर रहनेवाली है, पतिगृह से डिगनेवाली नहीं है। वस्तुतः पत्नी को पिता के घर से आकर फिर पितृगृह में जाने का विचार ही नहीं करना चाहिए। उसे पतिगृह को ही अपना घर समझना चाहिए। उसे ही तो इस घर को बनाना है। ८. **सा**=वह तू **प्रियेण धाम्ना**=प्रिय तेज से **इदं प्रियं सदः**=इस प्रिय लगनेवाले घर में **आसीद**=विराज। निश्चय से **प्रियेण धाम्ना**=अपने इस प्रिय तेज से **प्रियं सदः आसीद**=इस प्यारे घर में ही विराजमान

हो। दो बार कथन दृढ़ता प्रकट करने के लिए है।

१०. इस प्रकार पत्नी को 'शरीर, मन व बुद्धि' से घृताची बनना है। उसे त्रिविध तेज को प्राप्त करके घर की बड़ी उत्तम व्यवस्था करनी है। घर के सारे वातावरण को सुन्दर बनाना बहुत कुछ पत्नी का ही कर्त्तव्य है। उसे घर की व्यवस्था को प्रेम व तेज से ऐसा सुन्दर बनाना है कि घर में सब कार्य ठीक समय पर व ठीक स्थान में हों। यह घर **ऋतस्य**=सत्य का घर बन जाए। इसमें सब बातें ठीक (ऋत=right) ही हों। इस **ऋतस्य योनौ**=सुव्यवस्थित घर में घर के सब व्यक्ति **ध्रुवा असदन्**=ध्रुव होकर रहें।

११. इस उत्तम पत्नी को पाकर पति प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **विष्णो**=सर्वव्यापक प्रभो! **ताः पाहि**=आप इस 'ऋतयोनि' में निवास करनेवाली प्रजाओं की रक्षा कीजिए। यह रक्षा किया गया सत्य इनकी रक्षा करनेवाला हो। **पाहि यज्ञम्**=आप ऐसी कृपा कीजिए कि इस घर में यज्ञ सदा सुरक्षित हो, यज्ञ का इस घर में विच्छेद न हो। **पाहि यज्ञपतिम्**=यज्ञ की रक्षा करनेवाले की आप रक्षा कीजिए। **'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे'** से बना पत्नी शब्द सुव्यक्तरूप से कह रहा है कि यज्ञ की रक्षा का उत्तरदायित्व बहुत कुछ पत्नी पर ही है। उस यज्ञ की रक्षिका (यज्ञ-पति) की आप रक्षा कीजिए और **माम्**=मुझ **यज्ञन्यम्**=सब द्रव्यों को जुटाने के द्वारा यज्ञ को आगे चलानेवाले को भी **पाहि**=सुरक्षित कीजिए।

भावार्थ—पत्नी को विघ्नों को दूर करके क्रिया-प्रवाह को चलानेवाली बनना है, ज्ञान-दीप्ति से ज्ञानधन प्रभु की उपासना करनी है। दान और आदान की क्रिया को ठीक रखना है। सबको खिलाकर खाना है। सबकी आवश्यकताओं को जानकर सभी का पालन करना है। घर में ध्रुव होकर रहना है। तेज को धारण करना है, परन्तु उग्र नहीं बनना। घर को प्रेम के वातावरण से पूर्ण करना है। घर में सब कार्य व्यवस्थित रूप से हों, ऐसी व्यवस्था करनी है और यज्ञ को विच्छिन्न नहीं होने देना है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

नमः+स्वधा

अग्ने॑ वाजजि॒द् वाजं॑ त्वा सरि॒ष्यन्तं॑ वाजजि॒तꣳ सम्मा॑र्ज्मि।
नमो॑ दे॒वेभ्यः॑ स्व॒धा पि॒तृभ्यः॑ सु॒यमे॑ मे भूयास्तम्॥ ७॥

गृहपति को प्रभु प्रेरणा देते हैं कि **अग्ने**=हे घर की उन्नति के साधक! **वाजजित्**=सब शक्तियों व धनों को जीतनेवाले **वाजं सरिष्यन्तम्**=शक्ति व धन की ओर निरन्तर बढ़नेवाले (सृ गतौ) और इस प्रकार **वाजजितम्**=शक्तियों और धनों के विजेता **त्वा**=तुझे **सम्मार्ज्मि**=मैं अच्छी प्रकार शुद्ध करता हूँ। तेरे कारण घर की सदा उन्नति हो। घर में निर्बलता व निर्धनता का स्थान न हो। तू निरन्तर शक्ति व धन की ओर बढ़नेवाला हो तथा इन्हें प्राप्त करनेवाला हो। इस उद्देश्य से मैं तेरे जीवन को पवित्र करता हूँ। जीवन में वासनाओं के मल का प्रवेश होते ही सब उन्नति समाप्त हो जाती है, निर्बलता व निर्धनता का प्रवेश होने लगाता है। धीरे-धीरे शक्ति का ह्रास होकर जीवन विनष्ट हो जाता है।

यह विलास से बचनेवाला गृहपति प्रभु से प्रार्थना करता है कि २. **मे**=मेरे इस **सु-यमे**=उत्तम नियम-मर्यादा व आत्म-संयमवाले घर में (क) **देवेभ्यः नमः**=देवों के लिए नमन और (ख) **पितृभ्यः**=पितरों के लिए-वृद्ध माता-पिता आदि के लिए **स्वधा**=अन्न **भूयास्तम्**=सदा बने रहें। जिस घर में लोगों का जीवन विलासमय न होकर शक्ति का

सम्पादन करनेवाला होता है, वह घर 'सु-यम'=उत्तम आत्मसंयमवाला होता है। इस घर के दो लक्षण हैं। एक तो इस घर में देवपूजा सदा बनी रहती है। सर्वमहान् देव प्रभु का उपासन होता है, वायु आदि देवों की पूजा के लिए 'देवयज्ञ' चलता है और घर का नियम यह होता है कि माता, पिता, आचार्य व अतिथियों को देव समझकर उनका उचित आदर सदा बना रहता है। इस घर का दूसरा प्रमुख गुण यह होता है कि इसमें वृद्ध माता-पिता के लिए प्रेमपूर्वक अन्न प्राप्त कराया जाता है। ठीक बात तो यह है कि उन्हें अन्न प्राप्त कराके दूसरे लोग उनके पश्चात् ही खाते हैं। वस्तुतः इस पितृसेवा से छोटी सन्तानों को सुन्दर शिक्षण प्राप्त होता है और इस प्रकार इन बड़ों की सेवा से हम अपना ही धारण करते हैं। 'स्व-धा' शब्द की यही भावना है।

भावार्थ—हमारे घर 'सु-यम' हों। उनमें देवों को नमन और पितरों को स्वधा प्राप्त हो।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

प्रभु की शरण में

अस्कन्नमद्य देवेभ्यऽआज्यꣳ संभ्रियासमङ्घ्रिणा विष्णो मा त्वावक्रमिषं वसुमतीमग्ने ते च्छायामुपस्थेषं विष्णो स्थानमसीतऽइन्द्रो वीर्यमकृणोदूर्ध्वोऽध्वरऽ आस्थात्॥ ८॥

पिछले मन्त्र में प्रार्थना थी कि हमारे व्यवस्थित घर में 'नमः देवेभ्यः' तथा 'स्वधा पितृभ्यः'—ये दो कार्य सदा चलते रहें। 'देवेभ्यः नमः' ही सामान्य भाषा में 'देवयज्ञ' कहलाता है। उस देवयज्ञ का वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में है। गृहस्थ की प्रार्थना है—१. मैं **अद्य**=आज ही, आज से ही **देवेभ्यः** वायु आदि देवों के लिए **आज्यम्**=घृत को **अंघ्रिणा**=(पादः पदंघ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्) अपनी गति व पुरुषार्थ से **अस्कन्नम्**=अविच्छिन्न रूप से **सम्भ्रियासम्**=प्राप्त कराऊँ। 'स्कन्दिर् गतिशोषणयोः' धातु से बना हुआ 'अस्कन्नम्' क्रियाविशेषण यह सूचित करता है कि अग्नि आदि देवों के लिए मेरा घृत प्राप्त कराने का कार्य शुष्क न हो जाए—बीच में ही समाप्त न हो जाए। मैं यह समझ लूँ कि इस कार्य से मेरी मुक्ति मृत्यु के साथ ही होनी है। यह अग्निहोत्र 'जरामर्य' सत्र है। २. हे **विष्णो**=सर्वव्यापक प्रभो! मैं **त्वा**=तेरा **मा अवक्रमिषम्**=कभी उल्लंघन न करूँ। मैं सदा आपकी आज्ञा का पालन करनेवाला बनूँ। हे **अग्ने**=मुझे निरन्तर आगे ले-चलनेवाले प्रभो! मैं **ते**=तेरी **वसुमतीम्**=उत्तम निवास देनेवाली **छायाम्**=शरण में **उपस्थेषम्**=स्थित होऊँ। वास्तविकता यह है कि **विष्णो**=हे सर्वव्यापक प्रभो! **स्थानम् असि**=ठहरने का स्थान तो आप ही हो। सचमुच जीव को आपका ही आधार है। प्रकृति का आधार तो अत्यन्त अविश्वसनीय ही है, सांसारिक बन्धुओं का आधार भी बहुत कुछ स्वार्थमय है।

३. **इतः**=यहाँ से ही—इस प्रभुरूप आधार से ही **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव **वीर्यम्**=शक्ति को **अकृणोत्**=सम्पादित करता है। जीव जितना-जितना प्रभु के सम्पर्क में आता है, उतना-उतना ही शक्तिशाली बनता है। सम्पूर्ण शक्ति का स्रोत प्रभु ही हैं। ४. हे प्रभो! आप ऐसी कृपा करो कि हमारे जीवनों में **अध्वरः**=अहिंसा व अकुटिलता से युक्त यज्ञ **ऊर्ध्वः**=सबसे ऊपर **आस्थात्**=स्थित हो, अर्थात् हम यज्ञ को अपने जीवन में सर्वोच्च स्थान दें। यह हमारा प्रथम (first and foremost) कर्त्तव्य हो। हम शक्ति प्राप्त करें और उसका विनियोग यज्ञों में करें।

भावार्थ—हमारा जीवन एक अविच्छिन्न यज्ञ हो। हम प्रभु की आज्ञा का उल्लंघन न करें। हम प्रभु की शरण में स्थित हों, शक्ति प्राप्त करें और उस शक्ति का यज्ञात्मक कर्मों में विनियोग करें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः॥

होत्रं, दूत्यम् (देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ)

अग्ने वेर्होत्रं वेर्दूत्युमवतां त्वां द्यावापृथिवीऽअव त्वं द्यावापृथिवी स्विष्टकृद् देवेभ्यऽइन्द्रऽआज्येन हविषा भूत्स्वाहा सं ज्योतिषा ज्योतिः॥ ९॥

प्रभु अपने उपासक से कहते हैं कि १. **अग्ने**=हे उन्नति-पथ पर चलनेवाले जीव! **होत्रम्**=अग्निहोत्र को—देवयज्ञ को—देवताओं को देकर यज्ञशेष के खाने की वृत्ति को तू **वेः**=अपने अन्दर प्रेरित कर (वी=गति, वीर गतौ)। तू सदा यज्ञ करनेवाला बन। २. **दूत्यम्**=दूत कर्म को तू **वेः**=अपने में प्रेरित कर। जैसे दूत सन्देश-वहन का काम करता है, उसी प्रकार तू प्रभु के सन्देश-वहन के कार्य को करनेवाला बन। प्रभु की दी हुई इस वेदवाणी को पढ़ता हुआ तू इसका सन्देश औरों को सुनानेवाला बन। वस्तुतः ब्रह्मयज्ञ तो यही है। ३. इन यज्ञों को ठीक से चलाने के लिए **द्यावापृथिवी**=(मूर्ध्नो द्यौः, पृथिवी शरीरम्) मस्तिष्क व शरीर **त्वा**=तेरा **अवताम्**=रक्षण करें। **त्वम्**=तू भी **द्यावापृथिवी**=इन मस्तिष्क व शरीर का **अव**=रक्षण कर। तू इनका ध्यान कर, ये तेरा ध्यान करें। स्वस्थ मस्तिष्क व शरीर मनुष्य की सब क्रियाओं के साधक होते हैं, अतः मनुष्य को भी इनका पूरा ध्यान रखना है।

४. मस्तिष्क व शरीर को स्वस्थ रखनेवाला **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **देवेभ्यः**=अग्नि, वायु आदि देवों के लिए **आज्येन**=घृत से तथा **हविषा**=हविर्द्रव्यों से, सामग्री आदि से **स्विष्टकृत्**=(सु+इष्ट+कृत्) उत्तम यज्ञों को करनेवाला **भूत्**=हो। मस्तिष्क व शरीर के स्वास्थ्य का रहस्य 'इन्द्र' शब्द से व्यक्त हो रहा है। 'इन्द्रः' का अर्थ है जितेन्द्रिय। जितेन्द्रियता ही स्वास्थ्य का मूल-मन्त्र है। यह जितेन्द्रिय पुरुष कभी स्वादवश न खाएगा और न रोगी होगा। **'रसमूला हि व्याधयः'**—स्वाद ही बीमारियों का मूल है। **स्वाहा**=यह 'स्व' स्वार्थ का 'हा'=त्याग तो उसमें सदा बना ही रहे। ५. हे इन्द्र! तू **ज्योतिषा**=ज्योति के द्वारा **ज्योतिः सम्** (गच्छस्व)=ज्योति को प्राप्त करनेवाला बन। सदा ज्ञानियों के सम्पर्क में आकर तू अपने ज्ञान को बढ़ा और ज्ञानवृद्ध होकर इस ज्ञान के सन्देश को दूसरों तक पहुँचानेवाला बन। इस प्रकार तेरा जीवन 'होत्र व दूत्य' से परिपूर्ण हो।

भावार्थ—हम स्वस्थ शरीरवाले बनकर यज्ञ आदि कर्मों में निरत रहें और स्वस्थ मस्तिष्कवाले बनकर प्रभु की ज्ञान-ज्योति को प्राप्त करने व करानेवाले बनें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिग्ब्राह्मीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

शक्ति+धन+इच्छा

मयीदमिन्द्रऽइन्द्रियं दधात्वस्मान् रायो मघवानः सचन्ताम्।
अस्माकꣳ सन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिषऽउपहूता पृथिवी
मातोप मां पृथिवी माता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात् स्वाहा॥ १०॥

१. गत मन्त्र के होत्र व दूत्य तभी ठीक चल सकते हैं, जब शरीर में शक्ति हो।

शक्ति के साथ धन भी आवश्यक है। धनाभाव में द्रव्यसाध्य ये यज्ञ कैसे चल सकते हैं? द्रव्य भी हो, परन्तु इच्छा न हो तो भी यज्ञादि उत्तम कर्मों का प्रवर्तन नहीं होता, अतः प्रस्तुत मन्त्र में 'शक्ति, धन व सदिच्छा' की प्रार्थना की गई है। २. **इन्द्रः**=सर्वशक्ति-सम्पन्न, परमैश्वर्यवान् प्रभु **मयि** =मुझमें **इदं इन्द्रियम्**=इस शक्ति को **दधातु**=स्थापित करे। मेरी एक-एक इन्द्रिय पूर्ण आयुष्यपर्यन्त शक्ति-सम्पन्न बनी रहे, जिससे मैं उत्तम कर्मों के करने में सक्षम बना रहूँ। ३. उन यज्ञादि उत्तम कर्मों के लिए आवश्यक **रायः**=धन **अस्मान्**=हमें **सचन्ताम्**=प्राप्त हों, परन्तु ये धन **मघवानः**=(मा अघ) पाप के लवलेश से भी शून्य हों। हमारे धन पवित्र हों और यज्ञादि पवित्र कार्यों के वे साधन बनें। ४. शक्ति और धन के होने पर **अस्माकं आशिषः सन्तु**=हममें विविध कार्यों के लिए इच्छाएँ हों। इन इच्छाओं के अभाव में वे धन किसी भी कार्य में विनियुक्त न होकर हमारे कोशों में ही बन्द रहेंगे। कृपण का धन सदा धन ही बना रहता है, वह उत्तम कार्यों में विनियुक्त होकर उसे 'धन्य' कहलाने योग्य नहीं बनता, अतः हममें इच्छाएँ हों, परन्तु **नः**=हमारी ये **आशिषः**=इच्छाएँ **सत्याः सन्तु**=सत्य हों। अशुभ इच्छाएँ हमारे धनों का विनियोग अशुभ कार्यों में करवाकर हमारे विनाश का कारण ही बनेंगी।

४. **पृथिवी माता**=यह भूमिरूप माता **उपहूता**=मेरे द्वारा पुकारी जाए और **माम्**=मुझे **पृथिवी माता**=यह भूमि माता **उप**=समीप **ह्वयताम्**=पुकारे। मैं पृथिवी को माता समझूँ और पृथिवी मुझे पुत्र-तुल्य प्रेम करे। अध्यात्म में 'पृथिवी' शरीर है। इस शरीर को मैं माता समझूँ। माता के समान यह शरीर मेरे लिए आदरणीय हो। मैं इसकी कभी उपेक्षा न करूँ। शरीर को जितना हम पृथिवी के सम्पर्क में रखेंगे, उतना ही यह स्वस्थ रहेगा। 'शरीर पर भस्म रमाना, अखाड़े की शुद्ध मिटी में लोट-पोट होना, भूमि पर सोना, नङ्गे पाँव चलना'-ये सब बातें शरीर के स्वास्थ्य का कारण बनती हैं। हाँ, इन सब बातों को बुद्धिपूर्वक करना चाहिए। पृथिवी से उत्पन्न वानस्पतिक पदार्थों का प्रयोग स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। जैसे माता बच्चे का अपने दूध से पोषण करती है, उसी प्रकार यह पृथिवी माता अपने ओषधिरसों से हमारा पालन करती है। ५. 'आग्नीध्र' शब्द द्यावापृथिवी के लिए प्रयुक्त होता है। '**द्यावापृथिव्यौ वा एष यदाग्नीध्रः**'-शत० १।८।१।४१। इस **आग्नीध्रात्**=अग्नि के आधारभूत पृथिवी से **अग्निः**=पृथिवी का यह मुख्य देव अग्नि **स्वाहा**=मुझमें सुहुत हो (सु+हा)। पृथिवीस्थ देवों का मुख्य देवता अग्नि है। इस शरीर में भी मुख्यता इस अग्निदेव की ही है। जब तक यह है तभी तक जीवन है। यह शान्त हुआ और जीवन भी समाप्त हो जाता है। मुझमें यह अग्नि बना रहे और मैं शक्ति, धन तथा सदिच्छाओं का सम्पादन करता हुआ यज्ञादि उत्तम कार्यों में लगा रहूँ।

भावार्थ-मुझमें शक्ति हो, सुपथ से अर्जित धन हो। मेरा धन शुभ इच्छाओं से पूर्ण हो। मैं इस पृथिवी माता का प्रिय बनूँ। मुझमें अग्नि अर्थात् जीवन हो, जिससे मेरे द्वारा यज्ञादि कार्य सम्पन्न हो सकें।

ऋषिः-परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**-द्यावापृथिवी। **छन्दः**-ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**-मध्यमः॥

स्वस्थ मस्तिष्क

उपहूतो द्यौष्पितोप मां द्यौष्पिता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात् स्वाहा।
देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
प्रतिगृह्णाम्यग्नेष्ट्वास्येन प्राश्नामि॥ ११॥

१. गत मन्त्र 'पृथिवी माता' के उपाह्वान के साथ समाप्त हुआ था। प्रस्तुत मन्त्र द्यौष्पिता के आह्वान से आरम्भ होता है। **द्यौः पिता**=पितृस्थानीय यह द्युलोक **उपहूतः**=मेरे द्वारा समीप पुकारा जाता है। यह **द्यौःपिता**=पितृस्थानीय द्युलोक **माम्**=मुझे **उपह्वयताम्**=अपने समीप पुकारे। मैं द्युलोक के समीप होऊँ और द्युलोक मेरे समीप हो। अध्यात्म में यह 'द्युलोक' मस्तिष्क है। मैं मस्तिष्क के समीप, मस्तिष्क मेरे समीप, अर्थात् मेरा मस्तिष्क सदा स्व-स्थ हो। मेरी बुद्धि मुझमें ही रहे, कहीं घास चरने न चली जाए। **आग्नीध्रात्** =सूर्यरूप अग्नि के आधार-स्थान इस द्युलोक से **अग्निः**=सूर्य के समान ज्ञान का प्रकाश **स्वाहा** =मुझमें सुहुत हो। मैं स्वस्थ मस्तिष्कवाला बनूँ और मेरे ज्ञान का प्रकाश सूर्य के प्रकाश के समान चमकनेवाला हो।

२. स्वस्थ मस्तिष्कवाला बनकर मैं **त्वा**=प्रत्येक पदार्थ को **सवितुः देवस्य**=उस उत्पादक देव की **प्रसवे** =अनुज्ञा में **प्रतिगृह्णामि**=ग्रहण करूँ। प्रभु के आदेशानुसार प्रत्येक पदार्थ का माप-तोलकर सेवन करूँ। मेरा प्रयोग मात्रा में हो, जिससे वे पदार्थ मेरी बल-वृद्धि का कारण बनें। ३. **अश्विनोर्बाहुभ्याम्**=मैं प्रत्येक पदार्थ को प्राणापान के प्रयत्न से लूँ। बिना प्रयत्न के प्राप्त पदार्थ मेरे ह्रास का ही कारण बनेगा। ४. **पूष्णो हस्ताभ्याम्** =मैं प्रत्येक पदार्थ को पूषा के हाथों से लूँ, अर्थात् पोषण के दृष्टिकोण से उसका प्रयोग करूँ। स्वाद या सौन्दर्य मेरे मापक न हों, उपयोगिता ही मेरी कसौटी हो। ५. अन्तिम बात यह कि **त्वा**=तुझे **अग्नेः आस्येन**=अग्नि के मुख से **प्राश्नामि**=खाता हूँ। पहले तुझे अग्नि को खिलाता हूँ, फिर अवशिष्ट का ही ग्रहण करता हूँ, अर्थात् मैं यज्ञशेष का ही सेवन करता हूँ।

भावार्थ—स्वस्थ मस्तिष्कवाला व्यक्ति संसार में प्रत्येक पदार्थ का प्रयोग (क) प्रभु के आदेशानुसार मात्रा में करता है, (ख) प्रयत्नपूर्वक अर्जित पदार्थ का ही सेवन करने की कामना करता है, (ग) उसका मापक पोषण होता है, न कि स्वाद और (घ) अन्त में वह यज्ञशेष को ही खानेवाला होता है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—भुरिग्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

सृष्टि-यज्ञ का उद्देश्य

एतं ते देव सवितर्यज्ञं प्राहुर्बृहस्पतये ब्रह्मणे।
तेन यज्ञमव तेन यज्ञपतिं तेन मामव॥ १२॥

हे **सवितः**=सारे ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करनेवाले—सृष्टि-यज्ञ के प्रवर्तक! **देव**=सब साधनों को देनेवाले, ज्ञान की ज्योति से दीप्त तथा उपासकों को ज्ञान-ज्योति से द्योतित करनेवाले (देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा द्योतनाद्वा) प्रभो! **ते**=आपके **एतम् यज्ञम्**=इस सृष्टि-यज्ञ को **बृहस्पतये**=(बृहतः पतिः) विशाल हृदय के पति के लिए और **ब्रह्मणे**=उत्कृष्ट सात्त्विक गतिवालों में भी सर्वप्रथम ब्रह्मा के लिए **प्राहुः**=कहते हैं, अर्थात् आपने इस सृष्टिरूप यज्ञ का प्रवर्तन इसलिए किया है कि (क) इसमें जीव उन्नति करते-करते अपने हृदय को अत्यन्त विशाल बनाये। असुर स्वार्थी हैं, देव दानवृत्तिवाले हैं। उन देवों का यह बृहस्पति पुरो-हित है, model है, आदर्श है। हमें इस सृष्टि में बृहस्पति बनना है। यह अपनी ही रक्षा में नहीं लगा रहता, यह इन बड़े-बड़े सभी लोकों का पालन करनेवाला होता है। २. इस सृष्टि-यज्ञ का दूसरा उद्देश्य यह है कि जीव ब्रह्मा बन सके। तमोगुण से ऊपर उठकर रजोगुण में, रजोगुण से ऊपर उठकर सत्त्वगुण में और सत्त्वगुण में भी यह आगे बढ़कर

उत्कृष्ट सात्त्विक जीवनवाला बने। इनमें भी सर्वप्रथम स्थान में 'ब्रह्मा' बने।

हे प्रभो! आप **तेन**=इसी उद्देश्य से कि मैं बृहस्पति व ब्रह्मा बन सकूँ **यज्ञं अव**=मुझमें यज्ञ की भावना को सुरक्षित कीजिए। **तेन**=इसी उद्देश्य से **यज्ञपतिम्**=यज्ञ का पालन करनेवाले मेरी रक्षा कीजिए। **तेन**=इसी उद्देश्य से **मां अव**=मेरा पालन कीजिए, अर्थात् यदि मुझमें 'बृहस्पति व ब्रह्मा' बनने की भावना न हो तब तो मेरा यह जीवन व्यर्थ ही है, उस जीवन की रक्षा के लिए मैं क्या प्रार्थना करूँ? हे प्रभो! मैं आपकी कृपा से आपसे किये जानेवाले इस सृष्टि-यज्ञ के उद्देश्य को समझूँ और इसमें विशाल हृदय व उत्तम सात्त्विक व्यक्ति की श्रेणी में सर्वप्रथम बनने का प्रयत्न करूँ। **'सत्त्वस्य लक्षणं ज्ञानम्'**—सत्त्व का लक्षण ज्ञान है, अतः मैं ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञानवाला 'चतुर्वेदवेत्ता ब्रह्मा' बन पाऊँ। मैं चारों विद्याओं का ज्ञाता होऊँ—**प्रकृति विद्या और जीवविद्या** (natural and social sciences) में निपुण बनने के साथ मैं **आध्यात्मिक विद्या** में (Metaphysics) तो निपुण बनूँ ही, इनके अतिरिक्त आयुर्वेद (Medical science) और **युद्ध-विद्या** (Science of war) में भी नैपुण्य प्राप्त करूँ। ऋग्वेद 'प्रकृति-विद्या' का वेद है, यजुर्वेद 'जीवविद्या' का, साम 'अध्यात्मविद्या' का प्रतिपादक है और अथर्व 'आयुर्वेद व युद्धविद्या' का उल्लेख करता है। मैं इन चारों का वेत्ता (ब्रह्मा) बन पाऊँ। यही तो इस जीवन की सार्थकता है।

भावार्थ—हम सृष्टि-यज्ञ के उद्देश्य को समझें और विशाल हृदय तथा ज्ञान-सम्पन्न बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—बृहस्पतिः। **छन्दः**—विराड्जगती। **स्वरः**—निषादः॥

ओम् का प्रतिष्ठापन

मनो॑ जू॒तिर्जु॑षता॒माज्य॑स्य॒ बृह॒स्पति॑र्य॒ज्ञमि॒मं त॑नो॒त्वरि॑ष्टं य॒ज्ञꣳसमि॒मं द॑धातु। विश्वे॑ दे॒वास॑ऽइ॒ह मा॑दयन्ता॒मो३म्प्रति॑ष्ठ॥ १३॥

१. इस सृष्टि-यज्ञ में हमें बृहस्पति और ब्रह्मा बनना है। **मनः**=मेरा मन **जूतिः**=वेग का **जुषताम्**=सेवन करे। मेरा मन संकल्परूप क्रिया से शून्य न हो। वेगशून्य मन से मैं इस जीवन-यात्रा को क्या पूरा कर पाऊँगा, क्या बृहस्पति और ब्रह्मा बनूँगा? २. मेरा मन **आज्यस्य**=घृत-ज्ञान-दीप्ति का **जुषताम्**=सेवन करे। ३. **बृहस्पतिः**=विशाल हृदय का पति बनकर मनुष्य **इमम्**=इस **अरिष्टम्**=हिंसा से बचानेवाले **यज्ञम्**=यज्ञ को **तनोतु**=विस्तृत करे। जब मनुष्य अपने हृदय को विशाल बनाता है और प्राणिमात्र को अपनी 'मैं' में सम्मिलित कर लेता है तब उसकी वृत्ति यज्ञिय बनती है। यह यज्ञिय वृत्ति मनुष्य को अहिंसित रखती है। यज्ञ से विपरीत भोग या विलास की वृत्ति उसे विनाश की ओर ले-जाती है। इसलिए इस विशाल हृदय मनुष्य को चाहिए कि **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ की भावना को **सन्दधातु**=सम्यक्तया धारण करे।

४. **इह**=इस यज्ञिय वृत्तिवाले मनुष्य के अन्दर **विश्वे देवासः**=सब देव **मादयन्ताम्**=हर्षपूर्वक निवास करें, अर्थात् इस व्यक्ति के जीवनोद्यान में दिव्य गुणरूप पुष्प सदा खिले हुए हों। जितना-जितना इस व्यक्ति में दिव्य गुणों का विकास होगा, उतना-उतना ही यह व्यक्ति प्रभु के आतिथ्य के लिए तैयार हो जाएगा। अब दिव्य गुणों के विकास के पश्चात् कहते हैं कि ५. **ओ३म्**=हे सर्वरक्षक प्रभो! **प्रतिष्ठ**=आप अब इस व्यक्ति के हृदय-मन्दिर में प्रतिष्ठित हो जाइए। जिस प्रकार किसी महान् व्यक्ति को आना हो तो उससे पूर्व उसके

निचले व्यक्ति आ जाते हैं और उसके आने के लिए उसके सारे वातावरण को तैयार कर देते हैं। इसी प्रकार यहाँ देव उपस्थित होकर उस महादेव के आने के लिए सब सम्भारों को जुटा देते हैं। हृदय-मन्दिर में ब्रह्म का स्थापन करनेवाला ही ब्रह्मा है।

भावार्थ—मेरा मन क्रियाशून्य न हो, प्रतिक्षण ज्ञान का अर्जन करे। मैं बृहस्पति=विशाल हृदय बनकर अहिंसक यज्ञ का सेवन करूँ। मेरे जीवन में सब दिव्य गुणों का विकास हो जिससे मेरा हृदय प्रभु की प्रतिष्ठा के योग्य बन जाए। मेरे हृदय-मन्दिर में प्रभु की प्रतिष्ठा हो और मैं ब्रह्मा नामवाला बनूँ। यही तो उत्तम सात्त्विक गुणों में भी सर्वप्रथम स्थान में स्थित होना है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—अनुष्टुप्[क], भुरिगार्चीगायत्री[र]।
स्वरः—गान्धारः[क], षड्जः[र]॥

दीप्ति (The greatest light)

[क] एषा तेऽअग्ने समित्तया वर्धस्व चा च प्यायस्व।
वर्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि।
[र] अग्ने वाजजिद्वाजं त्वा ससृवाꣳसं वाजजितꣳसम्मार्ज्मि॥ १४॥

१. पिछले मन्त्र में 'बृहस्पति और ब्रह्मा' बनने का उल्लेख था। अपने मन में वेग व ज्ञान-दीप्ति को धारण करके वह याज्ञिक वृत्तिवाला 'बृहस्पति' बना था और धीरे-धीरे दिव्य गुणों का विकास करके उसने अपने हृदय-मन्दिर में प्रभु को प्रतिष्ठित किया था। उसका हृदय-मन्दिर सहस्र सूर्यसम ज्योतिवाले ब्रह्म से चमक उठा था। इस मन्त्र का प्रारम्भ इन्हीं शब्दों से होता है कि हे **अग्ने**=जीवन-यात्रा में आगे बढ़नेवाले जीव **एषा**=यही **ते**=तेरी **समित्**=(इन्धी दीप्ति) दीप्ति है। **तया**=इस दीप्ति से तू **वर्धस्व**=बढ़, **च**=और **आप्यायस्व**= पूर्णरूप से अङ्ग-प्रत्यङ्ग में वृद्धिवाला हो। जिस दिन हममें प्रभु की ज्योति जागती है, उस दिन सब प्रकार की मलिनताओं की समाप्ति हो जाती है। किसी बड़े व्यक्ति को आना हो तो जिस प्रकार उसके आगमन-स्थान को स्वच्छ कर दिया जाता है, उसी प्रकार प्रभु के आने के प्रसङ्ग में मेरा शरीर निर्मल होकर खूब फूला-फला लगता है।

२. हे प्रभो! हमारी यही आराधना है कि **वयम्**=हम **वर्धिषीमहि**=निरन्तर बढ़ें **च**= और **आप्यासिषीमहि**=हमारे एक-एक अङ्ग का आप्यायन हो। वास्तविक आप्यायन और वर्धन प्रभु के प्रतिष्ठान के अनुपात में ही होता है। ३. उल्लिखित प्रार्थना करनेवाले साधक से प्रभु कहते हैं कि **अग्ने**=हे उन्नतिशील जीव! **वाजजित्**=सब शक्तियों व धनों के विजेता! **वाजं ससृवांसम्**=शक्ति की ओर चलने में सफल **वाजजितम्** =सब शक्तियों व धनों के विजेता **त्वा**=तुझे मैं **सम्मार्ज्मि**=सम्यक्तया शुद्ध कर देता हूँ।

४. सातवें मन्त्र में 'वाजं त्वा सरिष्यन्तम्' कहा था, यहाँ 'वाजं त्वा ससृवांसम्' कहा गया है। 'सरिष्यन्तं' इस भविष्यत् का स्थान 'ससृवांसम्' इस भूतकाल ने ले-लिया है, मानो आरम्भ हुई बात यहाँ पूर्ण हो गई है। वस्तुतः 'प्रभु प्रतिष्ठापन' के अतिरिक्त और पूर्णता होनी ही क्या है? प्रभु सर्वशक्तिमान् हैं, उनकी शक्ति से साधक भी शक्तिमान् होता है।

भावार्थ—प्रभु को अपने में प्रतिष्ठित करना ही आराधक की सर्वमहती दीप्ति है। यह आराधक प्रभु की शक्ति से शक्तिमान् बनता है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—अग्नीषोमौ [क], इन्द्राग्नी [र]। **छन्दः**—ब्राह्मीबृहती [क], निचृदतिजगती [र]। **स्वरः**—मध्यमः [क], निषादः [र]॥

प्रभु का प्रतिष्ठापन कैसे हुआ ?

[क] अ॒ग्नीषोम॑यो॒रुज्जि॑ति॒मनूज्जे॑षं॒ वाज॑स्य मा प्रस॒वेन॒ प्रोहा॑मि। अ॒ग्नीषोमौ॒ तमप॑नुदतां॒ यो॒ऽस्मान् द्वेष्टि॒ यं च॑ व॒यं द्वि॒ष्मो वाज॑स्यैनं प्रस॒वेनापोहामि। [र] इ॒न्द्रा॒ग्न्योरु॒ज्जि॑ति॒मनूज्जे॑षं॒ वाज॑स्य मा प्रस॒वेन॒ प्रोहा॑मि। इ॒न्द्रा॒ग्नी तमप॑नुदतां॒ यो॒ऽस्मान् द्वेष्टि॒ यं च॑ व॒यं द्वि॒ष्मो वाज॑स्यैनं प्रस॒वेनापोहामि॥ १५॥

१. **अग्नीषोमयोः**=अग्नि व सोमतत्त्व की **उज्जितिम्**=उत्कृष्ट विजय के **अनु**=पश्चात् मैंने **उज्जेषम्**=इस प्रभु-प्रतिष्ठापनरूप विजय को पाया। अग्नितत्त्व 'ज्ञान' का प्रतीक है और सोम 'सौम्यता व नम्रता' का। जब मैंने अपने अन्दर ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित किया और मेरे व्यवहार में सौम्यता व नम्रता ने स्थान लिया तभी मैं जहाँ अपने जीवन को रसमय बना पाया, वहाँ अपने हृदय-मन्दिर में प्रभु का प्रतिष्ठापन करनेवाला बना। 'अनु' पद का महत्त्व स्पष्ट है—'पश्चात्'। इस विद्या और विनय (अग्नि व सोम) की विजय के पश्चात् ही प्रभु-प्रतिष्ठापनरूप महान् विजय हुआ करती है। विद्याविनीत को ही प्रभुदर्शन होता है, अतः मैं २. **वाजस्य प्रसवेन**=(वाग्वै वाजस्य प्रसवः—तै० २।३।२।५) वेदवाणी के द्वारा **मा**=अपने को **प्रोहामि**=परिवर्तित (to change, to modify) करता हूँ—अपने जीवन को उत्कृष्ट बनाता हूँ। 'वाज' का अर्थ है 'शक्ति और ज्ञान'। वेदवाणी ज्ञान को तो उत्पन्न करती ही है, यह मनुष्य की वृत्ति को सुन्दर बनाकर उसे काम-क्रोध से बचाकर शक्तिशाली भी बनाती है। इस प्रकार शक्ति और ज्ञान की उत्पादिका होने से वेदवाणी को यहाँ 'वाजस्य प्रसव' कहा गया है। मेरे ये **अग्नीषोमौ**=अग्नि और सोम—विद्या और विनय **तम्**=उस व्यक्ति को **अपनुदताम्**=दूर करें **यः**=जो **अस्मान् द्वेष्टि**=हम सबके साथ अप्रीति करता है **च**=और परिणामतः **यम्**=जिसको **वयम्**=हम सब **द्विष्मः**=अप्रीति योग्य समझते हैं। **एनम्**=इस समाजहित-द्वेषी को **वाजस्य प्रसवेन**=ज्ञान व शक्ति की उत्पादिका इस वेदवाणी से **अप+ऊहामि**=मैं दूर करता हूँ (to remove)।

४. **इन्द्राग्न्योः**=इन्द्र और अग्नि की **उज्जितिम्**=उत्कृष्ट विजय के **अनु**=पीछे **उज्जेषम्**=मैंने प्रभु-प्रतिष्ठापनरूप महान् विजय की है। अग्नि 'ज्ञान व प्रकाश' का प्रतीक है तो इन्द्र 'बल' का (सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य—नि०) बल के सब कार्य इन्द्र के द्वारा ही किये जाते हैं। इन्द्र ने ही सब असुरों का संहार किया है। शक्ति और ज्ञान की विजय हमें ब्रह्मविजय के योग्य बनाती है। मैं इस शक्ति और ज्ञान की प्राप्ति के लिए **वाजस्य प्रसवेन**=इस वेदवाणी से **मा**=अपने को **प्रोहामि**=उत्कृष्ट जीवनवाला बनाता हूँ। **इन्द्राग्नी**=ये इन्द्र और अग्नि—शक्ति और ज्ञान **तम्**=उसको **अपनुदताम्**=दूर करें **यः**=जो **अस्मान्**=हम सबके साथ **द्वेष्टि**=द्वेष करता है **च**=और **यम्**=जिसको **वयम्**=हम सब **द्विष्मः**=अप्रीति योग्य समझते हैं। **एनम्**=इस समाजद्वेषी व्यक्ति को **वाजस्य प्रसवेन**=वेदवाणी के द्वारा अर्थात् शक्ति और ज्ञान के उत्पादन के द्वारा **अप ऊहामि**=दूर करता हूँ। वस्तुतः यदि वह समाज-द्वेषी व्यक्ति इस वेदवाणी का अध्ययन करने लगता है तब उसका जीवन परिवर्तित होकर वह द्वेषी रहता ही नहीं और हम अपनी शक्ति व ज्ञान की वृद्धि कर लेने पर द्वेष की भावनाओं से ऊपर उठ जाते हैं और उस द्वेषी के साथ इस प्रकार वर्तते हैं कि वह

समाज की हानि का कारण नहीं बन पाता।

भावार्थ—हम अपने जीवनों में 'अग्नि और सोम'—विद्या और विनय का सम्पादन करें। हम 'इन्द्र और अग्नि'—शक्ति व ज्ञान का—क्षत्र व ब्रह्म का विकास करनेवाले बनें जिससे ब्रह्म का विजय कर सकें, अर्थात् अपने हृदयों में ब्रह्म का प्रतिष्ठापन करनेवाले बनें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—द्यावापृथिवी मित्रावरुणौ च[क], अग्निः[र]। **छन्दः**—भुरिगार्चीपङ्क्तिः[क], भुरिक्त्रिष्टुप्[र]। **स्वरः**—पञ्चमः[क], धैवतः[र]॥

पति-पत्नी की परस्पर प्रेरणा

[क] वसुभ्यस्त्वा रुद्रेभ्यस्त्वादित्येभ्यस्त्वा संजानाथां द्यावापृथिवी मित्रावरुणौ त्वा वृष्ट्यावताम्। [र] व्यन्तु वयोक्तꣳरिहाणा मरुतां पृषतीर्गच्छ वशा पृश्निर्भूत्वा दिवं गच्छ ततो नो वृष्टिमावह। चक्षुष्पाऽअग्नेऽसि चक्षुर्मे पाहि॥ १६॥

१. प्रभु के प्रतिष्ठापन का प्रकरण चल रहा है। प्रभु का प्रतिष्ठापन तो तभी होगा जब हमारे जीवनों में सभी देवों का निवास होगा, अतः पत्नी कहती है कि—**वसुभ्यः त्वा**=मैं आपको वसुओं के लिए सौंपती हूँ, **रुद्रेभ्यः त्वा**=आपको रुद्रों के लिए सौंपती हूँ और **आदित्येभ्यः त्वा**=मैं आपको आदित्यों के लिए सौंपती हूँ, अर्थात् मेरी इच्छा है कि आपका उठना-बैठना वसुओं, रुद्रों और आदित्यों के साथ हो। स्वास्थ्य को उत्तम बनानेवाले 'वसु' हैं, मानस को निर्मल बनानेवाले 'रुद्र' हैं तथा मस्तिष्क को उज्ज्वल बनानेवाले 'आदित्य' हैं। पत्नी की प्रथम कामना है कि उसके जीवन-सखा का मेल-जोल स्वस्थ, निर्मल व उज्ज्वल पुरुषों के ही साथ हो। ऐसा होने पर ही व्यक्ति में देवों का निवास हुआ करता है। २. **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क व शरीर **संजानाथाम्**=आपमें समता से निवास करनेवाले (to live in harmony with) हों। शरीर व मस्तिष्क दोनों स्वस्थ हों। शरीर सशक्त हो तो मस्तिष्क उज्ज्वल। ३. **मित्रावरुणौ**=प्राणापान अथवा 'मित्र'=स्नेह की देवता और 'वरुण' द्वेष-निवारण की देवता **त्वा**=आपको **वृष्ट्या**=आनन्द की वर्षा से **आवताम्**=(अव to give pleasure) आनन्दित करें। आपमें स्नेह हो, किसी के प्रति द्वेष न हो और इस प्रकार आपका जीवन आनन्दमय हो।

अब पति पत्नी से कहता है—४. **वयः**=(पक्षिरूपापन्नानि गायत्र्यादीनि छन्दांसि—महीधर) मनुष्य को ऊँची उड़ान करानेवाले—उसके जीवन को उच्च बनानेवाले गायत्री आदि छन्द **अक्तम्**=स्पष्टरूप से **रिहाणाः**=(आस्वादयन्तः) तुम्हें आनन्दित करते हुए **व्यन्तु**=प्राप्त हों, अर्थात् वेदवाणी के अध्ययन में तुम्हें अनुपम आनन्द का अनुभव हो, तुम्हारा अवकाश का सारा समय वेदाध्ययन में बीते। ५. **मरुताम्**=वायुओं की **पृषती**=घोड़ियों को **गच्छ**=तुम प्राप्त होओ। 'मरुत्' प्राण हैं। इनकी सवारियों का अभिप्राय इनपर आरुढ़ होना है—प्राणसाधना के द्वारा प्राणों को वश में करना है। तुम प्राणायाम करनेवाले बनो। आचार्य ने लिखा है कि यह प्राणायामरूप योगसाधन पत्नी भी अवश्य करे। ६. **वशा**=प्राणसाधना के द्वारा तू 'वशा' चित्तवृत्तियों को वश में करनेवाली बन। 'योग' चित्तवृत्तिनिरोध ही है। प्रतिदिन के प्राणायाम के अभ्यास से तेरा चित्त तेरे वश में हो। ७. **पृश्निः**=(संस्पृष्टा भासं ज्योतिषाम्) तू चित्तवृत्तिनिरोध के द्वारा सूक्ष्म बुद्धि होकर ज्ञान-दीप्तियों का स्पर्श करनेवाली बन। ८. तू पृश्नि **भूत्वा**=होकर **दिवम् गच्छ**=प्रकाश को प्राप्त कर—दिव्यता का साधन कर और **ततः**=तब **नः**=हमारे लिए **वृष्टिं आवह**=आनन्द की वृष्टि लानेवाली हो। घर में पति तो

खूब ज्ञान-सम्पन्न हो, परन्तु पत्नी ज्ञान-शून्य हो तो घर में आनन्द नहीं आता, अतः पति कहता है कि पत्नी भी ज्ञान-सम्पन्न व संयत जीवनवाली हो और घर को सदा प्रकाशमय रक्खे।

९. अब पति-पत्नी दोनों मिलकर प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि **अग्ने**=हमारी उन्नति के साधक प्रभो! **चक्षुष्पाः असि**=आप हमारे चक्षु=ज्ञान के रक्षक हैं, **चक्षुः मे पाहि**=आप मेरे ज्ञान की रक्षा कीजिए—मेरे दृष्टिकोण को ठीक बनाये रखिए। वस्तुतः संसार का अच्छा व बुरापन हमारे दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। हमारा दृष्टिकोण ठीक है तो संसार ठीक है, जब हमारा दृष्टिकोण दूषित होता है तो संसार भी विकृत हो जाता है। ठीक दृष्टिकोणवाले संसार में आने का उद्देश्य 'बृहस्पति व ब्रह्मा' बनना—विशाल हृदय व ज्ञानी बनना समझते हैं नकि मौज या भोग-विलास करना। जब हमारा दृष्टिकोण ठीक होगा तो संसार पुण्यमय बनेगा, अन्यथा पापमय।

भावार्थ—घर में पति-पत्नी दोनों ज्ञान-सम्पन्न व स्वस्थ हों। उनका दृष्टिकोण ठीक हो।

ऋषिः—देवलः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः॥

अ-विस्मरण

यं परिधिं पर्यधत्थाऽअग्ने देवपणिभिर्गुह्यमानः।
तं तऽएतमनु जोषं भराम्येष नेत्त्वदपचेतयाताऽअग्नेः प्रियं पाथोऽपीतम्॥ १७॥

१. गत मन्त्र के अन्तिम शब्दों के अनुसार जब मनुष्य का संसार में रहने का दृष्टिकोण ठीक होता है तब वह 'बृहस्पति व ब्रह्मा' बनने के मार्ग पर चलता है, नकि मौज के मार्ग पर। यह प्रार्थना करता है—**अग्ने** =हे प्रकाशमय प्रभो! **देवपणिभिः**=दिव्य गुणोंवाले स्तोताओं से (पण्=स्तुति) **गुह्यमानः**=(गुह=Hug, to emberace) आलिङ्गन किये जाते हुए आप **यं परिधिम्**=जिस मर्यादा को **पर्यधत्थाः**=धारण करते हो, **ते**=आपकी **तं एतम्**=उस प्रसिद्ध मर्यादा को **जोषम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ **अनुभरामि**=मैं अपने अन्दर भरता हूँ, अर्थात् आपने जिन मर्यादाओं को उपदिष्ट किया है मैं उन्हें स्वीकार करता हूँ, उन मर्यादाओं का बड़े प्रेम से पालन करता हूँ। २. **एषः**=यह मैं **त्वत्**=आपसे **न अपचेतयाता**=विस्मरण के कारण दूर नहीं होता। **इत्**=निश्चय से मैं यह संकल्प करता हूँ कि संसार में आने के अपने उद्देश्य को मैं भूलूँगा नहीं। आपका स्मरण करता हुआ मैं सदा मर्यादाओं का पालन करूँगा और अपने इस मानव-जीवन में आगे और आगे बढ़ता हुआ उत्तम सात्त्विक गतिवाला ब्रह्मा व बृहस्पति (महान्) बनकर रहूँगा।

'मैं ऐसा बन सकूँ' इसके लिए प्रार्थना करता हूँ कि **अग्नेः**=संसार के अग्रणी प्रभु का **प्रियं पाथः** =प्रीति देनेवाला रक्षण **अपीतम्**=(अपि-इतम्) मुझे अवश्य प्राप्त हो। प्रभु के रक्षण के बिना मैं इस उच्च स्थिति में क्या पहुँच पाऊँगा? 'पाथः' शब्द का अर्थ अन्न भी है, अतः मुझे **प्रियम्**=प्रीतिकर, अर्थात् सात्त्विक **पाथः**=अन्न प्राप्त हो। सात्त्विक अन्न के सेवन से मेरी बुद्धि सात्त्विक बनी रहेगी और मैं मार्ग से विचलित न होऊँगा।

भावार्थ—मैं प्रभु द्वारा स्थापित मर्यादा का पालन करूँ। मुझे प्रभु का कभी विस्मरण न हो और मैं प्रभु का रक्षण प्राप्त करूँ।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

वेद का सन्देश

स॒ꣳस्र॒वभा॑गा स्थे॒षा बृ॒हन्तः॑ प्रस्त॒रे॒ष्ठाः प॑रि॒धेया॑श्च दे॒वाः।
इ॒मां वाच॑म॒भि विश्वे॑ गृ॒णन्त॑ऽआ॒सद्या॒स्मिन् ब॒र्हिषि॑ मादयध्व॒ꣳस्वाहा॒ वाट्॥ १८॥

१. गत मन्त्र में उपासक ने प्रार्थना की थी कि 'मैं प्रभु को न भूलूँ'। इस भक्त से प्रभु कहते हैं कि **सं-स्रव-भागाः स्थ**=(स्रु गतौ, भज् सेवायाम्) उत्तम गतिवाले तथा उत्तम सेवन-पूजनवाले बनो। तुम्हारे कर्म उत्तम हों—तुम्हारा प्रभु-भजन उत्तम हो। कई बार प्रभु-भजन विकृत हो जाता है और हमें परस्पर द्वेष करनेवाला बनाता है। तुम्हारा प्रभु-पूजन तुम्हें 'सर्वभूतहिते रतः' बनाये। २. **इषा**=(इष प्रेरणे) प्रेरणा के द्वारा **बृहन्तः**=तुम अपना वर्धन करनेवाले बनो। मेरी प्रेरणा को सुनो और आगे बढ़ो। ३. **प्रस्तरेष्ठाः**=(प्र स्तृ+स्थ) प्रकृष्ट आच्छादन में तुम स्थित होओ, औरों के दोषों का उद्घोषण करते हुए तुम निन्दक न बन जाओ। इससे तुम्हारा अपना ही जीवन निकृष्ट बनेगा। 'प्रस्तर' का अर्थ पत्थर भी है। तब अर्थ इस प्रकार होगा कि तुम पत्थर पर स्थित होओ, अर्थात् पत्थर के समान अविचल होने की भावना को धारण करो। तुम्हें नीति-मार्ग से किसी प्रकार की स्तुति-निन्दा, सम्पत्ति का लोभ व मृत्यु का भय विचलित करनेवाला न हो। ४. **परिधेयाः**=तुम परिधि में चलनेवालों में उत्तम बनो। तुम्हारा जीवन उत्तम एवं मर्यादित हो। ५. **च** =और **देवाः**=(दिव् क्रीडायाम्) क्रीड़ा की भावनावाले बनो। संसार में जय-पराजय, हानि-लाभ व जीवन-मरण को क्रीड़ा के रूप में देखो। तुममें sportsman like spirit हो। यह खिलाड़ी पुरुष की भावना तुम्हें हर्ष-शोक के द्वन्द्व से ऊपर उठा दे।

६. बस, **इमां वाचम्**=इस वाणी को—इस उल्लिखित वेद-सन्देश को **विश्वे**=तुम सब **अभिगृणन्तः**=सोते-जागते उच्चारण करते हुए, अर्थात् सदा स्मरण करते हुए **अस्मिन्**=इस **बर्हिषि**=वासना-शून्य पवित्र हृदय में **आसद्य**=आसीन होकर **मादयध्वम्**=आनन्द का अनुभव करो। हम उल्लिखित वेद-सन्देश का जप तो करें ही, उस वाणी में स्थित भी हों, अर्थात् उसके अनुसार आचरण भी करें तभी हमारे हृदय वासनाशून्य बनेंगे। ७. जब हम इस वाणी का उच्चारण करते हुए इसके अनुकूल आचरण करेंगे तब **स्वाहा** =(स्व-हा) हम अपने स्वार्थ का त्याग और **वाट्**=(वहन्ति क्रियया सुखम्) औरों के लिए सुखों का वहन करनेवाले बनेंगे। धर्म का सार यही है कि **'परोपकारः पुण्याय'** हम परोपकारी बनें। हमारे जीवन में 'स्वाहा' और वाट्—स्वार्थत्याग और पर-सुख-प्रापण की वृत्ति हो।

भावार्थ—उत्तम कर्म, उत्तम उपासना, वेद की प्रेरणा के अनुसार शक्तिवर्धन, धर्म में स्थिरता, निन्दा-त्याग, मर्यादा का पालन और क्रीड़ा की भावना—यह वेद-सन्देश है। इस वाणी का जप और आचरण करके हम शुद्ध हृदय में आनन्द का अनुभव करें। हममें स्वार्थत्याग और परोपकार की भावना हो।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—अग्निवायू। छन्दः—भुरिक्पंक्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

यज्ञ और नमस्

घृ॒ताची॑ स्थो॒ धुर्यौ॑ पातꣳ सु॒म्ने स्थः॑ सु॒म्ने मा॑ धत्तम्।
यज्ञ॒ नम॑श्च त॒ऽउप॑ च य॒ज्ञस्य॑ शि॒वे सन्ति॑ष्ठस्व॒ स्वि॒ष्टे मे॒ सन्ति॑ष्ठस्व॥ १९॥

घृताची शब्द नपुंसकलिङ्ग का द्विवचन है। जहाँ पति-पत्नी दोनों के लिए कुछ कहना होता है, वहाँ नपुंसकलिङ्ग के व्यवहार की शैली है। प्रभु पति-पत्नी से कहते हैं-१. **घृताची स्थः**=तुम दोनों मलों के क्षरण से क्रिया के सञ्चालक हो (घृ=दीप्ति, अञ्चू पूजन)। २. **धुर्यौ**=गृहस्थ की गाड़ी को उत्तमता से खींचनेवाले हो। ३. **सुम्ने**=(सुम्न=A sacrifice) यज्ञशील बनकर **पात**=अपनी रक्षा करो। यज्ञ मनुष्य को विलास और परिणामत: विनाश से बचाता है। ४. तुम दोनों सदा **सुम्ने**=(A hymn, Joy) स्तुति तथा आनन्द में **स्थः**=स्थित होते हो। प्रभु-स्तवन में तुम्हें आनन्द का अनुभव होता है। ५. **मा** =मुझे **धत्तम्** =अपने में धारण करो। प्रभु को धारण करना ही मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। **यज्ञः नमः च**=यज्ञ और नमन **ते**=तेरे **उप**=सदा समीप हों। तू यज्ञ करे और नम्रतापूर्वक उन यज्ञों को प्रभु-चरणों में अर्पित करनेवाला बन। यही तो **'कुरु कर्म त्यजेति च'** है-करना और छोड़ना। करना तो सही, परन्तु उन कर्मों का अहंकार न करना। **च**=और तू **यज्ञस्य**=यज्ञ के **शिवे**=कल्याणकर मार्ग में **सन्तिष्ठस्व**=सम्यक्तया स्थित हो, अर्थात् तू यज्ञों से कभी दूर न हो। ७. **स्विष्टे**=(सु+इष्टे) मेरे अत्यन्त प्रिय (इष्ट, इच्छ+क्त) इन उत्तम यज्ञों (इष्ट, यज्+क्त) में स्थित होकर **मे सन्तिष्ठस्व**=मुझमें स्थित हो। यज्ञों के द्वारा हमें प्रभु में स्थिति प्राप्त होती है। इसी **'ब्राह्मी स्थिति'** को प्राप्त करना जीवन-यात्रा का अन्तिम लक्ष्य है।

भावार्थ-हमारा जीवन उत्तम यज्ञों से परिपूर्ण हो। उन यज्ञों को प्रभु-चरणों में अर्पित कर हम प्रभु में स्थित होनेवाले हों।

ऋषिः-परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**-अग्निसरस्वत्यौ। **छन्दः**-भुरिग्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**-धैवतः॥

विद्याभ्यसनं व्यसनं, हरिपादसेवनं व्यसनम्

अग्ने॑ऽदब्धायोऽशीतम पा॒हि मा॑ दि॒द्योः पा॒हि प्रसि॑त्यै पा॒हि दु॒रि॑ष्ट्यै पा॒हि दु॒र॑द्म॒न्याऽअ॑वि॒षं नः॑ पि॒तुं कृ॑णु सु॒षदा॒ योनौ॒ स्वाहा॒ वाड॒ग्नये॑ संवे॒शप॑तये॒ स्वाहा॒ सर॑स्वत्यै यशोभ॒गिन्यै॒ स्वाहा॑॥ २०॥

पिछले मन्त्र की समाप्ति इन शब्दों पर थी कि यज्ञ में स्थित होकर तू मुझमें स्थित हो। प्रस्तुत मन्त्र का विषय यह है कि यज्ञ में स्थिति कैसे हो? हमारा जीवन यज्ञमय हो, अत: हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं-१. **अग्ने** =हमारी सब उन्नतियों के साधक हे प्रभो! **अदब्धायो**=(अ+दब्ध+आयु=मनुष्य) जिसके आश्रय में मनुष्यों का नाश नहीं होता अथवा (इ गतौ से आयु) अहिंसित गतिवाले! **अशीतम**=(अश् व्याप्तौ) सर्वाधिक व्याप्त सर्वव्यापक प्रभो! **मा**=मुझे **दिद्योः**=द्यूतरूप घातक वृत्ति से **पाहि**=बचाइए। मुझमें जुए की भावना उत्पन्न न हो। मैं सदा श्रम से ही धनार्जन की वृत्तिवाला बनूँ। **'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व'**-पाशों से मत खेल, कृषि ही कर-वेद में दिये गये आपके इस उपदेश को मैं कभी न भूलूँ। २. इस प्रकार पुरुषार्थ से धन कमाने की वृत्तिवाला बनाकर आप मुझे **प्रसित्यै**-प्रसित्याः=विषयों के बन्धन से **पाहि**=सुरक्षित कीजिए। मैं किसी विषय-बन्धन में न पड़ जाऊँ। मुझे सांसारिक विषयों का चस्का न लग जाए। ३. **दुरिष्ट्यै**-दुरिष्ट्याः=मुझे अशुभ इच्छाओं से **पाहि**=सुरक्षित कीजिए। 'मुझमें अशुभ कामनाएँ उत्पन्न ही न हों'। इसके लिए **दुरद्मन्याः**=अशुभ भोजन से **पाहि** =बचाइए। आहार के शुद्ध होने पर अन्तःकरण भी शुद्ध रहता है और अशुभ इच्छाओं के उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं रहता। वस्तुतः यहाँ 'दिद्यु, प्रसिति, दुरिष्टि तथा दुरद्मनी' में एक विशेष कार्यकारण सम्बन्ध है। अशुद्ध भोजन न होने पर अशुभ इच्छाएँ नहीं

होतीं, अशुभ इच्छाओं के न होने पर मनुष्य विषयों की ओर नहीं झुकता और विषयासक्ति न होने पर मनुष्य द्यूतवृत्ति से धन कमाने की ओर नहीं झुकता।

हे प्रभो! **नः**=हमारे **पितुम्**=अन्न को **अविषम्**=विषरहित **कृणु**=कीजिए। हमारे भोजनों में किसी प्रकार के मद-जनक व स्वास्थ्य-विघातक अंश न हों। ६. इस प्रकार शुद्ध भोजन से शुद्ध मन व शरीरवाला होकर तू **योनौ**=इस गृह में **सु-षदा** =उत्तम प्रकार से आसीन हो। ७. **स्वाहा**=तू (स्व+हा) स्वार्थत्याग की वृत्तिवाला बन और **वाट्**=सभी को सुख प्राप्त करानेवाला हो (वह प्रापणे) ८. **अग्नये**=सब उन्नतियों के साधक **संवेशपतये**=निद्रा के द्वारा रक्षण करनेवाले प्रभु के लिए **स्वाहा**=तू अपना समर्पण कर। प्रभु ने हमारी उन्नति के लिए ही इस 'निद्रा' का निर्माण किया है। इसमें कुछ देर के लिए हम सब कष्टों को भूल जाते हैं, शरीर की सब टूट-फूट ठीक हो जाती है, उत्पन्न हुए कुछ मल दूर हो जाते हैं और हम अगले दिन के कार्यक्रम के लिए उद्यत हो जाते हैं। रात्रि में सोते समय हम प्रभु का ध्यान करते हुए सो जाएँ तो सारी रात प्रभु से हमारा सम्पर्क बना रहता है और हम अद्‌भुत आनन्द का अनुभव करते हैं। ९. **सरस्वत्यै**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता सरस्वती के लिए जोकि **यशोभगिन्यै**=यश की भगिनी—सेवन करनेवाली है, उस ज्ञानाधिदेवता के लिए **स्वाहा**=तू अपने को समर्पित कर। रात्रि में निरन्तर तेरा प्रभु-स्मरण व प्रभु-सम्पर्क चले तो तेरा दिन ज्ञान की उपासना में बीते। इस प्रकार दिन में तेरे दो ही व्यसन हों—प्रभु-पाद-सेवन तथा सरस्वती का आराधन—**विद्याभ्यसनं व्यसनं, हरिपादसेवनं व्यसनम्'।**

भावार्थ—हमारा भोजन उत्तम हो, इच्छाएँ उत्तम हों, हम विषय-बन्धन में न बँधें, द्यूतवृत्ति से ऊपर उठें। रात्रि में प्रभु का स्मरण करते हुए सो जाएँ, निद्रा में हम प्रभु का ही स्वप्न लें और हमारा दिन ज्ञान-प्राप्ति में व्यतीत हो। यह ज्ञान हमें यशस्वी बनाये।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—भुरिग्ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

प्रभु द्वारा अपने मानस पुत्र का किया जानेवाला 'जातकर्मसंस्कार'

वेदोऽसि येन त्वं देव वेद देवेभ्यो वेदोऽभवस्तेन मह्यं वेदो भूयाः।
देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित।
मनसस्पतऽइमं देव यज्ञꣳस्वाहा वाते धाः॥ २१॥

१. प्रभु अपने पुत्र से कहते हैं—**वेदः असि**=तू ज्ञानी है। यही सर्वमहान् प्रेरणा है, जो प्रभु के द्वारा जीव को दी जाती है। तुझे संसार में ऐसा कोई कार्य नहीं करना जो ज्ञानी को शोभा नहीं देता। २. **येन**=क्योंकि **देव**=हे ज्ञान-ज्योति से जगमगानेवाले जीव! **त्वम्**=तू **देवेभ्यः**=विद्वानों से **वेद**=ज्ञान को प्राप्त करता है **तेन**=इसलिए **वेदः**=ज्ञानी **अभवः**=हुआ है। **'उत्तिष्ठत जागृत प्राप्य वरान् निबोधत'**—उठो, जागो, श्रेष्ठों को प्राप्त करके ज्ञानी बनो—यह उपनिषदों का उपदेश है। स्वाध्याय-प्रवचन को तुझे कभी नहीं छोड़ना, सब उत्तम कार्यों को करते हुए तुझे इन्हें सदा अपनाये रखना है। स्वाध्याय ही परम तप है। ३. **मह्यम्**=मेरी प्राप्ति के लिए तू **वेद**=ज्ञान का पुञ्ज **भूयाः**=बनना। ज्ञानी बनकर ही तू मुझे प्राप्त करेगा। ४. **देवाः** =ज्ञान-ज्योति से दीप्त होनेवाले ज्ञानी लोग **गातुविदः**=मार्ग को जाननेवाले होते हैं। ज्ञानी पुरुष को अपना कर्त्तव्यमार्ग सुस्पष्ट दीखता है। ५. तुम **गातुं वित्त्वा**=मार्ग को जानकर **गातुं इत**=मार्ग पर चलनेवाले बनो। मनुष्य मार्ग से विचलित तब हुआ करता है, जब वह अपने मन का पति नहीं होता। अपने मन को वश में न कर सकनेवाला व्यक्ति

कह उठता है—**जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः**—मुझे धर्म का ज्ञान तो है, परन्तु मैं उधर चल नहीं पाता। **जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः**=मैं अधर्म को भी जानता हूँ, परन्तु उससे हट नहीं सकता। प्रभु कहते हैं—**मनसस्पते**=हे मन के पति जीव! तू अपने मन को वश में कर और **देवः**=दिव्य गुणोंवाला बना हुआ तू **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ का लक्ष्य करके **स्वाहा**=आत्मत्याग करनेवाला बन और ७. **वाते**=इस संसार-शकट के चलानेवाले वायु नामक प्रभु में **धाः**=अपने को स्थापित कर (वा गतौ, **तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुः**) वे प्रभु ही वायु व वात=गति देनेवाले हैं। तू अपने द्वारा किये जानेवाले इन यज्ञों को भी प्रभु की शक्ति से सम्पन्न होता हुआ समझना। तू अपने यज्ञों को उसी में समर्पित करना।

भावार्थ—तू ज्ञानी बन। मार्ग को जानकर उसी पर चल। मन का पति बनकर यज्ञ के लिए त्याग कर। यज्ञों को उस प्रभु में अर्पित कर।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

जीवन का अलङ्करण

सं ब॒र्हिर॑ङ्क्ताᳫं ह॒विषा॑ घृ॒तेन॒ समा॑दि॒त्यैर्वसु॑भि॒ः सम्म॒रुद्भिः॑।
समिन्द्रो॑ वि॒श्वदे॑वेभिरङ्क्तां दि॒व्यं नभो॑ गच्छतु॒ यत् स्वाहा॑॥ २२॥

१. अपने जीवन में काम, क्रोध, लोभादि वासनाओं का उद्‌बर्हण (eradication) करनेवाला व्यक्ति 'बर्हिः' कहलाता है। यह **बर्हिः**=अपने जीवन को निर्व्यसन करनेवाला वीर पुरुष **हविषा**=हवि के द्वारा—दानपूर्वक अदन के द्वारा (हु=दान, अदन) अर्थात् त्याग के द्वारा और **घृतेन**=मलों के क्षरण व ज्ञान-दीप्ति से **सं अंक्ताम्**=अपने को सम्यक्तया अलंकृत करे। जीवन के सच्चे आभूषण 'त्याग, निर्मलता व ज्ञान-दीप्ति' ही हैं। २. **आदित्यैः, वसुभिः, मरुद्भिः सं अंक्ताम्**=आदित्यों, वसुओं व मरुतों के साथ सम्पर्क में आकर यह अपने जीवन को सुशोभित करे। सङ्ग का प्रभाव सर्वमान्य है। जैसों का साथ होता है, वैसा ही मनुष्य बन जाता है। ज्ञान का निरन्तर आदान करनेवाले आदित्यों का सम्पर्क हमें ज्ञान की रुचिवाला बनाएगा। स्वास्थ्य के नियमों का पालन करनेवाले और जीवन में उत्तम निवासवाले वसुओं का सम्पर्क हमें स्वास्थ्य का ध्यान करनेवाला बनाएगा। 'मरुतः प्राणाः'=प्राणों की साधना करनेवाले अथवा 'मितराविणः' कम बोलनेवाले मरुतों का सम्पर्क हमें भी प्राणसाधक व मितभाषी बनाएगा। ३. **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव अर्थात् जितेन्द्रिय पुरुष इस इन्द्रियजय के द्वारा **विश्वदेवेभिः**=सब दिव्य गुणों से **सं अंक्ताम्**=अपने जीवन को सुशोभित करे। 'जितेन्द्रियता' साधन है और 'दिव्य गुण-लाभ' उसका साध्य। ४. इस प्रकार पुरुष **दिव्यं नभः** =स्वर्गलोक के आधारभूत आकाश को **गच्छतु**=प्राप्त हो। **'दिवो नाकस्य पृष्ठात्'** इस मन्त्रांश में द्युलोक स्वर्ग का पृष्ठ है। जब मनुष्य सब दिव्य गुणों से अलंकृत होता है—सब देवों का निवास-स्थान बनता है तब उसका अगला जन्म इस मर्त्यलोक में न होकर स्वर्गलोक में होता है। बस, शर्त यह है कि **यत्**=यदि **स्वाहा**=(स्व+हा) उसके जीवन में स्वार्थ-त्याग हो। 'स्व' का—स्वार्थ का छोड़ना दिव्यता प्राप्ति का प्रमुख कारण है। देव का मौलिक गुण ही 'देवो दानात्' दान करना, देना, स्वार्थ को छोड़ना है।

भावार्थ—हम अपने जीवनों को दानपूर्वक अदन, निर्मलता, ज्ञान-दीप्ति, सत्सङ्ग-रुचि व दिव्य गुणों से अलंकृत करके अपने को स्वर्ग-प्राप्ति का अधिकारी बनाएँ।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—निचृद्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

विमोचन

कस्त्वा विमुञ्चति स त्वा विमुञ्चति कस्मै त्वा विमुञ्चति तस्मै त्वा विमुञ्चति। पोषाय रक्षसां भागोऽसि॥ २३॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति 'स्वाहा'—स्वार्थत्याग पर थी। इस स्वार्थ की भावना से वस्तुतः वे प्रभु ही मुक्त करते हैं। प्रभु का स्मरण करके—प्रभु से अपना सम्बन्ध जोड़कर मैं स्वार्थ से ऊपर उठता हूँ। प्रभु-स्मरण से मुझमें विश्व-बन्धुत्व की भावना उत्पन्न होती है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं—**कः**=वह आनन्दमय प्रभु **त्वा**=तुझे **विमुञ्चति**=स्वार्थ की भावनाओं से छुड़ाते हैं। **सः**=वह प्रसिद्ध प्रभु **त्वा**=तुझे **विमुञ्चति** =स्वार्थभावना से मुक्त करते हैं। २. स्वार्थभावना से ऊपर उठने पर मनुष्य का ऐहिक जीवन सुखमय होता है और आमुष्मिक जीवन का कल्याण भी सिद्ध होता है। **कस्मै**=आनन्द की प्राप्ति (कं=सुखम्) के लिए वे प्रभु **त्वा**=तुझे **विमुञ्चति**=वासनाओं से मुक्त करते हैं, **तस्मै**=उस परत्र कल्याण के लिए वे प्रभु **त्वा**=तुझे **विमुञ्चति**=मुक्त करते हैं। ३. इस प्रकार स्वार्थ की भावनाओं से ऊपर उठ जाने पर **पोषाय**=तू अपने वास्तविक पोषण में समर्थ होता है। यह स्वार्थ असुरों का मुख्य गुण है। उसे नष्ट करके तू **रक्षसाम्**=राक्षसी वृत्तियों का **भागः**=भगानेवाला (put to flight) **असि**=है, राक्षसी वृत्तियों को तू अपने से दूर कर देता है।

भावार्थ—स्वार्थ-भावना के छूटने पर ही ऐहिक और आमुष्मिक कल्याण निर्भर करता है। इस स्वार्थ के समाप्त होते ही दिव्य गुणों का पोषण होता है और राक्षसी वृत्तियाँ दूर भागती हैं।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—त्वष्टा। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

अनुमार्जन

सं वर्चसा पयसा सन्तनूभिरगन्महि मनसा सꣳशिवेन।
त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम्॥ २४॥

१. पिछले मन्त्र के अनुसार राक्षसी वृत्तियों को दूर भगाने पर मनुष्य यह प्रार्थना कर सकता है कि हम **वर्चसा**=रोग-कृमियों के साथ सफलता से संघर्ष कर सकनेवाली वर्चस् शक्ति से **समगन्महि**=सङ्गत हों। हमारे अन्दर प्राणशक्ति हो। २. **पयसा**=एक-एक अङ्ग की शक्ति के आप्यायन से हम सङ्गत हों (ओप्यायी वृद्धौ)। ३. **तनूभिः**=(तन् विस्तारे) शक्तियों के विस्तारवाले शरीरों से **समगन्महि**=हम युक्त हों, और ४. इन सबसे बढ़कर **शिवेन मनसा**=शिव सङ्कल्पवाले मन से **सम्**=सङ्गत हों। राक्षसी वृत्तियों के दूर करने से प्राणशक्ति की रक्षा होकर सब अङ्गों का आप्यायन होता है, सब अङ्गों का विस्तार होकर शरीर सचमुच 'तनू' इस सार्थक नामवाला होता है और मन शिवसंकल्पों से युक्त हो जाता है। ५. **त्वष्टा**=हम सबके रूपों को सुन्दर बनानेवाला (त्वष्टा रूपाणि पिंशतु—ऋ० १०।१८४।१) देवशिल्पी **सु-द-त्रः**=उत्तमोत्तम साधन व शक्तियाँ प्राप्त कराके हमारा त्राण करनेवाला प्रभु हमें **रायः**=(रा दाने) दान दिये जानेवाले धनों को **विदधातु** =दे। हमें वे धन प्राप्त हों, जिनसे हम 'कु-बेर' (कुत्सित शरीरवाले) न बन जाएँ। हमें वे धन प्राप्त हों जिन्हें प्राप्त करके हम विलासमग्न होकर निधन=मृत्यु की ओर न चले जाएँ। प्रभु सुदत्र हैं, वे निकृष्ट धन क्यों देंगे? ६. वे प्रभु कृपा करके **तन्वः**=हमारे शरीरों की **यत्**=जो भी **विलिष्टम्**=विशेष

अल्पता-न्यूनता है (लिश् अल्पीभावे) उसे **अनुमार्ष्टु**=दूर करें, उसका शोधन कर डालें। न्यूनताओं से दूर होकर हमारे शरीर सुन्दर-ही-सुन्दर हों।

भावार्थ—हम वर्चस्, आप्यायन, शक्ति-विस्तार व शिव मन से सङ्गत हों। धन का दान देनेवाले हों और अपनी न्यूनताओं का शोधन करें।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—निचृदार्चीपंक्तिः[उ], आर्चीपंक्तिः[क], भुरिग्जगती[र]।
स्वरः—पञ्चमः[उ, क], निषादः[र]॥

तीन पग

[उ]दिवि विष्णुर्व्यक्रꣳस्त जागतेन च्छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो[क]ऽन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रꣳस्त त्रैष्टुभेन च्छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः [र]पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रꣳस्त गायत्रेण च्छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मोऽस्मादन्नादस्यै प्रतिष्ठायाऽअगन्म स्वः सं ज्योतिषाभूम॥ २५॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जो जीव अपनी न्यूनताओं का शोधन करता हुआ 'शरीर, मन व मस्तिष्क' की उन्नति को सिद्ध करता है, वह 'विष्णु'—व्यापक उन्नतिवाला कहलाता है। यह **विष्णुः**=उन्नतिशील पुरुष **दिवि**=(मूर्ध्नो द्यौः) मस्तिष्क के विषय में **व्यक्रंस्त**=विशेष पग रखता है, मस्तिष्क को ज्ञान-ज्योति से उज्ज्वल बनाने का प्रयत्न करता है। **जागतेन छन्दसा**= जगती के हित की इच्छा से—अधिक-से-अधिक लोकहित की इच्छा से कर्म करता है। **ततः**= इससे, इस ज्ञान की दीप्ति से, **यः**=जो कोई **अस्मान्**=हम सबसे द्वेष करता है **च**=और **यम्**=जिसको **वयम्**=हम सब **द्विष्मः**=अप्रीतिकर समझते हैं, वह व्यक्ति **निर्भक्तः**=दूर भगा दिया जाता है (is put to flight)। इस ज्ञान के कारण ऐसे पुरुष से हम इस प्रकार वर्त्तते हैं कि वह द्वेष करना छोड़ देता है, अथवा उसका द्वेष समाज को उतनी हानि नहीं पहुँचा पाता। २. **विष्णुः**=वह चहुँमुखी उन्नति करनेवाला पुरुष **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष के विषय में **व्यक्रंस्त**= विशेषरूप से पग रखता है। **छन्दसा**=इस इच्छा से कि **त्रैष्टुभेन**= (त्रि+स्तुभ्) काम, क्रोध व लोभ तीनों को रोक सके। यह विष्णु प्रयत्न करता है कि इसके हृदय में काम, क्रोध व लोभ का प्रवेश न हो। इन्हें नरक का द्वार जानकर वह इनका अन्त करनेवाला होता है। **ततः**=उस राग-द्वेषातीत हृदय से **निर्भक्तः**=वह व्यक्ति दूर कर दिया जाता है, **यः**=जो **अस्मान्**= हम सबसे द्वेष करता है **च**=और **यम्**=जिसको **वयम्**=हम सब **द्विष्मः**=अप्रीति के योग्य समझते हैं। पवित्र हृदयवाला मनुष्य दूसरे की अपवित्रता को दूर करने में बहुत कुछ समर्थ होता है। **'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः'**—इस योगदर्शन के सूत्र में यही कहा है कि मेरे हृदय में अहिंसा प्रतिष्ठित होगी तो मेरे समीप दूसरा व्यक्ति भी अपने वैर को समाप्त कर देगा। ३. अब यह **विष्णुः**=व्यापक उन्नतिशील पुरुष **पृथिव्याम्**=(पृथिवी शरीरम्) इस शरीर के विषय में **व्यक्रंस्त**=विशेषरूप से पग रखता है जिससे **गायत्रेण छन्दसा**=(गयाः प्राणाः, तान् तत्रे) प्राणशक्ति की सम्यक् रक्षा कर सके। शरीर को स्वस्थ व सबल रखना ही अन्य सब उन्नतियों का मूल है, अतः इस विषय में विशेष प्रयत्न अपेक्षित है। **ततः**=इसी उद्देश्य से **निर्भक्तः**=उस व्यक्ति को हम अलग रखते हैं, **यः**= जो **अस्मान्**=हम सबके साथ **द्वेष्टि**=द्वेष करता है **च**=और परिणामतः **यम्**=जिसको **वयम्**=हम सब **द्विष्मः**=अप्रीति के योग्य समझते हैं। द्वेष शरीर के स्वास्थ्य पर बड़ा घातक प्रभाव डालता है, अतः इससे बचना आवश्यक है। ४. 'समाज-द्वेषी से कैसे वर्त्ता जाए'—इसका उत्तर यहाँ इस प्रकार दिया गया है कि यह

अस्मात् अन्नात्=इस अन्न से **निर्भक्तः**=अलग किया जाए। समाज में कभी-कभी मिलकर जो प्रीतिभोज (feasts) चलते हैं, उनमें इसे आमन्त्रित न किया जाए। आजकल की भाषा में उसका 'हुक्का-पानी' बन्द कर दिया जाए। उसका यह सामाजिक बहिष्कार उसके जीवन के सुधार के लिए एक सत्याग्रह के समान है। इसका उसपर कोई प्रभाव न पड़े, ऐसा नहीं हो सकता। **अस्यै प्रतिष्ठायाः**=उसे प्रतिष्ठा के पदों से अलग कर दिया जाए। समाज के सङ्गठनों में उसे प्रमुख स्थान न दिये जाएँ। इस प्रकार उसपर सामाजिक दबाव डालकर उसकी वृत्ति को सुधारने का यत्न किया जाए। ५. उल्लिखित प्रकार से जीवन बिताने पर हम **स्वः**=स्वर्ग को **अगन्म**=प्राप्त होंगे और **ज्योतिषा सम् अभूम**=सदा अपनी ज्ञान-ज्योति के साथ होनेवाले होंगे, अर्थात् हमारा जीवन प्रकाशमय होगा, यह शुक्ल-मार्ग से चलता रहेगा।

भावार्थ—हम 'मस्तिष्क, मन व शरीर' की त्रिविध उन्नति करके 'विष्णु' कहलाएँ तथा द्वेष से दूर रहकर अपने जीवन को सुखी व प्रकाशमय बनाएँ।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—ईश्वरः। **छन्दः**—उष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

'विष्णु' की प्रार्थना व आराधना

स्वयंभूरसि श्रेष्ठो रश्मिर्वर्चोदाऽअसि वर्चो मे देहि। सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते॥ २६॥

गत मन्त्र का विष्णु प्रभु का आराधन निम्न शब्दों में करता है—१. **स्वयम्भूः असि**=आप स्वयं होनेवाले हो। 'आप किसी और पर आश्रित हों'—ऐसी बात नहीं है। आप आत्म-निर्भर हैं। आपकी कोई भी आवश्यकता नहीं है, तभी तो आप **श्रेष्ठः**=श्रेष्ठता के दृष्टिकोण से परमेष्ठी=परम स्थान में स्थित हैं। मैं भी आत्म-निर्भर बनकर श्रेष्ठ बनने का प्रयत्न करूँ। २. आप ज्ञान-किरणों के पुञ्ज हो अथवा आप इस सारे ब्रह्माण्ड का नियमन करनेवाले हो (रश्मि=लगाम)। मैं भी आपका उपासक बनकर **रश्मिः**=ज्ञान-किरणोंवाला बनूँ, अपने जीवन पर पूर्ण नियन्त्रणवाला होऊँ। मनरूप लगाम को काबू करके मैं अपने जीवन को बड़ा संयत बना पाऊँ। ३. **वर्चोदा असि**=हे प्रभो! आप अपने उपासकों को वर्चस् देनेवाले हैं, **मे**=मुझे भी **वर्चः**=शक्ति **देहि**=दीजिए। वस्तुतः 'संयत जीवन' का ही परिणाम 'शक्ति की प्राप्ति' है। जैसे आत्म-निर्भरता—बाह्य वस्तुओं पर निर्भर न रहना 'श्रेष्ठता' का साधन है (स्वयम्भू=श्रेष्ठ), उसी प्रकार ज्ञान व संयत जीवन 'वर्चस्' के उपाय हैं। ४. इस वर्चस् की प्राप्ति के लिए मैं **सूर्यस्य**=सूर्य के **आवृतम् अनु**=आवर्तन के अनुसार **आवते**=अपने दैनिक कार्यक्रम का आवर्तन करता हूँ। जैसे सूर्य अपनी क्रियाओं में बड़ा नियमित है, उसी प्रकार मेरा कार्यक्रम भी सूर्य की भाँति चलता है। यह प्रकाशमय नियमित जीवन ही सम्पूर्ण शक्ति का कारण है।

भावार्थ—हम आत्म-निर्भर बनकर श्रेष्ठ बनें, नियमित जीवनवाले होकर शक्तिशाली हों और सूर्य की भाँति अपनी क्रियाओं में लगे रहें।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्पंक्तिः[क], गायत्री[र]। **स्वरः**—पञ्चमः[क] षड्जः[र]॥

सु-गृहपतिः

[क]अग्ने गृहपते सुगृहपतिस्त्वयाऽग्नेऽहं गृहपतिना भूयासꣳसुगृहपतिस्त्वं मयाऽग्ने गृहपतिना भूयाः। [र]अस्थूरि णौ गार्हपत्यानि सन्तु शतꣳहिमाः सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते॥ २७॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार (क) जब हमारी आवश्कताएँ कम होंगी,

(ख) हम प्रकाशमय नियमित जीवनवाले होंगे, (ग) सशक्त होंगे (घ) सूर्य की भाँति दैनिक आवर्तन को पूरा करेंगे तब हम प्रस्तुत मन्त्र के 'सु-गृहपति' बन जाएँगे। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि २. **अग्ने**=हमारी सब उन्नतियों के साधक हे प्रभो ! **गृहपते**=हमारे घरों के रक्षक! **अग्ने**=प्रकाशस्वरूप प्रभो! **त्वया सुगृहपतिना**=सुगृहपति आपके साथ सदा अपना सम्पर्क रखता हुआ मैं **सु-गृहपतिः**=उत्तम गृहपति **भूयासम्**=बन जाऊँ। आपकी आँख से ओझल न होने पर मैं कभी-मार्ग-भ्रष्ट न होऊँगा। अपने गृहस्थ के कर्त्तव्यों को, आपसे शक्ति प्राप्त करके मैं उत्तमता से निभानेवाला बनूँगा। ३. **अग्ने**=उन्नतिसाधक प्रभो ! **मया गृहपतिना**=मुझ गृहपति से **त्वम्** =आप **सुगृहपतिः**=उत्तम गृहपतिवाले **भूयाः**=होओ। जैसे अच्छे शिष्यों से आचार्य 'उत्तम शिष्योंवाला' कहलाता है, इसी प्रकार मुझ आपके उपासक के द्वारा आप 'उत्तम गृहपति' कहे जाएँ। मैं आपको यशस्वी व स्तुत्य करने के लिए 'सुगृहपति' बनूँ।

४. हे प्रभोः! पति-पत्नी हम दोनों के **गार्हपत्यानि**=गृहपति के कर्त्तव्य **अस्थूरि सन्तु**=एक बैलवाली गाड़ी के समान न हो जाएँ। (स्थूरि=जिसका एक बैल रह गया हो ऐसी गाड़ी), अर्थात् अपने इस गृहस्थ-शकट को हम दोनों पति-पत्नी मिलकर बड़ी अच्छी प्रकार वहन करनेवाले बनें। हमारा साथ बना रहे—अपमृत्यु से हममें से किसी एक को ही यह गाड़ी न खेंचनी पड़े। ५. मैं **शतं हिमाः**=सौ वर्षपर्यन्त **सूर्यस्य**=सूर्य के **आवृतम्**=आवर्तन के अनुसार **आवर्ते**=अपने दैनिक कार्यक्रम के आवर्तन को चलानेवाला बनूँ। वस्तुतः यह 'नियमित आवर्तन' ही सुगृहपति बनने का सर्वोत्तम साधन है।

भावार्थ—प्रभु को कभी न भुलाता हुआ मनुष्य सुगृहपति बने, पति-पत्नी मिलकर गृहस्थ की गाड़ी को खेंचनेवाले और सदा सूर्य की भाँति नियमित जीवनवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

जो वस्तुतः हूँ, वही हूँ,—'पूर्ण स्वस्थ'

अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषं तदशकं तन्मेऽराधीदमहं यऽएवाऽस्मि सोऽस्मि॥ २८॥

सदा सूर्य की भाँति नियमित रूप से चलने का व्रत पिछले मन्त्र में लिया गया है। 'उसी व्रत को मैंने यथाशक्ति पाला है' इस बात को प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि—१. **अग्ने**=हे अग्रणी प्रभो! **व्रतपते**=हमारे व्रतों के रक्षक हे प्रभो! **व्रतम्**=व्रत का **अचारिषम्**=मैंने आचरण किया है, **तत् अशकम्**=उस व्रत के पालन में मैं समर्थ हुआ हूँ। **तत् मे**=वह मेरा व्रत **अराधि**=सिद्ध हुआ है। प्रथम अध्याय के पाँचवे मन्त्र में मैंने निश्चय किया था कि (चरिष्यामि) मैं व्रत का पालन करूँगा और आपकी कृपा से (शकेयम्) उस व्रत का पालन कर सकूँ। आज इस द्वितीय अध्याय के अठाइसवें मन्त्र तक पहुँचकर मैं अनुभव करता हूँ कि मैंने उस व्रत का बहुत कुछ पालन किया है, उसे पूर्ण करने में आपकी कृपा से मैं बहुत कुछ समर्थ हुआ हूँ, वह मेरा व्रत सिद्ध हुआ है। २. और इसका परिणाम है कि **इदम् अहम्**=यह मैं स्त्री वा पुरुष जो भी हूँ **यः एव अस्मि**=जो कुछ मैं वास्तव में हूँ, **'सः अस्मि'**=मैं वही हूँ, अर्थात् अब मैं भूल से इस पञ्चभौतिक शरीर में 'मैं' बुद्धि नहीं करता। इससे में ऊपर उठ गया हूँ। अब मैं आत्मा को पहचानने लगा हूँ। ३. मन्त्र छब्बीस में 'रश्मि'=लगाम का उल्लेख था। यह लगाम ही **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** है। इस चित्त निरोध से मैं स्वरूप में स्थित हो गया हूँ और जो वस्तुतः हूँ, वही हो गया हूँ।

भावार्थ—हम व्रत का पालन करें और जो हैं, वही हो जाएँ। अपने आत्म-स्वरूप

को पहचानें।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराडार्षी अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

पितृयज्ञ

अ॒ग्नये॑ कव्य॒वाह॑नाय॒ स्वाहा॒ सोमा॑य पि॒तृम॑ते॒ स्वाहा॑।
अप॑हता॒ऽअसु॑रा॒ रक्षा॑ᳬसि वेदि॒षद॑ः॥ २९॥

१. राक्षसी वृत्तियों का उद्गम—प्रारम्भ कहाँ से है? यदि इस प्रश्न पर विचार किया जाए तो हम इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि कोई युवक व युवति जब अपने माता-पिता की सेवा में न लगकर अपना आराम देखने लगते हैं तब इस आसुरी वृत्ति का आरम्भ होता है। 'माता-पिता को जीवन-निर्वाह की आवश्यक वस्तुएँ भी प्राप्त नहीं और ये युवक दम्पती सिनेमा जा रहे हैं' इस रूप में इस आसुरी वृत्ति का तमाशा होने लगता है। माता-पिता मर रहे हैं, उनका औषधोपचार भी ठीक नहीं हो रहा और ये युवक-युवति फ्रूट-क्रीम का आनन्द ले रहे हैं। यह राक्षसी वृत्ति का खुला नाच होने लगता है। इनके लिए किसी भी मुख से शुभ शब्द कैसे उच्चरित हो सकते हैं? अतः मन्त्र में कहते हैं कि—२. **अग्नये**=प्रगतिशील दम्पती के लिए **कव्यवाहनाय**=माता-पिता को अन्न प्राप्त करानेवाले के लिए **स्वाहा**=(सु+आह) उत्तम शब्दों का उच्चारण किया जाता है। इनके लिए माता-पिता के मुख से शुभ शब्दों का ही प्रकाश होता है, लोग भी इनकी प्रशंसा करते हैं। **सोमाय**=सौम्य स्वभाववाले नम्र युवक के लिए **पितृमते**=उत्तम माता-पितावाले के लिए—जिसके माता-पिता सुखपूर्वक हैं, उस युवक के लिए **स्वाहा**=शुभ शब्दों का उच्चारण होता है।

देवों के लिए दिया जानेवाला अन्न 'हव्य' कहलाता है और पितरों के लिए दिया जानेवाला 'कव्य'। जो नवदम्पती अपने वृद्ध माता-पिता को खिलाकर स्वयं खाते हैं, उनकी संसार में कीर्ति होती है। जो माता-पिता के प्रति सदा नम्र होते हैं और माता-पिता को सुखमय स्थिति में रखते हैं, वे ही प्रशंसनीय होते हैं।

यह पृथिवी 'वेदि' है। अध्यात्म में यह शरीर वेदि है। यज्ञवेदि में आसीन होनेवाले की—यज्ञशील की **वेदिषदः**=इस शरीर में आ जानेवाली **असुराः**=आसुरी वृत्तियाँ और **रक्षांसि**=अपने रमण के लिए माता-पिता का भी क्षय करनेवाली वृत्तियाँ **अपहताः**=सुदूर नष्ट कर दी गई हैं। माता-पितारूप देवों का पूजन करनेवाला, उनके प्रति विनीत व्यवहार करनेवाला ही प्रशंसनीय होता है और उसी के जीवन में अशुभ वृत्तियों का उदय नहीं होता।

भावार्थ—हम वृद्ध माता-पिता को श्रद्धापूर्वक खिलाकर भोजन करें—यही उन्नति का मार्ग है। हम माता-पिता के प्रति विनीत हों। उनकी स्थिति को सदा उत्तम बनाने का प्रयत्न करें, तभी हम लोक में प्रशंसनीय होंगे।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

आसुर जीवन

ये रू॒पाणि॑ प्रतिमु॒ञ्चमा॑ना॒ऽअसु॑राः॒ सन्त॑ः स्व॒धया॒ चर॑न्ति।
प॒रा॒पुरो॑ नि॒पुरो॒ ये भर॑न्त्य॒ग्निष्टाँल्लो॒कात् प्रणु॑दात्य॒स्मात्॥ ३०॥

'गत मन्त्र' में वर्णित पितृयज्ञ को जो युवक अपने जीवन में कोई स्थान नहीं देते

उनका जीवन क्या विचित्र बन जाता है'—यह वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में है—

१. **ये**=जो **रूपाणि**=सुन्दर आकृतियों को **प्रतिमुञ्चमानाः**=धारण करते हुए, अर्थात् सुन्दर वेष-भूषाओं में अपने को सजाते हुए **चरन्ति**=सर्वत्र विचरते हैं (बाज़ारों, क्लबों और सिनेमागृहों में घूमते हैं)। २. **असुराः सन्तः**=(असुषु रमन्ते) जो अपने ही प्राणों में रमण करते हुए; जीवन का आनन्द लूटते हुए **चरन्ति** =मौज से घूमते हैं, अपने आदरणीय पुरुषों के आराम का तनिक भी ध्यान नहीं करते ३. जो **स्वधया** =(स्वधा=अन्न) अन्न के हेतु से ही **चरन्ति**=अपने इस जीवन में चलते हैं, अर्थात् उनका जीवनोद्देश्य 'खाना-पीना' ही रह जाता है। वे खाने-पीने के लिए ही जीते हैं। ४. **परापुरः**=(परागतानि स्वसुखार्थानि अधर्मकार्याणि पिपुरति-द०) संसार से उलटे, अर्थात् लोक-विद्विष्ट अपने ही सुखकारी अधर्मकार्यों को सिद्ध करते हैं। **निपुरः**=(निकृष्टान् दुष्टस्वभावान् पिपुरति) दुष्ट-स्वभावों को परिपूर्ण करनेवाले **ये**=जो लोग **भरन्ति**=अन्याय से औरों के पदार्थों को धारण करते हैं (अन्यायेनार्थसंचयान्-गीता)। ५. **अग्निः**=वह संसार का सञ्चालक प्रभु **तान्**=उल्लिखित वृत्तिवाले असुर लोगों को **अस्मात्**=इस **लोकात्**=लोक से **प्रणुदाति**=दूर करता है।

आसुर वृत्तिवाले लोग समाज के लिए बड़े अवाञ्छनीय होते हैं। राजा को चाहिए कि ऐसे लोगों को राष्ट्र से निर्वासित कर दे। या मनुष्य प्रभु से प्रार्थना करता है कि प्रभो! इनको आप अपने पास ही बुला लीजिए, इनसे हमारा पीछा छुड़ाइए।

भावार्थ—आसुर जीवन के लक्षण हैं—१. छैल-छबीले बनकर घूमना (रूपाणि प्रतिमुञ्चमानाः), २. अपनी ही मौज को महत्त्व देना (असुरः), ३. जीवन का उद्देश्य भोग समझना (स्वधया), ४. पराये माल से अपने को पुर करना (परापुरः), ५. निकृष्ट साधनों से अपने खजाने को भरना (निपुरः)। हम ऐसे बनकर प्रभु के क्रोध के पात्र न बनें।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—पितरः। **छन्दः**—बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

मादयध्वं, आवृषायध्वम्

अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम्।
अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत॥ ३१॥

जो युवक व युवति आसुर वृत्ति के नहीं होते वे अपने माता-पिता से यही प्रार्थना करते हैं कि **पितरः**=उचित पथ-प्रदर्शन द्वारा हमारा रक्षण करनेवाले पितरो! **अत्र**=आप यहाँ ही—घर में ही **मादयध्वम्**=हर्षपूर्वक निवास करो। **गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः**=घर में रहते हुए भी पाँचों इन्द्रियों का निग्रहरूप तप किया जा सकता है, उसके लिए वनस्थ होने की क्या आवश्यकता? घर की सब उलझनों को हमारे कन्धों पर डालकर आप यहाँ अपने जीवन को आनन्दयुक्त कीजिए। प्रभु-भजन की मस्ती का आनन्द आप यहाँ भी ले-सकते हैं। यहाँ रहते हुए आप **यथाभागम्**=भाग के अनुसार, अर्थात् समय-समय पर सेवन के योग्य **आवृषायध्वम्**=विद्या और धर्म की शिक्षा की वर्षा करनेवाले होओ। आज से पहले भी **पितरः**=पितर लोग **अमीमदन्त**=घर पर ही आनन्द से रहनेवाले हुए हैं और उन्होंने **यथाभागम्**=यथासमय **आवृषायिषत**=स्थूल व सूक्ष्म विद्या तथा धर्म के उपदेश की वर्षा की है—धर्मज्ञान से हम सन्तानों को सिक्त किया है। हम किसी अभूतपूर्व बात के लिए आपसे प्रार्थना नहीं कर रहे हैं। आपके ज्ञानोपदेश से हमारा मार्ग भी सदा प्रकाशमय बना रहेगा।

भावार्थ—'हे मान्या माता व पिताजी! आप घर पर ही सानन्द रहिए व समय-समय

पर हमें सुसम्मति देते रहिए' यह है पितृभक्त सन्तानों की प्रार्थना। ऐसी सन्तान ही सच्चा पितृयज्ञ करनेवाली होती है।

ऋषि:—वामदेव:। **देवता**—पितर:। **छन्द:**—ब्राह्मीबृहती [क], निचृद्बृहती [र]। **स्वर:**—मध्यम:॥

आचार्य

[क]नमो॑ वः पितरो॒ रसा॑य॒ नमो॑ वः पितर॒: शोषा॑य॒ नमो॑ वः पितरो जी॒वाय॒ नमो॑ वः पितरः स्व॒धायै॒ नमो॑ वः पितरो घो॒राय॒ नमो॑ वः पितरो म॒न्यवे॒ [र]नमो॑ वः पितर॒: पित॑रो॒ नमो॑ वो गृ॒हान्न॑: पितरो दत्त स॒तो व॑: पितरो देष्मै॒तद्व॑: पितरो॒ वास॑:॥ ३२॥

ज्ञान-प्रदाता आचार्य भी पिता है। जिस प्रकार छह ऋतुओं का क्रम चलता है और उनमें भिन्न-भिन्न वस्तुओं या गुणों का प्राधान्य होता है, उसी प्रकार आचार्य विद्यार्थी में उन गुणों को पैदा करने का प्रयत्न करता है। १. इनमें सर्वप्रथम वसन्त है जिसमें सब फूल व फलों में रस का सञ्चार होता है। आचार्य भी विद्यार्थी के जीवन में 'अप+ज्योति' अर्थात् जल व अग्नितत्त्व का समन्वय करके—शान्ति तथा शक्ति उत्पन्न करके रस का सञ्चार करता है। विद्यार्थी कहते हैं कि **पितर:**=हे आचार्यो! **व:**=आपके **रसाय** =इस 'रस' के लिए **नम:**=हम आपके प्रति नतमस्तक होते हैं। २. वसन्त के बाद ग्रीष्म ऋतु आती है। इसका मुख्य गुण 'शोषण' है, यह सबको सुखा देती है। संस्कृत में शत्रुओं के शोषक बल को कहते ही 'शुष्म' हैं। आचार्य विद्यार्थी में भी इस काम-क्रोध आदि के शोषक बल को उत्पन्न करता है और विद्यार्थी कहता है—**पितर:**=हे आचार्यो! **व:**=तुम्हारे **शोषाय**=इस शत्रु-शोषक बल के लिए **नम:**=हम नतमस्तक होते हैं। ३. अब वर्षा ऋतु का प्रारम्भ होता है। इसमें ग्रीष्म से सन्तप्त प्राणी फिर से जीवित हो उठते हैं, अत: जीवन-तत्त्व को देनेवाली इस वर्षा ऋतु के समान हे **पितर:**=आचार्यो! आपके इस **जीवाय**=जीवन तत्त्व के लिए **नम:**=हम नतमस्तक होते हैं। ४. अब अन्नों से परिपूर्ण शरद् ऋतु आती है। अन्न को स्वधा कहते हैं। **'स्वधा वै शरत्'** इन शब्दों में शरत् को भी स्वधा कहा है। इस अन्न से 'स्व'=अपने को 'धा'=धारण करने की शक्ति उत्पन्न होती है। आचार्य भी विद्यार्थी में इस स्वधा=स्वधारण-शक्ति को उत्पन्न करता है। विद्यार्थी कहते हैं कि **पितर:**=हे आचार्यो! **व:**=आपकी **स्वधायै**=इस स्वधारण-शक्ति के लिए **नम:**=हम नमस्कार करते हैं। ५. शरद् के पश्चात् शीत के प्राचुर्यवाली विषम व घोर हेमन्त ऋतु आती है। आचार्य भी विद्यार्थी को शत्रुओं के लिए 'घोर' बनाता है। विद्यार्थी कहते हैं—**पितर:**=हे आचार्यो! **व:**=आपकी इस **घोराय** =शत्रु-भयंकरता के लिए **नम:**=नमस्कार है। ६. अन्त में शिशिर ऋतु आती है। यह शीत की मन्दता तथा उष्णता के अभाव के कारण ज्ञान-प्राप्ति के लिए अत्यन्त अनुकूल है। आचार्य भी विद्यार्थी को अनुकूल वातावरण पैदा करके खूब ज्ञानी बनाता है। विद्यार्थी कहते हैं कि **पितर:**=हे आचार्यो! **व:**=आपके **मन्यवे**=ज्ञान के लिए **नम:**=हम विनीतता से आपके समीप उपस्थित होते हैं। **नमो व: पितर:**=हे आचार्यो ! आपके लिए नमन है, **पितर: नम: व:**=हे आचार्यो! फिर भी आपके लिए नमन है। **पितर:**=हे आचार्यो ! आप **न:**=हमें **गृहान्**=घरों को **दत्त**=दीजिए।

प्राचीन काल में आचार्य ही छात्र व छात्राओं को उचित प्रकार से शिक्षित करके, उनके गुण-कर्म-स्वभाव से खूब परिचित होने के कारण उनके सम्बन्धों को निर्धारित करके उनके माता-पिता के अनुमोदन से उन्हें गृहस्थ बना दिया करते थे। आचार्यों द्वारा

किये गये ये सम्बन्ध प्रायेण अनुकूल ही प्रमाणित हुआ करते थे। ८. हम भी **पितरः**=हे आचार्यो! **सतः वः**=विद्यमान आपको **देष्म**=सदा आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कराते रहें ('सतः' यह द्वितीया का प्रयोग चतुर्थी के लिए है)। **सतः**=विद्यमान आपके लिए, नकि आपके चले जाने के बाद। यहाँ जीवित श्राद्ध का संकेत स्पष्ट है। ९. **पितरः**=हे आचार्यो! **एतत् वासः**=यह निवास-स्थान व वस्त्र आदि **वः**=आपका ही तो है। आपने ही इसके अर्जन की शक्ति हमें प्राप्त कराई है। आपने ही हमें इनके निर्माण के योग्य बनाया है। (निवास अर्थ में 'वासः' का प्रयोग कम मिलता है, परन्तु धात्वीय अर्थ के विचार से वह ठीक ही है। घर भी हमारा आच्छादन करता है, सर्दी-गर्मी व ओलों से हमें बचाता है)।

भावार्थ—आचार्य का कर्तव्य है कि वह विद्यार्थी के जीवन में 'रस, शत्रु-शोषकशक्ति, जीवनतत्त्व, स्वधारण-शक्ति, शत्रु के प्रति भयंकरता व ज्ञान' को उत्पन्न करे और तत्पश्चात् उसके उचित जीवन-सखा को ढूँढने में सहायक हो। विद्यार्थी भी सदा आचार्य के प्रति विनीत बनें और गुरुदक्षिणा के रूप में आजीवन उन्हें कुछ-न-कुछ देते रहें। ये न भूलें कि आचार्य ने ही उन्हें घर-निर्माण के योग्य बनाया है।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—पितरः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

कुमार पुष्करस्रक्

आर्धत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषोऽसत्॥ ३३॥

१. गत मन्त्र में वर्णित आचार्यों से प्रभु कहते हैं—**पितरः**=ज्ञान-प्रदाता आचार्यो! **गर्भं आधत्त**=विद्यार्थी को अपने गर्भ में धारण करो। अथर्ववेद के ब्रह्मचर्यसूक्त में यही भावना इन शब्दों में कही गई है कि **'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः'**—आचार्य विद्यार्थी को अपने समीप लाता हुआ उसे गर्भ में धारण करता है। जैसे माता गर्भस्थ बालक की सुरक्षा करती है, उसी प्रकार आचार्य विद्यार्थी को गर्भस्थ बालक की भाँति ही संसार के अवाञ्छनीय वातावरण से बचाने का प्रयत्न करता है। २. इसे **कुमारम्**=(कु+मारम्) सब बुराइयों को मारनेवाला, राग-द्वेष आदि सब मलों को दूर भगानेवाला **आधत्त**=(सम्पादयत) बनाना है। ३. **पुष्कर-स्रजम्**=(पुष्कर=सूर्य, सृज्=उत्पन्न करना) इसे अपने मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान के सूर्य को उदय करनेवाला **आधत्त**=बनाइए।

आचार्य ने विद्यार्थी को हृदय के दृष्टिकोण से कुमार=सब बुराइयों को मार भगानेवाला बनाना है तथा मस्तिष्क के दृष्टिकोण से पुष्करस्रज्=ज्ञान-सूर्य का उदय करनेवाला बनाना है। ४. इसे 'कुमार व पुष्करस्रज्' इसलिए बनाओ **यथा**=जिससे यह **इह**= मानव-जीवन में **पुरुषः**=पौरुष करनेवाला **असत्**=हो। 'कु-मारता' के अभाव में मन में विलास की वृत्तियाँ जागती हैं और मनुष्य पौरुष से बचना चाहता है तथा आराम पसन्द हो जाता है। 'पुष्कर-स्रक्त्व' न होने पर मनुष्य की प्रवृत्तियाँ पशुओं-जैसी हो जाती हैं और वह 'मनुष्य' न रहकर 'पशु' ही बन जाता है। पुरुष के दो मुख्य गुण हैं 'कु-मारत्व और पुष्कर-स्रक्त्व'—हृदय का नैर्मल्य और मस्तिष्क की दीप्ति। इन दोनों गुणों को उत्पन्न करके आचार्य विद्यार्थी को दूसरा जन्म देता है और विद्यार्थी द्विज बनता है।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थी को गर्भ में धारण करे। उसे पवित्र हृदय व उज्ज्वल मस्तिष्क बनाने का प्रयत्न करे, जिससे वह राष्ट्र में एक उत्तम नागरिक बने।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—आपः। **छन्दः**—भुरिगुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

गुरु-दक्षिणा

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्।
स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन्॥ ३४॥

'आचार्य विद्यार्थी को कैसा बनाये' यह गत मन्त्र में वर्णित है। प्रस्तुत मन्त्र में विद्यार्थी गुरु-दक्षिणा में क्या दे—यह कहते हैं। 'आचार्यकुल में खान-पान की कभी कमी न हो' इस बात का ध्यान आचार्य से अध्यापित विद्यार्थियों को ही करना है। विद्यार्थी को यह ध्यान रहे कि **ऊर्जम्**=बल और प्राणशक्ति को तथा **अमृतम्**=रोग आदि से अपमृत्यु के अभावरूप अमरत्व को **वहन्तीः**=प्राप्त कराती हुई जो **स्वधाः**=स्वधाएँ अर्थात् अन्न **स्थ**=हैं, वे **मे**=मेरे **पितॄन्**=आचार्यों को **तर्पयत**=सदा तृप्त करें, अर्थात् आचार्यकुल में बल, प्राणशक्ति व नीरोगता देनेवाले अन्नों की कभी कमी न हो। वे अन्न निम्न हैं—(क) **घृतम्**=घी। सामान्यतः 'घृतम्' का अभिप्राय गोघृत से ही होता है। यह प्राणियों के आयुष्य को बढ़ानेवाला है, इसलिए 'घृतमायुः' घी तो आयु ही है, यह बात प्रसिद्ध है। यह मलों का क्षरण करके बल की दीप्ति प्राप्त कराता है। (ख) **पयः**=दूध। यह हमारे सब अङ्गों का आप्यायन करनेवाला है। ताज़ा दूध तो 'पीयूषम्' अमृत ही कहा गया है। (ग) **कीलालम्**=अन्न। कील का अर्थ है बन्धन और 'अल' वारण=बाधक है। यह अन्न वृद्धि के प्रतिबन्धनभूत सब तत्त्वों का निवर्तक है (सर्वबन्धनिवर्तकम्—महीधर)। (घ) **परिस्रुतम्**=फलों के निचोड़ने से टपका हुआ रस। यह तो वस्तुतः शरीर में जीवन-रस ही सञ्चार कर देता है। इस प्रकार मुख्य स्वधा=अन्न ये चार ही हैं—'घी, दूध, अन्न और रस'। मनुष्य को चाहिए कि इनका प्रयोग करे और अपने जीवन में 'बल, प्राण व अमरत्व' को धारण करनेवाला बने।

भावार्थ—गुरु-दक्षिणा यही है कि उस-उस शिक्षाणालय के विद्यार्थी आचार्यकुलों में जीवन के आधारभूत पदार्थों—'घी, दूध, अन्न व रस' की कमी न होने दें। यही पितृश्राद्ध भी है।

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

तृतीयोऽध्यायः

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

ज्ञान, नैर्मल्य, अर्पण

स॒मिधा॒ग्निं दु॑वस्यत घृ॒तैर्बो॑धय॒ताति॑थिम्। आस्मि॑न् ह॒व्या जु॑होतन॥१॥

१. गत अध्याय की समाप्ति पर आचार्य के गर्भ में रहकर एक कुमार के मस्तिष्क में ज्ञानसूर्य के उदय होने का उल्लेख हुआ था। प्रस्तुत मन्त्र में ज्ञानसूर्य की दीप्तिवाला यह कुमार अपनी ज्ञानदीप्ति से प्रभु की परिचर्या करता है। २. **समिधा**=(सम्+इन्ध्=दीप्ति) ज्ञानदीप्ति से **अग्निम्**=अग्रेणी प्रभु की **दुवस्यत** =परिचर्या करो। प्रभु को यह ज्ञानीभक्त ही तो आत्मतुल्य प्रिय है। ३. **घृतैः**=मलों के क्षरण—दूरीकरण से (घृ-क्षरण) **अतिथिम्**=(अत सातत्यगमने, गमन=प्राप्ति) सतत दीप्त उस प्रभु को—सदा से हृदय में निवास करनेवाले अन्तर्यामी को—**बोधयत**=उद्बुद्ध करो। प्रभु की ज्योति मल के आवरण से अदृष्ट हो रही है, मलावरण के हटते ही वह उद्बुद्ध-सी हो जाती है। ४. **अस्मिन्**=इस उद्बुद्ध प्रभु-ज्योति में **हव्या**=अपनी सब हवियों को—अपने सब उत्तम कर्मों को—**आजुहोतन**=आहुत कर दो। अपने सब यज्ञादि कर्मों को प्रभु-चरणों में अर्पित करनेवाले बनो। ५. सामान्य अग्निहोत्र में भी क्रम यही होता है कि समिधाओं से अग्नि को दीप्त करते हैं—घृत से उसे उद्बुद्ध करते हैं और फिर उसमें हव्यों को डालते हैं। यहाँ अध्यात्म यज्ञ का क्रम भी यही है कि ज्ञानदीप्ति से प्रभु की उपासना करें—इस ज्ञानदीप्ति में 'पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक' के पदार्थों का ज्ञान ही तीन समिधाएँ कहलाती हैं। उसके बाद यहाँ वासनात्मक मलों के क्षरणरूप 'घृत' से अपने अन्दर विद्यमान उस प्रभु का उद्बोधन होता है और इस प्रभु के चरणों में यह ज्ञानीभक्त अपने सब यज्ञात्मक कर्मों को अर्पित करता है। ६. इस प्रकार ज्ञानदीप्त, निर्मलान्तःकरण, प्रभु-चरणों में अपना अर्पण करनेवाला यह व्यक्ति विशिष्ट ही रूपवाला हो जाता है, अतः 'विरूप' कहलाता है और अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रस के सञ्चार के कारण यह 'आङ्गिरस' कहलाता है।

भावार्थ—हम ज्ञानार्जन करें, हृदय को निर्मल करें और अपने सब कर्मों को प्रभु में अर्पण करनेवाले बनें।

ऋषिः—वसुश्रुतः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

तीव्र घृताहुति

सुस॑मिद्धाय शो॒चिषे॑ घृ॒तं ती॒व्रं जु॑होतन। अ॒ग्नये॑ जा॒तवे॑दसे॥२॥

उस प्रभु के लिए **तीव्रम्**=(सर्वदोषाणां निवारणे पटुतरम्) दोष-निवारण में समर्थ **घृतम्**=ज्ञान की दीप्ति को **जुहोतन**=(हु=आदान) अपने में ग्रहण करो, जो प्रभु १. **सुसमिद्धाय**=पूर्ण रूप से समिद्ध हैं—ज्ञान से दीप्त हैं। प्रभु का ज्ञान निरतिशय है। **'स एष पूर्वेषमापि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'**=वे प्रभु गुरुओं के भी गुरु हैं। काल से अवच्छिन्न न होने से—अनादि होने से—वे सृष्टि के आरम्भ में अग्नि आदि ऋषियों के हृदय में वेदज्ञान दिया करते हैं। २. **शोचिषे**=वे प्रभु दीप्तिमान् हैं—अत्यन्त तेजस्वी हैं, पूर्ण पवित्र हैं। ३. **अग्नये**=सबको आगे

ले-चलनेवाले हैं ४. **जातवेदसे**=(जाते जाते विद्यते) प्रत्येक पदार्थ में वर्त्तमान हैं, सर्वव्यापक हैं।

प्रभु को अपने हृदय में ग्रहण करनेवाला व्यक्ति भी (क) **सुसमिद्ध**=ज्ञानदीप्त बनता है। (ख) **शोचिः**=शुचितावाला होता है। (ग) **अग्निः**=निरन्तर आगे बढ़ता है, तथा (घ) **जातवेदस्**=अधिक-से-अधिक व्यक्तियों के जीवन में प्रवेश करने का प्रयत्न करता है। उनके सुख-दुःख में सुखी व दुःखी होता है। औरों के दुःखों को अपनाकर उसे दूर करने में ही शान्ति अनुभव करता है।

प्रभु में निवास करनेवाला यह प्रभु का उपासक सचमुच '**वसुः**=उत्तम निवासवाला है—इसीलिए भी यह वसु है कि यह औरों को बसाने का कारण बनता है (वासयति)। उत्तम ज्ञानवाला होने से 'श्रुत' है। इस प्रकार इसका नाम 'वसुश्रुत' हो गया है।

भावार्थ—मलों को तीव्रता से दूर करके हम पवित्र बनें—अपने में प्रभु की ज्योति को जगाएँ और सभी को प्रभु-पुत्र जानते हुए सभी के दुःखों को अपना दुःख जानें। उस दुःख को दूर करने में हमें शान्ति प्राप्त हो। यही वास्तविक 'यज्ञ' है। इस यज्ञ को ज्ञानपूर्वक करनेवाले हम प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'वसुश्रुत' बनें।

ऋषिः—भरद्वाजः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

प्रभु का वर्धन

तं त्वा॑ स॒मिद्भि॑रङ्गिरो घृ॒तेन॑ वर्द्धयामसि। बृ॒हच्छो॑चा यविष्ठ्य॥३॥

हे **अङ्गिरः**=हमारे अङ्ग-अङ्ग में रस का सञ्चार करनेवाले प्रभो! **तं त्वा**=उन आपको **समिद्भिः**=ज्ञानदीप्तियों से और **घृतेन**=मल के क्षरण से **वर्धयामसि**=हम निरन्तर बढ़ाते हैं। वस्तुतः जो वस्तु जितनी दूर होती है, वह उतनी छोटी दिखती है। हम उसके समीप पहुँचते जाते हैं तो वस्तु का स्वरूप बड़ा होता जाता है और यदि यह दूरी शून्य हो जाए तब तो वह वस्तु व्यापक-सी हो जाती है। उपासक की प्रभु से दूरी भी ज्यों-ज्यों कम होती जाती है, त्यों-त्यों प्रभु उसके लिए बड़े होते जाते हैं—दूरी के शून्य होने पर तो वे प्रभु उसके लिए सर्वव्यापक हो जाते हैं—वह सर्वत्र उस प्रभु का दर्शन करता है। इस प्रभु-दर्शन के लिए ही ज्ञानदीप्ति (समिध्) तथा मलों का क्षरण (घृत) साधन हैं। पृथिवीस्थ, अन्तरिक्षस्थ व द्युलोकस्थ पदार्थों का ज्ञान ही तीन समिधाएँ—ज्ञान-दीप्तियाँ हैं जो हमें प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ में प्रभु की महिमा का दर्शन कराती हैं। उस समय एक-एक पुष्प में से हमें प्रभु-सत्ता की गन्ध आने लगती है—एक-एक पत्ते में प्रभु की कृति-कुशलता दिखने लगती है।

मलों के हट जाने पर हमें प्रत्येक प्राणी के साथ एक बन्धुत्व का अनुभव होने लगता है। सब भेदभाव नष्ट हो जाता है—सबके अन्दर प्रभु का वास दिखता है। इन समदर्शियों को न शोक रहता है न मोह '**तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः**'। इस उपासक की यही कामना होती है कि हे प्रभो! **बृहत्**=खूब ही **शोच**=मुझमें चमकिए। मैं अपने मलों को दूर करके अधिकाधिक आपकी दीप्ति को देखनेवाला बनूँ। **यविष्ठ्य** =हे प्रभो! (यु मिश्रण-अमिश्रण) आप ही मुझे दुरितों से दूर तथा यज्ञ से सङ्गत करनेवालों में सर्वोत्तम हैं। आपकी कृपा से मैं सब बुराइयों से ऊपर उठकर सब 'वाजों'—शक्तियों को अपने में भरनेवाला प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'भरद्वाज' बनता हूँ।

भावार्थ—हम अपने ज्ञान व नैर्मल्य से प्रभु की महिमा को बढ़ानेवाले बनें, बुराइयों से दूर तथा अच्छाइयों के समीप होकर अपने में शक्तियों को भरनेवाले 'भरद्वाज' हों।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

ज्ञान का परिणाम—'पवित्रता व त्याग'

उप त्वाग्ने हविष्मतीर्घृताचीर्यन्तु हर्यत। जुषस्व समिधो मम॥४॥

हे **अग्ने**=मेरी उन्नति के साधक प्रभो! **हर्यत**=(हर्य गतिकान्त्योः) मेरी सब क्रियाओं के स्रोत व चाहने योग्य प्रभो! **मम**=मेरी **समिधः**=ज्ञानदीप्तियाँ **त्वा उपयन्तु**=आपके समीप प्राप्त हों। ज्ञान मुझे निरन्तर आपके समीप प्राप्त करानेवाला हो। 'मेरी ये ज्ञानदीप्तियाँ कैसी हैं? १. **हविष्मतीः**=ये उत्तम हविवाली हैं—त्यागपूर्वक अदनवाली हैं। ज्ञान का पहला परिणाम मेरे जीवन पर यह होता है कि मेरी अकेले खाने की वृत्ति प्रायः समाप्त हो जाती है—मैं औरों के साथ मिलकर खाता हूँ। मैं अपनी सम्पत्ति का पाँचों यज्ञों में विनियोग करके यज्ञशेष को खानेवाला बनता हूँ। यह यज्ञशेष ही तो अमृत है—अतः मेरा भोजन 'अमृतसेवन' हो जाता है। २. **घृताचीः**=(घृत अञ्च्) मल के क्षरण से युक्त है। ज्ञान का परिणाम मल का दूर करना है। ज्ञान 'पवित्र' है—**'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'**। एवं, ज्ञान के मेरे जीवन में दो परिणाम होते हैं—पवित्रता और त्याग।

हे प्रभो! मेरी इन ज्ञानदीप्तियों को **जुषस्व**=आप प्रीतिपूर्वक सेवन कीजिए—ये आपको प्रसन्न करनेवाली हों। जैसे पिता पुत्र के ऊँचे ज्ञान से प्रसन्न होता है—उसके प्रथम स्थान में उत्तीर्ण होने से प्रीति का अनुभव करता है, उसी प्रकार मेरा ज्ञान आपको प्रसन्न करे।

मेरा ज्ञान मेरे जीवन में पवित्रता व त्याग उत्पन्न करता है। पवित्र व यज्ञिय जीवनवाला बनकर मैं सब प्रजाओं के हित में प्रवृत्त होता हूँ और प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'प्रजापति' बनता हूँ।

भावार्थ—मुझे अनासक्त व पवित्र बनानेवाली मेरी ज्ञानदीप्तियाँ मुझे प्रभु के समीप पहुँचानेवाली हों—ये मुझे प्रभु का प्रिय बनाएँ। लोकहित में प्रवृत्त होकर मैं 'प्रजापति' बनूँ।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—अग्निवायुसूर्याः। **छन्दः**—दैवीबृहती[क], निचृद्बृहती[र]। **स्वरः**—मध्यमः॥

अग्निहोत्र

[क]भूर्भुवः स्वर् [र]द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा।
तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे॥५॥

१. गत मन्त्र का ऋषि 'प्रजापति' लोकहित के उद्देश्य से 'प्राजापत्य यज्ञ' करने का निश्चय करता है। अग्निहोत्र के द्वारा वह अकेले खाने की वृत्ति से ऊपर उठता है। देवताओं से दिये गये अन्नों को देवों के लिए देकर ही वह खाता है, वायु आदि देवों की शुद्धि से समय पर वृष्टि के द्वारा अन्नोत्पादन का कारण बनता है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि इस यज्ञियवृत्ति के परिणामस्वरूप उसका जीवन विलासमय नहीं बनता और परिणामतः वह **'भूः'**=स्वस्थ बना रहता है। भू=होना=बने रहना=अस्वस्थ न हो जाना। स्वस्थ शरीर में उसका मस्तिष्क भी स्वस्थ रहता है और **भुवः**=वह ज्ञान प्राप्त करता है। (भुवोऽवकल्कने, अवकल्कणं चिन्तनम्)। स्वस्थ व ज्ञानी बनकर वह **स्वः**=(स्वयं राजते) स्वयं राजमान व जितेन्द्रिय बनता है। यह इन्द्रियों का दास नहीं होता। वस्तुतः यज्ञियवृत्ति

के मूल में ही इन्द्रियों की दासता समाप्त हो जाती है। यह व्यक्ति विलास से ऊपर उठकर—केवल अपने लिए न जीता हुआ सभी के लिए जीता है। यह **भूम्ना** =बहुत्व के दृष्टिकोण से **द्यौः इव**=द्युलोक के समान हो जाता है। जैसे द्युलोक अनन्त नक्षत्रों को अपने में समाये हुए है उसी प्रकार यह भी सारे प्राणियों को अपनी 'मैं' में समाविष्ट करने का प्रयत्न करता है। यह **वरिम्णा**=विशालता के दृष्टिकोण से **पृथिवी इव**=इस विस्तृत पृथिवी के समान होता है। **'वसुधैव कुटुम्बकम्'**=सभी वसुधा को यह अपना कुटुम्ब बना लेता है।

२. यह निश्चय करता है कि हे पृथिवी मातः=भूमे! **देवयजनि**=जो तू देवताओं के यज्ञ करने का स्थान है **तस्याः**=उस **ते**=तेरे **पृष्ठे**=पृष्ठ पर मैं **अग्निम्**=इस अग्नि को **आदधे**=अग्निकुण्ड में अवहित करता हूँ, जो अग्नि **अन्नादम्**=अन्न को खानेवाली है। इस अग्नि में उत्तमोत्तम हव्य अन्नों की आहुति देता हूँ। यह अग्नि उन्हें सूक्ष्मतम कणों में विभक्त करके सारे वायुमण्डल में फैला देता है। यह सूक्ष्मकण श्वासवायु के साथ कितने ही प्राणियों से अपने अन्दर ग्रहण किये जाते हैं। अग्निहोत्र हमें **अन्नाद्याय**=खानेयोग्य अन्न प्राप्त कराता है। इस 'अन्नाद्याय' खाद्य अन्न के लिए ही मैं अग्नि का आधान करता हूँ और इस आद्य अन्न की उत्पत्ति में कारण बनकर अपने 'प्रजापति' नाम को चरितार्थ करता हूँ।

भावार्थ—अग्निहोत्र के लाभ निम्न हैं—(क) स्वास्थ्य (भूः) (ख) ज्ञान (भुवः), (ग) जितेन्द्रियता (स्वः), (घ) विशालता (द्यौः इव, पृथिवी इव) (ङ) आद्य अन्न की प्राप्ति—इन लाभों का ध्यान करते हुए हमें अग्निहोत्र करना चाहिए।

ऋषिः—सर्पराज्ञी कद्रूः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

माता-पिता, सर्पराज्ञी कद्रूः

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन् मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः॥६॥

१. 'प्रजापति' ने गत मन्त्र में अपने जीवन को यज्ञमय बनाया। यज्ञादि उत्तम कर्मों में सदा लगे रहने से यह **'सर्प'**=गतिशील (सृप् गतौ) कहलाया। क्रियाशीलता से चमकने के कारण यह 'राज्ञी' (राज् दीप्तौ) कहलाता है। इस प्रकार यह क्रियाशील व देदीप्यमान जीवनवाला बनकर 'कं प्रति द्रवति' उस आनन्दस्वरूप प्रभु की ओर निरन्तर बढ़ रहा है। अतः 'कद्रूः' है। 'सर्पराज्ञी कद्रूः' यह स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग इसलिए है कि जीव मानो पत्नी है, जोकि अपने प्रभुरूप पति का वरण करने के लिए सन्नद्ध है।

२. **आयम्**=यह जीव **गौः**=गतिशील है (गच्छति), निरन्तर क्रिया में लगा हुआ है। **पृश्निः**=(संस्प्रष्टा भासां) ज्योतियों को यह स्पर्श करनेवाला है। इसकी क्रिया के साथ ज्ञान जुड़ा हुआ है, वस्तुतः इसकी प्रत्येक क्रिया ज्ञानपूर्वक ही होती है। **अक्रमीत्**=यह निरन्तर उन्नति-पथ पर पग रख रहा है, आगे और आगे बढ़ रहा है। **पुरः**=सबसे पहले यह **मातरम्**=वेदमाता को (स्तुता मया वरदा वेदमाता०) **असदत्**=प्राप्त होता है। इसका सर्वप्रथम कार्य वेदज्ञान को प्राप्त करना है। इसे यह सर्वप्रधान कर्त्तव्य समझता है। इसी से तो वह कण-कण में प्रभु का दर्शन करता है। **स्वः**=उस स्वयंप्रकाश **पितरम्**=पिता की ओर **प्रयन्**=जाने के हेतु से वह ऐसा करता है। वस्तुतः प्रभु का दर्शन तभी होता है जब मनुष्य इस वेदज्ञान से अपने 'ब्रह्मवर्चस्' को बढ़ाता है।

भावार्थ—हम वेदमाता को अपनाएँ, जिससे उस देदीप्यमान पिता-प्रभु का दर्शन कर सकें।

ऋषिः—सर्पराज्ञी कद्रूः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

ज्ञान का प्रकाश

अ॒न्तश्च॑रति रोच॒नास्य प्रा॒णाद॑पान॒ती। व्य॑ख्यन् महि॒षो दिव॑म्॥७॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार वेदमाता को अपनाने पर **अस्य**=इस 'वेदमातृभक्त' के **अन्तः**=अन्दर—अन्तःकरण में **रोचना**=ज्ञान की दीप्ति **चरति**=प्रसृत होती है, अर्थात् इसका अन्तःकरण ज्ञानज्योति से जगमगा उठता है। २. यह **रोचना**=ज्ञानदीप्ति विषयों के सात्त्विक रूप का दर्शन कराकर इसे विषयासक्ति से बचाती है। विषयासक्तियों से बचाव इसकी प्राणशक्ति की वृद्धि का कारण बनता है। **प्राणात्**=प्राणशक्ति के द्वारा यह रोचना इसके जीवन में से **अपानती**=सब दोषों को दूर करती है। इसका जीवन निर्मल हो उठता है। केवल शरीर ही नहीं, इसके मन व मस्तिष्क भी स्वस्थ हो जाते हैं। ३. सब मलों से दूर हुआ यह **महिषः**=(मह पूजायाम्) प्रभु का पुजारी **दिवम्**=उस हृदयस्थ देदीप्यमान ज्योति को **व्यख्यन्**=विशेषरूप से देखता है। मल के आवरण ने उस ज्योति को इससे छिपाया हुआ था। आवरण हटा और ज्योति का प्रकाश हुआ।

भावार्थ—हम वेदमाता को अपनाते हैं, तो अन्तःकरण प्रकाशित हो उठता है। प्राणशक्ति की वृद्धि से सब मल दूर हो जाते हैं और उपासक अन्तर्ज्योति—प्रभु को देखता हैं।

ऋषिः—सर्पराज्ञी कद्रूः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

निरन्तर 'जप'

त्रि॒ꣳशद्धाम॒ वि रा॑जति॒ वाक् प॑त॒ङ्गाय॑ धीयते। प्रति॒ वस्तो॒रह॒ द्युभिः॥८॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जब यह उपासक उस प्रभु का दर्शन करता है तब **त्रिंशत् धाम**=तीसों मुहूर्त **विराजति**=इसका अन्तःकरण प्रभु-ज्योति से चमकता है। इसका हृदय सदा प्रकाशमय रहता है। २. **वाक्**=इसकी वाणी **पतङ्गाय**=उस (पतति गच्छति प्राप्नोति) प्राप्त होनेवाले प्रभु के लिए **धीयते**=धारण की जाती है। यह निरन्तर उस प्रभु सूर्य-समप्रभ का ही जप करता है, उसके नाम का ही चिन्तन करता है। सदा प्रभु का स्मरण करने से इसका जीवन पवित्र बना रहता है। ३. **प्रतिवस्तोः**=प्रतिदिन इसका जप चलता ही है (वस्तोः=दिन), **अह**=और निश्चय से **द्युभिः**=(द्यु=दिन) अधिक प्रकाश व खुशी—प्रसन्नता के दिनों में भी यह प्रभु-नाम-स्मरण करता है। उत्सव के दिनों में यह प्रभु-स्मरण हमारी प्रसन्नता को उच्छृङ्खल नहीं होने देता। प्रसन्नता में भी मर्यादा बनी रहती है।

भावार्थ—तीसों मुहूर्त प्रभु का दर्शन चले, निरन्तर उसके नाम का स्मरण हो। प्रसन्नता के अवसरों पर हम विशेषतः प्रभु को न भूलें, इसी में जीवन की सार्थकता है।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—अग्निसूर्यौ। **छन्दः**—पङ्क्तिः[क], याजुषीपङ्क्तिः[र]। **स्वरः**—पञ्चमः॥

गति=शक्ति+ज्ञान

[क]अ॒ग्निर्ज्योति॒र्ज्योति॑र॒ग्निः स्वाहा॒ सूर्यो॒ ज्योति॒र्ज्योति॒ः सूर्य॒ः स्वाहा॑।
अ॒ग्निर्वर्चो॒ ज्योति॒र्वर्च॒ः स्वाहा॒ सूर्यो॒ वर्चो॒ ज्योति॒र्वर्च॒ः स्वाहा॑।
[र]ज्योति॒ः सूर्य॒ः सूर्यो॒ ज्योति॒ः स्वाहा॑॥९॥

जो व्यक्ति गत मन्त्र की भावना के अनुसार सदा प्रभु का स्मरण करता है उसका जीवन निम्न सूत्रों को लेकर चलता है—१. **अग्निः ज्योतिः**=गति 'ज्ञान' है। वस्तुतः गति व क्रियाशीलता ज्ञान-प्राप्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। 'आलस्य' विद्यार्थी का प्रधान दोष है। **'सुखार्थिनः कुतो विद्या'**=आरामपसन्द को विद्या प्राप्त नहीं होती। 'Be diligent' यही तो विद्यार्थी को मूलभूत उपदेश कार्लाइल ने दिया है। यजुर्वेद का प्रारम्भ 'वायवः स्थ'='तुम क्रियाशील हो' इन शब्दों से होता है और समाप्ति भी 'कुर्वन्नेव'='करते हुए ही' इन शब्दों पर होती है। एवं, गति ही जीवन का सार है—यही ज्ञान-प्राप्ति का प्रमुख साधन है। 'गतेस्त्रयोऽर्थाः—ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च'=गति के तीन अर्थ हैं—प्रथम अर्थ ज्ञान ही है। २. **ज्योतिः अग्निः**=ज्ञान गति है, अर्थात् ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य खूब क्रियावान् हो जाता है। **'क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः'** ब्रह्मज्ञानिओं में श्रेष्ठ यह क्रियावान् होता है। ज्ञानी पुरुष आत्मशुद्धि के लिए निरन्तर कर्म करता है। एवं, 'गति ज्ञान है, ज्ञान गति है' यह **स्वाहा**=(सु+आह) कितना सुन्दर कथन है। ३. **अग्निः**=(अगि गतौ) यह गति **वर्चः**=शक्ति है। जिस अङ्ग में गति रहती है वह शक्तिशाली रहता है, गति गई—शक्ति गई। बायें हाथ से कम काम करते हैं, इसी कारण वह दायें हाथ की तुलना में निर्बल होता है। आलसी हुआ और मनुष्य 'अ+लस' हो जाता है—उसकी चमक चली जाती है (लस कान्तौ)। ४. **ज्योतिः वर्चः**=ज्ञान 'शक्ति' है। अंग्रेज़ी में 'knowledge is power', 'ज्ञान ही शक्ति है' यह कहावत है। संसार में ज्ञान का ही शासन है। अध्यात्मक्षेत्र में यही काम का विध्वंस करता है। **स्वाहा**=यह बात भी कितनी सुन्दर है!

५. सायंकाल सूर्य के अभाव में अग्नि को देखकर ये मन्त्र बोले जाते हैं तो प्रातः यही बात सूर्य के स्मरण से कही जाती है। **सूर्यो ज्योतिः**=यह सूर्य 'प्रकाश' है। सूर्य और अग्नि में कितना अन्तर है—'अग्नि' में 'अगि गतौ' धातु है तो सूर्य में 'सृ गतौ' धातु है। मौलिक भावना तो गति की ही है। गति ज्ञान है, और **ज्योतिः सूर्यः**=ज्ञान गति है तथा **सूर्यः वर्चः**=गति शक्ति है और **ज्योतिः वर्चः**=ज्ञान 'शक्ति' है। ये बातें **स्वाहा**=कितनी सुन्दरता से कही गई हैं! ६. इसी बात को एक बार फिर से इस प्रकार कहते हैं कि **ज्योतिः सूर्यः**=ज्ञान 'सूर्य' है, ज्ञान गति है और **सूर्यः ज्योतिः**=गति ज्ञान है। **स्वाहा**=यह बात सुन्दर है। हमें इस बात को अपनाने के लिए **स्वाहा**=स्वार्थ का त्याग करना होगा।

७. इस मन्त्र में ध्यान देने योग्य बात यह है कि गति (अग्नि व सूर्य) भौतिक क्षेत्र में यदि वर्चस् (शक्ति) को उत्पन्न करती है तो अध्यात्मक्षेत्र में यह ज्योति ज्ञान को जन्म देती है। एवं, गति के द्वारा शक्ति व ज्ञान की उत्पत्ति ही प्रस्तुत मन्त्र का मुख्य विषय है। इस गति के द्वारा शक्ति व ज्ञान को उत्पन्न करके लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त हुआ 'प्रजापति' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है।

८. यह भी ध्यान करना चाहिए कि सूर्य के साथ सम्बद्ध यहाँ तीन मन्त्र हैं और अग्नि के साथ दो, अतः तीसरे मन्त्र से आचार्य ने मौन रहकर आहुति देने के लिए लिखा है। तीसरा मन्त्र वेद में नहीं है।

भावार्थ—हम सायंकाल अग्नि से और प्रातः सूर्य से गति की प्रेरणा लें। इस गति से अपने में शक्ति व ज्ञान की वृद्धि करें।

सूचना—यहाँ अग्नि पहले है, सूर्य पीछे। रात्रि पहले है, दिन बाद में। प्रलय थी, सृष्टि हुई।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—अग्निः[क], सूर्यः[र]। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

इन्द्रवती रात्रि व उषा

[क]**सजूर्देवेन॑ सवि॒त्रा स॒जू रात्र्येन्द्र॑वत्या। जु॒षा॒णोऽअ॒ग्निर्वे॑तु॒ स्वाहा॑।**
[र]**स॒जूर्दे॒वेन॑ सवि॒त्रा स॒जूरु॒षसेन्द्र॑वत्या। जु॒षा॒णः सूर्यो॑ वे॑तु॒ स्वाहा॑॥१०॥**

गति के द्वारा शक्ति व ज्ञान का विकास करनेवाला यह प्रजापति अपनी जीवन-यात्रा में निम्न प्रकार से चलता है—१. **सवित्रा देवेन**=सबके प्रेरक दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु से **सजूः**=मित्रतावाला, अर्थात् इस जीवन-यात्रा में प्रभु उसके साथ होते हैं। यह सदा प्रभु का स्मरण करते हुए अपनी जीवन-क्रियाओं को करता है। २. **इन्द्रवत्या रात्र्या**=इन्द्रवाली रात्रि के **सजूः**=साथ, अर्थात् यह प्रतिदिन रात्रि के आरम्भ में प्रभु-स्मरण करते हुए ही सोता है। सारी रात उस प्रभु के साथ ही इसका सम्बन्ध बना रहता है। यदि हम विषयों का चिन्तन करते हुए सोएँगे तो रात में भी उन विषयों के सेवन में ही लगे रहेंगे और इस प्रकार रात्रि 'इन्द्रियों' वाली हो जाएगी। ३. एवं, दिन में सदा प्रभु का स्मरण करते हुए रात में भी प्रभु का स्वप्न लेते हुए हम **जुषाणः**=सबके साथ प्रीतिपूर्वक वर्त्तनेवाले बनें। प्रभु कहते हैं कि यह प्रीतिपूर्वक वर्त्तनेवाला **अग्निः**=प्रगतिशील व्यक्ति ही **वेतु**=(वी गतौ) मुझे प्राप्त हो। **स्वाहा**=इस प्रीतिपूर्वक बर्त्ताव के लिए वह 'स्व' का 'हा' त्याग करना सीखे। ४. **देवेन सवित्रा सजूः**=उस प्रेरक देव से मित्रतावाला—अर्थात् प्रभु को ही सच्चा मित्र जाननेवाला **इन्द्रवत्या उषसा सजूः**=इन्द्रवाले उषःकाल के साथ, अर्थात् उषःकाल में उठकर सर्वप्रथम प्रभु का ही ध्यान करनेवाला **जुषाणः**=सबके साथ प्रीतिपूर्वक वर्त्तता हुआ अथवा स्वधर्म का प्रीति से सेवन करता हुआ **सूर्यः**=यह निरन्तर क्रियाशील, सूर्य के समान प्रकाशवाला व्यक्ति **वेतु**=प्रभु को प्राप्त हो। इसके लिए वह **स्वाहा**=स्वार्थत्याग की भावना को अपने में उद्बुद्ध करे।

भावार्थ—प्रभु की प्राप्ति के लिए तीन बातें आवश्यक हैं—१. हमारी जीवन-यात्रा में वे सवितादेव हमारे साथी हों। २. हमारी रात्रि व उषाःकाल प्रभु-स्मरण में बीते और ३. हमारा सारा बर्त्ताव प्रीतिपूर्वक हो।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

हाथों में 'अध्वर', वाणी में 'मन्त्र'

उ॒प॒प्र॒यन्तो॑ऽअध्व॒रं मन्त्रं॑ वोचेमा॒ग्नये॑। आ॒रेऽअ॒स्मे च॑ शृण्व॒ते॥११॥

प्रभु-प्राप्ति के लिए गत मन्त्र में तीसरी बात कही थी **जुषाणः**=प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ। 'किन बातों का प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ?' यह विषय प्रस्तुत मन्त्र का है। १. **अध्वरम्**=(अ+ध्वर—कुटिलता व हिंसा) इस जीवन-यात्रा में कुटिलता व हिंसा से रहित यज्ञों के **उपप्रयन्तः**=समीप जाते हुए **अग्नये**=उस अग्रेणी प्रभु की प्राप्ति के लिए **मन्त्रं वोचेम**=मन्त्रों का उच्चारण करें। प्रभु-प्राप्ति के दो साधन हैं—(क) हमारे हाथ अध्वरों में व्याप्त हों और हमारी वाणी ज्ञान की बातों का उच्चारण करे। कर्मेन्द्रियाँ अहिंसात्मक व कुटिलताशून्य कर्मों में लगी हों और ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान की वाणियों का ग्रहण करने में व्याप्त हों। ऐसा होने पर ही हम उस प्रभु को प्राप्त होंगे जो 'अग्नि' हैं—हमारी सब उन्नतियों के साधक हैं। वे प्रभु **आरे**=दूर और **अस्मे**=(अस्माकं समीपे इतिशेषः=महीधर) समीप **शृण्वते**=हमारे वचन को सुनते हैं। हमारी प्रार्थना उस प्रभु से सुनी जाती है, जो प्रभु

हमारी सब उन्नतियों के साधक हैं।

प्रभु-प्राप्ति के लिए सदा मन्त्रों का पाठ करते हुए यह उत्तम ज्ञानवाला 'गोतम' बनता है और अध्वरों में लगा हुआ यह कुटिलता व हिंसा का त्याग करनेवाला (रह-त्यागे) त्यागियों में गिनने के योग्य 'राहूगण' होता है। यह 'गोतम राहूगण' ही प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हमारे हाथ अध्वरों (यज्ञों) में व्याप्त हों और हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ मन्त्रों में। इस प्रकार उत्तम कर्मों व ज्ञान के द्वारा हम प्रभु को प्राप्त करने के अधिकारी हों।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

शिखर पर

अ॒ग्निर्मू॒र्द्धा दि॒वः क॒कुत्पतिः पृ॒थि॒व्याऽअ॒यम्। अ॒पाꣳरेताꣳसि जिन्वति॥१२॥

गत मन्त्र के 'अध्वर व मन्त्र हमें कैसा बनाएँगे?' इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्र में देखिए—१. **अग्निः मूर्द्धा**=यह निरन्तर आगे बढ़नेवाला होता है, अतः उन्नत होते हुए सर्वोच्च स्थान में पहुँचता है। २. **ककुत् दिवः**=यह ज्ञान के शिखर पर पहुँचता है। प्रतिदिन मन्त्रों का उच्चारण व दर्शन करनेवाला व्यक्ति ज्ञानी तो बनेगा ही। ३. **अयम्**=यह **पृथिव्याः**=इस शरीर का **पतिः**=स्वामी होता है। यह शरीररूप रथ पूर्णरूप से इसके वश में होता है। इस शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों का ठीक विकास होने से इसका शरीर 'पृथिवी' इस अन्वर्थक नामवाला ही होता है (प्रथ विस्तारे)।

४. यह आगे बढ़ा (अग्नि), शिखर तक पहुँचा (मूर्द्धा), ज्ञानी बना (दिवः ककुत्), सुन्दर शरीरवाला बना (पतिः पृथिव्या अयम्)। इन सब बातों का रहस्य इसमें है कि **अपाम्**=जल-सम्बन्धी जो **रेतांसि**=रेतस् 'शक्तियाँ' हैं—वीर्यकण हैं, उनको यह **जिन्वति**=अपने अन्दर बढ़ाता (promote करता) है। वीर्यकणों का अपने अन्दर वर्धन करता है, अपने शरीर में ही उनकी ऊर्ध्वगति करता है। यह ऊर्ध्वगति ही इनकी वृद्धि है। इनकी रक्षा से 'अध्वरम्' की भावना बढ़ती है और मन्त्रों का तत्त्वार्थ दर्शन भी होता है।

५. इस प्रकार वीर्य की ऊर्ध्वगति से अत्यन्त तेजस्वी बना हुआ यह 'वि-रूप'=विशिष्ट रूपवाला होता है। सामान्य मनुष्यों में यह ऐसे चमकता है जैसे नक्षत्रों में चन्द्रमा।

भावार्थ—हम आगे बढ़ते हुए उन्नति के शिखर पर पहुँचने का निश्चय करें। ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान प्राप्त करें। शरीर को पूर्ण नीरोग रक्खें। इन सब बातों के लिए संयमी बन ऊर्ध्वरेतस् हों।

ऋषिः—भरद्वाजः। **देवता**—इन्द्राग्नी। **छन्दः**—स्वराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

पति-पत्नी के मौलिक गुण

उ॒भा वा॑मिन्द्राग्नीऽआहु॒वध्या॑ऽउ॒भा राध॑सः स॒ह मा॑द॒यध्यै॑।
उ॒भा दा॒तारा॑वि॒षाꣳर॑यी॒णामु॒भा वाज॑स्य सा॒तये॑ हुवे वाम्॥१३॥

गत मन्त्र की भावनावाले व्यक्ति जब 'पति-पत्नी' बनते हैं तब उनके अन्दर जो बातें विशेषरूप से दिखती हैं, वे ये हैं—१. पति इन्द्रियों का अधिष्ठाता—जितेन्द्रिय होने से बल-सम्पन्न होकर 'इन्द्र' नामवाला होता है। घर की उन्नति का कारण होने से पत्नी को यहाँ

'अग्नि' कहा गया है। पति 'बल' का प्रतीक है तो पत्नी 'प्रकाश' की। **इन्द्राग्नी**=हे पति-पत्नी! **वाम् उभा**=आप दोनों **आहुवध्या**=प्रभु को पुकारनेवाले (भवतम्) होते हो। उत्तम जीवनवाले पति-पत्नी मिलकर प्रभु की उपासना करते हैं। यह प्रभुभक्ति ही इनके सारे जीवन-सौन्दर्य का कारण है। २. **उभा** =दोनों ही **राधसः**=सफलता व सम्पत्ति का **सह**=मिलकर **मादयध्यै**=आनन्द लेनेवाले (भवतम्) होते हो। घर में होनेवाली सफलताओं व सम्पत्तियों को इनमें से कोई एक अपनी महिमा की सूचक नहीं मानता। 'इनको प्राप्त करने में दोनों का भाग है', ऐसा वे समझते हैं। यह समझना ही उन्हें परस्पर प्रेमवाला बनाये रखता है और वे एक-दूसरे को छोटा नहीं समझते। ३. **उभा** =दोनों **इषाम्**=अन्नों के व **रयीणाम्**=धनों के **दातारौ**=देनेवाले होते हैं। इनके घर से कोई याचक कभी निराश नहीं लौटता। ४. इस प्रकार (क) प्रभु के पुजारी (ख) मिलकर धन-सम्पत्ति का आनन्द उठानेवाले (ग) अन्नों व धनों के देनेवाले ये पति-पत्नी **उभा**=दोनों **वाजस्य**=शक्ति की **सातये**=प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होते हैं। इनका जीवन विषय-वासनाओंवाला न होने से इनकी शक्ति स्थिर रहती है। विषय ही इन्द्रिय-शक्तियों को जीर्ण करते हैं। अपने अन्दर शक्ति को भरनेवाले ये सचमुच 'भरद्वाज' बनते हैं, प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि होते हैं।

५. इस प्रकार पति-पत्नी के चार मुख्य गुण हैं—'प्रभु-भजन', 'सम्पत्ति का सम्पादन', 'दान' तथा 'शक्तिसम्पन्न बने रहना'। इन गुणोंवाले पति-पत्नी का जीवन सचमुच सुन्दर होता है। मन्त्र का ऋषि कहता है कि **वाम् हुवे**=आप दोनों की मैं स्पर्धा करता हूँ (ह्वेञ्=स्पर्धायाम्)। मैं भी अपने जीवन को ऐसा बनाने का प्रयत्न करता हूँ, प्रभु से ऐसे ही जीवन के लिए प्रार्थना करता हूँ।

भावार्थ—पति-पत्नी के जीवन 'प्रभु-पूजन, धन-सम्पादन, दानशीलता व शक्ति' वाले हों। ऐसे ही जीवन अनुकरणीय व आकांक्षणीय हैं।

ऋषिः—देववातभरतौ। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

घर=प्रभु कीर्तन का केन्द्र

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातोऽअरोचथाः।
तं जानन्नग्नऽआरोहाथा नो वर्द्धया रयिम्॥१४॥

१. पिछले मन्त्र में वर्णित पति-पत्नी निम्न प्रकार से प्रभु-पूजन करते हैं—१. हे प्रभो! **अयम्**=यह **योनिः**=घर **ते**=तेरा ही है। इसमें आपका ही उपासन चलता है। **ऋत्वियः**= (ऋतौ ऋतौ प्राप्तः—काले काले भवति) इसमें आपका ही उपासन समय-समय पर होता है। यह वह घर है, **यतः**=जहाँ से **जातः** =प्रादुर्भूत हुए आप **अरोचथाः**=चमकते हो, अर्थात् इस घर में होनेवाला आपका स्तवन चारों ओर आपके यश को फैलानेवाला होता है। चारों ओर के वातावरण में भी आपके गुण-कीर्तन की वृत्ति परिपूर्ण हो उठती है। हमारा घर आपके गुण-कीर्तन का केन्द्र बनता है। २. **तम्**=उस हमारे घर को **जानन्**=जानते हुए, अर्थात् इस घर पर अपनी कृपादृष्टि रखते हुए **अग्ने**=हे उन्नतिसाधक प्रभो! इसे **आरोह**=(उन्नतिं गमय—द०) उन्नति को प्राप्त कराइए। आपकी कृपा से यह घर सदा उन्नत होता चले। इसमें सम्पत्ति की कमी न हो। इस घर में दान-प्रवाह सदा चलता रहे और इस घर के लोग क्षीणशक्ति न हो जाएँ। **अथ**=अब **नः रयिम्**=हमारी सम्पत्ति को **वर्धय**=बढ़ाइए।

३. इस घर में सदा देवताओं के श्रव=यश का कीर्तन होता है, अतः ये लोग

'देवश्रव' कहलाते हैं, देवताओं से ही अपने जीवन-मार्ग में प्रेरणा प्राप्त करने के कारण ये 'देववात' हैं। दानादि द्वारा औरों का भरण करनेवाले ये 'भरतौ' हैं।

भावार्थ—हमारे घर में प्रभु-पूजन इस रूप में चले कि यह घर ही प्रभु का लगे। हम प्रभु के कृपापात्र हों, जिससे यह घर उन्नत हो तथा इसकी सम्पत्ति बढ़े।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

प्रजा का धाता ही प्रभु का धाता बनता है

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठोऽअध्वरेष्वीड्यः।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे॥१५॥

१. **अयम्**=यह प्रभु **प्रथमः**=सर्वश्रेष्ठ है—या अधिक-से-अधिक विस्तारवाला है (प्रथ विस्तारे)। **इह** =इस हृदयान्तरिक्ष में **धातृभिः**=धारण-पोषण करनेवाले लोगों से **धायि**=स्थापित किया जाता है। वस्तुतः प्रभु का धारण वही करते हैं जो अपने ही पालन में फँस जानेवाले असुर न बनकर औरों का भी धारण करनेवाले 'धाता' बनते हैं। सर्वभूतहित में लगे हुए व्यक्ति ही प्रभु के सच्चे उपासक हैं। २. वे प्रभु **होता**=सब पदार्थों के देनेवाले हैं (हु=दान)। **यजिष्ठः**=वे प्रभु अधिक-से-अधिक सङ्गतीकरणवाले हैं, हमारा वास्तविक सम्बन्ध प्रभु से ही है—ये ही पिता हैं, माता हैं, बन्धु हैं। **अध्वरेषु ईड्यः**=ये प्रभु ही कुटिलता व हिंसारहित कर्मों में उपासना के योग्य हैं। प्रभु की उपासना अध्वरों द्वारा ही होती है। निश्छल परार्थसाधक कर्मों के होने पर प्रभु-उपासन स्वतः ही चलता है। ३. ये प्रभु वे हैं **यम्**=जिसको **अप्नवानः**=उत्तम कर्मोंवाले (अप्न इति कर्मनाम—नि० २।१), **(अप्नं करोति इति णिजन्तात् वनिप्)**। **भृगवः** =ज्ञानीलोग (भ्रस्ज पाके), ज्ञान-अग्नि से अपना परिपाक करनेवाले तपस्वी लोग **विरुरुचुः**=(विदीपयन्ति—द०) अपने जीवन को ज्ञान से दीप्त करते हैं। प्रभु का प्रकाश उन्हीं में होता है, जिनके हाथों में अध्वर व अप्न हैं और जिनकी वाणी में मन्त्र हैं। हाथों में अध्वरोंवाले ही 'अप्नवान्' हैं, वाणी में मन्त्रोंवाले ही 'भृगु' हैं। ४. ये प्रभु **वनेषु**=उपासकों में (वन संभक्तौ) अथवा अपने धन का यज्ञों द्वारा औरों में विभाग करनेवालों में **चित्रम्**=(चित्+र) ज्ञान देनेवाले हैं, और ५. **विशेविशे**=प्रत्येक प्रजा में **विभ्वम्**=(व्यापनशीलम्) व्याप्त हो रहे हैं। ६. इस प्रकार प्रभु का उपासन करते हुए ये अप्नवान् और भृगु सुन्दर=उत्तम गुणों को धारण करते हैं। इन सुन्दर (वाम) गुणों (देव) को धारण करने से ये 'वामदेव' नामवाले होते हैं।

भावार्थ—वामदेव प्रभु का धारण करने के लिए 'धाता बनता है, होता बनता है, अधिक-से-अधिक प्राणियों से मेलवाला होता है, उत्तम कर्मोंवाला व ज्ञानाग्नि से अपना परिपाक करनेवाला होता है, यह अपने धनों का बाँटनेवाला बनता है और प्रभु का भजन करता है।

ऋषिः—अवत्सारः। **देवता**—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

अमर वेदवाणी का दोहन

अस्य प्रत्नामनु द्युतꣳशुक्रं दुदुह्रेऽअह्रयः। पयः सहस्रसामृषिम्॥१६॥

पिछले मन्त्र में प्रभु के धारण का उल्लेख था। उस प्रभु का धारण करनेवाले व्यक्ति प्रभु के धारण के द्वारा उस प्रभु की ज्ञान-ज्योति को भी अपने में धारण करते हैं। प्रस्तुत

मन्त्र में कहते हैं कि **अस्य**=इस हृदय-मन्दिर में स्थापित किये गये प्रभु की **प्रत्नाम्**=सनातन **द्युतम्**=ज्योति के **अनु**=अनुसार **अह्वयः**=(अह व्याप्तौ+क्तिन्, ये सर्वा विद्या व्याप्नुवन्ति–द०) अपने में सब विद्याओं का व्यापन करनेवाले ज्ञानी लोग **दुदुह्रे**=अपने में ज्ञान का दोहन करते हैं। किस ज्ञान का? जो ज्ञान १. **शुक्रम्**=(शुच्) मानव जीवन को पवित्र व उज्ज्वल बनानेवाला है **'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'** २. **पयः**=जो हमारा आप्यायन व वर्धन करनेवाला है। इस ज्ञान को प्राप्त करके उसके अनुसार चलते हुए हम अपनी सब शक्तियों का वर्धन करनेवाले बनते हैं। ३. **सहस्रसाम्**=(सहस्र+सन्+संभक्ति आप्ति) यह ज्ञान हमें शतशः शक्तियों का प्राप्त करानेवाला है। वेदज्ञान हमें विलासमय जीवन से ऊपर उठाकर शक्तिसम्पन्न बनाता है। ४. **ऋषिम्**=(ऋष गतौ) और अन्ततः यह ज्ञान हमें प्रभु की ओर ले-जाता है–हमें प्रभु को प्राप्त करने के योग्य बनाता है।

उल्लिखित मन्त्रार्थ में निम्न बातें स्पष्ट हैं–१. यह वेदज्ञान सनातन है। प्रभु अनादि हैं, अतः उनका ज्ञान भी अनादि है। २. अपने में सब विद्याओं का व्यापन करनेवाले इसका दोहन करते हैं। दूसरे शब्दों में यह वेदज्ञान सब सत्य विद्याओं का मूल है। इनमें सब सत्य विद्याओं का बीज निहित है।

मन्त्रार्थ से यह बात भी स्पष्ट है कि ज्ञान के चार परिणाम हैं–१. पवित्रता, २. सब अङ्गों का आप्यायन, ३. शतशः शक्तियों का लाभ तथा ४. प्रभु-प्राप्ति।

इस ज्ञान को प्राप्त वही व्यक्ति करता है जो शरीर में अन्न के सारभूत सारे सोमकणों को सुरक्षित रखता है। सार को सुरक्षित रखने से ही यह 'अवत्सार' कहलाता है।

भावार्थ–हम वेदवाणी का दोहन करके अपने जीवनों को 'उज्ज्वल, आप्यायित, शक्तिसम्पन्न व प्रभु-प्राप्ति का साधन' बनाएँ।

ऋषिः–अवत्सारः। **देवता**–अग्निः। **छन्दः**–त्रिष्टुप्। **स्वरः**–धैवतः॥

अवत्सार की प्रार्थना

तनूपाऽअ॑ग्ने ऽसि त॒न्वं मे पाह्यायु॒र्दाऽअ॑ग्ने॒ ऽस्यायु॑र्मे देहि वर्चो॒दाऽअ॑ग्ने ऽसि॒ वर्चो॑ मे देहि। अग्ने॒ यन्मे॑ त॒न्वा॒ऽ ऊ॒नं तन्म॒ऽआपृ॑ण ॥१७॥

'अवत्सार' प्रभु से प्रार्थना करता है–१. **हे अग्ने**=हमारी उन्नति के साधक प्रभो! **तनूपा असि**=आप हमारे शरीरों के रक्षक हो, अतः **मे**=मेरे **तन्वम्**=शरीर को **पाहि**=सुरक्षित कीजिए। आपके दिये गये वेदज्ञान से मैं अपने शरीर को रोगों से बचा सकूँगा। २. **आयुर्दा असि**=आप दीर्घजीवन देनेवाले हैं। **अग्ने**=हे अग्रेणी प्रभो! **मे**=मुझे **आयुः**=दीर्घजीवन **देहि**=दीजिए। आपका यह वेदज्ञान मुझे उस मार्ग पर ले-चले जिससे मैं दीर्घकाल तक जीनेवाला बनूँ। ३. **हे अग्ने**=अग्रगति के साधक प्रभो! **वर्चोदा असि**=आप वर्चस् के देनेवाले हैं, **मे**=मुझे **वर्चः**=वर्चस् **देहि**=दीजिए। इस नीरोग दीर्घजीवन में मैं ब्रह्मवर्चस् को प्राप्त करके आपके समीप पहुँचनेवाला बनूँ। ४. हे **अग्ने**=मुझे आगे और आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **यत्**=जो भी **मे**=मेरे **तन्वा ऊनम्**=शरीर की न्यूनता है **मे**=मेरी **तत्**=उस न्यूनता को **आपृण**=दूर कर दीजिए (समन्तात् प्रपूरण–द०)।

भावार्थ–हम अपनी वीर्यशक्ति के द्वारा शरीर की सब न्यूनताओं को दूर करनेवाले हों। सब कमियों को दूर करके प्रभु को प्राप्त करने में क्षम हों।

ऋषिः—अवत्सारः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्ब्राह्मीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।।

चित्रावसु

इन्धा॑नास्त्वा श॒तꣳहिमा॑ द्यु॒मन्त॒ꣳसमि॑धीमहि। वय॑स्वन्तो वय॒स्कृत॒ꣳसह॑स्वन्तः सह॒स्कृत॑म्। अग्ने॑ सपत्न॒दम्भ॑न॒मद॑ब्धासो॒ऽअदा॑भ्यम्। चित्रा॑वसो स्व॒स्ति ते॑ पा॒रम॑शीय॥१८॥

१. हे प्रभो! **द्युमन्तम्**=ज्योतिर्मय आपको—ज्ञानस्वरूप 'विशुद्धाचित्' आपको **शतं हिमाः**=सौ वर्षपर्यन्त **इन्धानाः**=अपने हृदय-मन्दिर में दीप्त करते हुए **समिधीमहि**=इस जीवन में हम खूब दीप्त हों। २. **वयस्वन्तः**=उत्तम आयुष्यवाले हम **वयस्कृते**=उत्तम आयुष्य के कारणभूत आपको अपने में दीप्त करें। हम अपने जीवन को उज्ज्वल बनाएँ, परन्तु हमें यह सदा स्पष्ट हो कि हमारे जीवन की उज्ज्वलता का कारण आप ही हैं। ३. **सहस्वन्तः**= उत्तम सहस् (बल+सहनशक्ति)-वाले होते हुए **सहस्कृतम्**=इस सहस् को उत्पन्न करनेवाले आपको हम अपने में समिद्ध करें। 'सहोऽसि' इन शब्दों के अनुसार हम यह न भूल जाएँ कि सारे सहस् के उद्गमस्थान आप ही हैं। ४. **हे अग्ने**=हमारी अग्रगति के साधक प्रभो! **सपत्नदम्भनम्**=हमारे 'काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मत्सर' आदि सब सपत्नों—शत्रुओं के नष्ट करनेवाले आपको हम अपने में समिद्ध करते हैं। परिणामतः **'अदब्धासः'**=दबनेवाले न होते हुए **अदाभ्यम्**=दबाये न जा सकनेवाले आपको हम अपने में समिद्ध करते हैं। वस्तुतः आपके कारण ही तो हम इन शत्रुओं से हिंसित नहीं होते। ५. **चित्रावसो** =(चित्+र+वस्) उत्तम ज्ञान देकर हमें उत्तमता से बसानेवाले हे प्रभो! **स्वस्ति**=आपके दिये इस वेदज्ञान से हमारा जीवन उत्तम हो। वस्तुतः देवता जिसकी रक्षा करना चाहते हैं उसे उत्तम ज्ञान प्राप्त करा देते हैं। नाश का उपाय बुद्धि को छीन लेना है और जीवन का उपाय बुद्धि का प्रापण।

६. हे प्रभो! मैं **ते**=आपके दिये इस वेदज्ञान के सहारे **पारम्**=इस भवसागर के पार को **अशीय** =प्राप्त करूँ। यह ज्ञान ही मुझे सब वासनाओं को जीतने में समर्थ बनाएगा।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हमें उत्तम जीवन, सहनशक्ति, शत्रुओं के नाशन की शक्ति तथा वह ज्ञान प्राप्त होता है जिससे हम कुशलता से इस भवसागर को तैर पाते हैं।

ऋषिः—अवत्सारः। देवता—अग्निः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।।

प्रिय-धाम

सं त्वम॑ग्ने॒ सूर्य॑स्य॒ वर्च॑साग॒थाः॒ समृषी॑णाꣳस्तु॒तेन॑।
सं प्रि॒येण॒ धाम्ना॒ सम॒हमायु॑षा॒ सं वर्च॑सा॒ सं प्र॒जया॒ सꣳरा॒यस्पोषे॑ण ग्मिषीय॥१९॥

१. हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **त्वम्**=आप **सूर्यस्य वर्चसा**=सूर्य के तेज के साथ **सम् आगथाः**=हमें सम्यक् प्राप्त होओ, अर्थात् आपकी कृपा से निरन्तर क्रियाशील रहता हुआ मैं सूर्य के समान चमकूँ। २. **ऋषीणाम्** =तत्त्वद्रष्टा ज्ञानियों के **स्तुतेन**=प्रशस्त ज्ञान के साथ आप हमें प्राप्त होओ (समागथाः)। ३. **प्रियेण धाम्ना सम्**=आप हमें प्रिय तेज के साथ प्राप्त होओ। हम तेजस्वी हों, परन्तु हमारा तेज औरों की प्रीति का कारण बने। हमारा तेज नाशक न होकर निर्माण-विनियुक्त हो। ४. हे प्रभो! आपकी कृपा से **अहम्**=मैं **आयुषा**=उत्तम आयुष्य से **सम्**=सङ्गत होऊँ। मेरा जीवन उत्तम हो। ५. **वर्चसा सम्**=मैं वर्चस् से सङ्गत होऊँ। अपने जीवन में मैं निर्बल न होऊँ। ६. **प्रजया सम्**=परिणामतः मेरा उत्तम व वर्चस्वी जीवन मेरी प्रजा को भी उत्तम बनाये। मैं उत्तम सन्तानों से संयुक्त होऊँ। ७. हे प्रभो! इन

सन्तानों के जीवनों को भी उत्तम बनाने के लिए **रायस्पोषेण**=धन के साथ शरीर की पुष्टि से **संग्मिषीय**=सङ्गत होऊँ। मैं धनी होऊँ, जिससे मेरी यह संसार-यात्रा ठीक से चले, परन्तु इस धन को प्राप्त करके मैं कुबेर=कुत्सित शरीरवाला व नलकुबेर न बन जाऊँ। मेरा शरीर पुष्ट हो।

भावार्थ—मैं वर्चस्वी बनूँ, ज्ञानी बनूँ। मेरा तेज लोकहितकारी हो। उत्तम जीवनवाला बनकर मैं उत्तम सन्तान का निर्माण करूँ। धनी होऊँ पर पुष्ट, निर्बल नहीं।

ऋषिः—याज्ञवल्क्यः। **देवता**—आपः। **छन्दः**—भुरिग्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

रायस्पोष

अन्ध॒ स्थान्धो॑ वो भक्षीय॒ मह॑ स्थ॒ महो॑ वो भक्षी॒योर्ज॒ स्थोर्जं॑ वो भक्षीय
रा॒यस्पोष॑ स्थ रा॒यस्पोषं॑ वो भक्षीय॥२०॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति 'मैं रायस्पोष से सङ्गत होऊँ' शब्दों के साथ हुई थी। प्रस्तुत मन्त्र में इस रायस्पोष की साधनभूत गौवों का उल्लेख करते हैं। धन का संग्रह करनेवाले वैश्य लोग 'कृषि, गोरक्षा व वाणिज्य' से धनार्जन करते हैं। इनके इन तीनों कार्यों का केन्द्र 'गोरक्षा' है। प्राचीनकाल में गोधन ही वास्तविक धन था। Pecuniary शब्द में प्रारम्भिक 'Pecu' यह शब्दांश अब तक पशुधन के धनत्व को पुष्ट कर रहा है। २. इस गौ के लिए कहते हैं कि तुम **अन्धः स्थ**=अन्न हो (क्षीराज्यादिरूपस्यान्नस्य जनकत्वात् अन्नत्वोपचारः—म०), क्षीर, आज्य (घृत) आदि अन्न की जनक हो। मैं **वः**=आपके **अन्धः**= क्षीराज्यादिरूप इस अन्न का **भक्षीय** =सेवन करूँ। ३. **महःस्थ**='मह' शब्दवाच्य दस शक्तिजनक पदार्थों को पैदा करने से तुम 'मह' हो। वे दस वीर्यजनक पदार्थ निम्न हैं—(क) प्रतिधक्=तत्काल दूहा=ताज़ा दूध, (ख) शृतम्=गरम किया हुआ दूध, (ग) शरः=दुग्धमण्ड (घ) दधि, (ङ) मस्तु=दधिरस (च) आतञ्च=दधिपिण्ड (छ) नवनीत=मक्खन (ज) घृतम्, (झ) आमिक्षा=स्फुटित दुग्ध (ञ) वाजिनम्=आमिक्षा जल। मैं **वः**=आपके **महः**=वीर्यजनक इन दस पदार्थों का **भक्षीय**=सेवन करूँ। ४. **ऊर्जः स्थ**=बलहेतु क्षीर की जनक होने से तुम बलरूप हो। मैं **वः**=तुम्हारे **ऊर्जम्**=बलजनक दुग्धादि का **भक्षीय**=सेवन करूँ।

५. **रायस्पोष स्थ**=तुम रायस्पोष हो। वैश्य लोग आपके ही क्षीर-घृतादि के विक्रय से धन का पोषण करते हैं। मैं **वः**=आपके इस **रायस्पोषम्**=रायस्पोष का **भक्षीय**=सेवन करनेवाला बनूँ। ६. इस प्रकार आपके दूध आदि के प्रयोग से जहाँ वीर्यवान्, बलवान् व धनवान् बनूँगा, वहाँ उत्तम मनोवृत्तिवाला बनकर यज्ञादि उत्तम कार्यों में व्याप्त होनेवाला प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'याज्ञवल्क्य' बनूँगा। यज्ञ के संवरणवाला (वल्क-संवरण)। याज्ञवल्क्य वह है जिसके दिन का प्रारम्भ भी यज्ञ से होता है और समाप्ति भी यज्ञ से। एवं, इसका जीवन यज्ञ का ही सम्पुट बना रहता है।

भावार्थ—गौवें 'अन्ध, मह, ऊर्ज व रायस्पोष' हैं। अन्नदात्री, वीर्यदात्री, बल व प्राणदात्री तथा धन का पोषण करनेवाली हैं।

ऋषिः—याज्ञवल्क्यः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—उष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

याज्ञवल्क्य की 'गो-प्रार्थना'

रेव॑ती॒ रम॑ध्वम॒स्मिन्योना॑व॒स्मिन् गो॒ष्ठे॒ऽस्मिँल्लो॒के॒ऽस्मिन् क्षये॑।
इ॒हैव स्त॒ माप॑गात॥२१॥

१. ऋषि याज्ञवल्क्य गौवों को सम्बोधित करते हुए प्रार्थना करते हैं **रेवतीः**=(रयिर्विद्यते यासाम्) धन का हेतु होने से हे धनवती गौवो! **अस्मिन् योनौ**=अपने इस (गोयूथसम्बन्धी प्रजननी) उत्पत्तिस्थान में ही **रमध्वम्**=तुम रमण करो। यहाँ स्पष्ट है कि गौवें इस घर में ही उत्पन्न होती है, यहाँ ही रहती हैं। एवं, उनका विक्रय यथासम्भव नहीं होता। कृषिमय जीवन में यह बात पूर्णतया सम्भव है। २. **अस्मिन् गोष्ठे**=इस गोष्ठ में (गोष्ठशब्देन गृहाद् बहिर्विश्राम्मेण सञ्चारप्रदेशः) गोसञ्चार प्रदेश में रमण करो। ३. **अस्मिन् लोके**=इस यजमान के दृष्टि-विषय में (लोकृ दर्शने) रमण करो, अर्थात् गृहपति की दृष्टि तुमपर सदा बनी रहे—उसकी आँख से तुम ओझल न हो जाओ। ४. **अस्मिन् क्षये**=(क्षि निवासे) इस यजमान के निवासस्थानभूत घर में तुम आनन्द से रहो। **इह एव स्त**=यहाँ ही होओ। **मा अपगात**=यहाँ से दूर मत जाओ। इस घर की 'नीरोगता, पवित्रता व वृद्धि की भास्वरता' सब-कुछ तुमपर ही तो आश्रित है, अतः तुम यहीं निवास करो।

भावार्थ—गौ ही घर का वास्तविक धन है। उसके न रहने पर घर 'शरीर, मन व बुद्धि' सभी दृष्टिकोणों से निर्धन बन जाता है। शरीर रोगी हो जाता है, मन मलिन हो जाता है और बुद्धि मन्द।

ऋषिः—वैश्वामित्रो मधुच्छन्दाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगासुरीगायत्री[क], गायत्री[र]। **स्वरः**—षड्जः॥

वेदवाणी व गौपत्य

[क]स॒ꣳहि॒तासि॑ विश्वरू॒प्यूर्जा मावि॑श गौप॒त्येन॑।

[र]उप॑ त्वाग्ने दि॒वेदि॑वे॒ दोषा॑वस्तर्धि॒या व॒यम्। नमो॒ भर॑न्त॒ऽएम॑सि॥२२॥

पिछले मन्त्र में गोष्ठों का उल्लेख है। 'गो' शब्द का अर्थ वेदवाणी भी है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में वेदवाणी का उल्लेख करते हैं। गोदुग्ध पान से निर्मल मन व तीव्र बुद्धि बनकर यह वेदवाणी के अध्ययन के योग्य बनता है और कहता है कि—१. **संहिता असि**= तू सृष्टि के आरम्भ में ही प्रभु द्वारा 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा' आदि ऋषियों के हृदयों में **सम्**=सम्यक्तया **हिता**=स्थापित हुई है। यहाँ 'सम्' की भावना 'इकट्ठी' लेकर पाश्चात्य विद्वानों ने यह धारणा कर ली कि ये विभिन्न ऋषियों की वाणियों का संग्रह (collection) होने से 'संहिता' नामवाली हुई हैं। 'सम्' का अर्थ 'सम्यक्तया' लेने पर यह भ्रम दूर हो जाता है। २. यह वेदवाणी **विश्वरूपी**=सब पदार्थों का निरूपण करनेवाली है। इसी से यह सब सत्य विद्याओं का आदिमूल कहलाई है। ३. इस वेदवाणी के ओजस्वी सन्देश को सुनकर मनुष्य उत्साह से परिपूर्ण हो जाता है। यह पाठक को बल व प्राणशक्ति से व्याप्त कर देती है, अतः कहते हैं कि **ऊर्जा**=बल और प्राणशक्ति के साथ तू **मा आविश**=मुझमें प्रविष्ट हो। ४. **गौपत्येन**=(गावः इन्द्रियाणि) मैं वेदवाणी का अध्ययन करके इन इन्द्रियों का स्वामी बनूँ। यह वेदवाणी 'गौपत्य' से मुझमें प्रविष्ट हो, अर्थात् ज्ञानप्रवण बनाकर यह मुझे जितेन्द्रिय बनानेवाली हो।

५. इन्द्रियों का निरोध करके हम वेदवाणी के स्थापक प्रभु का स्मरण करते हैं और कहते हैं—**दोषावस्तः**=सब दोषों का छादन=अपवारण (वस्+आच्छादन=अपवारण) करनेवाले **अग्ने**=मेरी उन्नति के साधक हे प्रभो! आपकी इस वेदवाणी के प्रवेश से बल व जितेन्द्रियता का साधन करनेवाले हम **दिवेदिवे**=प्रतिदिन **धिया**=ज्ञानपूर्वक किये जानेवाले कर्मों से **नमः**=पूजन को **भरन्तः**=प्राप्त कराते हुए **त्वा उप एमसि**=आपके समीप प्राप्त होते हैं।

यहाँ मन्त्रार्थ में निम्न बातें ध्यान देने योग्य हैं—१. वेदवाणी पवित्र हृदयों में प्रभु द्वारा स्थापित होती है। २. यह व्यक्ति में प्राणशक्ति का सञ्चार करती है और उसे जितेन्द्रियता के मार्ग पर ले-चलती है। ३. जितेन्द्रिय पुरुष उस प्रभु का सदा स्मरण करता है, जिसके स्मरण से हमारा जीवन निर्दोष बना रहता है। ४. प्रभु का सच्चा उपासन ज्ञानपूर्वक किये गये कर्मों से होता है, बशर्ते कि हम उन कर्मों का गर्व न करके नम्र बने रहें।

इन्हीं बातों की इच्छा करनेवाला व्यक्ति 'मधुच्छन्दाः'=मधुर इच्छाओंवाला है। यह चाहता है कि 'मैं पवित्र हृदय बनूँ, मेरे हृदय में प्रभु-वाणी स्थापित हो, यह वेदवाणी मुझमें प्राणशक्ति का सञ्चार करे, मैं जितेन्द्रिय बनूँ, मेरा जीवन निर्दोष बने, ज्ञानपूर्वक कर्मों से मैं प्रभु का उपासन करूँ, और सदा नम्र बना रहूँ'। यह मधुच्छन्दा 'वैश्वामित्र' है—सबके साथ स्नेह करनेवाला है।

भावार्थ—हम वेदवाणी के द्वारा उत्साहमय व जितेन्द्रिय बनकर प्रभु के उपासक बनें।

ऋषिः—वैश्वामित्रो मधुच्छन्दाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

प्रभु का उपासन

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्। वर्द्धमानꣳस्वे दमे॥२३॥

हम उस प्रभु के समीप प्राप्त होते हैं जो १. **राजन्तम्**=(राजृ दीप्तौ) संसार के प्रत्येक 'विभूतिवाले, श्रीवाले या बलवाले' पदार्थ में दीप्त हो रहे हैं। वस्तुतः उस पदार्थ की 'विभूति-श्री-दीप्ति' प्रभु के कारण ही तो श्रीमत् है। उपनिषद् स्पष्ट कह रही है कि **'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'**। २. वे प्रभु **अध्वराणां गोपाम्** =सब यज्ञों के रक्षक हैं। हिंसा व कुटिलता से रहित कर्मों के वे पालक हैं। ३. **ऋतस्य**=सत्य के **दीदिविम्** =प्रकाशक (दीपयिता) हैं, वेदवाणी के द्वारा सब सत्य विद्याओं के प्रकाशक हैं। ४. वे प्रभु **स्वे दमे**=अपने स्वरूप में **वर्धमानम्**=सदा वर्धमान हैं। वे क्षीणता व जीर्णता से रहित हैं। उनका स्वरूप 'प्रकाशमय' है—वे ज्ञानस्वरूप हैं। यह ज्ञान सदा पूर्ण रहता है—इसमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आती।

४. इस प्रकार उपासना करनेवाले मधुच्छन्दा की कामना यह है कि— (क)मैं भी प्रभु-ज्योति से देदीप्यमान होऊँ (ख) अपने जीवन में यज्ञिय कर्मों की रक्षा करनेवाला बनूँ (ग) मुझमें सत्य का प्रकाश हो (घ) मेरा ज्ञान सदा बढ़ता रहे।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना करते हुए प्रभु-जैसे ही बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—वैश्वामित्रो मधुच्छन्दाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराड्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

पुत्र के लिए पिता के समान

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये॥२४॥

'मधुच्छन्दा' प्रार्थना करता है कि **अग्ने**=हे प्रभो! हमारी उन्नति के साधक **सः**=आप **सूनवे पिता इव** =जैसे पुत्र के लिए पिता सुगमता से प्राप्त होने योग्य होता है उसी प्रकार **नः**=हमारे लिए **सूपायनः भव**=सरलता से प्राप्य होओ। सुमार्ग पर चलनेवाला सदाचारी, सुशील, विज्ञ सन्तान जैसे पिता को प्रिय होता है, उसी प्रकार मैं मधुच्छन्दा भी हे प्रभो! आपका प्रिय होऊँ। और आप **नः**=हमें **स्वस्तये**=उत्तम जीवन के लिए **सचस्व**=समवेत कीजिए। उत्तम जीवन से हमारा सम्बन्ध अविच्छिन्न हो। वस्तुतः प्रभु-कृपा का ही परिणाम

होता है कि कदम-कदम पर प्रलोभनों से भरे इस संसार में हम मार्ग से विचलित नहीं होते। पिता की आँख से ओझल न होनेवाला सन्तान कुसङ्ग से बचा रहता है और बुराइयों में नहीं फँसता। इसी प्रकार प्रभु का उपासक **स्वस्ति**=उत्तम जीवन-सम्पन्न बना रहता है। 'पिता' का शब्दार्थ ही रक्षक है, पिता पुत्र को बुराइयों से बचाता है।

भावार्थ—हम सदा प्रभु के समीप रहें, जिससे मलिन इच्छाएँ हममें उत्पन्न ही न हों।

ऋषिः—सुबन्धुः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिग्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

सुबन्धु-स्तवन

अग्ने त्वं नोऽअन्तमऽउत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः।
वसुरग्निर्वसुश्रवाऽअच्छा नक्षि द्युमत्तमᳬरयिं दाः॥२५॥

१. पिछले मन्त्र में प्रभु को पिता के रूप में स्मरण किया था। उसी को अब उत्तम बन्धु के रूप में स्मरण करते हैं। प्रभु को इस रूप में स्मरण करने के कारण ही मन्त्र का ऋषि 'सु-बन्धु' है=उत्तम बन्धुवाला। हम जैसों को बन्धु बनाते हैं वैसे ही बन जाते हैं, अतः सुबन्धु तो प्रभु के बन्धुत्व में ही रहने का प्रयत्न करता है। २. यह प्रभु का स्तवन इस रूप में करता है—**अग्ने**=हे प्रकाशमय प्रभो! अथवा मेरी सम्पूर्ण उन्नतियों के साधक प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमारे **अन्तमः**=अन्तिकतम मित्र हैं Intimate friend हैं। अथवा अनिति जीवयति अतिशयेन=आप ही मेरे प्राण हैं—जीवन हैं। २. **उत**=और, अन्तिकतम व प्राणप्रद बन्धु के रूप में आप मेरे **त्राता**=रक्षक हैं। आपकी कृपा से ही मैं काम-क्रोधादि शत्रुओं के आक्रमण से सुरक्षित रहता हूँ। ३. **शिवः**=कामादि शत्रुओं से सुरक्षित करके आप मेरा कल्याण करते हैं। ४. आप **वरूथ्यः भव**=मेरे लिए उत्तम आवरण होओ, (वृ=संवरण)। वस्तुतः आप ही मेरे अमृतरूप उपस्तरण व अपिधान हैं। अथवा **वरूथ**=Wealth धन, आप ही हमारे उत्तम धन हैं, हमें उत्तम धन देनेवाले हैं। ५. **वसुः**=इस उत्तम धन के द्वारा आप हमें उत्तम निवास देनेवाले हैं 'वासयतीति वसुः'। ६. **अग्निः**=उत्तम निवास देकर हमें आगे ले-चलनेवाले हैं। ७. **वसुश्रवाः**=आप निवासक ज्ञान देनेवाले हैं। ८. **अच्छा नक्षि**=हे प्रभो! आप हमें आभिमुख्येन प्राप्त होओ (अच्छ=ओर, नक्ष् गतौ), और ९. **द्युमत्तमम्**=अधिक-से-अधिक ज्योतिवाला **रयिम्**=धन **दाः**=दीजिए। मुझे धन प्राप्त हो, परन्तु धन पाकर मैं प्रमत्त न हो जाऊँ। धन मेरी ज्योति के वर्धन का कारण बने नकि ह्रास का।

भावार्थ—हम प्रभु को अपना बन्धु बनाकर वासनाओं को तैर जाएँ और प्रकाशमय धन को प्राप्त होनेवाले हों।

ऋषिः—सुबन्धुः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराड्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

पापकथा से बचाइए

तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः।
स नो बोधि श्रुधी हवमुरुष्या णोऽअघायतः समस्मात्॥२६॥

१. सुबन्धु प्रार्थना करता है—हे **शोचिष्ठ**=गत मन्त्र में वर्णित 'द्युमत्तमं रयिम्' को देकर हमारे जीवनों को शुचि बनानेवाले! **दीदिवः**=देदीप्यमान प्रभो! **तं त्वा**=उस आपसे **नूनम्**=निश्चय से **सुम्नाय**=सुख के लिए **ईमहे**=याचना करते हैं। साथ ही **सखिभ्यः**=ऐसे

साथियों के लिए जोकि मिलकर ज्ञान की ही चर्चा करनेवाले हों, उन सखाओं के लिए याचना करते हैं। ऐसे साथियों के सम्पर्क से ही हम इस संसार-यात्रा में आगे बढ़ेंगे। २. **सः**=आप **नः**=हमें **बोधि**=बोध से युक्त कीजिए। ज्ञानप्रवण मित्रों के सम्पर्क में रहकर हमारा ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता चले। हे प्रभो! **हवम्**=हमारी इस पुकार को आप **श्रुधी**=अवश्य सुनिए और **नः**=हमें **अघायतः**=अघ-बुराई व पाप को चाहनेवाले **समस्मात्**=सब लोगों से **उरुष्य** =बचाइए। पाप की चर्चा करनेवालों के सम्पर्क में हम न आएँ। यह चर्चा अकल्याण का ही कारण बनती है।

भावार्थ—हम ज्ञान-रुचिवाले मित्रों के सम्पर्क में आकर अधिक और अधिक बोधवाले हों। अशुभ चर्चाओं में रुचिवाले मित्रों से हम सदा बचे रहें।

ऋषिः—श्रुतबन्धुः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराड्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

वेदवाणी का 'काम-धरण'

इडऽएह्यदितऽएहि काम्याऽएत । मयि वः कामधरणं भूयात् ॥२७॥

गत मन्त्र का सुबन्धु ज्ञानी मित्रों के सम्पर्क में रहकर खूब ज्ञानी बनता है। वह वेदवाणी को अपनाता है। इस वेदवाणी के अपनाने से यह 'श्रुतबन्धु'=ज्ञानरूप मित्रवाला हो जाता है। यह वेदवाणी से ही कहता है—१. **इडे**=हे वेदवाणी! **एहि**=तू मुझे प्राप्त हो। तू इडा=A Law (इ+डा=ला Law) मेरे जीवन का नियम है। वस्तुतः प्रभु ने सृष्टि के आरम्भ में इसे एक कानून के रूप में ही हमें दिया है। २. **अदिते**=हे अखण्डित रहनेवाली वेदवाणी! तू **एहि**=मुझे प्राप्त हो। इस वेदवाणी से हमारे स्वास्थ्य आदि अखण्डित रहते हैं। यह वेदवाणी स्वयं भी उस अनादि-अनन्त प्रभु का ज्ञान होने से 'अखण्डित-अविनश्वर' है। ३. **काम्याः**=इस वेदवाणी की सब 'ऋचाएँ-यजु व साम' कामना के योग्य हैं—चाहने योग्य हैं। हे कमनीय वेदवाणियो! **एत**=हमें प्राप्त होओ। **वः**=आपका **मयि**=मुझमें **कामधरणम्**= इच्छापूर्वक धारण **भूयात्**=हो। **'काम्यो हि वेदाधिगमः'**, इन मनु के शब्दों के अनुसार मैं वेदज्ञान की कामनावाला होऊँ। इसमें निहित ज्ञान को मैं अपना बन्धु बनाऊँ और 'श्रुतबन्धु' नामवाला होऊँ।

भावार्थ—वेदवाणी जीवन का नियम है। यह अखण्डन व स्वास्थ्य को प्राप्त करानेवाली है, चाहने योग्य है। मैं इच्छा से इसका धारण करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—विप्रबन्धुः। **देवता**—बृहस्पतिः। **छन्दः**—विराड्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

'सोम-स्वरण-कक्षीवान्-उशिक्'

सोमानꣳस्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते । कक्षीवन्तं यऽऔशिजः ॥२८॥

१. पिछले मन्त्र का 'श्रुतबन्धु' वेदज्ञान की प्राप्ति के लिए ज्ञानी मित्रों के सम्पर्क में आकर प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'विप्रबन्धु' बनता है। 'वि+प्र' वह है जो वेदवाणी को विशेष रूप से अपने में पूरण करता है। यह विप्र 'ब्रह्मणस्पति' है—ज्ञान का—वेद का पति है। वस्तुतः ऐसे ब्रह्मणस्पति आचार्यों के मिलने पर ही हमारा जीवन सुन्दर बनता है। सबसे बड़े 'ब्रह्मणस्पति' तो प्रभु ही हैं—गुरुओं के भी वे गुरु हैं। **ब्रह्मणस्पते**=वेदज्ञान के पति हे आचार्य! आप मुझे **सोमानं स्वरणं कक्षीवन्तं कृणुहि**=सोम, स्वरण व कक्षीवान् बनाइए। २. मैं आपके दिये वेदज्ञान के परिणामरूप सोम=सौम्य स्वभाववाला बनूँ। **ब्रह्मणा अर्वाङ्**

विपश्यति'=मनुष्य वेदज्ञान से नीचे देखनेवाला अर्थात् विनीत बनता है। **'विद्या ददाति विनयम्'**=विद्या विनय देती है। ३. मैं स्वरण=(सु+ऋ) उत्तम गतिवाला बनूँ। वेदज्ञान को प्राप्त करके जहाँ मैं सौम्य बनूँ वहाँ सदा उस वेद के नियमों के अनुसार चलनेवाला बनकर सदा उत्तम गतिवाला होऊँ। ४. मैं इस जीवन में कक्षीवान्— दृढ़निश्चयी बनकर चलूँ। कक्ष्य=कमर को कसकर मैं ज्ञान प्राप्ति में जुट जाऊँ। ५. मुझे आप ऐसा बनाइए **यः**=जो **औशिजः**=(उशिक्=मेधावी) अत्यन्त मेधावी है। निरन्तर मेधा की ओर चलता हुआ मैं 'मेधातिथि' बनूँ।

भावार्थ—हे ब्रह्मणस्पते! आपकी कृपा से ज्ञान प्राप्त करके मैं 'सौम्य, सुकर्मा, दृढ़निश्चयी व मेधावी बनूँ।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—बृहस्पतिः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

पुष्टि-वर्धन

यो रे॒वान् यो॑ऽअमीव॒हा व॑सु॒वित्पु॑ष्टि॒वर्द्ध॑नः। स नः॑ सिषक्तु॒ यस्तु॒रः॥२९॥

१. **नः**=हमें **सः**=वह **सिषक्तु**=प्राप्त हो **यः**=जो **रेवान्**=ज्ञानरूप धनवाला है, **यः**=जो **अमीवहा**=रोगों को नष्ट करनेवाला है, **वसुवित्**=निवास के लिए आवश्यक सब वस्तुओं को प्राप्त करानेवाला है। **पुष्टिवर्धनः**=वस्तुओं को प्राप्त कराके हमारी पुष्टि को बढ़ानेवाला है और **यः**=जो **तुरः**=शीघ्रता से कार्यों को करनेवाला—निरालस्य है अथवा काम-क्रोधादि का संहार करनेवाला है। २. इस मन्त्र में गत मन्त्र के ब्रह्मणस्पति=वेदज्ञानी आचार्य की विशेषताओं का उल्लेख है। (क) वह ज्ञान का धनी होना चाहिए। कम ज्ञानवाला अध्यापक कभी विद्यार्थी के आदर का पात्र नहीं बन पाता। (ख) वह रोगों को नष्ट करनेवाला हो, नीरोग हो। बीमार आचार्य भी विद्यार्थी को प्रभावित नहीं कर पाता। (ग) सब वसुओं को स्वयं प्राप्त करनेवाला ही विद्यार्थी को इन वसुओं को प्राप्त करानेवाला होता है। (घ) आचार्य विद्यार्थी की पुष्टि का वर्धन करनेवाला हो। (ङ) और अन्त में वह क्रियाशील व कामादि शत्रुओं का संहारक हो। ३. ऐसे आचार्य को प्राप्त करके विद्यार्थी निरन्तर मेधा की ओर चलनेवाला प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'मेधातिथि' बनता है। इसकी बुद्धि निरन्तर बढ़ती चलती है।

भावार्थ—आचार्यों में ये विशेष गुण होने चाहिएँ—वह १. ज्ञानधनी हो, २. नीरोग हो, ३. निवास के लिए सब आवश्यक पदार्थों को प्राप्त करानेवाला, ४. पुष्टिवर्धन तथा ५. शीघ्रकारी व कामादि का संहारक हो।

ऋषिः—सत्यधृतिर्वारुणिः। **देवता**—ब्रह्मणस्पतिः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

सत्यधृति वारुणि 'अदान व हिंसा से ऊपर'

मा नः॒ शꣳसो॒ऽअर॑रुषो धू॒र्तिः प्रण॒ङ् मर्त्य॑स्य। रक्षा॑ णो ब्रह्मणस्पते॥३०॥

१. गत मन्त्र का मेधातिथि आचार्य से निरन्तर ज्ञान प्राप्त करके अपने धर्म में स्थिर होता है। यह धर्म में स्थिरता से ठहरना ही इसे 'सत्यधृति' बना देता है, इसका जीवन उत्तम व निर्दोष होने से यह 'वारुणि' कहलाता है। अपने 'मनः, प्राणेन्द्रिय क्रियाओं' को सात्त्विक धैर्य से धारण करता है। २. यह ब्रह्मणस्पति=वेदज्ञान के अधिपति प्रभु से प्रार्थना करता है कि—**ब्रह्मणस्पते**=हे ज्ञान के पति आचार्य! अथवा परमात्मन्! **नः**=हमें **अररुषः**=न देने की वृत्तिवाले कृपण पुरुष की **शंसः**=शंसन या बातें **मा**=मत **प्रणङ्**=नष्ट करनेवाली हों। अथवा

इसकी बातें हमें (नशेर्व्याप्त्यर्थस्य एतद् रूपम्—उव्वट) व्याप्त करनेवाली न हों। हमारे मनों पर इनकी बातों का प्रभाव न हो जाए। इनकी बातों का स्वरूप यही तो होता है कि 'व्यक्ति को तो इसलिए नहीं देना कि उसमें पर-पिण्ड जीवन की वृत्ति उत्पन्न हो जाती है, महन्तों का जीवन कितना विलासमय हो जाता है। संस्थाओं में भी रुपये को किस निर्दयता से व्यर्थ व्यय किया जाता है—वहाँ लोग काम कम करते है, रुपये अधिक लेते हैं, रुपयों का ग़बन होता रहता है। सरकार के कार्यों में तो अन्धेर खाता है ही, वहाँ तो करोड़ों का भी कुछ पता नहीं लगता, अतः देने का लाभ कुछ नहीं।' प्रभु-कृपा से हमें ये बातें 'अररिवान्' (अदाता+कृपण) न बना दें। ३. और हे आचार्य (परमात्मन्)! ऐसी कृपा कीजिए कि **मर्त्यस्य**=मरने-मारने के स्वभाववाले, अथवा किसी सांसारिक वस्तु के पीछे मरनेवाले मनुष्य की **धूर्तिः**=हिंसा **नः**=हमें **मा**=मत **प्रणङ्**=नष्ट करे या व्याप्त हो। हम इन लोगों से की जानेवाली हिंसाओं का शिकार न हों और इस प्रकार की हिंसाओं के करने की हमारी वृत्ति न बन जाए। ४. हे ब्रह्मणस्पते=ज्ञान के पते! इस प्रकार अदान व हिंसा की वृत्ति से बचाकर **नः**=हमें **रक्ष**=इस भवसागर में ही गोते खाते रहने से बचाइए।

भावार्थ—ज्ञानी आचार्यों से ज्ञान प्राप्त करके हम अपनी मनोवृत्ति को ऐसा बना लें कि हममें 'अदान व हिंसा' की वृत्ति न जाग सके।

ऋषिः—सत्यधृतिर्वारुणिः। **देवता**—आदित्यः। **छन्दः**—विराड्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

महि-द्युक्ष-दुराधर्ष

महि॑ त्री॒णामवो॑ऽस्तु द्यु॒क्षं मि॒त्रस्या॑र्य॒म्णः। दु॒रा॒धर्षं॒ वरु॑णस्य॥३१॥

१. सत्यधृति वारुणि ने गत मन्त्र में 'अदान व हिंसा' से ऊपर उठने का निश्चय किया तो प्रस्तुत मन्त्र में वह 'मित्रता, जितेन्द्रियता व अद्वेष' की भावना को धारण करने का निश्चय करता है। वह कहता है कि **त्रीणाम्**=तीन का **मित्रस्य अर्यम्णः वरुणस्य**=मित्र, अर्यमा व वरुण का **अवः**=रक्षण **अस्तु**=हमें प्राप्त हो। २. 'मित्र, अर्यमा और वरुण' ये तीन देवता क्रमशः (क) (ञिमिदा स्नेहने, मीतेः त्रायते) सबके साथ स्नेह करना, पाप से अपने को बचाना, (ख) (अरीन् गच्छति) काम-क्रोधादि शत्रुओं को जीतकर जितेन्द्रिय बनना, तथा (ग) (वारयति) द्वेषादि का निवारण करना' इन भावनाओं के प्रतीक हैं। 'सत्यधृति' निश्चय करता है कि वह सबके साथ स्नेह करेगा, जितेन्द्रिय बनेगा और द्वेष से अपने को अवश्य बचाएगा। ३. मन्त्रक्रम में यह भी स्पष्ट है कि इन देवों का रक्षण क्रमशः **'महि, द्युक्षं, दुराधर्षम्'** है। मित्र का रक्षण 'महि' महनीय है, आदर के योग्य है। यह मनुष्य को महान् बनाता है। सबसे स्नेह से वर्तनेवाला व्यक्ति सबका महनीय होता है। ४. अर्यमा का रक्षण 'द्युक्षम्' है। जितेन्द्रिय बनने से हम **द्यु**=ज्योति में **क्ष**=निवास करनेवाले होते हैं। जितेन्द्रियता से हमारी बुद्धि व ज्ञान का विकास होता है। अजितेन्द्रिय पुरुष का ज्ञान उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जैसेकि कच्चे घड़े से पानी चू जाता है। ५. वरुण का रक्षण 'दुराधर्ष' है। द्वेष का निवारण करनेवाला व्यक्ति औरों के लिए अधर्षणीय हो जाता है—कोई भी इसका पराभव नहीं कर पाता।

भावार्थ—हम सबके साथ स्नेह से वर्त्तते हुए महनीय बनें, जितेन्द्रिय बनकर ज्योतिर्मय मस्तिष्कवाले हों और द्वेष से ऊपर उठकर अपराजेय बन जाएँ।

ऋषिः—सत्यधृतिर्वारुणिः। **देवता**—आदित्यः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

अघशंस के सङ्ग से बचें

नहि तेषाममा चन नाध्वसु वारणेषु। ईशे रिपुरघशंसः॥३२॥

१. **तेषाम्**=गत मन्त्र के 'मित्र, अर्यमा व वरुण' के उपासकों को **अघशंसः**=पाप का शंसन करनेवाला **रिपुः**=शत्रु **अमा चन**=घर में भी **नहि ईशे**=ईश नहीं बनता। **अध्वसु**=मार्गों में भी न (ईशे)=वह अघशंस इनका ईश नहीं बनता **अरणेषु वा**=(अ+रण=शब्द) अथवा निःशब्द एकान्त स्थानों में भी वह इनका ईश नहीं बनता।

२. अघशंस व्यक्ति वह है जो पाप का अच्छे रूप में शंसन करता है। पाप को उजले रूप में दिखाकर हमें उन पापों में फँसानेवाला होता है, इसी से वह हमारा 'रिपु' है—शत्रु है। भयंकर शत्रु वही है जो ऊपर से मीठा है—हृदय में हमारे लिए अशुभ भावना रखता है। न घरों में, न मार्गों में और ना ही एकान्त स्थानों में ये हमारे ईश बन जाएँ। हम इनकी बातों में आकर पाप की ओर प्रवृत्त न हो जाएँ। जिन व्यक्तियों के ध्येय व उपास्य 'मित्र, अर्यमा व वरुण' होते हैं, वे सदा शुभमार्ग पर ही चलते हैं। ये अघशंसों की बातों में नहीं आते।

३. अघशंस लोग घर में भोजनादि पर आमन्त्रित करके बड़े आपातरम्य मधुर ढङ्ग से साथी बनकर हमें फुसला लेते हैं। यात्रा में साथी बनकर छोटी-छोटी सहायताओं से हमें अपना बनाकर बहका लेते हैं और कभी-कभी अकेले में वे अनुकूल अवसर पाकर हमें मार्गभ्रष्ट कर देते हैं।

भावार्थ—सत्यधृतिवाला पुरुष अघशंस पुरुषों के सङ्ग से बचता है। वस्तुतः तभी तो अपने को पाप के मार्ग से बचा पाता है।

ऋषिः—सत्यधृतिर्वारुणिः। **देवता**—आदित्यः। **छन्दः**—विराड्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

अजस्र ज्योति का दान

ते हि पुत्रासोऽअदितेः प्र जीवसे मर्त्याय। ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम्॥३३॥

१. ३० से ३२ तक के मन्त्रों में 'सत्यधृति वारुणि' का चित्रण है। **ते**=ये 'सत्यधृति वारुणि' **हि**=निश्चय से **अदितेः पुत्रासः**=अदिति के पुत्र होते हैं, अर्थात् आदित्य ब्रह्मचारी बनते हैं। 'अदितिः—अखण्डन (दो अवखण्डने) न इनका शरीर खण्डित व हिंसित होता है, न ही इनका मन द्वेषादि की भावनाओं से खण्डित हुआ करता है। इनका ज्ञानयज्ञ तो कभी खण्डित होता ही नहीं। इसी से इन्हें 'अदिति के पुत्र' कहा गया है। २. ये **मर्त्याय**=विषयों के पीछे मरनेवाले सामान्य मनुष्यों के लिए **अजस्रम्**=निरन्तर **ज्योतिः**=ज्ञान के प्रकाश को **यच्छन्ति**=देते हैं। ये आदित्य निरन्तर ज्ञान की ज्योति देकर हमें उत्कर्ष की ओर ले-जाते हैं और **प्रजीवसे**=हमारे प्रकृष्ट जीवन का कारण बनते हैं। अघशंसों का अघशंसन हमारे जीवन के पतन का कारण बनता है और आदित्य ब्रह्मचारियों का ज्योतिर्दान जीवन के उत्थान का कारण होता है।

भावार्थ—हमारे जीवन में हमारा सङ्ग अघशंसों के साथ न हो। अदिति-पुत्रों का सङ्ग प्राप्त करके हम उच्च जीवनवाले बनें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—पथ्याबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

मधुच्छन्दा वैश्वामित्र

कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे।

उपोपेन्नु मघवन् भूयऽइन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते॥३४॥

१. गत मन्त्र के अदिति-पुत्रों से निरन्तर ज्ञानज्योति प्राप्त करके हम प्रभु के अधिकाधिक समीप पहुँचते हैं। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि ज्ञानज्योति से पवित्र होकर मधुर इच्छाओंवाला बनता है, अतः 'मधुच्छन्दाः' कहलाता है और यह सबके साथ स्नेह करके 'वैश्वामित्र' नामवाला होता है। २. यह प्रभु से कहता है कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! आप **कदाचन**=कभी भी **स्तरीः**=हिंसा करनेवाले **न असि**=नहीं हैं। जो भी व्यक्ति प्रभु का मित्र बनता है प्रभु उसकी हिंसा नहीं होने देते। हम प्रभु से दूर होते हैं और प्राकृतिक शक्तियों से हिंसित होने लगते हैं। प्रभु से दूर हुए और विषयों का शिकार हुए। ३. हे इन्द्र! आप **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए, आपके प्रति अपना समर्पण करनेवाले के लिए **सश्चसि** =प्राप्त होते हो, आप उसे अपना ऐश्वर्य प्राप्त कराते हो। हे **मघवन्**=पापशून्य ऐश्वर्यवाले प्रभो! **देवस्य**=दिव्य गुणयुक्त **ते**=आपका **दानम्**=दान **भूय इत् नु**=अब निश्चय से उतना ही अधिक **पृच्यते**=मेरे साथ संपृक्त होता है जितना-जितना **उप उप इत् नु**=मैं आपके समीप प्राप्त होता हूँ। हम जितना-जितना प्रभु के समीप पहुँचते हैं उतना-उतना प्रभु के दान के पात्र बनते हैं। प्रभु से दूर और प्रभु के दान से दूर। ५. 'मैं प्रभु के समीप पहुँचूँगा। प्रभु के प्रति अपना अर्पण करके हिंसा से बचूँगा। प्रभु के दान का पात्र बनूँगा' इन उत्तम इच्छाओं का करनेवाला यह जीव सचमुच 'मधुच्छन्दाः' हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु हमें हिंसा से बचाते हैं, उत्तम दान प्राप्त कराते हैं यदि हम उनके समीप पहुँचते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—सवितः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

भर्ग का धारण

तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥३५॥

१. **तत् सवितुः**=उस विस्तृत, सर्वव्यापक, उत्पादक प्रभु के **देवस्य**=सब दिव्य गुणों के अधिष्ठाता प्रभु के **वरेण्यम्**=वरणीय **भर्गः**=तेज का **धीमहि**=हम ध्यान करते हैं व उसे धारण करते हैं। 'स चासौ सविता च' इस विग्रह से वह परमात्मा जहाँ सर्वव्यापक है वहाँ सर्वोत्पादक है। दिव्य गुणों के तो वे पुञ्ज हैं ही। इन प्रभु के तेज को ही 'विश्वामित्र' ऋषि अपना लक्ष्य बनाते हैं। इसी तेज को धारण करने का प्रयत्न करते हैं। 'प्रभु के तेज को धारण करने' से अधिक उच्च मानव-जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकता। २. वह निश्चय करता है कि मैं उस प्रभु के तेज को धारण करूँगा **यः**=जो **नः धियः**=हमारी बुद्धियों को **प्रचोदयात्**=उत्कृष्ट प्रेरणा देता है। ऊँचा लक्ष्य बनाने पर यह निरन्तर उन्नति-पथ पर आरुढ़ होता चलता है। यही मानव-जीवन की सफलता है।

भावार्थ—हम प्रभु के तेज को धारण करनेवाले बनें। इस लक्ष्य के कारण हमें सदा सद्बुद्धि प्राप्त हो।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

ज्ञानरूप रथ

परि ते दूडभो रथोऽस्माँ२॥ऽअश्नोतु विश्वतः। येन रक्षसि दाशुषः ॥३६॥

१. गत मन्त्र में प्रभु के तेज को धारण करनेवाला व्यक्ति प्राणिमात्र का मित्र बनता है तो 'विश्वामित्र' कहलाता है। इस स्नेह की भावना से सब दिव्य गुणों का विकास होता है और यह 'वामदेव' बन जाता है। यह वामदेव प्रभु से प्रार्थना करता है कि **ते**=आपका **दूडभः**=(दुःखेन दम्भितुं हिंसितुं योग्यः) न नष्ट करने योग्य **रथः**=विज्ञानरूप रथ (रथो रंहतेर्गतिकर्मणः, स्थिरतेर्वा, रममाणोऽस्मिँस्तिष्ठति, रपतेर्वा रसतेर्वा—नि० ९।११) **अस्मान्**=हमें **विश्वतः**=सब ओर से **परि अश्नोतु**=व्याप्त करे। 'ज्ञान का परिणाम गति व क्रिया होती है'—'**क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः**', ज्ञानी पुरुष स्थिर मनोवृत्ति का बनता है, ज्ञान में मनुष्य अन्ततः अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करता है, यह ऋषियों के हृदयों में प्रभु से व्यक्त रूप में उच्चारण किया जाता है। यह जीवन को रसमय बनाता है। इन कारणों से ज्ञान यहाँ 'रथ' शब्द से कहा गया है। २. हे प्रभो! आपका यह ज्ञान हमें सर्वतः व्याप्त करे। **येन**=जिस ज्ञान से **दाशुषः**=दाश्वान् की—आत्मसमर्पण करनेवाले की **रक्षसि**=आप रक्षा करते हो। वस्तुतः देव ज्ञान देकर की मनुष्य की रक्षा करते हैं। जो व्यक्ति प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता है—प्रभु उसे यह ज्ञानरूप रथ देते हैं जिससे वह इस दुर्गम भवकान्तार को पार कर जाता है।

भावार्थ—ज्ञान प्रभु का न हिंसित होनेवाला रथ है। यह हमें प्राप्त हो। इस ज्ञान से ही हम अपनी रक्षा कर पाएँगे।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—ब्राह्म्युष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

भूः, भुवः, स्वः

भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याᳪसुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः।
नर्य प्रजां मे पाहि शᳪस्य पशून् मे पाह्यथर्य पितुं मे पाहि॥३७॥

१. गत मन्त्र के 'दूडभ रथ'=न हिंसित होनेवाले ज्ञान के द्वारा हम **भूः**=सदा स्वस्थ बने रहें। **भुवः** =ज्ञान को प्राप्त करनेवाले हों (भुव अवकल्कने=चिन्तने)। **स्वः**=हम स्वयं राजमान व जितेन्द्रिय बनें, इन्द्रियों के दास न हो जाएँ। २. यह ठीक है कि यह शरीर अवश्य जाना है परन्तु प्रजाओं के द्वारा हम अमर बने रह सकते हैं (**प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम**—अथर्व०), अतः वामदेव प्रार्थना करता है कि **प्रजाभिः**=उत्तम सन्तानों से हम **अग्ने**=हे आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **सुप्रजाः**=उत्तम प्रजाओंवाले **स्याम्** =हों। इन प्रजाओं द्वारा हम सदा बने रहें। यह प्रजातन्तु कभी बीच में विच्छिन्न न हो जाए। ३. ज्ञान के द्वारा **वीरैः**=वीरता की भावनाओं से—(वि+ईर) काम-क्रोधादि शत्रुओं को कम्पित करने की भावना से मैं **सुवीरः**=उत्तम वीर बनूँ। एकमात्र ज्ञान ही कामादि शत्रुओं को कम्पित करता है। ज्ञानाग्नि ही मनुष्य के मलों को भस्म करके उन्हें पवित्र बनाती है। इन कामादि शत्रुओं का विजेता ही सच्चा वीर है। ४. अब जितेन्द्रिय बनकर मैं **पोषैः**=पोषणों के द्वारा **सुपोषः**=उत्तम पोषणवाला होऊँ। पोषण के लिए 'चरक' का सूत्र है 'हिताशी स्यात्, मिताशी स्यात्, कालभोजी जितेन्द्रियः' हितकर भोजन खाए, मापकर खाए (मात्रा में), समय पर और सबसे बड़ी बात यह कि जितेन्द्रिय हो। जितेन्द्रियता के बिना पोषण सम्भव ही नहीं। एवं,

'भूः भुवः स्वः' का क्रमशः 'प्रजाभिः सुप्रजाः, वीरैः सुवीरः, पोषैः सुपोषः' के साथ सम्बन्ध है। प्रजाएँ हमें सदा बनाये रखती हैं, ज्ञान हमें वीर बनाता है और जितेन्द्रियता से हमारा पोषण होता है। ५. हे **नर्य**=नरहित करनेवाले प्रभो! **मे**=मेरी **प्रजाम्**= प्रजा को **पाहि**=सुरक्षित कीजिए। वस्तुतः जो व्यक्ति नरहित के कार्यों में रुचि लेते हैं, उनके सन्तान प्रभु-कृपा से अच्छे बनते हैं। ६. **शंस्य**=हे शंसन करनेवालों में उत्तम प्रभो! **मे**=मेरे **पशून्**= इन काम-क्रोधादि पशुओं को **पाहि**=सुरक्षित रखिए। इन्हें खुला न छोड़ दिया जाए। प्रभु अपने भक्तों में ज्ञान का शंसन करते हैं और उस ज्ञान से ये कामादि पशु सुनियन्त्रित रहते हैं। ७. **अथर्य**=(न थर्वति) विषयों से आन्दोलित न होनेवाले प्रभो! **मे**=मेरे **पितुं पाहि**=अन्न की आप रक्षा करिए।

भावार्थ—मैं नरहित के कार्यों में लगकर, उत्तम प्रजावाला होकर सदा बना रहूँ। उत्तम बातों का शंसन करता हुआ ज्ञानी बनकर कामादि का ध्वंस करनेवाला 'वीर' बनूँ। विषयों से अनान्दोलित अथर्य बनकर पोषक अन्न को ही खाता हुआ 'सुपोष' बनूँ।

टिप्पणी—मन्त्रार्थ का चित्रण—

भूः	भुवः	स्वः
सुप्रजाः	सुवीरः	सुपोषः
नर्य	शंस्य	अथर्य
प्रजा की रक्षा	**कामादि पशुओं का नियमन**	**उत्तम अन्न-भक्षण**

ऋषिः—आसुरिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

अग्नि व सम्राट्

आग॑न्म वि॒श्ववे॑दसम॒स्मभ्यं॑ वसु॒वित्त॑मम्।
अग्ने॑ सम्राड॒भि द्यु॒म्नम॒भि सह॒ऽआय॑च्छस्व॥३८॥

१. पिछले मन्त्र का ऋषि 'वामदेव' दिव्य गुणों को धारण करके अपने प्राणों का वास्तविक पोषण करने से 'आसुरि' बन जाता है। यह आसुरि प्रभु से प्रार्थना करता है—**हे अग्ने**=ज्ञान के प्रकाशवाले **सम्राट्**=शक्ति से (सम्+राज्) सम्यग् देदीप्यमान प्रभो! आपकी कृपा से हम **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **वसुवित्ततम्** =निवास के लिए आवश्यक वस्तुओं को उत्तमता से प्राप्त करानेवाले **विश्ववेदसम्**=सम्पूर्ण धन को **आगन्म**=प्राप्त हों। प्रभु अग्नि हैं, सम्राट् हैं। मैं भी ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करके अग्नि बनूँ, और शरीर के सम्यक् पोषण व शक्ति की रक्षा से दीप्त शरीरवाला सम्राट् बनूँ।

२. हे प्रभो! आप कृपा करके मुझे **द्युम्नम् अभि**=ज्योति की ओर तथा **सहः अभि**= सहनशक्ति से परिपूर्ण बल की ओर, उसकी प्राप्ति के लिए **आयच्छस्व**=सम्पूर्ण उद्योग-(उद्यम)-वाला कीजिए, अर्थात् हमारा सारा पुरुषार्थ 'ज्ञान और बल' को प्राप्त करने के लिए हो। हमारा ध्येय 'ज्ञान+बल' ही हो। यही हमारी प्रार्थना हो कि **'इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्'**। हमें जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करानेवाला धन इसलिए प्राप्त हो कि हमारी सारी शक्ति 'ज्ञान और बल' के सम्पादन में लगे। ३. इस प्रकार ज्ञान और बल का सम्पादन करके यह सचमुच अपना पोषण करने वाला 'आसुरि' बनता है।

भावार्थ—हम अग्नि हों, हम सम्राट् हों। द्युम्न-ज्योति को प्राप्त करके हम 'अग्नि' बनें और बल का सम्पादन करके सम्राट् हों।

ऋषिः—आसुरिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिग्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

द्युम्न+सहः

अयमग्निर्गृहपतिर्गार्हपत्यः प्रजाया वसुवित्तमः।
अग्ने गृहपतेऽभि द्युम्नमभि सहऽआयच्छस्व॥३९॥

१. गत मन्त्र का आसुरि ही प्रार्थना करता है कि **अयम्**=यह **अग्निः**=प्रकाश की अधिदेवता प्रभु **गृहपतिः**=मेरे इस शरीररूप घर का रक्षक है। ये प्रभु ही **प्रजायाः**=प्रकृष्ट विकास के हेतु से **वसुवित्तमः** =अतिशयेन वसुओं को प्राप्त करानेवाले हैं। सब आवश्यक वसुओं को देकर वे प्रभु हमें इस योग्य बनाते हैं कि हम अपना सब प्रकार से विकास कर सकें। २. हे **अग्ने**=प्रकाश की अधिदेवता प्रभो! **गृहपते**=हमारे शरीररूपी गृहों के रक्षक प्रभो! आप हमें **द्युम्नम् अभि**=ज्ञान-ज्योति की ओर तथा **सहः अभि**=शक्ति की ओर **आयच्छस्व**=सम्पूर्ण उद्यमवाला कीजिए। ज्ञान और बल का सम्पादन करके ही मैं इस शरीररूप घर की रक्षा करनेवाला 'गृहपति' बनता हूँ। गृहपति ही 'आसुरि' होता है। प्राणों का वास्तविक पोषण करनेवाला होता है।

भावार्थ—मैं ज्ञान व बल का विकास करके शरीर की सभी शक्तियों का विकास करूँ और सचमुच गृह-पति बनूँ।

ऋषिः—आसुरिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

पुरीष्य अग्नि

अयमग्निः पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिवर्धनः।
अग्ने पुरीष्याभि द्युम्नमभि सहऽआयच्छस्व॥४०॥

१. 'आसुरि' की ही प्रार्थना थोड़े से शब्दों के परिवर्तन के साथ प्रस्तुत मन्त्र में भी है—**अयम्**=इस संसार के प्रत्येक परिवर्तन में जिसका हाथ दिखता है, वह **अग्निः**=सबको उन्नत करनेवाला प्रभु **पुरीष्यः**=(पृ पालनपूरणयोः) पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम है। प्रभु ने हमारे पालन के लिए सब आवश्यक पदार्थों को उत्पन्न किया है। **रयिमान्**=वे प्रभु रयिवाले हैं, उत्तम धनवाले हैं। जीवन के लिए आवश्यक धन प्राप्त कराके वे हमारा पालन करते हैं। **पुष्टिवर्धनः**=आवश्यक वसुओं व धनों को प्राप्त कराके वे प्रभु हमारी पुष्टि का वर्धन करनेवाले हैं। २. **हे अग्ने**=उन्नति के साधक प्रभो! **पुरीष्य**=पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम प्रभो! आप हमें **द्युम्नम् अभि**=ज्ञान-ज्योति की ओर और **सहः अभि**=बल की ओर **आयच्छस्व**=सम्पूर्ण उद्यमवाला कीजिए।

३. वास्तविक पोषण तभी होता है जब हम ज्ञान और बल का सम्पादन करते हैं। ज्ञान और बल का सम्पादन करनेवाला यह वस्तुतः 'आसुरि' है, अपने जीवन का ठीक पोषण करनेवाला है।

भावार्थ—वह सबका पालक प्रभु हमें ज्ञान और बल की ओर ले-चले।

ऋषिः—शंयुः। **देवता**—वास्तुरग्निः। **छन्दः**—आर्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।।

घर व घरवाले, अ-भय, गृहपति के लक्षण

गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रतऽएमसि।
ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः।।४१।।

१. गत मन्त्रों की भावना के अनुसार 'द्युम्न और सह'=ज्योति और शक्ति का सम्पादन करके अपने जीवन के आकाश में बृहस्पति (ज्ञान) व शुक्र (वीर्य) नक्षत्रों का उदय करके जब यह 'आसुरि' प्राणशक्ति को सम्पन्न करनेवाला गृहस्थ बनता है तब कहता है कि **गृहाः**=हे घरो! **मा बिभीत**=भय को छोड़ दो। **मा वेपध्वम्**=कम्पित मत होओ। दूसरे शब्दों में घरों में साँप आदि का व रोगकृमियों का भय न हो, और साथ ही ये घर सील की अधिकता से रोगादि के कारण शरीर में कम्प पैदा करनेवाले न हों। **ऊर्जं बिभ्रतः**=अन्न को धारण करते हुए तुम्हें **आ-इमसि**=अन्न के साथ ही हम प्राप्त होते हैं, अर्थात् घर अन्न से पूरिपूर्ण हों।

२. इस प्रकार मन्त्र के पूर्वार्ध में घर की इन विशेषताओं का उल्लेख है कि (क) उनमें साँप व रोगादि का भय न हो। (ख) वहाँ सील के कारण ज्वरादि से कम्प न हो, (ग) वे अन्न से परिपूर्ण हों। अब मन्त्र के उत्तरार्ध में **घर में रहनेवालों की विशेषताओं** का प्रतिपादन करते हैं कि (क) **ऊर्जम्**=बल और प्राणशक्ति को **बिभ्रत्**=धारण करता हुआ मैं (ख) **सुमनाः**=उत्तम मनवाला—जिस मन के अन्दर किसी प्रकार की अशुभ इच्छा उत्पन्न नहीं होती उस मन को धारण करता हुआ, (ग) **सुमेधाः**=उत्तम मेधावाला (घ) **मनसा मोदमानः**=सदा प्रसन्न मनवाला **वः गृहान्**=तुम घरों को **एमि**=प्राप्त होता हूँ।

भावार्थ—हमारे घर रोगादि के भय से रहित, ज्वरजनित कम्प से शून्य व अन्न-रस से पूरिपूर्ण हों। इन घरों में रहनेवाले शक्तिशाली, उत्तम मनवाले, शोभन-प्रज्ञ व प्रसन्न मनोवृत्तिवाले हों।

ऋषिः—शंयुः। **देवता**—वास्तुपतिरग्निः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।।

उत्तम घर

येषामद्ध्येति प्रवसन् येषु सौमनसो बहुः।
गृहानुपह्वयामहे ते नो जानन्तु जानतः।।४२।।

पिछले मन्त्र में घर का उल्लेख करते हुए कहा था कि वहाँ रोग का भय नहीं, ज्वर का कम्प नहीं, अभाव के कारण रोना-धोना नहीं और घरवाले व्यक्तियों के विषय में कहा था कि वे शक्तिसम्पन्न, उत्तम इच्छाओंवाले, समझदार व प्रसन्न मन हों। ऐसे घर का प्रवास में स्मरण आना स्वाभाविक है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि—१. **गृहान्**=उन घरों को **उपह्वयामहे**=पुकारते हैं, अर्थात् ऐसे घरों की प्राप्ति के लिए हम प्रार्थना करते हैं, **येषाम्**=जिनका **प्रवसन्**=प्रवास में रहता हुआ मनुष्य **अध्येति**=स्मरण करता है। घर में भार्या कर्कश स्वभाव की हो तब तो सम्भवतः पुरुष प्रवास को अच्छा ही समझे। पति कर्कश हों तो पितृगृह में गई हुई पत्नी शायद कुछ आराम अनुभव करे और पतिगृह में लौटने को एक मुसीबत माने। २. हम उन घरों को पुकारते हैं **येषु**=जिनमें **बहुः**=बहुत ही **सौमनसः**=सुमनस्कता है, जिनमें रहनेवाले लोगों के मन अच्छे हैं, द्वेष व जलन आदि से भरे हुए नहीं हैं। ऐसे

ही घरों की तो प्रवास में याद आती है। ३. **ते**=वे घर **जानतः**=उपकाराभिज्ञ (अकृतघ्न) **नः**=हम लोगों को **जानन्तु**=जानें, अर्थात् घर में पति पत्नी के तथा पत्नी पति के उपकार को समझे। भाई भाई की भलाई को भूल न जाए। पुत्र युवा होने पर माता-पिता के ऋण को भूल न जाए और घर के सब व्यक्ति उस परमपिता प्रभु की कृपाओं को विस्मृत न कर दें। इस प्रकार इस घर में कृतघ्नता का प्रवेश न हो।

भावार्थ—उत्तम घर वे हैं जिनमें रहनेवाले लोग 'सुमनस्कता' वाले हैं, कृतज्ञ हैं और इस कारण जिन घरों की प्रवास में याद आती है।

ऋषिः—शंयुर्बार्हस्पत्यः। **देवता**—वास्तुपतिः। **छन्दः**—भुरिग्जगती। **स्वरः**—निषादः॥

घर में क्या-क्या हो

उपहूताऽइह गावऽउपहूताऽअजावयः।
अथोऽअन्नस्य कीलालऽउपहूतो गृहेषु नः।
क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये शिवःशग्मःशंयोःशंयोः॥४३॥

१. **इह**=इस घर में **गावः उपहूताः**=गौवें पुकारी गई हैं, अर्थात् हमारी पहली कामना यह है कि घर में गौवों की कमी न हो। २. **इह**=घर में **अजा अवयः**=बकरियाँ व भेड़ें **उपहूताः**=पुकारी गई हैं, अर्थात् हमारे घरों में बकरियाँ व भेड़ें हों। बकरियों का दूध क्षयरोग को दूर रखता है तो भेड़ों की ऊन हमें सर्दी के लिए उत्तम वस्त्र प्राप्त कराती है। ३. **अथ उ**=और अब **नः गृहेषु**=हमारे घरों में **अन्नस्य**=अन्न का **कीलालः**=रस **उपहूतः**=पुकारा गया है। हमारे घरों में अन्न-रस की कमी न हो। यहाँ मांस-रस का प्रवेश न हो। ४. हे घरो! **वः**=तुम्हें **क्षेमाय**=योगक्षेम के लिए, सुन्दर जीवन-निर्वाह के लिए प्राप्त होता हूँ। **शान्त्यै**=शान्ति के लिए प्राप्त होता हूँ। मनुष्य घर का निर्माण इसीलिए करता है कि वहाँ उसको क्षेम व शान्ति प्राप्त हो। ५. **शिवं शग्मम्**=हमें इन घरों में ऐहिक सुख प्राप्त हो तो आमुष्मिक सुख को भी हम प्राप्त करनेवाले बनें, अर्थात् हमारे घर 'अभ्युदय व निःश्रेयस' दोनों को सिद्ध करनेवाले हों। इनमें खान-पान की कमी न हो, पर खान-पान की आसक्ति भी न हो। ६. इस घर में **शंयोः**=शान्ति चाहनेवाले के **शंयोः** =(शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्-नि० ८।२१) रोगों का शमन हो और सब प्रकार के भयों का यावन-दूरीकरण हो।

भावार्थ—'शंयु' (शान्ति चाहनेवाले) के घर में-(क) गौवें, (ख) बकरी व भेड़ें होती हैं, (ग) इसके घर में अन्न का रस होता है, (घ) योगक्षेम की कमी नहीं होती, (ङ) शान्ति का विस्तार होता है, (च) ऐहिक सुख के साथ आमुष्मिक कल्याण भी होता है और (छ) रोगों का शमन व भयों का दूरीकरण होता है।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

ऋषियों का आना

प्रघासिनो हवामहे मरुतश्च रिशादसः। करम्भेण सजोषसः॥४४॥

१. ऊपर ४१-४३ के मन्त्रों में वर्णित घरों में शान्तिपूर्वक रहनेवाले 'शंयु' लोग उत्तम प्रजाओं का निर्माण करनेवाले होते हैं, अतः वे प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'प्रजापति' बन जाते हैं। ये प्रजापति समय-समय पर उत्तम ऋषियों को घरों पर आमन्त्रित करते रहते हैं, जिससे उनके उपदेशों से सन्तान पर उत्तम प्रभाव पड़े। यही विषय 'प्रस्तुत मन्त्र' का है।

२. **मरुतः**=(ऋत्विङ्नाम–नि० ३।१८) हम ऋषियों को **हवामहे**=पुकारते हैं, समय-समय पर ऋषियों को अपने घरों पर बुलाते हैं, जिससे इनके द्वारा विधिवत् किये जानेवाले यज्ञों का व इनसे दिये जानेवाले उपदेशों का सन्तान पर सुन्दर प्रभाव पड़े।

३. कैसे ऋषियों को? (क) **प्रघासिनः**=प्रकृष्ट घासवाले (घस्लृ अदने)। उत्तम वानस्पतिक भोजनवाले, अर्थात् जो ऋत्विज् मांस भोजनों से सदा दूर रहते हैं, जिनका भोजन हविर्मय है। (ख) **रिशादसः**=(रिशां दस्यन्ति) जो हिंसा को समाप्त कर देते हैं। जिनका मन हिंसा की वृत्ति से सदा दूर रहता है, (ग) **करम्भेण** =दधिमिश्रित सत्तुओं का **सजोषसः**=प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले हैं। महीधर लिखते हैं कि यवमय हविर्विशेष 'करम्भ' कहलाती है। उसका ये प्रीतिपूर्वक प्रयोग करते हैं। आचार्य दयानन्द इस शब्द का निर्माण 'कृ हिंसायाम्' से करके यह अर्थ करते हैं कि (अविद्या हिंसनेन समानप्रीतिसेविनः) अविद्या के हिंसन का जो प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं, अर्थात् जिन्हें अविद्या के दूर करने में आनन्द का अनुभव होता है।

४. ऐसे ऋषि जिन घरों में आते रहेंगे वहाँ लोग अवश्य 'प्रजापति' बनेंगे, उत्तम सन्तानों का निर्माण कर पाएँगे। 'इनके जीवन पापशून्य होंगे' इस बात का वर्णन अगले मन्त्र में करेंगे।

भावार्थ—हमारे घरों में प्रकृष्ट शाकाहारी, हिंसा से पराङ्मुख, दधि-यवादि पवित्र वस्तुओं का सेवन करनेवाले ऋषिजन समय-समय पर आते रहें।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—स्वराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

पाप का अवयजन

यद् ग्रामे यदरण्ये यत् सभायां यदिन्द्रिये।
यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहा॥४५॥

प्रजापति प्रार्थना करता है कि—१. **यत्**=जो **एनः**=पाप **ग्रामे**=ग्राम के विषय में **वयम्**=हम **चकृम**=कर बैठे हैं **इदम्**=इस **तत् एनः**=उस पाप को **अवयजामहे**=यज्ञों के द्वारा दूर करते हैं। ग्राम में निवास करनेवाले को उत्तम नागरिक बनना चाहिए। उसे कभी उत्तम नागरिक के कर्त्तव्यों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। 'मार्गों को मलिन करना, मार्गों पर चलने आदि के नियमों का पालन न करना, पड़ोसियों के आराम आदि का ध्यान न करके शोर करते रहना, शराब आदि के नशे में उपद्रवादि करना'—ये सब ग्रामविषयक पाप हैं। हमें इनसे बचने का यत्न करना चाहिए। ऋषियों के समय-समय पर आते रहने से हममें यज्ञिय भावना जागरित रहेगी और हम ऐसे पाप न करेंगे। २. **यत् अरण्ये**=जो पाप हम वन के विषय में करते हैं, उसे भी यज्ञ से दूर करते हैं। 'वृक्षों को काटते रहना और नयों का न लगाना, निषिद्ध प्राणियों का शिकार करना अथवा वनों में वर्त्तमान आश्रमों को उजाड़ना' ये सब अरण्यविषयक पाप हैं। इनसे भी हम बचें। ३. **यत् सभायाम्**=जो पाप हम सभा में करते हैं, उसका भी हम अवयजन (दूर) करनेवाले हों। 'सभा की शान्ति को भङ्ग करना, वहाँ उपदेश न सुन ऊँघते रहना, परस्पर बातें करना, शिष्ट रीति से न बैठना' आदि सभा-विषयक पाप हैं। इन्हें भी हमें दूर करना है। ४. **यत् इन्द्रिये**=जो इन्द्रियों के विषय में हमसे पाप हुए हैं उसे भी हम यज्ञ से दूर करते हैं। अतिभोजन, अशुभ दर्शन, निन्दाश्रवण, निन्दाकथन व असंयम आदि इन्द्रियों के दोषों को भी हम यज्ञ से दूर करनेवाले हों। ५. **स्वाहा**=(स्वं

प्रति आह) यही बात हमें सदा अपने से कहते रहना चाहिए। निरन्तर इस प्रकार आत्मप्रेरणा देने से हमारा जीवन इन सब पापों से ऊपर उठेगा, वह पवित्र होगा और हम पवित्र सन्तानों के निर्माण करनेवाले 'प्रजापति' बन पाएँगे।

भावार्थ—यज्ञादि से हमारी पापवृत्तियाँ दूर होती जाएँ। हम ग्राम, अरण्य, सभा व इन्द्रियविषयक सब पापों से ऊपर उठें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रमारुतौ। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

हाथों में कर्म, वाणी में स्तवन

मो षू णऽइन्द्रात्र पृत्सु देवैरस्ति हि ष्मा ते शुष्मिन्नवयाः।
महश्चिद्यस्य मीढुषो यव्या हविष्मतो मरुतो वन्दते गीः॥४६॥

१. पिछले मन्त्र में पापों को दूर करने का उल्लेख है। यह पापों को दूर करनेवाला 'अगस्त्य' कहलाता है। 'अग'=पापपर्वत का 'स्त्य'=संहार करनेवाला। यह अगस्त्य प्रभु से प्रार्थना करता है—हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् सर्वैश्वर्यवन् प्रभो! **अत्र**=यहाँ—इस मानव-जीवन में **पृत्सु**=संग्रामों में **नः**=हमारा **मा**=मत **उ**=ही मन्थन (नाश) हो (विनाशयतीति शेषः—म०)। (सुशब्दो विनाशभावस्य सौष्ठवं ब्रूते—म०) **सु** =थोड़ा-सा भी नाश मत हो। हे प्रभो! आपकी कृपा से हम इन काम-क्रोधादि से संघर्ष में तनिक भी पराजित न हों। २. **हे शुष्मिन्**=शत्रुओं के शोषक बलवाले प्रभो! **देवैः**=देववृत्तिवालों द्वारा **ते**=तेरा **अवयाः**=(अवयुतो भागः) पृथक् भाग **अस्ति हि ष्म**=निश्चय से है ही, अर्थात् देव प्रातः-सायं संसार से अलग होकर कुछ देर के लिए प्रभु का ध्यान अवश्य करते हैं। वह प्रभु-चिन्तन ही वस्तुतः उन्हें देव बनाता है। ३. **हविष्मतः** =उस प्रशस्त हविवाले, अर्थात् सब उत्तम पदार्थों को देनेवाले **मीढुषः**=(मिह सेचने) सब सुखों की वर्षा करनेवाले **यस्य**=प्रभु की **यव्या**=(यु मिश्रणामिश्रणयोः) अपने जीवन को दोषों से पृथक् करना और गुणों से संयुक्त करना **चित्**=ही **महः**=पूजा है। हम बुराइयों को छोड़ें और अच्छाइयों को लें, यही प्रभु-पूजा है। ४. **मरुतः**=इस यव्या—दोषत्याग एवं गुणसंग्रह के द्वारा प्रभु-पूजा करनेवाले मरुत् (मनुष्य की) **गीः**=वाणी **वन्दते**= प्रभु का स्तवन करती है। 'मरुत' मितरावी है, कम बोलता है। अपने अन्दर अच्छाइयों को ग्रहण करने का प्रयत्न करता है। अपने कार्यों में लगा हुआ प्रभु-स्तवन करता है। हाथ काम में लगे हैं तो वाणी प्रभु का गुणगान करती है।

भावार्थ—अवगुणों को दूर करना व गुणों को धारण करना ही 'प्रभु-स्तवन' है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

वापस घर चलो

अक्रन् कर्म कर्मकृतः सह वाचा मयोभुवा।
देवेभ्यः कर्म कृत्वास्तं प्रेत सचाभुवः॥४७॥

पिछले मन्त्र के प्रसङ्ग को ही प्रस्तुत मन्त्र में आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि—१. **कर्मकृतः**=कर्मों को करनेवाले **कर्म**=कर्म ही **अक्रन्**=करते हैं। ये अपना जीवन यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगाये रखते हैं और कर्मों को करते हुए **मयोभुवा**=कल्याण को जन्म देनेवाली **वाचा सह**=वाणी के साथ ये इन कर्मों को करते हैं। ये हाथों से कर्म करते हैं और वेदवाणी के द्वारा प्रभु का गुणगान करते हैं। यह वाणी मयोभूः=कल्याण का भावन करनेवाली है। २. **देवेभ्यः**=इस प्रकार दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **कर्म कृत्वा**=कर्म

करके **अस्तम्**=घर को **प्रेत**=वापस चलो। आत्मशुद्धि के लिए कर्म करते रहना नितान्त आवश्यक है। आलस्य आया और अवगुणों ने घेरा। ३. इन कर्मों को करते हुए यदि हम **सचाभुवः**='साथ होनेवाले'=मिलकर चलनेवाले बनते हैं तो अपने घर में वापस पहुँचने के योग्य होते हैं। ब्रह्मलोक जीव का वास्तविक घर है। जीव यहाँ तो यात्रा पर आया हुआ है। यहाँ हमें 'सचाभुवः' बनना है, मिलकर चलना है। जीओ और जीने दो 'Live and let live' का पाठ सीखना है। प्रभु-प्राप्ति का यही मार्ग है। यही यज्ञियवृत्ति कहलाती है। देवताओं का जीवन ऐसा ही होता है।

भावार्थ—हमारे हाथ यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगें, वाणी कल्याणी वेदवाणी का उच्चारण करती हो। क्रियाशीलता से हम अपने में दिव्य गुणों को जन्म दें, संसार में मिलकर रहना सीखें, तभी हम वापस अपने घर 'ब्रह्मलोक' में पहुँचेंगे।

ऋषिः—और्णवाभः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—ब्राह्म्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

अवभृथ-निचुम्पुण

अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः।
अव देवैर्देवकृतमेनोऽयासिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतं पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि॥४८॥

१. गत मन्त्र में अगस्त्य यज्ञादि उत्तम कर्मों के जाल को तनता है, परन्तु खूबी यह कि उस जाल में फँसता नहीं, अतः यह उस मकड़ी की भाँति होता है जो जाले को तनती तो है पर उसमें उलझती नहीं। एवं, इसका नाम 'और्णवाभ' पड़ जाता है। २. निरन्तर यज्ञों में लगे रहने से इसको ही सम्बोधित करते हैं। **अवभृथ**=हे यज्ञ के पुतले! (**अवभृथ**=Sacrifice in general) **निचुम्पुण**=(चोपति मन्दं गच्छति) निश्चय से शान्तिपूर्वक अपने जीवन-मार्ग पर चलनेवाले अथवा (नीचैः क्वणनः) यज्ञों को करते हुए व्यर्थ में उनका ढिंढोरा न पीटनेवाले, बहुत शोर न करनेवाले तू **निचेरुः असि**=(नितरां चरणशील) क्रियाशील है। तेरा जीवन क्रियामय है, परन्तु तू यह ध्यान रखना कि **निचुम्पुणः**=शान्तिपूर्वक चलना, व्यर्थ का शोर न करना। ३. **देवकृतं एनः**=देवताओं के विषय में किये गये पापों को **देवैः**=दिव्य गुणों के उत्पादन के द्वारा **अव अयासिषम्** =मैं दूर करूँ। शरीर में सब इन्द्रियाँ देवांश हैं—सूर्य चक्षुरूप से है तो अग्नि वाणीरूप से, चन्द्रमा मनरूप से है तो दिशाएँ श्रोत्ररूप से। इन देवों के विषय में पाप यही है कि हम इनका ठीक प्रयोग नहीं करते। ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानप्राप्ति में लगें, कर्मेन्द्रियाँ उत्तम कर्मों में और मन शिवसंकल्प में। यही मार्ग है देवकृत पापों को दूर करने का, यही मार्ग है दिव्य गुणों की प्राप्ति का। ४. **मर्त्यकृतम् (एनः)**=मनुष्यों के विषय में किये गये पाप को मैं **मर्त्यैः**=(मरणधर्मैः शरीरैः—द०) मरणधर्म शरीरों से **अव अयासिषम्**=दूर करूँ, अर्थात् मनुष्यों के हित के लिए अपने शारीरिक सुखों का त्याग करके और अन्ततः अपने शरीर का भी बलिदान करके हम मर्त्यकृत पाप का प्रायश्चित्त कर पाते हैं। ५. **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! आप हमें **पुरुराव्णः** (रु शब्दे रावयति)=बहुतों को रुलानेवाली **रिषः**=हिंसा से **पाहि**=बचाइए। हमारे कर्म हिंसा करके पीड़न के द्वारा रुलानेवाले न हों। हमारे कर्म सत्य हों, सत्य कर्म वही हैं जो अधिक-से-अधिक हित करनेवाले हैं **'यद् भूतहितमत्यन्तं तत् सत्यमिति धारणा'**।

भावार्थ—हम यज्ञमय जीवनवाले हों, परन्तु बिना शोर के शान्तभाव से इन यज्ञों में लगे रहें। हमारे यज्ञ महान् हों, नकि उनका आडम्बर महान् हो।

ऋषिः—और्णवाभः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

पूर्णा-सुपूर्णा

पूर्णा द॑र्वि॒ परा॑ पत॒ सुपू॑र्णा॒ पुन॒राप॑त।
व॒स्नेव॒ विक्री॑णावहा॒ऽइष॒मूर्ज॑ꣳ शतक्रतो॥४९॥

गत मन्त्र की भावना के अनुसार 'और्णवाभ' अपने जीवन में यज्ञों का जाल तन देता है। उन यज्ञों में उसे लाभ-ही-लाभ दिखता है। आर्थिक दृष्टिकोण से भी ये यज्ञ घाटे का सौदा नहीं होते। यह और्णवाभ कहता है कि १. हे **दर्वि**=हवि से पूर्ण कड़छी! तू **पूर्णा**=भरी हुई **परापत**=इन्द्र के प्रति जा। मनु के शब्दों के अनुसार अग्नि में डाली हुई आहुति (**अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते**) सूर्य=(इन्द्र) तक पहुँचती है। अग्नि में डाला हुआ यह हविर्द्रव्य नष्ट नहीं होता, क्योंकि **'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः, पर्जन्यादन्नसम्भवः'** इन यज्ञों से बादल बनते हैं और बादल से फिर अन्न उत्पन्न होता है। इस प्रकार हे कड़छी! तू **सुपूर्णा**=अन्नादि से खूब भरी हुई **पुनः आपत**=फिर से हमें प्राप्त होजा। वर्षा होती है, तो किसान भी समझता है और कहता है कि पानी नहीं, सोना बरस रहा है। एवं, कड़छी जाती तो 'पूर्णा' है, पर लौटती है 'सु-पूर्णा'। एवं ये यज्ञ घाटे की वस्तु थोड़े ही हैं? २. इन यज्ञों से तो हम उस प्रभु के साथ **वस्ना इव** =मानों मूल्य देकर **इषम् ऊर्जम्**=अन्न व बल-प्राणशक्ति का **विक्रीणावहै**=क्रय-विक्रय करते हैं। ३. **हे शतक्रतो**=अनन्त क्रतुओंवाले प्रभो! मैं भी आपकी कृपा से शतक्रतु बनूँ। मेरे जीवन के सौ-के-सौ वर्ष यज्ञमय बीतें।

भावार्थ—'यज्ञ' हमारे जीवन का सर्वोत्तम क्रय-विक्रय है।

ऋषिः—और्णवाभः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिगनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

दान-प्रतिदान

दे॒हि मे॒ ददा॑मि ते॒ नि मे॑ धेहि॒ नि ते॑ दधे।
नि॒हार॑ं च॒ हरा॑सि मे नि॒हार॒ं निह॑राणि ते॒ स्वाहा॑॥५०॥

प्रभु और्णवाभ से कहते हैं कि तुझसे किये जानेवाले ये यज्ञ तो निश्चित रूप से तेरे लाभ के लिए ही हैं। यदि अत्यन्त स्थूल (concrete) भाषा में कहा जाए तो यह कह सकते हैं कि **देहि मे**=हे और्णवाभ तू मुझे दे, **ददामि ते**=और मैं तुझे देता हूँ। तू यज्ञों से मेरे लिए अन्न प्राप्त कराता है तो मैं वृष्टि द्वारा तुझे सहस्रगुणा अन्न प्राप्त कराता हूँ। **मे निधेहि**=तू मेरे लिए अपनी निधि को स्थापित कर, **ते निदधे**=मैं तेरे लिए निधि को स्थापित करता हूँ। **च**=और तू **मे**=मेरे लिए **निहारम्**=मूल्य को **हरासि**=प्राप्त कराता है तो मैं भी **ते**=तेरे लिए **निहारम्**=(मूल्येन क्रेतव्यं पदार्थम्-म०) पदार्थों को **निहराणि**=निश्चय से देता हूँ। **स्वाहा**=यह मेरी सत्य प्रतिज्ञा है।

एवं, ये यज्ञ आदान-प्रदान रूप हैं। और्णवाभ इस आदान-प्रदान की प्रक्रिया में आनन्द का अनुभव करता है-उसके लिए यह क्रिया सहज हो जाती है। वह फल की कामना से ऊपर उठने के कारण इस क्रिया को करता हुआ भी इसमें उलझता नहीं। वह इस सबको प्रभु का दिया हुआ जानता है। इसे प्रभु को देते हुए कुछ बोझ नहीं लगता। उसने दिया, पर वह कितना ही गुणा होकर फिर उसे ही मिल गया।

भावार्थ—हम यज्ञों को प्रभु के साथ आदान-प्रदान का एक व्यवहार समझें।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराट्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।।

'गोतम' बनना

अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रियाऽअधूषत।
अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती योजा न्विन्द्र ते हरी ॥५१॥

१. गत मन्त्र का 'और्णवाभ' यज्ञों के जाल को तनता हुआ 'गोतम' बन जाता है। 'अत्यन्त प्रशस्त इन्द्रियोंवाला' (गावः इन्द्रियाणि, तम=अतिशये)। ये उत्तम इन्द्रियोंवाले लोग **अक्षन्**=(घस् अदने) उत्तम वानस्पतिक भोजन करते हैं। 'अक्षन्' शब्द में 'घस्' धातु घास व वनस्पति भोजन का संकेत करती है। २. ये **अमीमदन्त**=एकदम सादा भोजन करते हुए उसी में आनन्द का अनुभव करते हैं। ३. **हि**=निश्चय से **प्रियाः**=सबके साथ प्रीतिपूर्वक वर्त्तनेवाले ये लोग **अव अधूषत**=सब वासनाओं को कम्पित करके अपने से दूर रखते हैं। इनका जीवन वासनामय नहीं होता। वानस्पतिक भोजन व प्रसन्न मनोवृत्ति ये दोनों बातें वासनाओं से बचने में सहायक होती हैं। ४. वासनाओं को दूर रखने के उद्देश्य से ही ये **अस्तोषत्**=प्रभु का स्तवन करते हैं। ५. इस प्रभु-स्तवन के कारण इनके जीवन में एक दिन वह आता है जब ये **स्वभानवः**=आत्मा की दीप्तिवाले होते हैं। इन्हें आत्मप्रकाश दिखता है। ६. **विप्राः**=(वि+प्रा) ये अपना विशेष रूप से पूरण करनेवाले होते हैं। ७. **नविष्ठया**=(नु स्तुतौ) अत्यन्त स्तुत्य अथवा प्रभु-स्तवन की उत्तम भावना से युक्त **मती**=(मत्या) बुद्धि से ये युक्त होते हैं। इनका प्रभु-स्तवन यान्त्रिक-सा (mechanical) न होकर बुद्धिपूर्वक होता है। ८. प्रभु से ये यही आराधना करते हैं कि हे **इन्द्र** =सब इन्द्रियों के वास्तविक अधिष्ठाता प्रभो! **ते**=आपके **हरी**=इन कर्मेन्द्रियपञ्चक व ज्ञानेन्द्रियपञ्चक रूप घोड़ों को **योज नु**= निश्चय से हमारे साथ संयुक्त कीजिए या इन्हें कार्य में लगाये रखिए। जैसे घोड़े को रथ में जोतते हैं, इसी प्रकार मेरे इन इन्द्रियरूप घोड़ों को आप ज्ञानयज्ञ व कर्मयज्ञ में जोते रखिए। इन्द्रियाँ कर्मों में लगी रहने पर पवित्र बनती हैं, अन्यथा इनमें अपवित्रता आ जाती है। एवं, इन घोड़ों को जोते रखना ही 'गोतम' बनने का उपाय है।

भावार्थ—हमारा भोजन सादा हो, हम सदा प्रसन्न रहें, वासनाओं से बचें, प्रभुस्तवन को महत्त्व दें और इन्द्रियों को ज्ञान व यज्ञों में लगाये रक्खें।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराट्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।।

गोतम का प्रभुस्तवन

सुसन्दृशं त्वा वयं मघवन् वन्दिषीमहि।
प्र नूनं पूर्णबन्धुर स्तुतो यासि वशाँ२॥ऽअनु योजा न्विन्द्र ते हरी ॥५२॥

१. पिछले मन्त्र के शब्दों के अनुसार जब गोतम प्रभु का स्तवन करता है तब कहता है कि हे **मघवन्**=(मघ=मख) इस सृष्टिरूप यज्ञ के रचनेवाले प्रभो! **सुसन्दृशम्**=अत्यन्त सुन्दर दर्शनवाले **त्वा**=आपकी **वयम्**=हम **वन्दिषीमहि**=वन्दना करते हैं। प्रभु इस सृष्टि के रचयिता तो हैं ही, यह सृष्टि इस यज्ञरूप प्रभु का एक यज्ञ भी है। प्रभु ने इसे प्रकृति से बनाया और जीव की उन्नति के लिए बनाया, परन्तु जब हम उस प्रभु को प्रकृति व जीव से अलग सोचने का प्रयत्न करते हैं तो इतना ही कह सकते हैं कि वे अत्यन्त सुन्दर हैं, 'सुसन्दृश' हैं। प्रभु का दर्शन अत्यन्त रमणीय है, आसेचनक है, वहाँ पहुँचकर मन ऊबता

नहीं। २. हे **पूर्णबन्धुर**=पूर्ण है लोक-लोकान्तरों का बन्धन जिसका ऐसे प्रभो! आप **स्तुतः**=स्तुति किये जाने पर **वशान् अनुयासि**=अपने मन को वश में करनेवालों को अनुकूलता से प्राप्त होते हैं। जितना-जितना हम अपने मन को वश में करते हैं, उतना- उतना हम आपको प्राप्त करने के पात्र बनते जाते हैं। आप पूर्णबन्धुर है। वृष्टि की क्रिया में ही किस प्रकार तीनों लोक परस्पर सम्बद्ध हैं। द्युलोक के सूर्य से पृथिवीलोक का जल वाष्पीभूत होता है और उन वाष्पों से अन्तरिक्षलोक में मेघों का निर्माण होता है। ३. इस पूर्णबन्धुर प्रभु से गोतम कहता है कि हे **इन्द्र**=मेरी इन्द्रियों के अधिष्ठाता प्रभो! आप इन **ते हरी**=अपने इन्द्रियरूप घोड़ों को **योज नु**=निश्चय से ज्ञानयज्ञों में जोते रखिए। ये मेरी इन्द्रियाँ कर्मों में लगी रहेंगी तभी तो 'पवित्र' बनी रहेंगी।

भावार्थ—हम अपने में अत्यन्त सुन्दर प्रभु की स्तुति करते हैं। वे प्रभु पूर्णबन्धुर हैं। इस सृष्टि के लोकों को परस्पर बाँधनेवाले हैं, वे स्तोता को ही प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—बन्धुः। **देवता**—मनः। **छन्दः**—अतिपादनिचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

स्तोम व मन्म=स्तुति व ज्ञान

मनो न्वाह्वामहे नाराशꣳसेन स्तोमेन। पितॄणां च मन्मभिः॥५३॥

१. पिछले मन्त्र का ऋषि 'गोतम'='प्रशस्त इन्द्रियोंवाला' इन्द्रियों को प्रशस्त रखने के लिए ही मनरूपी लगाम से उनको वश में रखता है—विषयों में जाने से रोकता है और उत्तम कार्यों में बाँधता है। ऐसा बन्धन करनेवाला यह अब 'बन्धु' बन जाता है। ये बन्धु प्रार्थना करते हैं कि **मनः**=मन को **नु**=अब **आह्वामहे** =पुकारते हैं, अर्थात् ऐसे मन के लिए प्रार्थना करते हैं जो (क) **नाराशंसेन**='नार'—नरसमूह को 'आशंस'=सर्वतः प्रशंसनीय बनानेवाले **स्तोमेन**=स्तुतिसमूह से युक्त है और **पितॄणाम्**=ज्ञानदाता आचार्यों के **मन्मभिः** =मननीय ज्ञानों से सम्पन्न है। मन वही ठीक है जो या तो प्रभु के स्तवन में लगा हुआ है या ज्ञानप्राप्ति में। मन के दो ही व्यसन उत्तम हैं—'हरिपादसेवनम्, विद्याभ्यसनम्'। ऐसे मन को प्राप्त करके हम इन्द्रियरूप घोड़ों को पूर्णरूप से बाँधनेवाले व वश में करनेवाले होंगे। २. **स्तोम**=स्तुति 'नाराशंस' है। नरसमूह के जीवन को सब दृष्टिकोणों से सुन्दर बनानेवाली है। स्तुति से मनुष्य के सामने एक उच्च लक्ष्य-दृष्टि पैदा होती है और उस लक्ष्य की ओर बढ़ता हुआ वह सुन्दर जीवनवाला होता है। ३. **मन्म**=मननीय ज्ञान **पितॄणाम्** =पितरों का है, रक्षकों का है। ज्ञान का सर्वप्रथम लाभ यही है कि यह हमारी रक्षा करता है। हमें ठीक भोजन की प्रवृत्तिवाला बनाकर यह स्वस्थ बनाता है तो वासनाओं को नष्ट करके यह हमें मानस-स्वास्थ्य भी देता है।

भावार्थ—प्रभो! हमें वह मन दीजिए जो स्तवन व विद्याध्ययन में लगा हो।

ऋषिः—बन्धुः। **देवता**—मनः। **छन्दः**—विराड्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

क्रतु व दक्ष=संकल्प व उत्साह (कर्म व उत्साह)

आ नऽएतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे। ज्योक् च सूर्यं दृशे॥५४॥

'बन्धु' ही प्रार्थना करते हैं कि **नः**=हमें **पुनः**=फिर **मनः**=मन **आएतु**=सर्वथा प्राप्त हो। किसलिए? १. **क्रत्वे**=कर्मसंकल्प के लिए। जिस मन में उत्तमोत्तम कर्मों का सदा संकल्प हो। कर्मसंकल्पशून्य मन वेगशून्य घोड़े के समान है या दूध से रहित गौ के सदृश

है या वह मन तो नक्षत्रविहीन गगन है। २. **दक्षाय**=उत्साह के लिए। मेरे मन में उत्साह हो। निराशा से भरा हुआ मन मनुष्य को कभी उन्नत नहीं कर सकता। ३. **जीवसे**=प्राणशक्ति के धारण के लिए (जीव प्राणधारणे) प्राणशक्ति से रहित मन मृत-सा होता है। ४. **च**=और **ज्योक्**=दीर्घकाल तक **सूर्यं दृशे**=सूर्य के दर्शन के लिए। जिस समय मन में कर्मसंकल्प, उत्साह व जीवनीशक्ति की कमी होती है, उस समय मनुष्य दीर्घकाल तक जीवन-धारण नहीं कर पाता। ऐसा निर्बल मन इन्द्रियों को वश में क्या करेगा?

भावार्थ—हमारे मन कर्मसंकल्प, उत्साह व जीवटवाले हों।

ऋषिः—बन्धुः। **देवता**—मनः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

व्रतमय जीवन

पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः। जीवं व्रातँसचेमहि ॥५५॥

१. मन के विषय में बन्धु की प्रार्थना आगे इस प्रकार होती है कि **पितरः**=आचार्य व **दैव्यः जनः**=सब दिव्य वृत्तियोंवाले लोग **नः**=हमें **पुनः**=फिर **मनः**=मन को **ददातु**=दें। यह हमारा मन सांसारिक विषयों में भटककर 'हमारा' न रह गया था। आचार्यों से व दिव्य वृत्तिवाले जनों से उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त करके हम अपने मन को विषय-व्यावृत्त करके फिर से प्राप्त करनेवाले बनें। २. इस मन को विषयों से लौटाकर हम **व्रातम्**=(व्रतसमूहसमन्वितम्) व्रतों से युक्त **जीवम्**=जीवन को **सचेमहि**=प्राप्त करें। हमारा मन व्रतों की रुचिवाला हो। ये व्रत ही हमारे जीवन को सुन्दर बनाते हैं। व्रत ही मन को दृढ़ करते हैं और तब वह दृढ़ मनरूपी लगाम ही इन्द्रियरूप घोड़ों को सुसारथि की भाँति वश में कर सकेगी।

भावार्थ—हमारा मन दिव्य वृत्तिवाला हो और उत्कृष्ट ज्ञान की प्राप्ति में लगा हो।

ऋषिः—बन्धुः। **देवता**—सोमः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

सोम का व्रत (ब्रह्मचर्य)

वयँसोम व्रते तव मनस्तनूषु बिभ्रतः। प्रजावन्तः सचेमहि ॥५६॥

पिछले मन्त्र में 'व्रतमय जीवन' की चर्चा थी। इस व्रत को प्रस्तुत मन्त्र में 'सोम का व्रत' कहा है। सोम के दो अर्थ हैं—(क) वीर्यशक्ति (ख) परमात्मा। वीर्यरक्षा के द्वारा ज्ञानाग्नि को समिद्ध करके ही हमें सूक्ष्म बुद्धि से उस प्रभु का दर्शन करना है **'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'**। हे **सोम**=शान्त प्रभो! **वयम्**=हम **तव व्रते**=तेरे व्रत में स्थित हुए, अर्थात् तेरी प्राप्ति के लिए सोम=वीर्य की रक्षा का पूर्ण ध्यान करते हुए **मनः**=अपने मन को **तनूषु**=शरीरों में ही **बिभ्रतः**=धारण करते हुए, अर्थात् मनों को इधर-उधर न भटकने देते हुए, भटकना तो क्या उसे शरीरों की शक्तियों के विस्तार (तत्) में लगाते हुए **प्रजावन्तः**=उत्तम प्रजाओंवाले अथवा उत्तम विकासवाले हम **सचेमहि**=आपका उपासन करते हैं। प्रभु के उपासन का क्रम यही है कि—१. हम सोम का व्रत धारण करें। 'हमें प्रभु को पाना है', ऐसा निश्चय करें और शरीर में सोम=वीर्य की रक्षा करें। २. मन को शरीर में ही धारण करें, इधर-उधर भटकने न दें। वह स्थूल, सूक्ष्म व कारणशरीर की शक्तियों के विकास में ही लगा रहे। ३. हम उत्तम प्रजावाले बनें। साथ ही हम प्रजा अर्थात् उत्कृष्ट विकासवाले हों। हम अपने में सात्त्विक शक्तियों का विकास करनेवाले बनें।

भावार्थ—हमारा मन सोम के व्रत में स्थित हो। यह इधर-उधर भटके नहीं। हम प्रकृष्ट विकासवाले हों।

ऋषिः—बन्धुः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

आखुस्ते पशुः

एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व
स्वाहैष ते रुद्र भागऽआखुस्ते पशुः ॥५७॥

१. गत मन्त्रों में वर्णित मनोनिरोध के लिए प्राणसाधना मौलिक उपाय है। प्राणायाम से 'चित्तवृत्तिनिरोध' होकर मन का वशीकरण होता है, अतः प्रस्तुत मन्त्र को प्राणसाधना से प्रारम्भ किया गया है। हे **रुद्र**=प्राण! (रुद्राः प्राणाः) **एषः**=ये प्रभु **ते**=तेरा **भागः**=भाग हैं—सेवनीय हैं। तूने प्रभु की ही उपासना करनी है। २. प्राणों के द्वारा प्रभु का उपासन यही है कि प्राणसाधना से मनोनिरोध होता है और मनोनिरोध से प्रभु-साक्षात्कार। ३. **तम्**=उस प्रभु को **स्वस्रा**=(सु+अस्) उत्तमता से सब दोषों को परे फेंकनेवाली **अम्बिकया सह**=(अवि शब्दे) इस शब्दविद्या=वेदवाणी के साथ **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन कर। ज्ञानयज्ञ से प्रभु का उपासन सर्वोत्तम उपासन है। **स्वाहा**=(सु+आह) यह बात बहुत ही सुन्दर कही गई है। ४. हे **रुद्र**=प्राण! **एष**=यह प्रभु ही **ते**=तेरा **भागः**=उपासनीय—भजनीय है। यह **ते**= तेरा **आखु**=(आखमति =अवदारयति) सब दोषों का सुदूर विदीर्ण करनेवाला है। **ते पशुः** (पश्यति)=यह तेरा द्रष्टा है। तेरे दोषों का देखनेवाला और उनका नाश करनेवाला है। तू अपने दोषों को देख पाये या न, परन्तु प्रभु तो तेरे दोषों को देखते ही हैं। उनसे तेरा कोई दोष छिपा नहीं। वे तेरे इन सब दोषों को उखाड़ फेंकेंगे—भस्म कर देंगे।

भावार्थ—प्रभु ही सेवनीय हैं, ज्ञान-प्राप्ति से उनका उपासन होता है। वे प्रभु ही हमारे दोषों के द्रष्टा व नाशक हैं।

ऋषिः—बन्धुः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—विराट्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

त्रयम्बकोपासन

अव रुद्रमदीमह्यव देवं त्र्यम्बकम्।
यथा नो वस्यसस्करद्यथा नः श्रेयसस्करद्यथा नो व्यवसाययात् ॥५८॥

१. 'बन्धु' कहता है कि **रुद्रम्**=(रुत् र) हृदयस्थरूप से उपदेश देनेवाले उस प्रभु से **अवअदीमहि** (दीङ् क्षये, अवक्षाययेम—द०) हम अपने दोषों का नाश कराते हैं। पिछले मन्त्र में प्रभु को 'आखु'=दोषों का खनन—अवदारण करनेवाला कहा था। वे प्रभु हमारे दोषों को 'पशु' देखते हैं और उन्हें नष्ट करते हैं, अतः उपासना द्वारा हम उस प्रभु से अपने दोषों का क्षय कराते हैं। २. **देवम्**=दिव्य गुणों के पुञ्ज **त्रयम्बकम्**=(त्रि+अम्बक, अवि शब्दे) 'ज्ञान+कर्म+भक्ति' रूप तीन शब्दों के उच्चारण करनेवाले उस प्रभु से **अव**=हम अपने दोषों को दूर कराते हैं। वे प्रभु देव हैं—उनकी उपासना हमें भी देव बनाती है। वे प्रभु त्र्यम्बक हैं, उनका उपदेश यह है कि **ज्ञान**पूर्वक **कर्म** करो, यही मेरी **भक्ति** है। वस्तुतः इस सूत्र को अपनाने पर दोषों का तो प्रश्न ही नहीं रह जाता। ३. प्रभु के उपासन से हम अपने को निर्दोष बनाने का प्रयत्न इसलिए करते हैं कि **यथा**=जिससे **नः**=हमें **वस्यसः करत्**=वे प्रभु उत्तम जीवनवाला करें, **यथा**=जिससे **नः**=हमें **श्रेयसः**=कल्याण प्राप्तिवाला **करत्**=करें। **यथा**=जिससे **नः**=हमें **व्यवसाययात्**=निश्चयपूर्वक कर्मों के अन्त तक पहुँचनेवाला करें (षो अन्तकर्मणि), अर्थात् हमारे कार्यों में हमें सफलता प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—प्रभु उपासन के परिणाम निम्न हैं—(क) निर्दोषता (ख) उत्तम जीवन (ग) कल्याण व मोक्ष की प्राप्ति (घ) किये जानेवाले कार्यों में सफलता।

ऋषिः—बन्धुः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—स्वराड्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

भेषज

भेषजमसि भेषजं गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजम्। सुखं मेषाय मेष्यै॥५९॥

१. गत मन्त्र में वर्णन है कि प्रभु के द्वारा हम अपने सब दोषों का क्षय कराते हैं। एवं, प्रभु की उपासना 'दोषराशिनाशनी' है। दूसरे शब्दों में वह 'भेषज' है। इसी भावना से प्रस्तुत मन्त्र का प्रारम्भ होता है। हे प्रभो! आप **भेषजम् असि**=औषध हो। 'भेषं रोगं जयति' हमारे सब रोगों को विजय करनेवाले हो। रोगों को समाप्त करके आप हमें नीरोग बनाते हो। २. हमें ही क्या! **भेषजं गवे**=हमारे घर की गौवों को भी नीरोग बनाते हो। इन नीरोग गायों के दुग्धसेवन से हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ (गावः) भी उत्तम बनती हैं, वे निर्दोष होती हैं। ३. (भेषजम्) **अश्वाय**=हमारे घोड़ों के लिए भी आप भेषज हो। इन नीरोग व सबल घोड़ों पर आरुढ़ होकर भ्रमण के लिए जाते हुए हम अपनी सब कर्मेन्द्रियों को सबल बना पाते हैं। (अथवा कर्मेन्द्रियाणि अश्नुवते कर्मसु)। ४. **पुरुषाय भेषजम्**=हे प्रभो! आप पुरुष के लिए 'भेषज' हो। जो पौरुषवाला होता है उसके भय को आप दूर करते हो (भेषृ भये)। ५. हे प्रभो! आप **भेषजं मेषाय मेष्यै**=भेड़ व भेड़ी के लिए भी सुख देनेवाले हो। स्वस्थ भेड़ों से हमें अपने शीत-निवारण के लिए ऊन के वस्त्र प्राप्त होते हैं। ६. यहाँ कपास-वस्त्रों का संकेत नहीं है, क्योंकि वे कपड़े पशुओं से प्राप्त नहीं होते। यहाँ पशुओं का क्रम होने से कपास का उल्लेख नहीं है। वैदिक संस्कृति में कपास के वस्त्रों का उल्लेख है ही कम। ७. यहाँ बन्धु की प्रार्थना समाप्त होती है। यह 'बन्धु' सब इन्द्रियों को मन द्वारा और मन को प्राणसाधना द्वारा बाँधकर उस प्रभु में बाँधता है। इस बाँधने से ही यह 'बन्धु' कहलाता था। अब पूर्ण रूप से बाँधकर वह वसिष्ठ=वशियों में श्रेष्ठ' बन जाता है और वसिष्ठ ही अगले मन्त्र में प्रभु से प्रार्थना करता है।

भावार्थ—प्रभो! आप भेषज हैं। आप हमें और हमारे गौ, घोड़े, भेड़, बकरी आदि पशुओं को नीरोग बनाइए।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

मृत्युञ्जय मन्त्र, वसिष्ठ का निश्चय

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्। त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम्। उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुतः॥६०॥

१. **त्र्यम्बकम्**='ऋग्यजुःसाम' मन्त्रों के द्वारा ज्ञान-कर्म व भक्ति का उपदेश देनेवाले प्रभु का **यजामहे**=हम पूजन करते हैं अथवा प्रभु को अपने साथ सङ्गत करते हैं (यज् सङ्गतीकरण) २. वस्तुतः **सुगन्धिम्**=वे प्रभु ही हमारे साथ उत्तम गन्ध=सम्बन्धवाले हैं। संसार के अन्य सब व्यक्तियों के सम्बन्ध में कुछ स्वार्थ है, प्रभु का सम्बन्ध स्वार्थ के लेश से भी शून्य है। ३. जितना-जितना प्रभु के साथ हमारा सम्बन्ध बढ़ता है उतना-उतना ही ये प्रभु **पुष्टिवर्धनम्**=हमारी पुष्टि का वर्धन करनेवाले हैं। ४. वसिष्ठ इस प्रभु से प्रार्थना करता है कि प्रभु के सम्पर्क से पुष्टि को प्राप्त होता हुआ मैं पूर्णतः परिपक्व होकर

मृत्योः=इस मरणधर्मा शरीर से **मुक्षीय**=इस प्रकार मुक्त हो जाऊँ **इव**=जैसे पूर्ण परिपक्व हुआ-हुआ **उर्वारुकम्**=खीरा **बन्धनात्**=बन्धन से मुक्त हो जाता है। (वृन्तं प्रसवबन्धनम्) जैसे पूर्ण परिपक्व हुआ कोई भी फल या फूल उसे शाखा से बाँधनेवाले वृक्ष से अलग हो जाता है, उसी प्रकार मैं पूर्ण पुष्टि को प्राप्त हुआ, मृत्यु से दूर हो जाऊँ और अमरता का लाभ करूँ। ५. **मा अमृतात्**=मैं मोक्ष से छूटनेवाला न होऊँ। इसी प्रार्थना को वसिष्ठ पुनः दुहराता है कि—

१. **त्र्यम्बकम्**=ज्ञान-कर्म व भक्ति के उपदेष्टा प्रभु की **यजामहे**=हम उपासना करते हैं। २. वे प्रभु ही **सुगन्धिम्**=हमारे उत्कृष्ट सम्बन्धवाले हैं। ३. ये प्रभु ही **पतिवेदनम्**=मुझे सच्चे पति-रक्षक को (विद् लाभे) प्राप्त करानेवाले हैं। वस्तुतः ये प्रभु ही मेरे सच्चे पति हैं। जीवात्मा पत्नी है, प्रभु पति हैं। पत्नी ने पति को प्राप्त करना है। उपासना ही उस प्राप्ति का उपाय है। ४. परन्तु यह उपासन व पतिवेदन इस संसार को छोड़कर ही होगा। कन्या भी पूर्वगृह को छोड़कर 'पतिगृह' को प्राप्त करती है, अतः वसिष्ठ प्रार्थना करता है कि जैसे एक कन्या **बन्धनात्**=नाना प्रकार के आकर्षणों व बन्धनों से बाँधनेवाले पितृगृह से इस प्रकार शान्ति से जाती है **इव**=जैसे कि **उर्वारुकं बन्धनात्**=एक परिपक्व फल अपने शाखा-बन्धन से अलग हो जाता है। इसी प्रकार मैं **इतः**=इस संसार-बन्धन से **मुक्षीय**=छूट जाऊँ। ५. **मा अमुतः**=इस संसार से परे उस प्रभु के सम्बन्ध से मैं कभी पृथक् न होऊँ। मैं अपने वास्तविक सम्बन्ध को पहचानूँ और उसे ही अपनाऊँ।

भावार्थ—प्रभु हमें 'ज्ञान-कर्म-भक्ति' का उपदेश देते हैं। वही हमारे सच्चे सम्बन्धी हैं । वे ही हमें पुष्ट करनेवाले या हमारे रक्षक हैं। मैं इस संसार-बन्धन से छूटकर प्रभु को ही प्राप्त करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

अन्न व वस्त्र

एतत्ते॑ रुद्रावसं तेन॑ प॒रो मूज॑व॒तोऽती॑हि।
अव॑ततधन्वा॒ पिना॑कावस॒: कृत्ति॑वासा॒ऽअहि॑ꣳसन्नः शि॒वोऽती॑हि॥६१॥

१. हे **रुद्र**=हृदयस्थरूप से ज्ञान देनेवाले प्रभो! (रुत्+र) **एतत्**=यह आपसे दिया गया ज्ञान ही **ते**=आपका **अवसम्**=रक्षण है, रक्षा का साधन है। ज्ञान देकर ही तो आप उपासकों का रक्षण करते हैं। २. **तेन**=उस ज्ञान से **परः**=**(स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्)** सर्वोत्कृष्ट आप—ज्ञानियों को भी ज्ञान देनेवाले आप **मूजवतः**=(मुज मार्जने) पवित्रतावालों को **अति+इहि**=अतिशयेन प्राप्त होओ। प्रभु पूर्व-गुरुओं के भी गुरु हैं, क्योंकि वे सबसे 'पर' हैं, सबसे पहले विद्यमान हैं। इस ज्ञान के द्वारा ही वे प्रभु हमारा रक्षण करते हैं। प्रभु का यह ज्ञान पवित्र हृदयवालों को प्राप्त होता है। ३. **अवततधन्वा**=वे प्रभु अवततधन्वा हैं। **अव**=यहाँ—पृथिवी पर **तत**=विस्तृत किया है **धन्वा**=ओंकाररूप धनुष जिसने, ऐसे हैं। सब वेदों का सार यह 'ओम्' है, यह ऐसा धनुष है जो हमारे सब शत्रुओं को समाप्त कर देता है (प्रणवो धनुः, प्रणव=ओंकार)। ४. **पिनाकावसः**=(प्रतिपिनष्टि अनेन इति पिनाकम्=धनुः, अवस=रक्षण) प्रणवरूप धनुष से रक्षण करनेवाले वे प्रभु हैं। हम 'ओम्' का उच्चारण करते हैं और वासना विनष्ट हो जाती है। ओम् का स्मरण हमें पवित्र बनाता है। ५. **कृत्तिवासाः**=(कृत्तिः कृन्तन्तेर्वा यशः वा अन्नं वा) आप ही तो वस्तुतः अन्न व वस्त्र

देनेवाले हैं। आप अन्न और वस्त्र देकर **नः**=हमें **अहिंसन्**=न हिंसित करते हुए **शिवः**=कल्याणकर आप **अति इहि**=अतिशयेन प्राप्त होओ।

भावार्थ—'ज्ञान' रक्षण का सर्वप्रथम साधन है। वे परम प्रभु पवित्र हृदयवालों को प्राप्त होते हैं। 'प्रणव' रूप धनुष से हम वासनाओं के आक्रमण को विफल कर देते हैं। वे प्रभु 'अन्न और वस्त्र' प्राप्त कराकर हमारी हिंसा नहीं होने देते। वे कल्याणकर प्रभु हमें प्राप्त हों।

टिप्पणी—'अहिंसन्नः' का सन्धिच्छेद 'अहिं+सन्नः' करके 'साँप पर आसीन' होता है। इसी कारण विष्णु भगवान् सचमुच साँप पर शयन करनेवाले बन गये।

ऋषिः—नारायणः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—उष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

त्रिगुण जीवन

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नोऽअस्तु त्र्यायुषम्॥६२॥

१. गत मन्त्र का 'वसिष्ठ' प्रणवरूप धनुष से अपना पूर्ण रक्षण करके अपने को पवित्र बनाता है और अब यह अपने 'शरीर-मानस व बौद्ध' तीनों जीवनों को बड़ा सुन्दर बनाकर लोकहित में प्रवृत्त होता है। लोकहित में प्रवृत्त होने से यह 'नारायण'=दुःखी नरसमूह का शरणस्थान बनता है। एवं, वसिष्ठ 'नारायण' बन जाता है और प्रार्थना करता है कि **'जमदग्नेः'**=जमदग्नि का **त्र्यायुषम्**=जो त्रिगुणित जीवन है, **कश्य-पस्य** =कश्यप का जो **त्र्यायुषम्**=त्रिगुणित जीवन है **यत्**=जो **देवेषु**=देवों में **त्र्यायुषम्**=त्रिगुणित जीवन है **तत्**=वह **त्र्यायुषम्**=त्रिगुणित जीवन **नः**=हमारा **अस्तु**=हो।

२. यदि मनुष्य शरीर के दृष्टिकोण से पूर्ण स्वस्थ है तो यह जीवन एकगुण है। इसके साथ मानस स्वास्थ्य के जुड़ जाने पर यह जीवन द्विगुण हो जाता है। इसमें बौद्धिक तीव्रता को जोड़कर इसे हम त्रिगुणित कर लेते हैं। तमोगुण का अविकृत रूप स्वास्थ्य का साधक है तो रजोगुण का अविकृत रूप मानस प्रेम की उत्पत्ति का सेतु बनता है और सत्त्वगुण बौद्धिक स्वास्थ्य को जन्म देता है। जिस जीवन में 'सत्त्व-रज व तम' तीनों ठीक रूप में हैं, वही जीवन 'त्र्यायुष' है।

३. इस त्र्यायुष का साधन करनेवाले 'जमदग्नि, कश्यप व देव' हैं। (क) जमदग्नि वह है जिसकी अग्नि=जाठराग्नि (वैश्वानराग्नि) जमत्=जीमनेवाली—खानेवाली अर्थात् खूब प्रज्वलित है। जिसकी जाठराग्नि कभी मन्द नहीं होती, वह रोगों से आक्रान्त नहीं होता। (ख) 'कश्यप' पश्यक है, द्रष्टा है। प्रत्येक वस्तु के तत्त्व को देखता है, विषयों की आपातरमणीयता से उनमें उलझता नहीं। इस न उलझने से ही वह कष्टों से बचा रहता है। (ग) 'देव' दिव्य गुणों को धारण करता है। मन में द्वेषादि मलों को नहीं उत्पन्न होने देता। 'जमदग्नि' यदि नीरोग शरीरवाला है तो 'कश्यप' उज्ज्वल मस्तिष्कवाला है और 'देव' दिव्य निर्मल मनवाला है। मनुष्य इस त्रिविध उन्नति को करके 'नारायण' बन पाता है। ये ही 'त्रिविक्रम' के तीन पग हैं। इन पगों को रखकर ही मनुष्य 'त्र्यायुष' बनता है और सच्चा लोकहित कर पाता है। त्र्यायुष शब्द में ३०० वर्ष तक जीने का भी संकेत हैं।

भावार्थ—हम 'जमदग्नि, कश्यप व देव' बनकर त्र्यायुष को प्राप्त करें।

ऋषिः—नारायणः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—भुरिग्जगती। **स्वरः**—निषादः॥

प्रभु का क्रियात्मक चिन्तन (वर्तन)

शिवो नामा॑सि॒ स्वधि॑तिस्ते पि॒ता नम॑स्तेऽअस्तु॒ मा मा॑ हि॑ꣳसीः।
निर्व॑र्त्तया॒म्यायु॑षे॒ऽन्नाद्या॑य॒ प्रजन॑नाय रा॒यस्पोषा॑य सुप्रजा॒स्त्वाय॑ सु॒वीर्या॑य ॥६३॥

गत मन्त्र का नारायण ही प्रार्थना करता है—१. **शिवो नाम असि**=आप शिव नामवाले हैं, सभी का कल्याण करनेवाले हैं। २. **ते**=आपका **स्वधितिः**=अपना धारण स्वयं है। आपका धारण करनेवाला कोई और नहीं है। ३. **पिता**=आप हम सबके पिता=पालन करनेवाले हैं। **नमः ते अस्तु**=हम आपके प्रति नतमस्तक होते हैं। ४. **मा मा हिंसीः**=आप मुझे हिंसित मत करें। मैं कभी आपके क्रोध का पात्र न होऊँ। अपने उत्तम आचरणों से आपकी कृपादृष्टि ही प्राप्त करूँ। ५. **निवर्तयामि**=निश्चय से मैं प्रत्येक कार्य में आपको वर्त्तता हूँ। 'मेरे जीवन में आप अनावश्यक हों' यह बात नहीं। मेरा तो प्रत्येक कार्य आपके स्मरण के साथ होता है। क्यों? (क) **आयुषे**=उत्तम आयुष्य के लिए। आपके स्मरण से मेरा जीवन उत्तम बनता है। (ख) **अन्नाद्याय** =आद्य अन्न के लिए। मैं सात्त्विक अन्न का ही सेवन करता हूँ। आपका स्मरण करते हुए मांसादि भोजनों का प्रसङ्ग नहीं हो सकता। (ग) **प्रजननाय**=प्रकृष्ट विकास के लिए। आपके स्मरण से अवनति की ओर न जाकर मैं उन्नति की ओर ही चलता हूँ। (घ) **रायस्पोषाय**=धन के पोषण के लिए। प्रभु-स्मरण से हम सुपथ से उत्तम धन कमानेवाले बनते हैं। (ङ) **सुप्रजास्त्वाय**=उत्तम सन्तान के लिए। प्रभु को न भूलनेवाले पति-पत्नी सदा उत्तम सन्तानों को प्राप्त करते हैं। (च) **सुवीर्याय**=उत्तम वीर्य के लिए। प्रभु-स्मरण वासना को दूर भगाता है और मनुष्य वासना से ऊपर उठने के कारण वीर्यरक्षा करने में समर्थ हो पाता है। इसके वीर्य में वासनाग्नि उबाल नहीं लाती। ६. यह सुवीर्य नारायण ही वस्तुतः नारायण बनता है, लोगों का शरणस्थान बनने के योग्य होता है।

भावार्थ—'नारायण' प्रभु का स्मरण करता है और लोकहित के कार्यों में लगा रहता है। यह लोकहित का कार्य ही 'सर्वमहान् यज्ञ' है।

॥ इति तृतीयोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

चतुर्थोऽध्यायः

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अबोषध्यौ। छन्दः—विराड्ब्राह्मीजगती। स्वरः—निषादः॥

सादा खाना, पानी पीना

एदमगन्म देवयजनं पृथिव्या यत्र देवासोऽअजुषन्त विश्वे।
ऋक्सामाभ्याꣳ सन्तरन्तो यजुर्भी रायस्पोषेण समिषा मदेम।
इमाऽआपः शमु मे सन्तु देवीरोषधे त्रायस्व स्वधिते मैनꣳहिꣳसीः॥१॥

१. तृतीय अध्याय की समाप्ति पर 'नारायण' यज्ञात्मक कर्मों में लगा था। यह नारायण ही '**प्रजापति**'=प्रजा का रक्षक बनता है और प्रार्थना करता है—१. हम **पृथिव्याः**=पृथिवी के **इदं देवयजनम्**=इस देवताओं के यज्ञ करने के भाव को (भावे ल्युट्) **आ अगन्म**=सर्वथा प्राप्त हों। प्रभु ने पृथिवी को देवयजनी बनाया है। हम इस पृथिवी पर आकर यज्ञात्मक कर्मों में लगे रहें, जिससे अपने देवत्व को न खो बैठें। २. **यत्र** =यह पृथिवी वह स्थान है जहाँ कि **विश्वे देवासः**=सब देववृत्ति के लोग **अजुषन्त**=(जुषी प्रीतिसेवनयोः) परस्पर प्रीतिपूर्वक अपने कर्त्तव्यों का सेवन करते हैं। अथवा बड़े प्रेम से प्रभु का उपासन करते हैं। ३. यहाँ हम अपने कर्त्तव्य-कर्मों को **ऋक्सामाभ्याम्**=ऋचा व साम के द्वारा—विद्या व श्रद्धा से—**सन्तरन्तः**=तैरते=करते हुए, पार कर जाएँ, अर्थात् अपने प्रत्येक कार्य को सफल बनानेवाले हों। **'यदेव श्रद्धया क्रियते विद्यया तदेव वीर्यवत्तरं भवति'** उपनिषद् यही कहती है कि जो काम श्रद्धा व विद्या से किया जाता है वही वीर्यवत्तर, शक्तिशाली होता है। ४. **यजुर्भिः**=यजुओं से—यजुर्वेद में वर्णित यज्ञिय उत्तम कर्मों से ही **रायस्पोषेण**=धन के पोषण से हम **संमदेम**=सम्यक् आनन्द का अनुभव करें। उत्तम मार्ग से धन कमाने का निश्चय होते ही संसार सुन्दर बन जाता है। ५. हम धनी बनकर भी **इषा**=अन्न से ही **मदेम**=आनन्दित हों। हम स्वाद को प्रधानता न दें। **उ**=और **इमाः आपः**=ये जल **मे**=मेरे लिए **शं सन्तु**=शान्ति देनेवाले हों। **देवीः**=ये तो दिव्य गुणों से परिपूर्ण हैं, अर्थात् मेरा खान-पान सादा हो। सच्ची बात यह है कि उत्तम जीवन का आधार यह खान-पान की सादगी ही है। ६. **ओषधे**=हे दोषों को दूर करने की शक्ति से परिपूर्ण ओषधे! **त्रायस्व**=तू मेरी रक्षा कर। **स्वधिते**=हे अपनी धारणशक्ति से युक्त ओषधे! **एनं मा हिंसी**=इस मुझे हिंसित मत कर। यह ओषधि-वनस्पतियों का सेवन हमारा रक्षण करे, केवल शरीर से नहीं, यह मन व मस्तिष्क को भी स्वस्थ बनाये।

भावार्थ—१. पृथिवी को हम यज्ञभूमि समझें। २. देव बनकर अपना कर्त्तव्य प्रेम से पूर्ण करें। ३. हमारे सब कार्य ज्ञान व श्रद्धा से किये जाएँ। ४. श्रेष्ठतम कर्मों से ही हम धन कमाएँ। ५. 'सादा खाना और पानी पीना' ही हमारे आनन्द का कारण बने। ओषधियाँ धारणशक्ति से युक्त हों, इनसे हम हिंसित न हों।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—आपः। **छन्दः**—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

जल 'मुस्कराहट'

आपोऽअस्मान् मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु।
विश्वꣳहि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरुदिदाभ्यः शुचिरा पूतऽएमि।
दीक्षातपसोस्तनूरसि तां त्वा शिवाꣳशग्मां परिदधे भद्रं वर्णं पुष्यन्॥२॥

प्रजापति ने गत मन्त्र में 'अन्न व जल' में ही आनन्द लेने का निश्चय किया। उनमें जल के महत्त्व को व्यक्त करते हुए प्रभु प्रजापति से प्रार्थना कराते हैं कि—१. **मातरः आपः**=हे मातृस्थानापन्न जल! माता के समान हित करनेवाले जल, हमारी प्राणशक्ति का निर्माण करनेवाले जल! (आपोमयाः प्राणाः) **अस्मान्**=हमें **शुन्धयन्तु**=शुद्ध कर डालें। २. ये **घृतप्वः**=(घृत+पू, घृ=क्षरण) मलों के क्षरण द्वारा पवित्र करनेवाले जल **नः**=हमें **घृतेन**=अपनी मलक्षरण शक्ति से **पुनन्तु**=पवित्र करनेवाले हों। प्रातःकाल पिया हुआ जल मलक्षरण में अद्भुत क्षमता रखता है। इसी से आयुर्वेद में प्रातः जलपान का अत्यधिक महत्त्व है। ३. **हि**=निश्चय से **देवीः**=ये दिव्य गुणोंवाले जल **विश्वं रिप्रम्**=सम्पूर्ण मल को **प्रवहन्ति**=बहाकर ले-जाते हैं। इसीलिए **आभ्यः** =इन जलों के द्वारा **शुचिरा**=बाहर से पवित्र हुआ और **आपूतः**=अन्दर से समन्तात् पवित्र हुआ **इत्**=निश्चय से **उत् एमि**=ऊपर उठता हूँ। ४. अब अन्दर-बाहर से पवित्र होकर मैं कह सकता हूँ कि **दीक्षातपसोः** =व्रत-संग्रहण व तप का **तनूः असि**=शरीर तू है, अर्थात् यह शरीर व्रत-संग्रहण और तप के लिए मिला है। **'व्रातं जीवं सचेमहि'** में यही तो प्रार्थना थी कि हमारा जीवन व्रतमय हो। हम व्रती व तपस्वी हों। तप ही सब उत्थान का मूल है। तप का विलोम पतन है। ५. दीक्षा से—व्रत-ग्रहण से यह शरीर नीरोग होकर हमारे लिए **शिवः**=कल्याणकर होता है और तप हमें अध्यात्म-दृष्टि से उच्च भूमि में ले-जाकर **शग्म**=शान्ति प्राप्त कराता है, जिस शान्ति की चरम सीमा निर्वाण व मोक्ष है **'शान्तिं निर्वाणपरमाम्'**, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **तां त्वा**=उस तुझ तनू (शरीर) को जोकि **शिवां शग्माम्**=ऐहिक व आमुष्मिक सुख से युक्त है **परिदधे**=मैं धारण करता हूँ। ६. इस शरीर में न रोग हैं न अशान्ति। यहाँ स्वास्थ्य है और शान्ति है। वह स्वास्थ्य और शान्ति ही इस उपासक के चेहरे पर 'स्मित' (smile) के रूप में प्रकट होते हैं और मन्त्र का ऋषि प्रजापति कहता है कि मैं सदा **भद्रं वर्णं पुष्यन्**=भद्र वर्ण का पोषण किये रहता हूँ। मेरे चेहरे पर सदा एक मुस्कराहट होती है जो अन्दर के मनःप्रसाद को व्यक्त करती है।

भावार्थ—जल दिव्य गुणयुक्त हैं, इनका ठीक प्रयोग शरीर व मन को स्वस्थ बनाता है, परिणामतः हमारे चेहरे पर सदा एक मुस्कराहट होती है।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—मेघः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

मेघ=मेघस्थ जल

महीनां पयोऽसि वर्चोदाऽअसि वर्चो मे देहि।
वृत्रस्यासि कनीनकश्चक्षुर्दाऽअसि चक्षुर्मे देहि॥३॥

१. पिछले मन्त्र में जल का वर्णन था। प्रस्तुत मन्त्र में सर्वोत्तम जल अर्थात् मेघस्थ जल का उल्लेख करते हैं। यह मेघ क्या है। **महीनाम्**=इन पृथिवियों का (पृथिवी-भागों

का) **पयः असि**=जल है। यह पृथिवीस्थ जल ही सूर्य किरणों व अन्य भौतिक कारणों से वाष्पीभूत होकर ऊपर चला गया है। एवं, यह distilled water ही है। अत्यन्त शुद्ध व अत्यन्त स्वास्थ्यप्रद। इसे देवताओं के मद्य के रूप में कहा गया है—'पिबेदमरवारुणीम्'। यह जल क्या है? यह तो **महीनां पयः असि**=गौवों का दूध है। इसमें इतनी शक्ति है जितनी गोदुग्ध में। **वर्चोदा**=यह वर्चस् को देनेवाला है। **वर्चो मे देहि**=हे मेघजल! तू मुझे वर्चस् दे। 'वर्चस्' वह शक्ति है जो रोगों का मुक़ाबला करती है। रोगकृमियों के नाश के द्वारा यह मनुष्य को स्वस्थ बनाती है। २. **'वृत्र'** शब्द आवरण का वाचक है। मेघ भी वृत्र है, क्योंकि सूर्य पर एक आवरण के रूप में आ जाता है। काम भी वृत्र है, क्योंकि वह ज्ञान का आवरक बनता है। इसी प्रकार आँख पर परदे के रूप में आ जानेवाला 'मोतियाबिन्द' (Catarect) भी वृत्र कहलाता है। ये मेघजल इस **वृत्रस्य**=आँख पर अँधेरे के रूप में आ जानेवाले मोतियाबिन्द को **कनीनकः असि**=फिर से चमका देनेवाला है (कन् to shine)। 'मेघजल का प्रयोग किस प्रकार कैटेरेक्ट को दूर करता है?' यह प्रश्न वैद्य से सम्मति लेकर सुलझाना चाहिए, परन्तु यह बात निश्चित है कि पीने के लिए मेघजल का ही प्रयोग करने पर इस रोग की आशंका ही न रहेगी। ३. हे मेघ ! तू मोतियाबिन्द को हटाकर **मे**=मुझे **चक्षुः**=फिर से दृष्टिशक्ति **देहि**=दे।

भावार्थ—मेघजल या distilled water के प्रयोग से निम्न लाभ होते हैं—१. यह गोदुग्ध के समान शक्ति को देनेवाला है। २. मोतियाबिन्द को नहीं होने देता। ३. दृष्टिशक्ति को बढ़ानेवाला है।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—परमात्मा। **छन्दः**—निचृद्ब्राह्मीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

कामनापूरक प्रभु

चि॒त्पति॑र्मा पुनातु वा॒क्पति॑र्मा पुनातु दे॒वो मा॑ सवि॒ता पु॑ना॒त्वच्छि॑द्रेण प॒वित्रे॑ण सूर्य॑स्य र॒श्मिभि॑ः। तस्य॑ ते पवित्रपते प॒वित्र॑पूतस्य॒ यत्का॑मः पु॒ने तच्छ॑केयम्॥४॥

१. तृतीय मन्त्र में शरीर को पवित्र करके अब चतुर्थ मन्त्र में मानस पवित्रता के लिए प्रजापति ही प्रार्थना करते हैं कि **चित्पतिः**=ज्ञान के पति प्रभु **मा**=मुझे **पुनातु**=पवित्र करें। वस्तुतः ज्ञान के समान पवित्र करनेवाला कुछ नहीं है। २. **वाक्पतिः**=वेदवाणी का पति **मा पुनातु**=मुझे पवित्र करे। प्रभु वेदवाणी के रूप में ही ज्ञान देते हैं। वेदवाणी का नियमित स्वाध्याय हमारे जीवनों को पवित्र कर देता है। ३. **मा** =मुझे **सविता देवः**=वह प्रेरक देव **अच्छिद्रेण पवित्रेण**=छिद्ररहित पवित्रीकरण के साधनभूत वायु से तथा **सूर्यस्य रश्मिभिः**=सूर्यकिरणों से **पुनातु**=पवित्र करें। स्वच्छ वायु और सूर्यकिरणें शरीर व मानस स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। ४. वे प्रभु पवित्रीकरण के साधनभूत सब पदार्थों के स्वामी हैं। चाहे वह ज्ञान है चाहे वायु व सूर्यकिरणें—सभी के स्वामी प्रभु हैं। **हे पवित्रपते**=सब पवित्र करनेवाले पदार्थों के स्वामिन्! **तस्य ते**=उन आपके **पवित्रपूतस्य**=पवित्रीकरण-साधनों से पवित्र करनेवाले आपके प्रति **यत्कामः**=जिस कामनावाला होकर **पुने**=मैं अपने को पवित्र बनाता हूँ, **तत् शकेयम्**=उस कामना को प्राप्त करने में समर्थ होऊँ।

भावार्थ—मैं ज्ञान प्राप्त करूँ, वेदवाणी का स्वाध्याय करूँ। स्वच्छ वायु व सूर्यकिरणों के सम्पर्क में रहूँ। पवित्रीकरण के सब साधनों से अपने को पवित्र बनाकर मैं जो कामना

करूँ, मेरी वह कामना अवश्य पूर्ण हो।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

यज्ञिय आशीः=पवित्र कामना

आ वो देवासऽईमहे वामं प्रयत्यध्वरे।
आ वो देवासऽआशिषो यज्ञियासो हवामहे॥५॥

गत मन्त्र में शब्द था 'यत्कामः'=जिस कामनावाला। प्रस्तुत मन्त्र में उसी कामना को स्पष्ट करते हैं। हमारी कामनाएँ अच्छी ही हों। १. हे **देवासः**=देवो! हम **वः**=आपकी **ईमहे**=कामना करते हैं। हमारी कामना यह है कि हमें देवों की प्राप्ति हो। हमारा यह शरीर देवों का निवासस्थान बने। २. **प्रयति अध्वरे** =इस चलते हुए जीवन-यज्ञ में (प्र+इ=गतौ) हम **वामम्**=सौन्दर्य को ही **ईमहे**=चाहते हैं। हमारे मन सुन्दर और दिव्य गुणों की ही कामना करनेवाले हों। ३. **देवासः**=हे देवो! हम **वः**=आपसे **यज्ञियासः आशिषः**=पवित्र, यज्ञिय—श्रेष्ठ इच्छाओं की **आ हवामहे**=प्रार्थना करते हैं। यज्ञिय इच्छाएँ वही हैं जिनमें मनुष्य बड़ों का आदर करता है, सबके साथ मिलकर चलता है और लोकहित के लिए दान अवश्य देता है। जब हम अपने जीवनों को पवित्र बनाते हैं तब हमारी ये इच्छाएँ अवश्य ही पूर्ण होती हैं।

भावार्थ—हमारी इच्छाएँ ये हों—१. हम देवताओं के निवासस्थान बनें। २. हम अपने इस जीवन को अध्वर=अहिंसात्मक यज्ञ का रूप दें और इस जीवनयज्ञ में सुन्दर-ही-सुन्दर गुणों को धारण करनेवाले बनें। ३. हम यज्ञिय इच्छाओंवाले हों।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

यज्ञ क्यों?

स्वाहा यज्ञं मनसः स्वाहोरोरन्तरिक्षात्।
स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याᳬस्वाहा वातादारभे स्वाहा॥६॥

गत मन्त्र में 'यज्ञिय इच्छाओं' का वर्णन था। प्रस्तुत मन्त्र में यज्ञ के लाभों का उल्लेख करते हैं। १. **स्वाहा** =(स्व+हा=त्याग) स्वार्थ-त्यागरूप **यज्ञम्**=यज्ञ को **मनसः**=मन के हेतु से **आरभे**=मैं आरम्भ करता हूँ। 'यज्ञ से मन पवित्र बनता है', इसलिए मैं यज्ञ करता हूँ। मन की मैल स्वार्थ (selfishness) ही तो है। यज्ञ से हमारे मन में केवल अपने-आप खाने की वृत्ति का अन्त हो जाता है। २. **स्वाहा** (यज्ञम्) (सु+हा)=उत्तम औषध द्रव्यों की जिसमें आहुति दी जाती है, ऐसे इस यज्ञ को **उरोः अन्तरिक्षात्**=इस विशाल अन्तरिक्ष के हेतु से **आरभे**=मैं प्रारम्भ करता हूँ। यज्ञ में डाले गये औषधद्रव्य व घृत छोटे-छोटे कणों में विभक्त होकर सारे अन्तरिक्ष में फैल जाते हैं, और यह सारा अन्तरिक्ष बड़ा पवित्र व सुगन्धमय हो जाता है। ३. **स्वाहा** (यज्ञम्)=इस उत्तम आहुतियोंवाले यज्ञ को **द्यावा-पृथिवीभ्याम्**=द्युलोक से लेकर पृथिवीलोक के सभी प्राणियों के हित के दृष्टिकोण से **आरभे**=मैं प्रारम्भ करता हूँ। अन्तरिक्ष में फैले हुए औषधद्रव्यों व धूल के कणों को श्वासवायु के साथ सभी प्राणी अपने अन्दर लेते हैं और सभी को नीरोगता व शक्ति का लाभ होता है। एवं, सम्पूर्ण द्यावापृथिवी का इस यज्ञ से हित होता है। ४. **स्वाहा** (यज्ञम्)=इस उत्तम आहुतियोंवाले यज्ञ को **वातात्**=वायु के उद्देश्य से **आरभे**=आरम्भ करता हूँ। इस यज्ञ

को करने में मेरा उद्देश्य यह है कि सारी वायु शुद्ध हो जाए। एवं, इस यज्ञ के करने में प्रजापति का उद्देश्य यह है कि जहाँ उसका मन स्वार्थ से ऊपर उठेगा वहाँ सारा अन्तरिक्ष औषधगुणों व घृतकणों से भर जाएगा। सारे प्राणियों का हित होगा और वायुशुद्धि होकर रोगों का भय न होगा।

भावार्थ—हमारे मनों को, इस विशाल अन्तरिक्ष को, द्युलोक से लेकर पृथिवी तक रहनेवाले सभी प्राणियों को व वायु को शुद्ध करनेवाला यह यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म है।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—अग्न्यब्बृहस्पतयः। **छन्दः**—पङ्क्तिः[क], आर्षीबृहती[र]। **स्वरः**—पञ्चमः[क], मध्यमः[र]॥

उन्नति के अष्टस्तम्भ

[क]आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहा दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहा सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहा। [र]आपो देवीर्बृहतीर्विश्वशम्भुवो द्यावापृथिवीऽउरोऽअन्तरिक्ष। बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहा॥७॥

पिछले मन्त्र में 'यज्ञात्मक उत्तम इच्छा' का वर्णन हुआ था। प्रस्तुत मन्त्र में उन्हीं उत्तम इच्छाओं के करनेवाले प्रगतिशील (अग्नि) जीव का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—१. **आकूत्यै**=सङ्कल्पात्मा **प्रयुजे**=सङ्कल्पों को क्रियारूप में परिणित करनेवाले **अग्नये**=प्रगतिशील जीव के लिए **स्वाहा**=(सु+आह) हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। प्रशंसनीय जीवन उसी का है जिसका जीवन सङ्कल्पमय है। 'यज्ञाः सङ्कल्पसम्भवाः' सब उत्तम कर्म सङ्कल्पों का ही परिणाम हैं, परन्तु उन सङ्कल्पों को क्रियारूप में परिणत करनेवाला 'प्रयुक्' ही प्रशस्त है। 'सङ्कल्प करना और उसे क्रियान्वित करना' ही प्रशंसनीय है। ३. **मेधायै**=धारणावती बुद्धि के पुञ्जभूत (embodiment) **मनसे**=मननशील **अग्नये**=प्रगतिशील जीव के लिए **स्वाहा**=हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। प्रशंसनीय वही है जो धारणावती बुद्धिवाला है और इस धारणावती बुद्धि के विकास के लिए मननशील बनता है। 'मनन' मेधा का जनक है। ३. **दीक्षायै**=व्रत-संग्रह के लिए और **तपसे**=तप के लिए, दीक्षा और तप के द्वारा **अग्नये**=आगे बढ़नेवाले के लिए **स्वाहा**=प्रशंसा के शब्द कहे जाते हैं। जो व्यक्ति उन्नत होना चाहता है उसे दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए। व्रती जीवन ही जीवन है। व्रतपूर्ति के लिए तप की आवश्यकता है। तप की न्यूनता हमारे व्रतों के भङ्ग का कारण बनती है और व्रतभङ्ग का अभिप्राय है उन्नति का न होना। ४. **सरस्वत्यै**=ज्ञान के अधिदेवता के लिए और साथ ही **पूष्णे**=पोषण के देवता के लिए और इस प्रकार ज्ञान और पोषण की देवताओं का आराधन करके **अग्नये**=आगे बढ़नेवाले के लिए **स्वाहा**=प्रशंसा के शब्द प्रस्तुत होते हैं। उत्तम जीवन वही है जिसमें ज्ञान और शरीर की दृढ़ता व शक्ति का समन्वय हुआ है। ५. एवं, **अग्नि**=प्रगतिशील जीव में आठ बातें हैं जोकि दो-दो ग्रुप में होकर ऊपर चार वाक्यों में कही गई हैं। (क) सङ्कल्प तथा सङ्कल्प को क्रियान्वित करना, (ख) धारणावती बुद्धि का सम्पादन और उसके लिए मनन, (ग) व्रतग्रहण और व्रतपूर्ति के लिए तप (घ) विद्या व शक्ति का समन्वय। इन आठ बातों के होने पर ही व्यक्ति 'अग्नि' बन पाता है।

६. यह अग्नि (जीव) कहता है कि **आपः**=जल **देवीः**=दिव्य गुणोंवाले हैं **बृहतीः**=हमारी वृद्धि के कारणभूत हैं **विश्वशंभुवः**=सब रोगों को शान्त करनेवाले हैं और इन जलों के अतिरिक्त **द्यावापृथिवी**=द्युलोक और पृथिवीलोक, **उरो अन्तरिक्ष**=विशाल अन्तरिक्षलोक के अधिष्ठाता **बृहस्पतये**=(बृहतामाकाशदीनां पतिः) बृहस्पति नाम से प्रसिद्ध प्रभु के लिए

हम **हविषा**=हवि के द्वारा **विधेम**=पूजा करते हैं। **स्वाहा**=यह अत्यन्त सुन्दर वेदवाणी है। सब लोकों की पवित्रता के लिए अग्निहोत्रादि यज्ञों में विविध हविर्द्रव्यों का प्रक्षेप होता है। प्रभु की पूजा भी हवि से ही होती है—(हु दानादनयोः) 'दानपूर्वक अदन' यही प्रभु का आदेश है **'त्यक्तेन भुञ्जीथाः'**, इस आदेश का पालन ही प्रभु-पूजन हो जाता है। यह औरों के हित के द्वारा प्रभु-पूजन करनेवाला ही सच्चा 'प्रजापति' है। यही प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—उन्नति के लिए हम सङ्कल्पादि आठों साधनों की साधना करें। हवि द्वारा सब लोकों को पवित्र करें और प्रभु के प्रिय बनें।

ऋषिः—आत्रेयः। **देवता**—ईश्वरः। **छन्दः**—आर्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

स्रष्टा व सृष्टि, God *vs* Mammon

विश्वो॑ दे॒वस्य॑ ने॒तुर्मर्तो॑ वुरीत स॒ख्यम्।
विश्वो॑ रा॒यऽइषुध्यति द्यु॒म्नं वृ॑णीत पु॒ष्यसे॒ स्वाहा॑॥८॥

१. पिछले मन्त्र में 'प्रजापति' का उल्लेख है। प्रजापति वही बन सकता है जो संसार के प्रलोभनों में न फँसकर प्रभु का वरण करता है। यह प्रभु का वरण करनेवाला 'आत्रेय' होता है। यह काम-क्रोध-लोभ तीनों से रहित होता है। इन आत्रेयों से प्रभु कहते हैं कि २. **विश्वः मर्तः**=संसार में प्रविष्ट प्रत्येक मनुष्य **नेतुः** =संसार-चक्र के सञ्चालक **देवस्य**= दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु की **सख्यम्**=मित्रता को **वुरीत**=वरण करे, चाहे। प्रभु की इस मित्रता ने ही उसे इस प्रलोभनमय संसार में फँसने से बचाना है। प्रभु की मित्रता ही उसे वह शक्ति प्राप्त कराती है जो उसे 'काम-क्रोध-लोभ' तीनों का संहार करने में समर्थ करती है। एवं, प्रभु की मित्रता उसे 'आत्रेय' बनाती है। ३. सामान्यतः संसार की स्थिति इससे भिन्न है। **विश्वः**=सब कोई **रायः**=धनों को **इषुध्यति**=माँगता है, चाहता है। धन की उपासना अधिक है प्रभु की कम। वस्तुतः **'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्'**=इस स्वर्णमय संसार के पदार्थों से सत्यस्वरूप परमात्मा का रूप ढका हुआ है। धन अधिक आकर्षक है। संसार में धन की ही महिमा दिखती है, अतः धन की ओर झुकाव स्वाभाविक है, परन्तु इसकी ओर झुककर मनुष्य अन्ततः इसका दास बन जाता है। धन का दास बना और फिर मनुष्य निधन=मृत्यु की ओर ही बढ़ता है, अतः हमें प्रभु का ही वरण करना चाहिए, धन का नहीं। ४. परन्तु धन के बिना खाना-पीना भी सम्भव नहीं, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **द्युम्नम्**=(Wealth) धन का **वृणीत**=वरण करो, परन्तु **पुष्यसे**=उतने ही धन का जितना कि पोषण के लिए पर्याप्त हो। इतना धन तो हाथ-पैर हिलानेवाले को प्रभुकृपा से प्राप्त हो ही जाता है। एवं, प्रभु का वरण ही ठीक है। धन का वरण मनुष्य को विलासी बना देता है। दूसरी ओर स्रष्टा के वरण में जहाँ मोक्ष मिलता है वहाँ जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक सृष्टि का अंश भी मिलता है।

भावार्थ—हम धन का वरण न करके प्रभु का वरण करें।

ऋषिः—आङ्गिरसः। **देवता**—विद्वान्। **छन्दः**—आर्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

'ऋक्साम के शिल्पी'

ऋ॒क्सा॒मयोः॒ शिल्पे॑ स्थ॒स्ते वा॒मार॑भे॒ ते मा॑ पात॒मास्य य॒ज्ञस्यो॒दृचः॑।
शर्मा॑सि॒ शर्म॑ मे यच्छ॒ नम॑स्तेऽअस्तु॒ मा मा॑ हिꣳसीः॥९॥

१. पिछले मन्त्र के 'आत्रेय' जब गृहस्थ में प्रवेश करते हैं तो आसक्तिवाला जीवन न होने के कारण वे **'आङ्गिरस'**=शक्तिशाली बने रहते हैं। प्रभु इनसे कहते हैं कि तुम **ऋक्सामयोः**=विज्ञान व उपासना दोनों के **शिल्पे**=(शिल्पं कर्म–नि० २।१) निर्माण करनेवाले हो। तुम्हारा जीवन विज्ञान व उपासना से परिपूर्ण होता है। ये पति–पत्नी अलग–अलग प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि **ते वाम्**=उन दोनों को **आरभे**=मैं अपने जीवन में ग्रहण करना आरम्भ करता हूँ, अर्थात् ज्ञान–प्राप्ति के लिए मैं स्वाध्याय को अपनाता हूँ और उपासना के लिए ध्यान को–सन्ध्या को। **ते**=वे विज्ञान और उपासना **मा**=मेरे **अस्य यज्ञस्य**=इस यज्ञ की **उदृचः**=अन्तिम ऋचा तक, अर्थात् जीवन–पथ के अन्त तक, (up to the end of life) **पातम्**=रक्षा करें, अर्थात् ये विज्ञान और उपासना जीवन के अन्तिम दिन तक मुझे वासनाओं का शिकार होने से बचाएँ। २. इस प्रकार जीवन–पथ में वासना से बचकर यह सचमुच 'आङ्गिरस' बन जाता है और प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! **शर्म असि**=आप अत्यन्त आनन्दमय हो, आनन्दरूप हो। **शर्म मे यच्छ**=अपने उपासक मुझे भी आनन्द प्राप्त कराइए। **नमः ते अस्तु**=मैं आपके प्रति नतमस्तक होता हूँ। **मा मा हिंसीः**= आप मुझे नष्ट मत कीजिए। विलास में फँसने से बचाकर मुझे हिंसित होने से बचाइए।

भावार्थ—मेरा जीवन ऋक्साममय हो। मेरा जीवन विद्या व श्रद्धा पर आधारित हो। मैं आनन्दमय प्रभु का उपासक बनूँ और सचमुच आनन्द का भागी होऊँ।

ऋषिः—आङ्गिरसः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—निचृदार्षीजगती[क], साम्नीत्रिष्टुप्[र]।
स्वरः—निषादः[क], धैवतः[र]॥

ज्ञान व श्रद्धापूर्वक क्रियमाण यज्ञ

[क]ऊर्गस्याङ्गिरस्यूर्णम्रदाऽऊर्जं मयि धेहि। सोमस्य नीविरसि विष्णोः शर्मासि शर्म यजमानस्येन्द्रस्य योनिरसि सुसस्याः कृषीस्कृधि। [र]उच्छ्रयस्व वनस्पतऽऊर्ध्वो मा पाह्यꣳहसऽआस्य यज्ञस्योदृचः॥१०॥

१. पिछले मन्त्र में ऋक् और साम के–विज्ञान व श्रद्धा के शिल्पी बनने का उल्लेख था। विज्ञान व श्रद्धा से की जानेवाली यज्ञरूप क्रिया का प्रस्तुत मन्त्र में वर्णन है। विज्ञान व श्रद्धा का सम्पादन करके यह यज्ञ में प्रवृत्त होता है और कहता है कि हे यज्ञ! तू **ऊर्क् असि**=मेरे जीवन में बल व प्राण का सञ्चार करनेवाला है। यज्ञियवृत्ति विलास की विरोधिनी वृत्ति है और मनुष्य को विलास से ऊपर उठाकर बल व प्राणशक्ति से परिपूर्ण करती है। **आङ्गिरसी**=तू मेरे अङ्ग–प्रत्यङ्ग को रसमय कर डालती है। **ऊर्णम्रदाः**=(ऊर्ण् आच्छादने, मृद् to crush) तू मुझे असुरों के आक्रमण से सुरक्षित करनेवाली है और मेरे काम–क्रोधादि शत्रुओं को कुचल डालनेवाली है। **ऊर्जं मयि धेहि**=तू मुझमें बल व शक्ति का आधान कर। २. हे यज्ञ! तू **सोमस्य**=सोम की **नीविः**=ग्रन्थि **असि**=है, सोमशक्ति को शरीर में सुरक्षित रखनेवाली है। यज्ञ की भावना के साथ विलास की भावनाएँ रहती ही नहीं, अतः मनुष्य की यज्ञ की भावना शरीर में इन सोमकणों के बन्धन का कारण बनती है और **विष्णोः शर्म असि**=तू उस व्यापक परमात्मा के आनन्द को देनेवाली है। यज्ञिय पुरुष का स्नेह व्यापक हो जाता है। इसे सबमें प्रभु का दर्शन होता है और यह उस व्यापक प्रभु की प्राप्ति के आनन्द का अनुभव करता है। सोम=वीर्य की रक्षा इस सोम=प्रभु के दर्शन का कारण है ही। ३. **यजमानस्य शर्म**=यजमान के सुख का हेतु यह यज्ञ **इन्द्रस्य**

योनिः असि=परमात्मा की योनि है, उत्पत्ति-स्थान है, अर्थात् इन यज्ञों में ही प्रभु का दर्शन होता है। ४. यह यज्ञ जहाँ प्रभु का दर्शन करानेवाला होता है वहाँ **सुसस्याः**=उत्तम अन्नोंवाली **कृषीः**=खेतियों को **कृधि** =करता है। यज्ञों से सूक्ष्मकणों में विभक्त हुए-हुए घृत व औषधद्रव्य होनेवाली वृष्टि की बूँदों के कण बनते हैं और इनसे उत्पन्न सस्य के एक-एक कण के केन्द्र में घृत होता है। ५. हे **वनस्पते**=(वन सम्भक्तौ) सम्भजनीय-सेवनीय उत्तम अन्नादि के रक्षक यज्ञ! तू **उच्छ्र्यस्व** =मेरे जीवन में उन्नत स्थान में स्थित हो। **ऊर्ध्वः**=उच्च स्थान में स्थित हुआ तू **मा** =मुझे **अंहसः**=पापों व कष्टों से **पाहि**=बचा। **अस्य यज्ञस्य**=इस जीवन-यज्ञ की **उदृचः**=(उत् out) अन्तिम ऋचा तक, अर्थात् जीवन-यज्ञ की समाप्ति तक प्रभुकृपा से मेरा जीवन यज्ञमय बना रहे। मेरे जीवन में यज्ञ को सर्वप्रथम स्थान प्राप्त हो।

भावार्थ–'यज्ञिय भावना' आसुर भावनाओं को नष्ट करके हमारे जीवन को शक्तिशाली बनाती है, सोमकणों की रक्षा के द्वारा प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनाती है, हमारी कृषियों को उत्तम अन्नवाला भी ये यज्ञ ही बनाते हैं।

ऋषिः–आङ्गिरसः। **देवता**–अग्निः। **छन्दः**–स्वराड्ब्राह्म्यनुष्टुप्[क], आर्ष्युष्णिक्[र]।
स्वरः–गान्धारः[क], ऋषभः[र]॥

दिव्य-धी-मनन (दिव्य बुद्धि की याचना)

[क]व्रतं कृणुत व्रतं कृणुताग्निर्ब्रह्माग्निर्यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञियः। दैवीं धियं मनामहे सुमृडीकामभिष्टये वर्चोधां यज्ञवाहसꣳसुतीर्था नोऽअसद्वशे। [र]ये देवा मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतवस्ते नोऽवन्तु ते नः पान्तु तेभ्यः स्वाहा॥११॥

१. हे मनुष्यो! **व्रतं कृणुत**=गत मन्त्र में वर्णित यज्ञ का तुम व्रत लो। **व्रतं कृणुत**= अवश्य व्रत लो। **ब्रह्म अग्निः**= प्रभु तुम्हें आगे ले-चलनेवाले हैं। प्रभु की उपासना मनुष्य की उन्नति का कारण होती है। **अग्निः यज्ञः**=यह यज्ञ अग्रेणी है, हमारी उन्नति का कारण है। प्रभु की उपासना 'ब्रह्मयज्ञ' है। अग्नि के अन्दर घृतादि पदार्थों की आहुति देना 'देवयज्ञ' है। २. इन यज्ञों की वृत्ति को अपने अन्दर जगाने के लिए यह आवश्यक है कि हम ध्यान रक्खें कि **वनस्पतिः**=वनस्पति ही **यज्ञियः**=यज्ञ के योग्य बनानेवाली है। मांसभोजन से अयज्ञिय वृत्ति उत्पन्न होती है। हम सात्त्विक भोजनों के द्वारा **दैवीं धियम्**=दैवी सम्पत्ति का वर्धन करनेवाली बुद्धि को **मनामहे**=माँगते हैं (मनामहे=याचामहे–द०) जो 'दैवी धी' **सुमृडीकाम्**=उत्तम सुखों को देनेवाली है। **अभिष्टये**=यह 'दैवी धी' ही सब इष्टों की प्राप्ति के लिए है। देव यज्ञशील हैं, यह यज्ञ 'इष्टकामधुक्' है, सब इष्ट कामनाओं का पूरण करनेवाला है। **वर्चोधाम्**=यह 'दैवी धी' हमें अपवित्र भोगमार्ग से बचाती है और हममें वर्चस् का, शक्ति का स्थापन करती है। **यज्ञवाहसम्**='दैवी धी' यज्ञों को प्राप्त करानेवाली है और इस प्रकार यह **सुतीर्था**=उत्तम तीर्थ है। बड़ी उत्तमता से भवसागर से तरानेवाली है। यह 'दैवी धी' ही **नः**=हमारी **वशे** =इच्छा में **असत्**=रहे, अर्थात् हम सदा इस दिव्य बुद्धि की कामना करें। ३. इस दिव्य बुद्धि की प्राप्ति के लिए **ये**=जो **देवाः**=देव **मनोजाताः**=(मनसा विज्ञाने च जायन्ते–द०) ज्ञान से विकास को प्राप्त हुए हैं, अर्थात् स्वयं विकसित ज्ञानवाले हैं और **मनोयुजः**=(विज्ञाने योजयन्ति–द०) औरों को भी ज्ञान से युक्त करते हैं, **दक्षक्रतवः**=शरीर व आत्मा के बल (दक्ष) तथा प्रज्ञा व यज्ञ (क्रतु) से युक्त हैं **ते**=वे देव **नः**=हमें **अवन्तु** =रक्षित करें। हमें वासनाओं का शिकार होने से बचाएँ। **ते नः**

पान्तु=वे हमें रोगों से भी बचाएँ। अपने 'क्रतु' द्वारा यदि वे हमें वासनाओं से बचाते हैं तो 'दक्ष' द्वारा वे हमें रोगों से सुरक्षित करते हैं। **तेभ्यः स्वाहा**=इन देवों के लिए हम अपना समर्पण करते हैं।

भावार्थ—हम यज्ञ का व्रत धारण करें। यह दिव्य बुद्धि हमें भवसागर से तराएगी। देवता हमें शरीर के रोगों से बचाते हैं तो मानस मलों को भी दूर करते हैं।

ऋषिः—आङ्गिरसः। **देवता**—आपः। **छन्दः**—भुरिग्ब्राह्म्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

जल व स्वास्थ्य

श्वा॒त्राः पी॒ता भ॑वत यू॒यमा॑पोऽअ॒स्माक॑म॒न्तरु॒दरे॑ सु॒शेवाः॑।
ताऽअ॒स्मभ्य॑मय॒क्ष्माऽअ॑नमी॒वाऽअना॑गसः॒ स्वद॑न्तु दे॒वीर॒मृताः॑ऽऋता॒वृधः॑॥१२॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति शरीर व मन के स्वास्थ्य पर हुई है। शरीर में रोग न हों तो मन में क्रोधादि न हों। इस सारे कार्य में जलों का महत्त्वपूर्ण स्थान है, अतः जलों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि हे **आपः**=जलो! **यूयम्**=तुम **पीताः**=पिये हुए **श्वात्राः**=(श्वि, त्रा) वृद्धि व रक्षा का कारण होओ। **अस्माकम्**=हमारे **उदरे अन्तः**=उदरों के अन्दर **सुशेवाः**=उत्तम सुखदायक व कल्याणकारी होओ। शरीर पञ्चभौतिक है, अतः पाँचों भूतों की अनुकूलता आवश्यक है, परन्तु 'आकाश, अग्नि व पृथिवी' का सर्वत्र विशेष अन्तर न होने से कहते यही हैं कि 'यहाँ का जल-वायु मेरे अनुकूल नहीं।' जल और वायु में भी जल का महत्त्व स्पष्ट है, क्योंकि कहने का प्रकार यह होता है कि 'यहाँ का तो पानी ही ऐसा है'। एवं, पेयजल ठीक प्रकार से उपयुक्त होकर हमारी वृद्धि व रोग से रक्षा का कारण बनें। २. **ताः**=वे जल **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **अयक्ष्माः**=किसी प्रकार के यक्ष्मादि रोगों के कृमियोंवाले होकर यक्ष्म-जनक न हों। **अनमीवाः**=अन्य सब प्रकार के रोगकृमियों से रहित हों। **अनागसः**=ये हमारे चित्तों को शान्त करके हमें अगस्—पापों से शून्य बनाएँ। क्रुद्ध मनुष्य को इसीलिए ठण्डा जल पिलाने की परिपाटी है। जलों का ठीक प्रयोग हमें 'शान्तमनस्क' करता है। ३. हे प्रभो! आपकी ऐसी कृपा हो कि **'स्वदन्तु'**=ये जल हमारे लिए स्वादवाले व रुचिकर हों। **देवीः**=ये जल दिव्य गुणोंवाले हैं, **अमृताः**=ये हमें रोगों से बचाकर असमय की मृत्यु से बचानेवाले हैं। **ऋतावृधः**=ये हमारे अन्दर ऋत का वर्धन करनेवाले हैं। (ऋतस्य=यज्ञस्य—नि० ४।१९)। ये जल हमारे मनों को भी पवित्र करके उनमें यज्ञिय भावना को जगानेवाले हैं।

भावार्थ—जलों का हमारे जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये शरीर को नीरोग करते हैं और मन में यज्ञिय भावना को बढ़ाते हैं।

ऋषिः—आङ्गिरसः। **देवता**—आपः। **छन्दः**—भुरिगार्षीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

वीर्यरक्षा='ब्रह्मचर्य'

इ॒यं ते॑ य॒ज्ञिया॑ त॒नूर॒पो मु॑ञ्चामि॒ न प्र॒जाम्।
अ॒ꣳहो॒मुचः॒ स्वाहा॑कृताः पृ॒थि॒वीमावि॑शत पृथि॒व्या सम्भ॑व॥१३॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति इन शब्दों पर है कि ये जल हममें यज्ञिय भावना की वृद्धि करनेवाले होते हैं। इस यज्ञिय भावनावाले आङ्गिरस से प्रभु स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि **इयम्**=यह **ते तनूः**=तेरा शरीर **यज्ञिया**=यज्ञिय है। तू इसे अयज्ञिय=अपवित्र, भोगभावना

प्रधान न बना देना। तू निश्चय कर कि मैं **अपः**=शरीर से मलों को दूर करनेवाले जलों को लघुशंका द्वारा **मुञ्चामि**=छोड़ता हूँ, **न प्रजाम्**=सन्तान के साधनभूत वीर्य को नहीं छोड़ता, क्षणिक आनन्द के लिए उसका नाश नहीं होने देता। २. ये वीर्यकण तो **अंहोमुचः**=सब प्रकार के पापों व कष्टों से बचानेवाले हैं। इनके शरीर में सुरक्षित होने पर न पापवृत्ति उद्‌बुद्ध होती है और न ही रोगादि का कष्ट होता है। **स्वाहाकृताः**=ये यज्ञ के उद्देश्य से ही उत्पन्न किये गये हैं। 'स्वाहा अग्नि की पत्नी है, यज्ञशक्ति है (created for the sacrifice)। इनकी रक्षा में ही यज्ञियवृत्ति की रक्षा है। ३. इसलिए हे जीव! तू ऐसा निश्चय कर कि तूने इन सोमकणों की अवश्य रक्षा करनी है। तू इन्हें सम्बोधन करके कह कि **पृथिवीम् आविशत**=तुम इस शरीर में प्रवेश करो। इसी में तुम्हारा व्यापन हो। हाँ, **पृथिव्याः**=इस पृथिवीरूप शरीर से निकलकर हे सोम! तू **सम्भव**=सन्तान को जन्म देनेवाला हो।

भावार्थ—आङ्गिरस ऋषि वीर्य के दो प्रयोजन समझता है। (क) शरीर में व्याप्त होकर उसे शारीरिक व मानस रोगों से बचाना तथा (ख) उचित योनि में निक्षिप्त होकर सन्तान को जन्म देना।

ऋषिः—आङ्गिरसः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराडार्ष्युष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

मैं सानन्द सोऊँ—प्रभु जागें

अग्ने त्वꣳ सु जागृहि वयꣳ सु मन्दिषीमहि।
रक्षा णोऽअप्रयुच्छन् प्रबुधे नः पुनस्कृधि॥१४॥

१. गत मन्त्र में आङ्गिरस ने निश्चय किया कि 'पृथिवीम् आविशत' हे सोमकणो! तुम मेरे शरीर में ही व्याप्त होओ। दिन में तो यह आङ्गिरस अपने निश्चय को अपने संकल्पबल व प्रयत्न से कार्यरूप में ले-आता है। रात्रि में भी वह अपनी शक्ति की रक्षा कर सके, अतः वह प्रभु से प्रार्थना करता है कि २. हे **अग्ने**=हमारी सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **त्वं सुजागृहि**=आप उत्तमता से खूब जागरित रहिए। **वयम्**=हम आपकी बनाई हुई इस शरीर की व्यवस्था के अनुसार, **सुमन्दिषीमहि**=दिनभर के श्रम के बाद आनन्दपूर्वक (सु) सोते हैं। हम जब इस रमयित्री रात्रि में निन्द्रा का आनन्द लें, उस समय आप जागरित हों, अर्थात् सोते समय भी मेरी प्रसुप्त चेतना में आपकी भावना जागरित रहे। हे प्रभो! **अप्रयुच्छन्**=सब प्रकार के प्रमाद से रहित होकर **नः रक्ष**=आप हमारी रक्षा कीजिए, अर्थात् हमारी निद्रा का भी कोई क्षण इस प्रकार के प्रमादवाला न हो जाए कि हम अपनी शक्ति को नष्ट कर बैठें। ३. निद्रा की समाप्ति पर आप **नः**=हमें **पुनः**=फिर **प्रबुधे**=प्रकृष्ट ज्ञान के लिए **कृधि**=कीजिए। रात्रि में स्वप्न में भी हम आपका ही स्मरण व दर्शन करें और दिन तो हमारा ज्ञानवृद्धि में बीते ही।

भावार्थ—रात्रि में हम प्रभु का स्मरण करनेवाले हों, स्वप्न में भी हमें प्रभु-दर्शन ही हो। हम दिन को ज्ञानप्राप्ति में विनियुक्त करें।

ऋषिः—आङ्गिरसः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिग्ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

जागने पर

पुनर्मनः पुनरायुर्मऽआगन्पुनः प्राणः पुनरात्मा मऽआगन्पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं मऽआगन्। वैश्वानरोऽअदब्धस्तनूपाऽअग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात्॥१५॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार सारी रात्रि प्रभु-रक्षण में आनन्दपूर्वक सोकर आङ्गिरस जागता है और प्रार्थना करता है कि मुझे **पुनः**=फिर **मनः**=विज्ञानसाधक मन प्राप्त हो। **पुनः**=फिर **मे**=मुझे **आयुः**=क्रियामय जीवन (इ गतौ) **आगन्**=प्राप्त हो। २. **पुनः**=फिर से **प्राणः**=शरीर-शक्ति प्राप्त हो और इस प्राण के द्वारा **पुनः**=फिर से **मे**=मुझे **आत्मा**=(सर्वत्र अतति) सर्वान्तर्यामी परमात्मा **आगन्**=प्राप्त हो। प्राण तो आत्मा को प्राप्त करानेवाले हैं। प्राणसाधना चित्तवृत्ति के निरोध के द्वारा हमें 'स्वरूप' में स्थित करती है। ३. **पुनः चक्षुः**=फिर से मुझे दृष्टिशक्ति प्राप्त हो और **पुनः**=फिर **मे**=मुझे **श्रोत्रम्**=श्रवणशक्ति **आगन्**=प्राप्त हो। ४. मेरी सब-की-सब इन्द्रियाँ ठीक कार्य करनेवाली बनें इसके लिए आवश्यक है कि **वैश्वानरः**=सबके शरीरों का नेता जाठराग्नि—शरीरों को स्वस्थ रखनेवाली पाचनशक्ति **अदब्धः**=अहिंसित होती हुई **तनूपाः**=शरीर की रक्षा करनेवाली **अग्निः**=जाठराग्नि **नः**=हमें **दुरितात्**=दुर्गति से तथा **अवद्यात्**=पापों से **पातु**=बचाए। (अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तःपुरुषे येनेदमन्नं पच्यते—श० १४।८।१०।१) जाठराग्नि के ठीक होने पर जहाँ शरीर में रोग नहीं आते वहाँ मनों में खिझ व क्रोध आदि भी उत्पन्न नहीं होते। मन्दाग्निवाला पुरुष मन्द प्रेमवाला व तीव्र द्वेष व क्रोधवाला होता है। इस प्रकार यह वैश्वानर अग्नि हमें शरीर व मन दोनों दृष्टिकोणों से स्वस्थ बनाती है। प्रभु भी 'वैश्वानर' हैं। प्रभु का स्मरण भी हमें दुरितों व अघों से बचानेवाला है।

भावार्थ—आङ्गिरस प्रतिदिन जीवन को सुन्दर बनाने का संकल्प करता है। प्रतिदिन का नया निश्चय उसे दुरितों व पापों में फँसने से बचानेवाला होता है। यह अपनी वैश्वानर अग्नि को ठीक रखता है और शरीर व मन के स्वास्थ्य को प्राप्त करता है।

नोट—आङ्गिरस 'इन बातों को कहता ही हो' ऐसा नहीं। वह इन्हें क्रियारूप में लाने का प्रयत्न भी करता है। उसका जीवन भी इन बातों को कहता है—इस कहने के कारण ही (वदति इति वत्सः) वह 'वत्स' ऋषि हो जाता है और प्रभु का प्रिय बनता है। अगले मन्त्रों का ऋषि यह वत्स ही है। अब वत्स की प्रार्थना देखिए—

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

व्रत-पा

त्वम॑ग्ने व्रत॒पाऽअ॑सि दे॒वऽआ मर्त्ये॒ष्वा। त्वं य॒ज्ञेष्वीड्यः॑।
रास्वेय॑त्सो॒मा भूयो॑ भर दे॒वो नः॑ सवि॒ता वसो॑र्दा॒ता वस्व॑दात्॥१६॥

१. 'वत्स' अपने व्रतों का पालन करता है, परन्तु उन व्रतों के पालन की सफलता का गर्व नहीं करता। वह कहता है—हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **त्वम्**=आप ही **व्रतपा असि**=मेरे व्रतों के पालन करनेवाले हो। मेरी शक्ति से तो इन व्रतों की पूर्ति सम्भव नहीं है। २. **आ**=चारों ओर **मर्त्येषु**=मनुष्यों के जीवनों में **आ देवः**=(आ=अभितः) सांसारिक व आध्यात्मिक क्षेत्रों में आप ही प्रकाशक हैं। सूर्यादि के द्वारा आप बहिःप्रकाश को प्राप्त कराते हैं तो वेदज्ञान द्वारा आप अन्दर का प्रकाश देनेवाले हैं। ३. इन प्रकाशों को प्राप्त करके मनुष्य शतशः यज्ञों का करनेवाला होता है, परन्तु **यज्ञेषु**=उन यज्ञों में भी तो **त्वम्**=आप ही **ईड्यः**=स्तुति के योग्य हो। ४. हे प्रभो! **इयत् रास्व**=आप हमें इतना धन दीजिए कि हम इन यज्ञों को अच्छी प्रकार करने में समर्थ हों और साथ ही **सोम**=हे ऐश्वर्यप्रद प्रभो! **भूयः**=अधिक धन भी **आभर**=सभी ओर से दीजिए। उन अधिक धनों से ही तो हम

विविध यज्ञों को कर सकेंगे। ५. वस्तुत: यह **सविता देवः**=प्रेरक देव ही **नः**=हमें **वसोः**=यज्ञ का—यज्ञिय भावना का **दाता**=देनेवाला है और उसी ने **वसु** =धन **अदात्**=दिया है। इस धन से हम उन यज्ञों को कर पाएँगे। (यहाँ 'वसु' पुल्लिङ्ग में यज्ञ का वाचक है और नपुंसक में धन का)। प्रभु यज्ञिय भावना भी देते हैं और उन्हें कार्यरूप में लाने के लिए आवश्यक धन भी। ६. प्रभु से दिये गये धनों को यज्ञों में विनियुक्त करके यह प्रभु का प्रिय बनता है, अत: 'वत्स' कहलाता है।

भावार्थ—हमारे सब व्रतों व यज्ञों को सिद्ध करनेवाले प्रभु ही हैं। वही यज्ञिय भावना को जागरित करते हैं और यज्ञपूर्ति के लिए आवश्यक धन देते हैं।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्चीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।।

शरीर क्यों? प्रभु-प्राप्ति के लिए

एषा ते॑ शुक्र त॒नूरे॒तद्वर्च॒स्तया॒ सम्भ॑व॒ भ्राजं॑ गच्छ।
जूर॑सि धृ॒ता मन॑सा॒ जुष्टा॒ विष्ण॑वे॥१७॥

१. प्रभु वत्स को सम्बोधित करते हैं कि हे **शुक्र**=दीप्त ज्ञानवाले (शुच् दीप्तौ), शुचि मनवाले अथवा (शुक् गतौ) क्रियाशील जीव! **एषा**=यह **ते**=तेरे लिए **तनूः**=शरीर है (तन् विस्तारे) सब विस्तृत शक्तियों से सम्पन्न यह शरीर तुझे दिया गया है। इस शरीर में **एतत् वर्चः**=यह शक्ति है—'सोम'—वीर्यशक्ति तुझे प्राप्त कराई गई है। **तया**=इस शक्ति से **सम्भव**=तुझे उत्तम सन्तान को जन्म देना है और **भ्राजं गच्छ**=ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करना है। सोमशक्ति के मुख्यरूप से दो ही प्रयोजन हैं—सन्तान-निर्माण तथा ज्ञानाग्नि का दीपन अथवा बुद्धि को तीव्र करना। २. **जूः असि**=तू 'जव'=वेगवाला है। स्फूर्ति के साथ सब कार्यों को करनेवाला है। तूने उस-उस समय पर उस-उस कार्यभार के जुए (yoke) को **मनसा धृता**=मन से धारण किया है। तूने कर्त्तव्य समझकर उन सब कर्मों को किया है, तुझे ये बोझरूप नहीं लगे। तूने इस कार्यभार का **विष्णवे जुष्टा**=व्यापक उन्नति के लिए ही सेवन किया है। कर्त्तव्यबुद्धि से इन नियत श्रेष्ठतम कर्मों को करने से तेरा शरीर, मन व बुद्धि सभी उन्नत हुए हैं, सभी सबल बने हैं। ३. वस्तुत: शरीर में वर्चस् की रक्षा करने पर ये परिणाम स्वाभाविक हैं कि मनुष्य स्वस्थ शरीर हो, निर्मल मनवाला बने और तीव्र बुद्धिवाला हो।

भावार्थ—हम वीर्य की रक्षा के द्वारा विविध प्रकार की उन्नति करें और इस प्रकार व्यापक उन्नति करनेवाले 'विष्णु' बनें। विष्णु बनकर ही हम उस 'विष्णु' को प्राप्त करेंगे (विष्णुर्भूत्वा भजेद् विष्णुम्।)

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—वाग्विद्युत्। **छन्दः**—स्वराडार्षीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः।।

शरीर-नियन्त्रण

तस्या॑स्ते स॒त्यस॑वसः प्रस॒वे त॒न्वो॒ य॒न्त्रम॑शीय॒ स्वाहा॑।
शु॒क्रम॑सि च॒न्द्रम॑स्य॒मृत॑मसि वैश्वदे॒वम॑सि॥१८॥

१. 'वत्स' गत मन्त्र में वर्णित प्रभु-प्रेरणा को सुनता है और कहता है कि **सत्यसवसः**=सत्य-प्रेरणा देनेवाले **ते**=तेरी **तस्याः**=उस वेदवाणी की **प्रसवे**=अनुज्ञा में **तन्वः**=शरीर

के **यन्त्रम्**=नियन्त्रण को **अशीय**=मैं प्राप्त करूँ। **स्वाहा**=वस्तुतः यह कितनी सुन्दर बात कही गई है। हम वेदवाणी के आदेश के अनुसार चलें और अपने इस शरीर को पूर्णतया अपने वश में रक्खें। हमारी प्रत्येक क्रिया नियन्त्रित व नपी-तुली हो। हमारा खाना-पीना, सोना-जागना सभी नियमबद्ध हो। २. वत्स की इस प्रार्थना पर प्रभु कहते हैं कि ऐसा करने पर-वेदवाणी के अनुकूल नियन्त्रित जीवन बिताने पर (क) **शुक्रमसि**=तू 'शुक्र' होता है-दीप्त ज्ञानवाला (शुच दीप्तौ), शुचि मनवाला व क्रियाशील जीवनवाला (शुक् गतौ) होता है, (ख) इस प्रकार का जीवन बनाकर तू इस सुख-दुःखादि द्वन्द्वात्मक संसार में सदा **चन्द्रम् असि** (चदि आह्लादे)=आह्लादमय जीवन बितानेवाला होता है। तू दुःखों व विघ्नों से खिन्न नहीं उठता। (ग) सदा प्रसन्न मनोवृत्तिवाला होकर **अमृतम् असि**=असमय में रोगों से मरता नहीं। (घ) दीर्घजीवनवाला बनकर तू **वैश्वदेवम् असि**= सब दिव्य गुणों को लिये हुए हितकर जीवनवाला होता है। तेरा जीवन सब दिव्य गुणों से परिपूर्ण होता है। ब्रह्मचारी को यदि 'शुक्र'-वीर्यवान् बनना है तो गृहस्थ को 'चन्द्र' सदा आह्लादमय रहने का प्रयत्न करना है। वानप्रस्थ ने किन्हीं भी विषयों के पीछे न मरनेवाला 'अमृत' बनना है और संन्यासी ने सब दिव्य गुणोंवाला 'वैश्वदेव' बन जाना है। वैश्वदेव बनकर ही यह महादेव को प्राप्त करेगा।

भावार्थ-मनुष्य वेदवाणी के अनुसार अपने शरीर का नियन्त्रण करे। वह ज्ञानवान्, सदा प्रसन्न, रोगों से अनाक्रान्त और दिव्य गुणोंवाला बने।

ऋषिः-वत्सः। **देवता**-वाग्विद्युत्। **छन्दः**-निचृद्ब्राह्मीपङ्क्तिः। **स्वरः**-पञ्चमः॥

वेदवाणी किधर? [Leads to God]

चिद॑सि म॒नासि॒ धीर॑सि॒ दक्षि॑णासि क्ष॒त्रिया॑सि य॒ज्ञिया॒स्यदि॑तिरस्युभयतः शी॒र्ष्णी। सा न॒ः सुप्रा॑ची॒ सुप्र॑तीच्येधि मि॒त्रस्त्वा॑ प॒दि ब॑ध्नीतां पू॒षाऽध्व॑नस्पा॒त्विन्द्रा॒याध्य॑क्षाय॥१९॥

१. गत मन्त्र में कहा था कि हे प्रभो! आपकी वेदवाणी की अनुज्ञा में मैं शरीर का नियमन करता हूँ। प्रस्तुत मन्त्र में उस वेदवाणी के विषय में कहते हैं कि २. **चित् असि**=तू संज्ञानवाली है। मनुष्यों को उस ज्ञान को देनेवाली है जिससे कि लोग मिलकर रहना सीखते हैं। ३. **मना असि**=मनन (मनु अवबोधे) अवबोध देनेवाली है। तू मनुष्यों को समझदार बनानेवाली है। ४. **धीः असि**=तू बुद्धि व कर्म है। स्वाध्यायशील लोगों की बुद्धि के विकास का कारण होती है और उन्हें उनके कर्त्तव्यों का उपदेश देती है। ५. **दक्षिणा असि**=लोगों को कर्मों में दक्ष बनानेवाली है। ६. **क्षत्रिया असि**=क्षत से बचानेवाली है। कर्मकुशल व्यक्ति कर्मबन्धन में नहीं फँसता। एवं, वेदवाणी मनुष्य को कर्मबन्धन से तो बचाती ही है, यह उसकी वृत्ति को दृढ़ बनाकर इसे असुरों के आक्रमण से भी सुरक्षित रखती है। वेदवाणी का स्वाध्याय करनेवाला आसुर वृत्तियों का शिकार नहीं होता। ७. **यज्ञिया असि**=यह वेदवाणी यज्ञों में विनियुक्त होती है। मानव-जीवन को यज्ञिय बनाती है। ८. **अदितिः असि**=यज्ञिय बनाकर विलासों का शिकार नहीं होने देती और इस प्रकार जीव को अखण्डित रखती है (दो अवखण्डने)। ९. **उभयतः शीर्ष्णी**=यह इहलोक व परलोक दोनों के दृष्टिकोण से शिखर पर पहुँचानेवाली है। यह इहलोक का अभ्युदय देती है तो परलोक का निःश्रेयस। एवं, यह वेदवाणी पूर्णधर्म का प्रतिपादन करनेवाली है।

१०. **सा**=वह उल्लिखित गुणों से विशिष्ट वेदवाणी **नः**=हमें **सुप्राची**=सुन्दरता से

आगे ले-चलनेवाली हो (सु प्र-अञ्च), हमारी उन्नति का कारण हो। हम आगे बढ़ें परन्तु हे वेदवाणि! तू ११. **सुप्रतीची एधि** =हमें सुन्दरता से वापस लानेवाली हो, अर्थात् हमें वह प्रत्याहार का पाठ भी पढ़ाए। इन्द्रियाँ ज्ञान-प्राप्ति के लिए विषयों में जाएँ, परन्तु उन्हीं में उलझ न जाएँ। १२. **मित्रः**=(प्रमीतेः त्रायते) अपने को पापों से बचानेवाला व्यक्ति **त्वा**=हे वेदवाणि! तुझे **पदि**=(पद गतौ) क्रिया में **बध्नीताम्**=बाँधे, अर्थात् तेरी प्रेरणाओं को क्रियान्वित करें (वेद की पुस्तक को पाँवों में नहीं बाँधना)। १३. **पूषा**=अपना सच्चा पोषण करनेवाला **अध्वनः**=मार्ग के दृष्टिकोणों से **पातु**=तुझे अपने पास सुरक्षित रक्खे। तुझसे ही वह अपने जीवन-मार्ग का निर्माण कर पाएगा। तेरी प्रेरणा के अनुसार ही जीवन-पथ बनेगा। १४. यह जीवन-पथ **अध्यक्षाय**=इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के अध्यक्ष **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु इन्द्र की ओर ले-जाने के लिए होगा। (The vedic path (मार्ग) will lead us to God)।

भावार्थ—हम वेदवाणी के अनुसार अपना जीवन-पथ बनाएँ। यह पथ हमें प्रभु की ओर ले-चलेगा।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—वाग्विद्युत्। **छन्दः**—साम्नीजगती[क], साम्न्युष्णिक्[र]। **स्वरः**—निषादः[क], ऋषभः॥

सोमसखा का समावर्त्तन

[क]अनु॑ त्वा मा॒ता म॑न्यता॒मनु॑ पि॒ताऽनु॒ भ्राता॒ सग॑र्भ्यो॒ऽनु॒ सखा॒ सयू॑थ्यः।
[र]सा दे॑वि दे॒वमच्छे॑हीन्द्रा॑य॒ सोमं॑ रु॒द्रस्त्वाव॑र्त्तयतु स्व॒स्ति सोम॑सखा॒ पुन॒रेहि॑॥२०॥

१. गत मन्त्र में वर्णित वेदवाणी के अध्ययन के लिए जब विद्यार्थी आचार्यकुल में जाता है तब कहीं माता-पिता आदि का मोह उसके मार्ग में प्रतिबन्धक न हो जाए, अतः कहते हैं कि २. वेदवाणी के अध्ययन के लिए जाते हुए **त्वा**=तुझे **माता**=माता **अनुमन्यताम्**=अनुमति दे। **पिता अनुमन्यताम्**=पिता भी अनुमति दें। **सगर्भ्यः भ्राता**=सहोदर भाई **अनुमन्यताम्**=अनुकूल मति दे। **सयूथ्यः सखा**=समान यूथ में रहनेवाला, एक ही पार्टी में रहनेवाला साथी भी **अनुमन्यताम्**=वेदाध्ययन के लिए जाने की स्वीकृति दे, अर्थात् उसे आचार्यकुल में शिक्षा प्राप्ति के लिए जाने की सभी स्वीकृति दें। सारा वातावरण उसके अनुकूल हो। ३. सबकी अनुमति से आचार्यकुल में जाकर यह वेदाध्ययन करता है और वेदवाणी को ही सम्बोधित करके कहता है कि हे **देवि**=ज्ञान का प्रकाश देनवाली वेदवाणि! **सा**=वह तू **देवम् अच्छ**=उस प्रभु की ओर **इहि**=(गमय) हमें प्राप्त करा। तेरे ज्ञान-प्रकाश को प्राप्त करके हम प्रभु का ज्ञान व दर्शन करनेवाले बन सकें। **इन्द्राय**=इस परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए **सोमम्**=सोम को, वीर्यशक्ति को **इहि**=(गमय) प्राप्त करा, क्योंकि इस सोम की रक्षा के बिना हम वेदवाणी को समझ न पाएँगे। ज्ञानाग्नि का ईंधन यह सोम ही है। ४. हे वेदवाणि! **रुद्रः**=(रुत् र) ज्ञानोपेदश को देनेवाला आचार्य **त्वा**=तेरा **आवर्तयतु**=आवर्तन कराए। आचार्य से कराया गया आवर्तन ही हमें वेदवाणी का आधिपत्य प्राप्त कराता है। इस आवर्तन के बिना हम वेद को समझ नहीं सकते। **स्वस्ति**=इस अध्ययन से हमारा कल्याण हो, हमारा जीवन उत्तम बने। ५. प्रभु इस वेदाध्ययन करनेवाले 'वत्स' से कहते हैं कि **सोमसखा**=सोम का मित्र बनकर, वीर्यशक्ति का रक्षक बनकर **पुनः एहि**=तू फिर अपने घर ब्रह्मलोक को प्राप्त कर। अथवा माता-पिता आदि ही वेदाध्ययन के लिए जाने की अनुमति देते हुए कहते हैं कि सोमसखा बनकर तूने फिर आना। वस्तुतः यही लौटना तो वैदिक संस्कृति में 'समावर्त्तन' है। सोमसखा ही ब्रह्मचारी है। वह आचार्यकुल

से लौटकर अपने ज्ञान व आचरण से सबका प्रिय बनता है और इस प्रकार सचमुच 'वत्स' नामवाला होता है।

भावार्थ—हम माता-पितादि की स्वीकृति से आचार्यकुल में जाएँ। वहाँ वेदाध्ययन करके अपने जीवन को उत्तम बनाकर पुनः वापस आएँ।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—वाग्विद्युत्। **छन्दः**—विराडार्षीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

रुद्र वसुओं के साथ (आचार्य शिष्यों के साथ)

वस्व्यस्यदितिरस्यादित्यासि रुद्रासि चन्द्रासि।

बृहस्पतिष्ट्वा सुम्ने रम्णातु रुद्रो वसुभिराचके॥२१॥

१. गत मन्त्र के अनुसार आचार्यकुल में आये हुए विद्यार्थियों को आचार्य वेदज्ञान प्राप्त कराता है। वेदज्ञान प्राप्त करके विद्यार्थी अनुभव करता है और कहता है कि हे वेदवाणि! तू **वस्वी असि**=उत्तम निवास देनेवाली है। जीवन के लिए सब उत्तम साधनों का प्रतिपादन करके तू हमारे जीवन को उत्तम बनाती है। २. **अदितिः असि**=तू हमारा खण्डन न होने देनेवाली है। हमारे स्वास्थ्य की तू साधिका है। ३. **आदित्या असि**=गुणों का आदान करनेवाली है (आदानात् आदित्यः)। तेरे अध्ययन से हममें गुणग्रहण की वृत्ति प्रबल होती है। ४. **रुद्रा असि**=तू संसार के सब पदार्थों का ज्ञान देनेवाली है (रुत्+र)। सब सत्य विद्याओं की खान है। ५. **चन्द्रा असि**=तू हमारी मनोवृत्ति को आनन्दमय बनानेवाली है। इसके अध्ययन से मन निर्मल व द्वेषशून्य हो जाता है। ६. **बृहस्पतिः**=ब्रह्मणस्पति=वेदज्ञान का पति **त्वा**=तुझे **सुम्ने**=प्रभु-स्तवन में **रम्णातु**=(रमयतु) रमण करनेवाला बनाये, अर्थात् वेदज्ञान प्राप्त कर लेने पर वह इन वेदवाणियों से प्रभु-स्तवन में आनन्द का अनुभव करे। ७. **रुद्रः**=उपदेश देनेवाला आचार्य **वसुभिः**=अपने समीप निवास करनेवाले अन्तेवासी शिष्यों के साथ **आचके**=तेरी ही कामना करे, अर्थात् आचार्य और शिष्य वेदज्ञान में आनन्द का अनुभव करें। (यहाँ विद्यार्थी को 'वसु' कहा है, क्योंकि वह आचार्य के समीप निवास करता है, वसति इति)।

भावार्थ—आचार्य व शिष्य वेदवाणी के पढ़ने में आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—वाग्विद्युत्। **छन्दः**—ब्राह्मीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

ज्ञानपूर्वक कर्म

अदित्यास्त्वा मूर्द्धन्नाजिघर्मि देवयजने पृथिव्याऽइडायास्पदमसि घृतवत् स्वाहा। अस्मे रमस्वास्मे ते बन्धुस्त्वे रायो मे रायो मा वयꣳ रायस्पोषेण वियौष्म तोतो रायः॥२२॥

१. आचार्य विद्यार्थी को वेदज्ञान देकर कहता है कि **अदित्याः**=इस अखण्डन की कारणभूत वेदवाणी के **मूर्धन्**=शिखर पर **त्वा**=तुझे **आजिघर्मि**=सब प्रकार से दीप्त करता हूँ, अर्थात् तुझे उच्च वेदज्ञान प्राप्त कराता हूँ और साथ ही **पृथिव्याः**=इस पृथिवी के **देवयजने**=देवताओं से किये जानेवाले यज्ञों में **आजिघर्मि**=दीप्त करता हूँ। तू जहाँ ज्ञान से चमकता है वहाँ यज्ञों के द्वारा विख्यात होता है। २. **इडायाः**=वेदवाणी का तू **पदम् असि**=आधार, आश्रय है। वेदवाणी तुझमें स्थित हुई है। **घृतवत्**=इसीलिए तू मलों के क्षरण

से ज्ञान की दीप्तिवाला बना है। (**घृ**=क्षरण तथा दीप्ति)। **स्वाहा**=तेरी चारों ओर प्रशंसा-ही-प्रशंसा है (सु आह)। ३. हमारी यही प्रार्थना हो कि हे वेदवाणि! तू **अस्मे**=हममें **रमस्व**=रमण कर। **अस्मे**=हममें **ते**=तेरा **बन्धुः**=बन्धुत्व हो। **त्वे रायः**=तेरी सम्पत्तियाँ ही **मे रायः**=मेरी सम्पत्तियाँ हों। ४. **वयम्**=हम ज्ञानरूप सम्पत्ति को प्राप्त करके इस सांसारिक **रायस्पोषेण**=धन के पोषण से **मा**=मत **वियौष्म**=पृथक् हों। हमारी **रायः**=सम्पत्तियाँ **तोतो** (तु गतिवृद्धि-हिंसासु)=(क) हमें क्रियाशील बनाये रक्खें, इन्हें प्राप्त करके हम अकर्मण्य न हो जाएँ। (ख) ये सम्पत्तियाँ हमारे वर्धन का कारण हों। इनके कारण वैषयिक वृत्तिवाले होकर हम ह्रास की ओर न चले जाएँ। (ग) ये धन हमारी सब दुर्गतियों की हिंसा करनेवाले हों।

'तोतो' शब्द महीधर के अनुसार कलत्र (स्त्री) के अर्थ में निपात है। तब अर्थ इस प्रकार होगा कि हमारी सम्पत्तियाँ कलत्र में स्थित हों, अर्थात् हमारे घरों में सम्पत्तियों के संग्रह व व्यय का कार्य स्त्रियों के अधीन हो। 'पुरुष कमाये स्त्री व्यय करे, जोड़े' यही तो गृहस्थ का सुन्दर नियम है।

भावार्थ—हम वेदज्ञान के शिखर पर पहुँचें तो साथ ही यज्ञशील भी बनें। हम धन कमाएँ, परन्तु वह धन हमारे ह्रास का कारण न बने।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—वाग्विद्युत्। **छन्दः**—आस्तारपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

वेदवाणी के सन्दर्शन में

समख्ये देव्या धिया सं दक्षिणयोरुचक्षसा।

मा मऽआयुः प्रमोषीर्मोऽअहं तव वीरं विदेय तव देवि सन्दृशि॥२३॥

१. पिछले मन्त्र में आचार्य से वेदवाणी के पढ़ने का उल्लेख था। वेदवाणी का पढ़नेवाला यह 'वत्स' कहता है कि मैं **सम् अख्ये**=(सं चक्ष्) इस वेदवाणी का दर्शन करता हूँ, (क) **देव्या धिया**=प्रकाशमय बुद्धि के दृष्टिकोण से। मैं इसलिए वेदवाणी को पढ़ता हूँ कि मेरी बुद्धि प्रकाशमय हो, मेरा ज्ञान उज्ज्वल हो। (ख) **सम् (अख्ये)**=मैं इस वेदवाणी का दर्शन करता हूँ, **दक्षिणया** (धिया)=दक्षिण क्रिया के हेतु से (धी=कर्म) इसलिए वेदवाणी को पढ़ता हूँ कि मेरे कर्म कुशलता से, दक्षिणता से किये जाएँ। कुशलता से किये जाकर वे कर्म मेरे लिए बन्धनशील न हों। (ग) **उरुचक्षसा** (धिया)=विशाल दृष्टि के ध्यान से (धी=ध्यान)। मैं वेदवाणी का अध्ययन इसलिए करता हूँ कि मेरा प्रत्येक कर्म विशाल दृष्टिकोण से प्रेरित होकर हो, मैं केवल अपना हित देखकर कर्म करनेवाला न बन जाऊँ। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि यह वेदवाणी हमारी बुद्धि को उज्ज्वल बनाती है, हमें कुशलता से कार्य करनेवाला करती है और हमारे दृष्टिकोण को विशाल बनाती है। २. वत्स इस वेदवाणी से प्रार्थना करता है कि **मे**=मेरे **आयुः**=जीवन को **मा**=मत **प्रमोषीः**=चुराना, लुप्त करना। वेदवाणी के द्वारा मैं सुन्दर दीर्घजीवन को प्राप्त करूँ। **मा उ**=और न ही **अहम्**=मैं **तव**=तेरा प्रमोषण करूँ, अर्थात् मेरे जीवन में वेदवाणी का सतत अध्ययन होता ही रहे। हे **देवि**=मेरे जीवन को प्रकाशमय करनेवाली वाणि! मैं **तव सन्दृशि**=तेरे सन्दर्शन में ही अपने सम्पूर्ण जीवन का यापन करूँ। कभी तेरी आँख से ओझल न होऊँ। तेरी प्रेरणा के अनुसार ही मेरे सारे कार्य हों। मैं इस **वीरं विदेय**=शत्रुओं के कम्पित करनेवाले ज्ञान को प्राप्त करूँ।

भावार्थ—वेदवाणी के अध्ययन से हमारी प्रज्ञा (धी) उज्ज्वल हो, हमारे कर्म कुशलता से किये जाएँ और कर्मों के करते समय हमारा दृष्टिकोण विशाल हो।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—ब्राह्मीजगती[क], याजुषीपङ्क्तिः[र]। **स्वरः**—निषादः[क], पञ्चमः[र]॥

ज्ञान-पुष्प विचयन

[क]एष ते गायत्रो भागऽइति मे सोमाय ब्रूतादेष ते त्रैष्टुभो भागऽइति मे सोमाय ब्रूतादेष ते जागतो भागऽइति मे सोमाय ब्रूताच्छन्दोनामानाᳬ साम्राज्यङ्गच्छेति मे सोमाय ब्रूतादास्माकोऽसि शुक्रस्ते [र]ग्रह्यो विचितस्त्वा विचिन्वन्तु॥२४॥

१. विद्यार्थी आचार्य से कहता है कि **एषः**=यह **ते**=आपका **गायत्रः**=गायत्रीछन्द-सम्बन्धी **भागः**=सेवन है। आपने गायत्रीछन्द के मन्त्रों का खूब अध्ययन किया है, उन्हें अपने जीवन का भाग (part and parcel) बनाया है, **इति**=इस कारण **मे**=मुझ **सोमाय**=सौम्य स्वभाववाले के लिए **ब्रूतात्**=इसका उपदेश कीजिए। २. **एषः**=यह **ते**=आपका **त्रैष्टुभः**=त्रिष्टुप् छन्द-सम्बन्धी **भागः**=सेवन है। आपने त्रिष्टुप्छन्द के मन्त्रों द्वारा 'प्रकृति, जीव व परमात्मा' तीनों का स्तवन किया है, अर्थात् तीनों का ही ज्ञान प्राप्त किया है। अथवा इन तीनों का ज्ञान प्राप्त करके 'आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक' तीनों ही कष्टों को समाप्त किया है अथवा 'काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों शत्रुओं को अन्दर घुसने से रोका है (त्रि-स्तुप् to stop)। एवं, ये मन्त्र आपके जीवन का भाग बन गये हैं, **इति**=इस कारण **मे सोमाय**=मुझ सौम्य स्वभाववाले के लिए **ब्रूतात्**=आप इनका उपदेश कीजिए। ३. हे प्रभो! **एषः**=यह **ते**=तेरा **जागतः**=जगतीछन्द-सम्बन्धी मन्त्रों का **भागः**=सेवन है। आपने जगती छन्द के मन्त्रों का अध्ययन करके उन्हें अपने जीवन का भाग बना लिया है और परिणामतः आप सर्वभूतहित में रत हुए हैं, **इति**=इस कारण **मे सोमाय**=मुझ सौम्य के लिए **ब्रूतात्**=इनका उपदेश कीजिए।

४. आप **छन्दोनामानाम्**=उष्णिक् आदि छन्द नामवाले मन्त्रों के **साम्राज्यं गच्छ**=साम्राज्य को प्राप्त हुए हैं (अगच्छाः=गच्छ) अर्थात् उनके अधिपति बने हैं, **इति**=अतः **मे सोमाय**=मुझ सौम्य स्वभाववाले के लिए **ब्रूतात्**=उनका उपदेश कीजिए। ५. **आस्माकः असि**=(अस्माकमयत् इति) आप हमारे उपदेष्टा हैं। आप हमारा हित चाहनेवाले हैं। ६. **शुक्रः**=आप (शुच् दीप्तौ) दीप्त ज्ञानवाले हैं (शुचि पवित्र) पवित्र मनवाले हैं (शुक् गतौ) निरन्तर क्रियाशील (ब्रह्मज्ञानी) हैं **(क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः)** ७. **ते**=आपकी यह वेदवाणी **ग्रह्यः**=हमारे ग्रहण के योग्य है। अथवा आपका यह वेदज्ञान औरों से ग्रहण के योग्य है। आप इस वेदज्ञान को देने के लिए सदैव उद्यत हैं। ८. **विचितः**=विशेष रूप से या **वि**=एक- एक करके इन ज्ञानपुष्पों का चयन करनेवाले ब्रह्मचारी **त्वा विचिन्वन्तु**=आपसे इन ज्ञानपुष्पों का चयन करें। (चि धातु, द्विकर्मक है 'वृक्षम् अवचिनोति फलानि) जैसे एक पुजारी बाग में आकर वृक्षों से फूलों का अवचयन करता है इसी प्रकार एक सौम्य शिष्य आचार्यरूप वृक्ष से ज्ञानरूप पुष्पों का चयन करता है। यही विद्यार्थी आचार्य का 'वत्स'=प्रिय होता है।

भावार्थ—आचार्य ज्ञानी हो, विद्यार्थी का भला चाहे। विद्यार्थी सौम्य हो, उसमें ज्ञान-प्राप्ति की प्रबल कामना हो। ज्ञानपुष्पों का चयन ही उसका ध्येय हो।

ऋषिः—वत्सः। देवता—सविता। छन्दः—भुरिक्शक्वरीः। स्वरः—धैवतः॥

ज्ञानपुष्पों से प्रभु का अर्चन

कअभि त्यं देवꣳसवितारमोण्योः कविक्रतुमर्चामि सत्यसवꣳरत्नधामभि प्रियं मतिं कविम्। ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भाऽअदिद्युतत्सवीमनि हिरण्यपाणिरमिमीत रसुक्रतुः कृपा स्वः। प्रजाभ्यस्त्वा प्रजास्त्वाऽनुप्राणन्तु प्रजास्त्वमनुप्राणिहि॥ २५॥

१. गत मन्त्र में ज्ञानपुष्पों के चयन का उल्लेख था। उन ज्ञानपुष्पों का चयन करके प्रस्तुत मन्त्र में उन पुष्पों द्वारा प्रभु के अर्चन का उल्लेख करते हैं। इन ज्ञानपुष्पों का अवचयन करके मैं **त्यम्**=उस **देवम्**=ज्ञान की दीप्तिवाले **सवितारम्**=सबके प्रेरक परमात्मा की **अभि**=ओर जाता हूँ और **ओण्योः**=द्यावापृथिवी के इस (ओणृ अपनयने, द्यौष्पिता पृथिवी माता, ये द्युलोकरूपी माता-पिता हमारे कष्टों का अपनयन करते हैं) **कविक्रतुम्**=ज्ञानी निर्माता (creator) को **अर्चामि**=पूजता हूँ। वे प्रभु इस संसार का निर्माण करनेवाले हैं और इसके निर्माण में एक-एक पिण्ड में प्रभु की प्रज्ञा का प्रकाश हो रहा है। प्रत्येक पदार्थ की रचना अपने में पूर्ण है **'पूर्णमदः, पूर्णमिदम्'**। इस संसार का निर्माण प्रभु की सर्वज्ञता का प्रमाण है। २. मैं उस प्रभु की अर्चना करता हूँ जोकि **सत्यसवम्**=सदा सत्य की प्रेरणा देनेवाले हैं। **रत्नधाम्**=हममें उत्तमोत्तम रत्नों=रमणीय रुधिर आदि धातुओं का धारण करनेवाले हैं, **अभिप्रियम्**=सबके प्रति प्रेमवाले हैं। **मतिम्**=सर्वज्ञ हैं **कविम्**=क्रान्तदर्शी हैं व सृष्टि-आरम्भ में सब विद्याओं का ज्ञान देनेवाले हैं (कौति सर्वा विद्याः) ३. **यस्य** =जिस प्रभु की **अमतिः**=न मापने योग्य (Immeasureable) **भा**=दीप्ति **ऊर्ध्वा**=सर्वोत्कृष्ट होती हुई **अदिद्युतत्**=दीप्त हो रही है। संसार में एक-से-एक बढ़कर ज्ञानी विद्यमान हैं, यह ज्ञान का तारतम्य प्रभु में आकर विश्रान्त हो जाता है, उनसे अधिक ज्ञान का सम्भव ही नहीं, अतः वह ऊर्ध्वा=सर्वोत्कृष्ट ज्ञानदीप्ति सर्वत्र द्योतित हो रही है।

४. **सवीमनि**=इस उत्पन्न जगत् में **हिरण्यपाणिः**=(हिरण्यं वीर्यम्) शक्तिशाली हाथोंवाला वह **सुक्रतुः** =सर्वोत्तम कर्त्ता (creator) **कृपा**=अपने सामर्थ्य से अथवा प्राणिमात्र पर दया से **स्वः**=इस देदीप्यमान सूर्य का **अमिमीत**=निर्माण करता है। **'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः'**=यह सूर्य प्रजाओं का प्राण ही तो है। ५. प्रभु इस सूर्य से कहते हैं कि **प्रजाभ्यः त्वा**=इन प्रजाओं के हित के लिए मैंने तुझे बनाया है। **प्रजाः**=सब प्रजाएँ **त्वा अनुप्राणन्तु**=तेरी अनुकूलता में प्राणशक्ति को धारण करें। **त्वम्**=तू **प्रजाः अनुप्राणिहि**=प्रजाओं को प्राणशक्ति से सञ्चरित कर दे। तू उनमें प्राणशक्ति फूँक दे। संसार में यह सूर्य प्रभु की अद्भुत रचना है। ३३ देवों का यही मुखिया है। इसकी रचना का अध्ययन हमें प्रभु की विभूति का दर्शन कराता है। हम इस विभूति-दर्शन से प्रभु का दर्शन करने में समर्थ होते हैं और प्रभु के प्रिय बन पाते हैं—'वत्स' हो जाते हैं।

भावार्थ—हम ज्ञान-प्राप्ति द्वारा प्रभु की उपासना करें।

ऋषिः—वत्सः। देवता—यज्ञः। छन्दः—भुरिग्ब्राह्मीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

शुक्र-चन्द्र-अमृत

शुक्रं त्वा शुक्रेण क्रीणामि चन्द्रं चन्द्रेणामृतममृतेन। सग्मे ते गोरस्मे ते चन्द्राणि तपसस्तनूरसि प्रजापतेर्वर्णः परमेण पशुना क्रीयसे सहस्रपोषं पुषेयम्॥ २६॥

१. पिछले मन्त्र में 'अभि त्यम्'=उस प्रभु की ओर चलने का वर्णन है। उसी प्रसङ्ग में कहते हैं कि **शुक्रं त्वा**=ज्ञान से दीप्त आपको **शुक्रेण**=ज्ञान की दीप्ति से **क्रीणामि**=खरीदता हूँ, प्राप्त करता हूँ। **चन्द्रम्**=(चदि आह्लादे) आह्लादमय आपको **चन्द्रेण**=आह्लादमयता से प्राप्त करता हूँ। **अमृतम्**=अमृत आपको **अमृतेन**=अमृतत्व से, नीरोगता से प्राप्त करता हूँ। वस्तुतः प्रभु की उपासना व प्राप्ति का प्रकार यही है कि हम प्रभु-जैसे बनें। प्रभु सर्वज्ञ हैं, आनन्दमय हैं, अमर हैं। उपासक को भी चाहिए कि नैत्यिक स्वाध्याय से अपने मस्तिष्क को ज्ञान से दीप्त करके 'शुक्र' बने, मन को राग-द्वेषादि मलों से रहित करके मनःप्रसाद को सिद्ध करके 'चन्द्र' बने और पथ्य का मात्रा में सेवन करते हुए नीरोग व 'अमृत' बने। प्रभु-प्राप्ति का यही सूत्र है—'शुक्र-चन्द्र-अमृत'। २. **सग्मे**=यजमान में **ते**=तेरी **गौ**=वेदवाणी स्थापित होती है। जितना-जितना मनुष्य यज्ञशील बनता है उतना-उतना वेदवाणी का आधार बनता है। (सग्मे ते गौरिति यजमाने ते गौरिति—श० ३।२।६।७)। यजमान बनने का पहला पग 'देवपूजा' है। देवों की पूजा से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। ३. **अस्मे**=हमारे लिए **ते**=तेरी **चन्द्राणि**=आह्लादवृत्तियाँ हों। हम सदा प्रसन्न मनोवृत्तिवाले बनें। वस्तुतः जितना-जितना ज्ञान अधिक होता है उतना-उतना ही आनन्द अधिक होता है। ज्ञान प्राप्त करने के लिए 'यजमान' बनना, देवपूजा की वृत्तिवाला बनना आवश्यक है। ४. **तपसः तनूः असि** =हे प्रभो! आप तो शरीरबद्ध तप हैं, तप के कारण ही तो आप अपने उच्च स्थान में स्थित हैं। **प्रजापतेः वर्णः** =आप अक्षरशः प्रजापति हैं। जो जितना-जितना तपस्वी होता है वह उतना-उतना ही लोकहित कर पाता है। वह उपासक भी आपका सच्चा उपासक है जो तपस्वी बनकर प्रजापति बनता है।

५. हे प्रभो! आप **परमेण पशुना**=उत्कृष्ट जीव से **क्रीयसे**=खरीदे जाते है—प्राप्त किये जाते हैं। परम अर्थात् पूर्ण वही है जिसने स्वास्थ्य साधन से अमृतता को सिद्ध किया है, तपस्या के द्वारा मनःप्रसाद को सिद्ध करके जो चन्द्र बना है और जो ज्ञान को दीप्त करके शुक्र बना है। जिसने शरीर, मन व मस्तिष्क तीनों के ही स्वास्थ्य का साधन किया है, वही 'परम-पशु' है। ५. इन्हीं साधनाओं को निर्विघ्नता से कर सकने के लिए मैं **सहस्रपोषम्**=उतने धन को जो हज़ारों का पोषण करनेवाला है **पुषेयम्**=प्राप्त करनेवाला बनूँ। मैं धन के दृष्टिकोण से निश्चिन्त होऊँ, परन्तु धन का ही दास न बन जाऊँ। मेरा धन शतशः लोगों का पोषण करनेवाला हो।

भावार्थ—मैं 'शुक्र-चन्द्र-अमृत' बनूँ। तपस्वी व लोकहित करनेवाला बनूँ। सहस्रों का पोषण करनेवाले धन को प्राप्त करूँ।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—विद्वान्। **छन्दः**—भुरिग्ब्राह्मीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

सात बातें (Seven Points)

मि॒त्रो न॒ऽएहि॒ सुमि॑त्रध॒ऽइन्द्र॑स्यो॒रुमावि॑श॒ दक्षि॑णमु॒शन्नु॒शन्त॑ꣳस्यो॒नः स्यो॒नम्। स्वान॒ भ्राजाङ्घा॑रे॒ बम्भा॑रे॒ हस्त॒ सुह॑स्त॒ कृशा॑नवे॒ते वः॑ सोम॒क्रय॑णा॒स्तान्र॑क्षध्वं॒ मा वो॑ दभन्॥२७॥

१. उपासक की ही प्रार्थना का प्रसङ्ग चल रहा है। उपासक कहता है कि हे **सुमित्रध** (सु-मित्र-ध)=उत्तम स्नेह करनेवालों के धारक प्रभो! **मित्रः**=सब पापों से बचानेवाले आप (प्रमीतेः त्रायते) **नः**=हमें **एहि**=प्राप्त होओ। वस्तुतः संसार में पापों के मूल में स्नेह का न होना और द्वेष का होना ही है। मनुष्य द्वेषवृत्ति से ऊपर उठता है तो पाप से भी ऊपर

उठ जाता है, परन्तु यह सब प्रभुकृपा से ही होता है। २. हे प्रभो! आप **उशन्**=सबका भला चाहनेवाले हैं, **स्योनः**=सुखस्वरूप हैं। आप **इन्द्रस्य**=इन्द्रियों के अधिष्ठता जितेन्द्रिय पुरुष के **उरुम्**=विशाल हृदयान्तरिक्ष में, जोकि **दक्षिणम्**=(दक्षते: उत्साहकर्मण:) उत्साह से परिपूर्ण है, **उशन्तम्**=सभी का भला चाहनेवाला है, **स्योनम्**=आनन्दमय है, जो सब प्रकार के विषादों से ऊपर उठ चुका है, उस हृदय में **आविश**=प्रवेश कीजिए। यदि हम प्रभु को प्राप्त करना चाहते हैं तो हम हृदय में (क) उत्साह को धारण करें (ख) सब का भला चाहें (ग) और मन:प्रसादरूप तप को सिद्ध करें।

उपासक की प्रार्थना का उत्तर देते हुए प्रभु कहते हैं कि ३. (क) **स्वान** (सु+आन)= उत्तम प्राणशक्ति को धारण करनेवाले (अन प्राणने), (ख) **भ्राज**=ज्ञान से दीप्त (भ्राजृ दीप्तौ), (ग) **अङ्घारे**=पाप के शत्रु, अर्थात् नाशक (घ) **बम्भारे** (बन्धानां सुविचारनिरोधकानां शत्रु:–द०) ज्ञान के प्रतिबन्धक आलस्यादि दोषों को दूर करनेवाले (ङ) **हस्त**=(हस्) सदा हास्ययुक्त मुखवाले (Smiling face) (च) **सुहस्त**=सधे हुए हाथोंवाले, अर्थात् कार्यों को कुशलता से करनेवाले–प्रत्येक क्रिया को कलापूर्ण ढङ्ग से करनेवाले (छ) **कृशानो**=(कृशान् आनयति) दुर्बलों के अन्दर प्राणों का सञ्चार करनेवाले अथवा (दुष्टान् कृशति–द०) दुष्टों को कृश करनेवाले **वः**=तुम्हारी **एते**=ये सात बातें **सोमक्रयणाः**=सर्वज्ञ प्रभु को खरीदनेवाली हैं। इन सात बातों को अपने जीवन में लाकर ही तुम प्रभु को अपना सकते हो। इन्हीं सात बातों को सात रत्न समझना। ये सात बातें ही तुम्हें सप्तर्षि बनानेवाली होंगी। बस, **तान् रक्षध्वम्**=इनकी रक्षा करना, जिससे संसार के प्रलोभन **वः** =तुम्हें **मा**=मत **दभन्**=हिंसित करनेवाले हों। तुम इन बातों को अपनाओगे तो संसार के प्रलोभनों के विजेता बनोगे। इस विजय को वही करता है जो 'स्वान-भ्राज-अङ्घारि-बम्भारि-हस्त-सुहस्त व कृशानु' बनता है।

भावार्थ–हम 'उत्तम प्राणशक्तिवाले, ज्ञानदीप्त, पाप-शत्रु, ज्ञानप्रतिबन्धनिवर्तक, प्रसन्न, सिद्धहस्त व निर्बलों को उत्साहित करनेवाले और दुष्टों को कृश करनेवाले बनें।

ऋषिः–वत्सः। **देवता**–अग्निः। **छन्दः**–साम्नीबृहती[क], साम्न्युष्णिक्[र]। **स्वरः**–मध्यमः[क], ऋषभः॥

उदायुः-स्वायुः

[क]परि॑ माग्ने दुश्च॑रिताद् बाध॒स्वा मा॒ सुच॑रिते भज।

[र]उदायु॑षा स्वा॒युषोद॑स्थाम॒मृताँ॒२॥ऽअनु॑॥ २८॥

१. पिछले मन्त्र में कही गई सात बातों को सुनकर उपासक प्रभु से कहता है कि यह सब आपकी कृपा से ही होगा। हे **अग्ने**=मेरे सारे पापों का दहन करनेवाले प्रभो! आप अग्निरूप हैं। अग्नि में पड़कर जैसे सब मलों के भस्म हो जाने से सोना शुद्ध होकर चमक उठता है, इसी प्रकार आपमें पड़कर ही तो मैं निष्पाप बनकर चमक सकूँगा। आप **मा**=मुझे **दुश्चरितात्**=सब दुराचारों व दुर्वृत्तियों से **परिबाधस्व**=रोकिए। ये दुर्वृत्तियाँ मुझसे दूर रहें आप **मा**=मुझे **सुचरिते**=उत्तम चरित्र में **आभज**=भागी बनाइए। आपकी कृपा से मैं उत्तम बातों का ही सेवन करनेवाला बनूँ–दुराचार से दूर, सदाचार के समीप। २. **उदायुषा** =(उत्=ou उद् इ=outlive) सब रोगों को पार करते हुए दीर्घजीवन से तथा **स्वायुषा**=उत्तम दिव्य (सु) जीवन से मैं **उद् अस्थाम्**=इन दीर्घ व दिव्य जीवनवालों की श्रेणी में ऊपर ठहरूँ दुराचार से दूर व सदाचार के समीप होकर मनुष्य दीर्घ व दिव्य जीवन को प्राप्त करत

है। मन्त्र में शब्दक्रम के द्वारा यह कार्यकारणभाव स्पष्ट है। निष्पापता से ही दीर्घजीवन मिलता है। ३. **अमृतान् अनु**=मैं सांसारिक प्रलोभनों के पीछे न मरनेवाले देवों के पीछे ही चलनेवाला होऊँ।

भावार्थ—प्रभुकृपा से मेरा जीवन दुराचार से दूर व सदाचार के समीप होकर दीर्घ व दिव्य बने।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

रास्ता=द्वेष-त्याग

प्रति पन्थामपद्महि स्वस्तिगामनेहसम्।

येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु॥२९॥

पिछले मन्त्र की प्रार्थना थी कि हम 'दुराचार से दूर और सदाचार के समीप हों'। वही प्रार्थना शब्द परिवर्तन के साथ पुनः की जाती है कि **पन्थाम्**=सन्मार्ग को **प्रति अपद्महि**=प्राप्त हों। सदा मार्ग पर ही चलें, मार्ग से कभी भटकें नहीं। स्तुति-निन्दा, लाभ-हानि व जीवन-मरण भी हमें मार्ग से भटकानेवाले न हों। २. हम उस मार्ग को प्राप्त हों जो **स्वस्तिगाम्**=कल्याण की ओर ले-जानेवाला है, हमारे जीवन की स्थिति को उत्तम करनेवाला है (सु+अस्ति) और **अनेहसम्**=एहस् 'पाप' से शून्य है। वस्तुतः कल्याण का मार्ग वही है जो पापशून्य है। दूसरा मार्ग तो थोड़ी-सी देर के लिए चमककर फिर अन्धकारमय हो जानेवाला है। ३. पापशून्य मार्ग वह है **येन**=जिससे जीव **विश्वाः**=सब **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं को (द्वेषणं द्विट्) **परिवृणक्ति**=छोड़ देता है और **वसु**=निवास के लिए उत्तम धनों को **विन्दते**=प्राप्त करता है। द्वेष से शरीर में कुछ ऐसे विष पैदा हो जाते हैं जिनसे दीर्घ जीवन की प्राप्ति सम्भव नहीं रहती। द्वेष मन को सदा मलिन किये रहता है, उससे मन में प्रसाद व उल्लास का अभाव हो जाता है जो आयुष्य के लिए बड़ा घातक होता है।

भावार्थ—हम निर्द्वेषता व प्रेम के कल्याणकर, पापशून्य मार्ग पर चलनेवाले बनें।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—वरुणः। **छन्दः**—स्वराड्याजुषीत्रिष्टुप्[क], आर्षीत्रिष्टुप्[र]। **स्वरः**—धैवतः॥

वरुण के व्रत

[क]अदित्यास्त्वगस्यदित्यै सदऽआसीद।

[र]अस्तभ्नाद् द्यां वृषभोऽअन्तरिक्षममिमीत वरिमाणम्पृथिव्याः।

आसीदद्विश्वा भुवनानि सम्राड् विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि॥३०॥

१. गत मन्त्र का निर्द्वेषता व प्रेम के मार्ग पर चलनेवाला 'वत्स' सचमुच वसुओं को प्राप्त करता है। प्रभु उससे कहते हैं कि तू तो **अदित्याः**=अखण्डन की देवता=दिव्य गुणों की निर्मात्री अदिति का **त्वक् असि**=स्पर्श करनेवाला है या उसके संवरणवाला है, अर्थात् तूने अदिति को प्राप्त किया है। यह अदिति अखण्डन की देवता है, तेरा शरीर जहाँ रोगों से खण्डित नहीं होता वहाँ तेरा मन वासनाओं से दूषित नहीं होता। **अदित्यै**=इस अदीना देवमाता के लिए **सदः**=आसन (seat) बनकर **आसीद**=तू ठहर, विराजमान हो। तुझमें अदिति का प्रतिष्ठापन हो। तू अदिति का आधार हो। २. इस अदिति के प्रतिष्ठापन से तूने **द्याम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक को **अस्तभ्नात्**=थामा है। यह अदिति तेरे द्युलोक को थामे। तू

वृषभः=पुरुषों में श्रेष्ठ हो। वृषभ बनकर **अन्तरिक्षम्**=हृदयान्तरिक्ष को **अस्तभ्नात्**=थाम तथा **पृथिव्याः**=इस पृथिवीरूप शरीर की **वरिमाणम्**=विशालता को **अमिमीत**=निर्मित कर, अर्थात् इस अदिति के द्वारा तेरा मस्तिष्क, हृदयान्तरिक्ष व शरीर सभी उत्तम बनें, तभी तो तू 'वृषभ'=श्रेष्ठ बनेगा। ३. इस प्रकार श्रेष्ठ बनकर तू **विश्वा भुवनानि**=सब लोकों को **सम्राट्**=ज्ञान-ज्योति से दीप्त करता हुआ **आसीदत्**=ठहर। अपनी उन्नति में ही सन्तुष्ट न होकर तू सब लोकों के हित में प्रवृत्त हो और सर्वत्र ज्ञान का प्रसार करने का प्रयत्न कर। ४. **विश्व इत् तानि**=बस, ये सभी सचमुच **वरुणस्य व्रतानि**=वरुण के व्रत हैं। इन व्रतों के पालन से ही मनुष्य वरुण=श्रेष्ठ बनकर उस वरुण=परमात्मा को पानेवाला बनता है।

भावार्थ—१. हम अदिति के अधिष्ठान बनें, २. मस्तिष्क, हृदय व शरीर को स्वस्थ बनाएँ। ३. सब लोकों में ज्ञान का प्रसार करनेवाले बनें। ४. यही मार्ग है वरुण बनने का व प्रभु को प्राप्त करने का।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—वरुणः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

वरुण की महिमा

वनेषु व्यन्तरिक्षं ततान वाजमर्वत्सु पयऽउस्त्रियासु।
हृत्सु क्रतुं वरुणो विक्ष्वग्निं दिवि सूर्यमदधात् सोममद्रौ॥३१॥

१. वरुण प्रभु ने **वनेषु**=वनों में **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष का **विततान**=विशेषरूप से विस्तार किया है। नगरों व ग्रामों में क्षितिज छोटा हो जाता है, क्योंकि वहाँ मकान आदि दृष्टि की रुकावट के कारण बन जाते हैं। २. उसी वरुण ने **अर्वत्सु**=घोड़ों में **वाजम्**=शक्ति को विस्तृत किया है। घोड़ा शक्ति का प्रतीक है। 'Horse power' यह शब्द ही घोड़े के साथ शक्ति के सम्बन्ध का प्रतिपादन करता है। वह घोड़ा घोड़ा क्या जो मरियल-सा हो। ३. वरुण ने **उस्त्रियासु**=गौवों में **पयः**=दूध को **वि अदधात्**=विशेषरूप से रक्खा है। दूध न देनेवाली गौ गौ ही नहीं। ४. इस वरुण ने **हृत्सु**=हृदयों में **क्रतुम्**=कर्मसंकल्प की स्थापना की है। कर्मसंकल्पशून्य हृदय ऐसा ही है जैसाकि शक्तिशून्य घोड़ा अथवा दूध से रहित गौ। ५. उस **वरुणः**=वरुण ने **विक्षु**=प्रजाओं में **अग्निम्**=मलों को दूर करने की साधनभूत अग्नि की स्थापना की है। प्रजाओं को चाहिए कि इस यज्ञाग्नि को वे अपने घरों में कभी बुझने न दें। ६. **दिवि सूर्यम् अदधात्**=उस वरुण ने द्युलोक में सूर्य को स्थापित किया है और **अद्रौ**=पर्वत पर **सोमम्**=सोम को। ओषधियों का राजा सोम है। सूर्य से इन ओषधियों में प्राणशक्ति की स्थापना होती है।

भावार्थ—हमें अपने हृदयों में कर्मसंकल्प धारण करना चाहिए। कर्मसंकल्प-शून्य हृदय ऐसा ही है जैसाकि संकुचित अन्तरिक्षवाला वन, शक्तिशून्य घोड़ा अथवा दूधरहित गाय, यज्ञाग्नि से रहित गृहस्थ, सूर्यशून्य द्युलोक और ओषधियों से शून्य पर्वत।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

सूर्यादि के प्रकाशक

सूर्यस्य चक्षुरारोहाग्नेरक्ष्णः कनीनकम्।
यत्रैतशेभिरीयसे भ्राजमानो विपश्चिता॥३२॥

प्रभु सूर्यादि सब देवों के प्रकाशक हैं। **सूर्यस्य**=सूर्य के **चक्षुः**=प्रकाशक प्रभु को, **अग्नेः (चक्षुः)**=इस पृथिवीस्थ देव अग्नि के भी प्रकाशक उस प्रभु को तथा जो **अक्ष्णः**=आँख की **कनीनकम्**=पुतली के स्थानापन्न हैं, उस प्रभु को **आरोह**=तू प्राप्त हो। जैसे योगारुढ़ बनने का अभिप्राय है योगमार्ग को प्राप्त करना, इसी प्रकार प्रभु को आरुढ़ होने का अभिप्राय है कि तू प्रभु को प्राप्त हो। मानव-जीवन का यही लक्ष्य है कि हम इस प्राकृतिक संसार में प्रभु की महिमा को देखते हुए प्रभु तक पहुँचने का प्रयत्न करें। वे प्रभु ही सूर्य को प्रकाश दे रहे हैं—अग्नि में उन्होंने ही दाहक शक्ति को रक्खा है और आँख को भी रोशनी देनेवाले वे प्रभु ही हैं। इस प्रकार प्रत्येक प्रकाशमय पदार्थ में प्रभु की महिमा का दर्शन होता है।

पिछले मन्त्र में 'हृदय में कर्मसङ्कल्प के धारण' का उल्लेख था। हमारे हृदयों में प्रभु-प्राप्ति का सङ्कल्प हो। प्रस्तुत मन्त्र में प्रार्थना करते हैं कि हमारा हृदय वह है **यत्र**= जहाँ **भ्राजमानः**=देदीप्यमान वे प्रभु विराजते हैं और **विपश्चिता**=(वि पश् चित्) इन सूर्यादि पिण्डों को सूक्ष्मता से देखकर चिन्तन करनेवाले पुरुष से **एतशेभिः** =इन इन्द्रियरूप घोड़ों के द्वारा **ईयसे**=आप प्राप्त किये जाते हो। हम अपने हृदयों में प्रभु का दर्शन करें। यह दर्शन तभी होगा जब हम सूर्यादि पिण्डों में उस प्रभु की महिमा को देखनेवाले बनेंगे। इस सृष्टि-रचना को सूक्ष्मता से देखकर चिन्तन करनेवाला पुरुष हृदयस्थ प्रभु का अवश्य दर्शन करता है। वे प्रभु भ्राजमान हैं, उनकी भ्राजमानता ही इन सूर्यादि देवों को भी भ्राजमान कर रही है। **'तेन देवा देवतामग्र आयन्'** उस प्रभु से ही ये सब देव देवत्व को प्राप्त होते हैं। मैं भी प्रभु के सम्पर्क में आकर देव बनूँगा।

भावार्थ—वे प्रभु सूर्यादि देवों के प्रकाशक हैं। सूक्ष्म दृष्टिवाला पुरुष प्रत्येक पिण्ड में प्रभु का दर्शन करता है।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—सूर्यविद्वांसौ। **छन्दः**—निचृदार्षीगायत्री [क], याजुषीजगती [र]। **स्वरः**—षड्जः [क], निषादः [र]॥

यजमान का घर

[क]उस्रावेतं धूर्षाहौ युज्येथामनश्रूऽअवीरहणौ ब्रह्मचोदनौ।
[र]स्वस्ति यजमानस्य गृहान् गच्छतम्॥३३॥

प्रभु की उपासना करनेवाले पति-पत्नी कैसे बनते हैं—

१. **उस्रौ**=(उस्रा=रश्मि—नि० १।५) ये ज्ञान की रश्मियोंवाले होते हैं। नैत्यिक स्वाध्याय के कारण इनकी ज्ञानाग्नि सदा प्रकाशित रहती है। २. **धूर्षाहौ**=(धुरं सहेते) गृहस्थ के बोझ को उठाने में ये सदा समर्थ होते हैं। प्रभु की उपासना इन्हें शक्ति देती है और ये गृहस्थ के कार्यभार का सुन्दरता से वहन करते हुए घर को स्वर्ग बनाने का यत्न करते हैं। २. **अनश्रू**=(अश्रुरहितौ सोत्साहौ) ये संसार-यात्रा में आनेवाले विघ्नों से घबरा नहीं जाते। कितने भी विघ्न आएँ ये रोने-धोने नहीं लगते, अपितु अपने उत्साह को स्थिर रखते हुए ये आगे और आगे बढ़ते हैं। भाग्य का रोना रोने नहीं बैठ जाते। ४. **अवीरहणौ**=अपने घर में वे यज्ञाग्नि को कभी बुझने नहीं देते। यज्ञाग्नि को बुझने देनेवाला 'वीरहा' है। ये दोनों अवीरहा बनते हैं। ५. **ब्रह्मचोदनौ** (ब्रह्म=वेद)=ये वेद से प्रेरणा लेनेवाले बनते हैं। श्रुति को परम प्रमाण मानते हुए ये अपनी जीवन-यात्रा के लिए वहीं से प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

६. ऐसे तुम दोनों **एतम्**=इस गृहस्थ-शकट में **युज्येथाम्**=जुत जाओ। इन गुणों से

युक्त पति-पत्नी गृहस्थ में प्रवेश करेंगे तो **स्वस्ति**=उनका कल्याण अवश्य होगा ही। **यजमानस्य**=यज्ञशील के **गृहान् गच्छतम्**=घर को तुम प्राप्त होओ, अर्थात् तुम्हारा घर ऐसा बने जहाँ यज्ञ करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्वाभाविक बन गया हो। यज्ञ के बिना उस घर के लोग रह ही न सकते हों।

भावार्थ—पति-पत्नी ज्ञानरश्मियोंवाले, कार्यभार को उठाने में सक्षम, न रोनेवाले, यज्ञाग्नि को न बुझने दनेवाले तथा श्रुति से प्रेरणा प्राप्त करनेवाले हों। उनका घर 'यजमान=यज्ञशील' का घर हो।

ऋषि:—वत्स:। **देवता**—यजमान:। **छन्द:**—भुरिगार्चीगायत्री[क], भुरिगार्चीबृहती[र] विराडार्च्यनुष्टुप्[उ]। **स्वर:**—षड्ज:[क], मध्यम:[र],गान्धार:[उ]।।

संस्कृत-घर

[क]भद्रो मे॑ऽसि प्रच्य॑वस्व भुवस्पते विश्वा॑न्य॒भि धामा॑नि।

[र]मा त्वा॑ परिप॒रिणो॑ विद॒न्मा त्वा॑ परिप॒न्थिनो॑ विद॒न्मा त्वा॒ वृका॑ऽअघा॒यवो॑ विदन्।

[उ]श्ये॒नो भू॒त्वा परा॑पत॒ यज॑मानस्य गृ॒हान् ग॑च्छ॒ तन्नौ॑ सँस्कृ॒तम्॥३४॥

पति-पत्नी अलग-अलग प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि—१. **भद्र: मे असि**=मेरे लिए आप कल्याण व सुख को देनेवाले हैं। इहलौकिक दृष्टिकोण से आप मेरे जीवन को सुखी बनाते हैं तो पारलौकिक दृष्टिकोण से आप ही मेरा कल्याण करते हैं। २. हे **भुवस्पते**=हे सब भुवनों व भूतों के रक्षक अथवा ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **विश्वानि धामानि**=सब तेजों को **मा अभि प्रच्यवस्व**=मेरे प्रति प्राप्त कराइए (धाम Light, lustre, power, strength)। आपकी कृपा से मैं ज्ञान की दीप्तियों को प्राप्त करूँ तथा शक्तिशाली बनूँ। ३. हे प्रभो! **त्वा**=आपको (क) **परिपरिण:**=इधर-उधर घूमकर लूटनेवाले लोग (सर्वत: सञ्चरन्तस्तस्कर-विशेषा:)। **मा विदन्**=मत प्राप्त करें और इसी प्रकार (ख) **परिपन्थिन:**=(यागादीनां प्रतिषेधका: शत्रव:) यागादि उत्तम कर्मों में विघ्न डालनेवाले लोग **त्वा**=आपको **मा विदन्**=मत प्राप्त हों। (ग) **वृका:**=(वृक आदाने) लेने ही लेनेवाले, जिन्होंने देना सीखा ही नहीं, ऐसे लोभी लोग तथा (घ) **अघायव:**=(परस्याघं कर्तुमिच्छन्ति) दूसरे का सदा बुरा करने की कामनावाले लोग **त्वा**=आपको **मा विदन्**=मत प्राप्त हों। दूसरे शब्दों में मैं 'परिपरी-परिपन्थी-वृक व अघायु' न बनूँ। इन सब वृत्तियों से ऊपर उठकर मैं आपको पानेवाला बनूँ। ४. हे प्रभो! आप तो **श्येनो भूत्वा**=श्येनवत् शीघ्रगामी होकर **परापत**=सुदूर स्थान से भी मुझे प्राप्त होओ। मैं आपसे कितना भी दूर होऊँ, अब तो मेरी यही कामना है कि मैं शीघ्र-से-शीघ्र आपको प्राप्त करनेवाला बनूँ। वस्तुत: मैं स्वयं **श्येन**=क्रियाशील बनूँगा तभी आपको प्राप्त कर पाऊँगा। ५. हे प्रभो! **यजमानस्य गृहान् गच्छ**=मुझ यज्ञशील के घर को प्राप्त होओ। 'मैं गतिशील बना हूँ—मेरी गति यज्ञों में परिणत हुई है।' इस यजुर्वेद के प्रारम्भ में आपने यही प्रेरणा दी थी कि तुम गतिशील हो और सदा उत्तम कर्मों में प्रेरित होते रहो। **तत्**=वह **नौ**=हमारा घर **संस्कृतम्**=संस्कृत हुआ है, शुद्ध बनाया गया है। हमने इसे इसीलिए तो पवित्र बनाने का प्रयत्न किया है कि हम आपको प्राप्त कर सकें। इस घर में हम आपका आतिथ्य कर पाएँ।

भावार्थ—हम प्रभु से सब ज्ञानदीप्तियों व शक्तियों को प्राप्त करके 'परिपरी-परिपन्थी-वृक व अघायु' बनने से बचें। क्रियाशील व यजमान बनकर प्रभु के स्वागत के लिए अपने

घर को संस्कृत कर लें।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—सूर्यः। **छन्दः**—निचृदार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

सूर्य का शंसन

नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे महोदेवाय तदृतꣳसपर्यत।
दूरेदृशे देवजाताय केतवे दिवस्पुत्राय सूर्याय शꣳसत॥३५॥

१. प्रभु की उपासना करते हुए कहते हैं कि **मित्रस्य**=दिन के अभिमानी देव सूर्य के तथा **वरुणस्य**=रात्रि के अभिमानी देव चन्द्र के **चक्षसे**=प्रकाशक प्रभु के लिए **नमः**=नमस्कार हो। २. **तत्**=उस **महोदेवाय**=महान् देव के लिए **ऋतम्**=ऋत की **सपर्यत**=पूजा करो, अर्थात् उस प्रभु के उपासन के लिए आवश्यक है कि हम ऋत का पालन करें। ऋत का पालन ही देवों का व्रत है। यही व्रत हमें उस ऋत—अपने तीव्र तप से ऋत को जन्म देनेवाले प्रभु के समीप प्राप्त कराएगा। ३. ऋत का पालन करते हुए उस प्रभु के लिए **शंसत**=स्तुतिवचन कहो, जो (क) **दूरेदृशे**=दूर-से-दूर देखनेवाले हैं। उन प्रभु से भागकर कभी कोई अदृष्ट नहीं हो सकता। (ख) **देवजाताय**=(**देवः जातः यस्मात्**) सब देवों को वे प्रभु जन्म देनेवाले हैं। देवों का देवत्व उस प्रभु के ही कारण है **'तेन देवा देवतामग्र आयन्'**। (ग) **केतवे**=(विज्ञानघनानन्दस्वभावाय) प्रज्ञाधन और अतएव आनन्दस्वभाव हैं। (घ) **दिवस्पुत्राय**=(दिवः पुरुत्रायते—म०) ज्ञान के द्वारा खूब रक्षण करनेवाले हैं। ज्ञान के द्वारा वे हमें (पुनाति त्रायते) पवित्र करते और हमारा रक्षण करते हैं। (ङ) **सूर्याय**=सारे संसार को कर्मों में प्रेरित करनेवाले हैं। इस प्रकार प्रभु के शंसन का अभिप्राय यही है कि हम भी 'दूर-दृष्टि बनें, अपने में दिव्य गुणों का विकास करें, प्रकाशमय जीवनवाले हों, ज्ञान के द्वारा पवित्र बन आसुरवृत्तियों से अपना रक्षण करें और निरन्तर कर्मशील हों'।

भावार्थ—प्रभु की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम नमनवाले हों (नमः), ऋत का पालन करें तथा प्रभु के गुणों का शंसन करें, जिससे हमारा ध्येय उन गुणों को प्राप्त करना हो।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—सूर्यः। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

ऋत का सदन

वरुणस्योत्तम्भनमसि वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थो वरुणस्यऽऋतसदन्यसि
वरुणस्यऽऋतसदनमसि वरुणस्यऽऋतसदनमासीद॥३६॥

१. पिछले मन्त्र की भावना को ही आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि हे जीव! तू **वरुणस्य**=वरुण को **उत्तम्भनम् असि**=सबसे ऊपर थामनेवाला है। तू अपने जीवन में सबसे प्रमुख स्थान प्रभु को देता है। प्रभु ही तेरे 'परायण' हैं। २. हे पति-पत्नि! आप दोनों अपने जीवन में **वरुणस्य**=उस वरुण के **स्कम्भसर्जनी स्थः**=स्कम्भ को बनानेवाले हो। आपके जीवन-भवन का स्कम्भ (खम्बा) प्रभु ही है, अर्थात् प्रभु के आश्रय में ही आपका जीवन चलता है। ३. हे पत्नि! तू **वरुणस्य**=उस वरुण के **ऋतसदनी असि**=ऋत के सदनवाली है, अर्थात् तेरा जीवन वरुण का घर बनता है। तू ऋत का पालन करती है। 'ऋतं तपः'=यह ऋत ही सर्वप्रथम तप है। तेरे जीवन में प्रत्येक कार्य ठीक समय पर व ठीक स्थान पर होता है। ४. हे गृहपते! तू भी **वरुणस्य**=वरुण के **ऋतसदनम् असि**=ऋत

का सदन है। तेरे जीवन में प्रत्येक कर्म ठीक होता है। तेरे सब कार्य बड़ी नियमितता से चलते हैं। ५. हे जीव! तुझे चाहिए यही कि तू **वरुणस्य**=वरुण के **ऋतसदनम्**=ऋत के सदन में ही **आसीद**=बैठे। तेरा निवास उसी घर में हो जिसमें कि ऋत का निवास है, अर्थात् जिस घर में सब क्रियाएँ बड़ी व्यवस्था से चलती हैं। यह ऋतसदन में आसीन होनेवाला जीव ही प्रभु का 'वत्स' होता है।

भावार्थ—हमारे जीवन का सर्वोपरि आधार प्रभु है। हम उस प्रभु से प्रतिपादित ऋत का पालन करनेवाले हों। हम युक्तचेष्ट बनें, युक्तचेष्ट के लिए ही योग 'दु:खहा' होता है।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

यज्ञशीलता व सोम की रक्षा—दीप्ति व शक्ति

या ते धामानि हविषा यजन्ति ता ते विश्वा परिभूरस्तु यज्ञम्।
गयस्फानः प्रतरणः सुवीरोऽवीरहा प्रचरा सोम दुर्यान्॥३७॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार 'ऋत का पालक' प्रभु का 'वत्स'=प्रिय होता है। इस ऋत के पालन से ही यह अपनी सब इन्द्रियों को बड़ा प्रशस्त बना पाता है और 'गोतम' कहलाता है। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'गोतम' कहता है कि—हे प्रभो! **ते**=तेरी **या**=जिन **धामानि**=दीप्तियों (Lustre) व शक्तियों (power) को **हविषा**=दानपूर्वक अदन से **यजन्ति**=अपने साथ सङ्गत करते हैं (यज्=सङ्गतीकरण) **ता** =उन **ते**=तेरी **विश्वा**=सब दीप्तियों व शक्तियों को **यज्ञम्**=मेरे ये श्रेष्ठतम कर्म **परिभूः अस्तु**=व्याप्त करनेवाले हों, अर्थात् मैं यज्ञमय जीवन बिताता हुआ आपकी शक्तियों व दीप्तियों को प्राप्त करनेवाला बनूँ।

२. इन्हीं दीप्तियों व शक्तियों को प्राप्त करने के लिए यह 'गोतम' सोम से प्रार्थना करता है कि—(क) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **गयस्फानः**=(गयाः प्राणाः, स्फाय् वृद्धौ) हमारी प्राणशक्ति की वृद्धि करनेवाली है। (ख) **प्रतरणः**=तेरे सुरक्षित होने पर हम सब रोगादि आपदाओं को तैरनेवाले होते हैं। (ग) **सुवीरः**=तेरा रक्षक उत्तम वीर बनता है। (घ) **अवीरहा**=हे सोम! तू वीरों को नष्ट न होने देनेवाला है। तू वीरों का परिपालक है। वीर तेरी रक्षा करते हैं तू वीरों की। ३. हे सोम! तू **दुर्यान्**=हमारे घरों में **प्रचर**=प्रकर्षेण प्राप्त होनेवाला हो। हम सोमशक्ति-सम्पन्न हों। सोमशक्ति की रक्षा से हम प्राणशक्ति की वृद्धि करनेवाले, विघ्नों को तैरनेवाले व वीर बनेंगे। वीर बनकर हम 'अवीरहा'=यज्ञाग्नि को नष्ट न होने देनेवाले होंगे। (वीरहा=यज्ञाग्नि को नष्ट करनेवाला)। यज्ञशील बनकर हम यज्ञरूप प्रभु के सच्चे उपासक होंगे। उस समय उस प्रभु की दिव्यता का हममें भी अवतरण होगा और हम प्रभु की दीप्ति व शक्ति से चमकेंगे।

भावार्थ—हम यज्ञों से प्रभु के धाम को प्राप्त करें। यज्ञशील हम सोम की रक्षा करके बनेंगे।

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

पञ्चमोऽध्यायः

ऋषिः—गोतमः। देवता—विष्णुः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

गोतम का समर्पण

अ॒ग्नेस्त॒नूर॑सि॒ विष्ण॑वे त्वा॒ सोम॑स्य त॒नूर॑सि॒ विष्ण॑वे॒ त्वाऽति॑थेराति॒थ्यम॑सि॒ विष्ण॑वे त्वा श्ये॒नाय॑ त्वा सोम॒भृते॒ विष्ण॑वे त्वा॒ऽग्नये॑ त्वा रायस्पोष॒दे विष्ण॑वे त्वा॥१॥

'गोतम' चतुर्थ अध्याय के अन्तिम मन्त्र का ऋषि था। प्रस्तुत अध्याय के प्रारम्भिक १४ मन्त्रों का ऋषि भी यही है। यह प्रभु से कहता है कि १. हे प्रभो! आप **अग्नेः**=अग्नि के **तनूः**=विस्तार करनेवाले **असि**=हैं। मेरे जीवन में अग्नि=उत्साह का सञ्चार करनेवाले आप ही हैं। इसीलिए **त्वा विष्णवे**=तुझ व्यापक प्रभु के लिए मैं अपने को अर्पित करता हूँ। २. **सोमस्य तनूः असि**=मुझमें सोमशक्ति का विस्तार करनेवाले आप हैं, अतः **विष्णवे त्वा**=तुझ व्यापक प्रभु के लिए मैं अपने को अर्पित करता हूँ। ३. **अतिथेः**=आपकी ओर निरन्तर चलनेवाले उपासक के **आतिथ्यम् असि**=आप शरीरबद्ध आतिथ्य हैं। आप स्वयं ही उसे प्राप्त हो जाते हैं, अतः **त्वा विष्णवे**=तुझ व्यापक प्रभु के लिए मैं अपने को अर्पित करता हूँ। ४. **श्येनाय त्वा**=तुझ (श्यैङ् गतौ) गतिवाले के लिए, **त्वा सोमभृते**=निरन्तर गतिशीलता के द्वारा सोम का भरण करनेवाले तेरे लिए और **त्वा विष्णवे**=तुझ व्यापक प्रभु के लिए मैं अपने को अर्पित करता हूँ। ५. **अग्नये त्वा**=(अगि गतौ) सबको अग्रगति देनेवाले और इस अग्रगति के साधनरूप में ही **रायस्पोषदे**=धन का पोषण प्राप्त करानेवाले **त्वा विष्णवे**=तुझ व्यापक परमात्मा के लिए मैं अपने को अर्पित करता हूँ। ६. ऊपर मन्त्रार्थ में यह बात स्पष्ट है कि हृदय में भी व्याप्त उस प्रभु के प्रति आत्मार्पण करने से ही हमारा जीवन (क) अग्नितत्त्वप्रधान=उत्साहमय (ख) सोम=वीर्यशक्ति का विस्तार करनेवाला (ग) प्रभु के प्रति निरन्तर चलनेवाला (घ) गतिशील (ङ) शक्तिमय और अन्त में सांसारिक उन्नति के लिए आवश्यक धन को प्राप्त करनेवाला होगा।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम उत्साहमय, शक्तिशाली, प्रभुप्रवण, कर्मनिष्ठ व श्रीसम्पन्न हों।

ऋषिः—गोतमः। देवता—विष्णुर्यज्ञः। छन्दः—आर्षीगायत्री[क], आर्चीत्रिष्टुप्[र]। स्वरः—षडजः[क], धैवतः[र]॥

प्रभु की गोतम को प्रेरणा

[क]अ॒ग्नेर्ज॒नित्र॑मसि॒ वृष॑णौ स्थऽउ॒र्वश्य॑स्या॒युर॑सि पु॒रूर॑वाऽअसि।
[र]गा॒य॒त्रेण॑ त्वा॒ छन्द॑सा मन्थामि॒ त्रैष्टु॑भेन त्वा॒ छन्द॑सा मन्थामि॒
जाग॑तेन त्वा॒ छन्द॑सा मन्थामि॥२॥

१. प्रभु आत्मार्पण करनेवाले गोतम को प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि **अग्नेः जनित्रम् असि**=तू अपने में अग्नि का उत्पन्न करनेवाला है—अर्थात् तेरा जीवन उत्साहमय और अतएव अग्रगतिवाला है। २. घर में पति-पत्नी तुम दोनों ही **वृषणौ स्थः**=शक्तिशाली होओ। पिछले मन्त्र में 'अग्नेः तनूः असि' के बाद 'सोमस्य तनूः असि' यह क्रम था। प्रस्तुत मन्त्र में भी अग्नि के बाद शक्ति का उल्लेख हुआ है। सोम की रक्षा करके ही ये वृषन्=

शक्तिशाली बनते हैं। ३. हे पत्नि! तू **उर्वशी असि**=(उरुवशी) अपने पर खूब ही नियन्त्रण रखनेवाली है। **आयुः असि**=मन को वश में रखने के लिए ही (इ=गतौ) निरन्तर गतिशील है और **पुरुरवा असि**=खूब ही प्रभु के गुणों का गान (रु शब्दे) करनेवाली है, अथवा (पृ पालनपूरणयोः) उस प्रभु का गुणगान करनेवाली है जो पालन व पूरण करनेवाला है, जिस गुणगान से जीवन में वासनाओं का आक्रमण नहीं होता और न्यूनताओं का सदा दूरीकरण होता रहता है। ४. **त्वा**=तुझे **गायत्रेण छन्दसा**=गायत्र छन्द से (गयाः प्राणाः, त्र= रक्षण, छन्द=इच्छा) प्राणशक्ति के रक्षण की इच्छा से **मन्थामि**=आलोडित करता हूँ। तेरा हृदय-सरोवर इस प्राणशक्ति के रक्षण की इच्छा से आलोडित हो उठता है, अर्थात् मैं तेरे हृदय में प्राणशक्ति-रक्षण की प्रबल भावना को पैदा करता हूँ। ५. **त्वा**=तुझे **त्रैष्टुभेन छन्दसा**=त्रैष्टुभ छन्द से (त्रि स्तुभ) काम-क्रोध व लोभ को रोकने की भावना से **मन्थामि**=आलोडित करता हूँ। तेरे हृदय में इन तीनों को रोकने की प्रबल भावना को जन्म देता हूँ। ६. **त्वा**=तुझे **जागतेन छन्दसा**=जागत छन्द से **मन्थामि**=आलोडित करता हूँ। तेरे अन्दर जगती के हित की प्रबल भावना को उत्पन्न करता हूँ।

भावार्थ—हम अपने को उत्साहमय व शक्तिशाली बनाएँ। प्राणशक्ति की वृद्धि करें, काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठें और लोकहित में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—आर्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

पति-पत्नी कैसे बनें?

भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ।
मा यज्ञꣳहिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः॥३॥

१. प्रभु कहते हैं कि **नः**=मेरी प्राप्ति के लिए **समनसौ**=समान मनवाले **भवतम्**=होओ। जो पति-पत्नी परस्पर विरुद्ध मनवाले होते हैं उनके जीवन में प्रतिक्षण अशान्ति चलती है, और इस अशान्त अवस्था में उन्होंने प्रभु को क्या प्राप्त करना? २. **सचेतसौ**=तुम समान संज्ञानवाले बनो। प्रभु को प्राप्त करने के इच्छुक पति-पत्नी को चाहिए कि वे नैत्यिक स्वाध्याय से अपनी ज्ञानाग्नि को दीप्त रक्खें और संज्ञानवाले हों। दोनों समान मनवाले हों—दोनों की इच्छा ज्ञान-प्राप्ति की हो। ज्ञान प्राप्त करके ३. **अरेपसौ** =आप दोनों निर्दोष **भवतम्**=होओ। (रेपस्=Sin) ज्ञान के समान पवित्र करनेवाला कुछ है ही नहीं। यह ज्ञान तुम्हारे सब दोषों को भस्म करनेवाला हो। इस प्रकार निर्दोष बनकर ४. **यज्ञं मा हिंसिष्टम्**=अपने जीवन में यज्ञ को हिंसित मत होने दो। आपका जीवन निरन्तर यज्ञमय हो। सौ-के-सौ वर्ष क्रतु (यज्ञ)-मय बिताकर **'शतक्रतु'** बनने का प्रयत्न करो। ५. इस निरन्तर यज्ञशीलता से **यज्ञपतिम्**=उस यज्ञों के पति (रक्षक) प्रभु को **मा हिंसिष्टम्**=मत हिंसित करो। उसे भूल न जाओ। उसे भूलकर तो तुम अपने को ही **'यज्ञपति'** समझने लगोगे। तुम्हें इन यज्ञों के कर्त्तव्य का गर्व हो जाएगा, और यह गर्व उन यज्ञों को आसुर यज्ञ बना देगा। ६. इन यज्ञों के लिए तुम **जातवेदसौ**=(वेदस्=Wealth) उत्पन्न धनवाले बनो, अर्थात् यज्ञों के निष्पादन के लिए आवश्यक सम्पत्ति का सम्पादन करनेवाले बनो। ७. उस सम्पत्ति से तुम **शिवौ**=सबका कल्याण करनेवाले बनो। तुम्हारा यह धन भूखे को रोटी देनेवाला व प्यासे को पानी पिलानेवाला हो। यह धन यज्ञों में विनियुक्त होकर सभी का हित-साधन करे। इस प्रकार के बनकर **अद्य**=आज ही **नः भवतम्**=तुम हमारे हो जाओ। प्रभु-गृह्य बन जाओ।

भावार्थ—प्रभुप्रवण लोग 'समान मनवाले, संज्ञानवाले, निर्दोष, यज्ञशील, यज्ञों का गर्व न करनेवाले, धनसम्पादक व कल्याणकर' होते हैं।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

अग्नि-प्रवेश

अग्नावग्निश्चरति प्रविष्टऽऋषीणां पुत्रोऽअभिशस्तिपावा।
स नः स्योनः सुयजा यजेह देवेभ्यो हव्यꣳसदमप्रयुच्छन्त्स्वाहा॥४॥

पिछले मन्त्र में 'नः भवतम्' शब्दों में 'प्रभु का बनने' का उल्लेख था। यह प्रभु का बननेवाला व्यक्ति १. **अग्नौ प्रविष्टः**=उस अग्रेणी प्रकाशमय प्रभु में प्रविष्ट हुआ-हुआ **अग्निः**=स्वयं भी अग्नि-सा बना हुआ **चरति** =अपनी क्रियाओं को करता है। प्रभु 'अग्नि' हैं। यह भक्त भी प्रभु में प्रविष्ठ होकर अग्नि ही बन जाता है। अग्नि बनकर यह अपने कर्त्तव्य कर्मों को करता चलता है। २. यह तो अब **ऋषीणां पुत्रः**=(ऋषिर्वेदः) वेदों का पुत्र होता है। वेदमन्त्रों में दिये गये ज्ञान से अपने को पवित्र करता है (पुनाति) और रोगों व वासनाओं के आक्रमण से अपने को बचाता है (त्रायते)। ३. **अभिशस्तिपावा**=यह सब प्रकार की हिंसाओं से अपने को सुरक्षित रखता है। अहिंसा ही यम-नियमों में सर्वप्रथम है, सब यम-नियमों का यह केन्द्र है। ४. प्रभु कहते हैं कि **सः नः**=वह तू हमारा बना हुआ, प्रकृति के भोगों में न फँसकर प्रभुप्रवण बना हुआ **स्योनः** =सबको सुख देनेवाला **सुयजाः**=उत्तम यज्ञोंवाला **इह**=इस जीवन में **यज**=यज्ञशील बन। तुझमें 'देवपूजा, सङ्गतीकरण व दान' की वृत्ति हो। ५. **देवेभ्यः**=देवों के लिए **सदम्** =सदा **अप्रयुच्छन्**=किसी प्रकार का प्रमाद न करता हुआ **हव्यं स्वाहा**=सुहुत हवि को देनेवाला हो। गीता के शब्दों में **'तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः'**—देवताओं से प्राप्त इन सब भोग्य पदार्थों को देवों के लिए न देकर स्वयं ही खा जानेवाला चोर है, अतः नैत्यिक अग्निहोत्र के द्वारा 'देवयज्ञ' करके ही खाना उचित है।

भावार्थ—प्रभुभक्त अग्निरूप प्रभु में प्रवेश करके अग्नि-सा ही बन जाता है—'शुद्ध'। अब इसकी सब क्रियाएँ पवित्र यज्ञात्मक होती हैं।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—विद्युत्। **छन्दः**—आर्ष्युष्णिक्[क], भुरिगार्षीपङ्क्तिः[र]। **स्वरः**—ऋषभः[क], पञ्चमः[र]॥

अहिंसा-सत्य-स्थित

[क]आपतये त्वा परिपतये गृह्णामि तनूनप्त्रे शाक्वराय शक्वनऽओजिष्ठाय।
[र]अनाधृष्टमस्यनाधृष्यं देवानामोजोऽनभिशस्त्यभिशस्तिपाऽअनभिशस्तेन्यमञ्जसा सत्यमुपगेषꣳस्विते मा धाः॥५॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार निरन्तर देवयज्ञ करनेवाला भक्त कहता है कि **आपतये**=सर्वत्र गतिवाले **परिपतये**=सर्वत्र व्याप्तिवाले **त्वा**=आपके लिए मैं इस देवयजन को **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। 'आपति व परिपति' आपको प्राप्त कर सकूँ, इस उद्देश्य से ही मैं देवयज्ञ में प्रवृत्त होता हूँ। २. आपको प्राप्त करने के लिए जो आप **तनू-नप्त्रे**=मेरे शरीर को न गिरने देनेवाले हैं। प्रभुप्रवण व्यक्ति भोगासक्त नहीं होता और परिणामतः भोगों का शिकार भी नहीं होता अथच पतित नहीं होता। ३. **शाक्वराय**=(शक्वरी=बहु, बाहु

प्रयत्ने) मैं उस प्रभु को प्राप्त करता हूँ जो शक्तिशाली हैं, सर्वत्र शक्तिशाली कर्म करनेवाले हैं **शक्वने**=सर्वशक्तिमान् हैं **ओजिष्ठाय**=अतिशेयन ओजस्वी हैं। प्रभुभक्त बनने पर मेरे कर्म भी शक्तिशाली होते हैं, मैं ओजस्वी बनता हूँ।

४. **अनाधृष्टम् असि**=हे प्रभो! आप कभी धर्षित होनेवाले नहीं—आप सदा अपराजित रहते हो। आपके उपासक **देवानाम्**=देवों का **ओजः**=बल भी **अनाधृष्टम्**=कभी हिंसित न होनेवाला और साथ ही **अनभिशस्ति**=हिंसा न करनेवाला होता है। देव शक्तिशाली होते हैं। शक्ति के कारण वे पराजित नहीं होते, परन्तु वे औरों की हिंसा भी नहीं करते। ५. हे प्रभो! आपकी कृपा से मैं **सत्यम्**=सत्य को **उपगेषम्** =प्राप्त होऊँ। उस सत्य को, जो **अनभिशस्तेन्यम्**=सब हिंसाओं से रहित है तथा **अञ्जसा**=कौटिल्यशून्य है, अर्थात् मैं सदा सरलभाव से सत्य को अपनानेवाला बनूँ—मेरा वह सत्य किसी की हिंसा का कारण न हो। ६. हे प्रभो! आप **मा**=मुझे **स्विते**=(सु इते) उत्तम आचरण में स्थापित करें। मेरे दुरित दूर हों—दुरितों से विपरीत स्वितों (दुर्+इत, सु+इत) को मैं अपनानेवाला बनूँ। यह ओज **अभिशस्तिपा**=हिंसा से रक्षा करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासक सत्यभाषण करता है—उसका सत्य किसी की हिंसा नहीं करता। यह सदा स्वित=उत्तम मार्ग पर चलता है।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

व्रत-पालन

अग्ने॑ व्रतपा॒स्त्वे व्र॑तपा॒ या तव॑ त॒नूरि॒यꣳसा मयि॒ यो मम॑ त॒नूरे॒षा सा त्वयि॑
स॒ह नौ॑ व्रतपते व्र॒तान्यनु॑ मे दी॒क्षां दी॒क्षाप॑ति॒र्मन्य॑ता॒मनु॑ तप॒स्तप॑स्पतिः॥६॥

१. हे **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **व्रतपाः**=आप व्रतों के पालन करनेवाले हो। **त्वे**=तेरे उपासक भी **व्रतपाः**=व्रतों के पालने करनेवाले होते हैं, अर्थात् वे भी आपकी भाँति अपने व्रतों पर दृढ़ रहते हैं। वस्तुतः 'व्रतपा' बनकर ही ये 'व्रतपा' आपको प्राप्त करनेवाले होते हैं। २. उस समय 'उपासक भी व्रतपा आप भी व्रतपा' इस प्रकार दोनों एक-से हो जाते हो। **या तव तनूः**=जो तेरा स्वरूप है **इयं सा मयि**=वह मुझमें होता है **उ**=और **या**=जो (यो=या+उ) **मम तनूः**=मेरा शरीर है **सा त्वयि**=वह आपमें स्थित होता है। संक्षेप में कह सकते हैं कि 'मैं-तू और तू-मैं' हो जाता हूँ **(यदि वा घा स्याहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्)** इस प्रकार हमारा अभेद हो जाता है। ३. अब हे **व्रतपते**=व्रतों के रक्षक प्रभो! **नौ**=हम दोनों के **व्रतानि सह**=व्रत साथ-साथ हों, अर्थात् मेरे व्रत वही हों जो आपके व्रत हैं। आपकी भाँति ही मैं **'मैत्री, करुणा, मुदिता व उपेक्षा'** आदि वृत्तियों से युक्त होऊँ। ४. **दीक्षापतिः**=व्रत-संग्रहणों के रक्षक प्रभु **मे दीक्षाम्**=मुझे व्रतसंग्रहण के लिए **अनुमन्यताम्**=अनुमति दें, अर्थात् मेरा जीवन सदा व्रतसंग्रहणवाला हो और इन व्रतों के पालन के लिए **तपस्पतिः**=वे तप के पति प्रभु मुझे **तपः**=तप की **अनुमन्यताम्**=अनुमति दें, अर्थात् मेरा जीवन तपस्वी हो, जिससे मैं अपने व्रतों का पालने करनेवाला बनूँ। तपस्या का अभाव ही व्रतभङ्ग का कारण बनता है।

भावार्थ—प्रभु **'व्रतपा'** हैं। मैं भी **'व्रतपा'** बनूँ। व्रतपा बनकर ही मैं प्रभु का अभिन्न मित्र बनता हूँ। व्रतों के पालन के लिए मेरा जीवन तपस्वी हो।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—सोमः। **छन्दः**—आर्षीबृहती[क], आर्षीजगती[र]। **स्वरः**—मध्यमः[क], निषाद[र]॥

धन-मेधा-शक्ति

[क]अ॒ꣳशुर॑ꣳशुष्टे देव सो॒माप्या॑यता॒मिन्द्रा॒यैकधन॒विदे॑। आ तुभ्य॒मिन्द्रः॒ प्याय॑ता॒मा त्वमिन्द्रा॑य प्यायस्व। [र]आप्या॑यया॒स्मान्त्सखी॒न्त्स॒न्न्या मे॒धया॑ स्व॒स्ति ते॑ देव सोम सु॒त्याम॑शीय। एष्टा॒ राय॒ः प्रेषे भगा॑यऽऋ॒तमृ॒तवा॒दिभ्यो॒ नमो॒ द्यावा॑पृथि॒वीभ्या॑म्॥७॥

गत मन्त्र के व्रतपालन व तपस्या का आधार 'शरीर में सोम की रक्षा' है, अतः कहते हैं कि हे **देव सोम**=दिव्य गुणों के उत्पन्न करनेवाले सोम (वीर्यशक्ते)! **ते अंशुःअंशुः**=तेरा एक-एक कण **एकधनविदे**=ज्ञान-रूप मुख्य (एक) धन को प्राप्त करनेवाले **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **आप्यायताम्**=वर्धन का कारण बने (ओप्यायी वृद्धौ)। हे सोम! **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **तुभ्यं प्यायताम्**=तेरे लिए वृद्धि का कारण हो, **त्वम्**=तू **इन्द्राय प्यायस्व**=उस जितेन्द्रिय पुरुष की वृद्धि का कारण बन। रक्षा किया हुआ सोम रक्षा करनेवाले की वृद्धि का कारण बनता है। यह सोम हमें उस सोम=शान्त ब्रह्म का सखा बनाता है। इस सोम के द्वारा हम उस सोम को प्राप्त करते हैं।

२. हे **सोम**=शान्त परमात्मन्! **अस्मान् सखीन्**=हम मित्रों को **सन्न्या**=संभजनीय (सेवनीय) धन की प्राप्ति से **मेधया**=बुद्धि से **आप्यायय**=बढ़ाइए, जिससे **स्वस्ति**=हमारे जीवन की स्थिति उत्तम हो। इसी उत्तमता के लिए हे **देव सोम**=दिव्य गुणों के उत्पादक सोम! **ते सुत्याम्**=तेरे सवन को **अशीय**=मैं प्राप्त करूँ, अर्थात् मैं सोम को अपने में उत्पन्न करूँ (सुत्याम्) और उसे शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करूँ (अशीय)।

३. **आ इष्टा रायः**=हमें इष्ट धन सर्वथा प्राप्त हों। **प्र इषे**=हम अन्न-प्राप्ति के लिए आगे बढ़ें। **भगाय** =हम ज्ञानादि ऐश्वर्यों के लिए निरन्तर बढ़ें। ४. **ऋतवादिभ्यः**=जो अपने जीवन से ऋत का कथन करते हैं, अर्थात् जिनका जीवन बड़ा नियमित है, उनसे **ऋतम्**=हम ऋत का ग्रहण करें। उनका अनुकरण करते हुए ऋत का पालन करनेवाले बनें।

५. **द्यावापृथिवीभ्यां नमः**=हम द्युलोक से पृथिवीलोक तक सभी के लिए नमस्कार करते हैं। सज्जनों को ही नहीं दुर्जनों को भी 'नमः' कहते हैं। **'दुर्जनं प्रथमं वन्दे सज्जनं तदनन्तरम्'** इस सूक्ति को हम भूलते नहीं। दुर्जन को विरोधी बनाना व्यर्थ की अशान्ति मोल लेना है।

भावार्थ—हम सोम की रक्षा करते हैं, परिणामतः धन, शक्ति व मेधा को प्राप्त करते हैं। हमारा जीवन ऋत का पालन करनेवाला होता है। हम किसी के भी साथ व्यर्थ विवाद के झगड़े में नहीं पड़ते।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्षीबृहती[क], निचृदार्षीबृहती[र]। **स्वरः**—मध्यमः[क], निषादः[र]॥

'अयःशया-रजःशया-हरिशया तनूः'

[क]या ते॑ऽअग्नेऽयःश॒या त॒नूर्वर्षि॑ष्ठा गह्वरे॒ष्ठा। उ॒ग्रं वचो॒ऽअपा॑वधीत्त्वे॒षं वचो॒ऽअपा॑वधी॒त् स्वाहा॑। [र]या ते॑ऽअग्ने रजःश॒या त॒नूर्वर्षि॑ष्ठा गह्वरे॒ष्ठा। उ॒ग्रं वचो॒ऽअपा॑वधीत्त्वे॒षं वचो॒ऽअपा॑वधी॒त् स्वाहा॑। [उ]या ते॑ऽअग्ने हरिश॒या त॒नूर्वर्षि॑ष्ठा गह्वरे॒ष्ठा। उ॒ग्रं वचो॒ऽअपा॑वधीत्त्वे॒षं वचो॒ऽअपा॑वधी॒त् स्वाहा॑॥८॥

१. गत मन्त्र में सोम=वीर्यशक्ति का उल्लेख था। यही वीर्य शरीर को 'पत्थर (अश्मा) व वज्र-(steel अयः)'-तुल्य बनाता है, मन को उत्साह-सम्पन्न करके नाना प्रकार के कर्मसंकल्पों से भरता है और मस्तिष्क को दुःखों का हरण करनेवाले ज्ञान से भरता है। शरीर, मन व बुद्धि के दृष्टिकोण से उन्नत होकर यह सोम के आप्यायनवाला व्यक्ति बड़ी मधुर व विनम्र वाणी बोलता है। इसकी वाणी में उग्रता व अहंकार की झलक नहीं होती। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि हे **अग्ने**=(वीर्यं वा अग्निः—तै० १।७।२।२) सब उन्नतियों के साधक सोम (वीर्य)! **या**=जो **ते**=तेरा **अयःशया**=इस वज्रतुल्य शरीर में रहनेवाला **तनूः**=रूप है **वर्षिष्ठा**=जो सब सुखों की वर्षा करनेवाला है और **गह्वरेष्ठा**=गम्भीरता में स्थित होनेवाला है, वह **उग्रं वचः**=उग्र वचन को हमसे दूर करे और **त्वेषं वचः**=चमकते हुए गर्वपूर्ण वचनों को **अपावधीत्**=सुदूर नष्ट करे। **स्वाहा**=(सु आह) यह बात सचमुच सुन्दर है। सोम की रक्षा से शरीर दृढ़ बनता है, नीरोगता का आनन्द प्राप्त होता है, साथ ही मन में उथलापन—खिझ आदि उत्पन्न नहीं होते। यह पूर्ण स्वस्थ पुरुष न तो कटु (उग्रम्) शब्द बोलता है और न ही वह घमण्ड करता (त्वेषम्) है। २. हे **अग्ने**=सोम! **या**=जो **ते**=तेरा **रजःशया**=हृदयान्तरिक्ष (रजः) में रहनेवाला **तनूः**=रूप है, वह **वर्षिष्ठा**=सुखों की वर्षा करनेवाला और **गह्वरेष्ठा**=गम्भीरता में स्थित तेरा रूप **उग्रं वचः अपावधीत्**=उग्र वचनों को मुझसे दूर करे, **त्वेषं वचः अपावधीत्**=अहंकार से दीप्त वचनों को हमसे दूर करे। सोम की रक्षा से हृदय सदा उत्तम कर्मों की भावना से भरा रहता है। उस हृदय में किसी प्रकार की कटुता व किसी प्रकार का गर्व नहीं होता। ३. हे **अग्ने**=सोम! **या**=जो **ते**=तेरा **तनूः**=रूप **हरिशया**=सर्वदुःखहर ज्ञान में निवास करता है, जो **वर्षिष्ठा**=सुखों की वर्षा करनेवाला है और **गह्वरेष्ठा**=गम्भीरता में स्थित है, वह **उग्रं वचः अपावधीत्**=कटुवचनों को दूर करे तथा **त्वेषं वचः अपावधीत्**=अहंकार-दीप्त वचन को दूर करे। वस्तुतः सोम वर्षिष्ठ होकर हमारे मनों को आनन्दमय बनाता है और हमसे कटुवचनों को दूर करता है। यह सोम गह्वरेष्ठ होकर हमें गम्भीर बनाता है और हमें अभिमानपूर्ण वचनों से दूर करता है।

भावार्थ—सोम से हमारा शरीर वज्रतुल्य बने, मन शिवसंकल्पवाला हो और मस्तिष्क दुःखहर ज्ञान से परिपूर्ण हो। हम न कटु वचन बोलें न ही अभिमानपूर्ण बातें करें।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीगायत्री[१], भुरिग्ब्राह्मीबृहती[२], निचृद्ब्राह्मीजगती[३], याजुष्यनुष्टुप्[४]। **स्वरः**—षड्जः[१], मध्यमः[२], निषादः[३], गान्धारः[४]॥

प्रथम-द्वितीय-तृतीय पृथिवी में

[१]तप्तायनी मेऽसि वित्तायनी मेऽस्यवतान्मा नाथितादवतान्मा व्यथितात्। [२]विदेदग्निर्नभो नामाग्नेऽअङ्गिरऽआयुना नाम्नेहि योऽस्यां पृथिव्यामसि यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे विदेदग्निर्नभो नामाग्नेऽअङ्गिरऽआयुना [३]नाम्नेहि यो द्वितीयस्यां पृथिव्यामसि यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे विदेदग्निर्नभो नामाग्नेऽअङ्गिरऽआयुना नाम्नेहि यस्तृतीयस्यां पृथिव्यामसि यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे। [४]अनु त्वा देववीतये॥९॥

१. गत मन्त्र में सोम को अग्नि शब्द से स्मरण करके उसके तीन तनुओं का उल्लेख किया था। उसी तनू को सम्बोधित करके कहते हैं कि तू **मे**=मेरी **तप्तायनी**=तप्तों को शरण देनीवाली **असि**=है (तप् भाव में क्त प्रत्यय)। जब कोई भी रोग मुझपर आक्रमण

करता है उस समय तू ही मेरी रक्षा करती है। तू **मे**=मुझे **वित्तायनी**=सब वित्तों को प्राप्त करानेवाली है। तू मुझे सब आवश्यक धन प्राप्त करने योग्य बनाती है। तू **मा**=मुझे **नाथितात्**=तापों से **अवतात्**=बचा, **मा**=मुझे **व्यथितात्**=अभावजनित पीड़ाओं से **अवतात्**=बचा। वस्तुतः यह 'तनू' तप्तायनी होने से मुझे नाथितों=उपतापों से बचाती है और 'वित्तायनी' होने से व्यथित नहीं होने देती। २. इस प्रकार यह **अग्निः**=वीर्य **नभः**=(नभ हिंसायाम्) सब रोगों व बुराइयों के संहार को तथा **नाम**=नम्रता व विनीतता को **विदेत्**=हमें प्राप्त कराए। हे **अग्ने!** वीर्यशक्ते! **अङ्गिरः** =अङ्ग-अङ्ग में रस का सञ्चार करनेवाली! तू **आयुना**=दीर्घजीवन से तथा **नाम्ना**=नम्रता व विनीतता से **इहि**=हमें प्राप्त हो। तुझे प्राप्त करके हम दीर्घजीवन प्राप्त करें और नम्र बनें। हे **अग्ने**=वीर्य! **यः** =जो तू **अस्यां पृथिव्याम् असि**=इस शरीर में है और **यत् ते**=जो तेरा **अनाधृष्टम्**=न धर्षण के योग्य-न पराजित होनेवाला **नाम**=नम्रता का साधक, **यज्ञियम्**=पवित्र करनेवाला स्वरूप है **तेन**=उस कारण से ही **त्वा दधे**=मैं तेरा धारण करता हूँ। हम सोम को शरीर में धारण करें, जिससे हमारा शरीर रोगों से न दबे, हमें अभिमान न हो और हम पवित्र बने रहें।

३. यह **अग्निः**=वीर्य **नभः**=सब मलिनताओं की हिंसा को तथा **नाम**=नम्रता को **विदेत्**=प्राप्त कराए। हे **अग्ने**=अग्रगति के साधक **अङ्गिरः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रस का सञ्चार करनेवाले वीर्य! तू **आयुना** =दीर्घजीवन से व **नाम्ना**=नम्रता व यश से **इहि**=हमें प्राप्त हो। **यः**=जो तू **द्वितीयस्यां पृथिव्याम् असि** =इस द्वितीय शरीर अर्थात् सूक्ष्मशरीर में स्थित है अथवा मुख्यरूप से हृदयान्तरिक्ष में स्थित है, **यत् ते**=जो तेरा **अनाधृष्टम्**=न धर्षित होनेवाला **नाम**=नम्रतावाला **यज्ञियम्**=पवित्रीकरणवाला स्वरूप है **तेन**=उसी के कारण मैं **त्वा दधे**=तुझे धारण करता हूँ। ४. यह **अग्निः**=वीर्य **नभः**=सब कुविचारों की हिंसा को तथा **नाम**=नम्रता को **विदेत्**=प्राप्त कराए। हे **अग्ने**=सब प्रकाशों को प्राप्त करानेवाले सोम! **अङ्गिरः**=अङ्ग-रस के साधक सोम! **आयुना**=उत्तम जीवन से तथा **नाम्ना**=नम्रता से **इहि**= प्राप्त हो। **यः** =जो तू **तृतीयस्यां**=तीसरी **पृथिव्यां असि**=पृथिवी में हैं-तृतीय कारणशरीर में है अथवा आनन्दमय कोश में है, **यत्**=जो **ते**=तेरा तेज **अनाधृष्टम्**=न पराजित होनेवाला **नाम**=नम्रता का साधक **यज्ञियम्** =पवित्र है **तेन**=उसी के कारण से **त्वा दधे**=मैं तुझे धारण करता हूँ। एवं, सोम की रक्षा से 'स्थूल, सूक्ष्म व कारण' तीनों ही शरीर बड़े स्वस्थ रहते हैं। ये क्रमशः रोगों, कुविचारों व अज्ञान अथवा मन्दबुद्धियों से आक्रान्त नहीं होते। सोमरक्षा करनेवाले का शरीर नीरोग रहता है, बुद्धि सुविचारमय होती है और यह भेद-भावनाओं से ऊपर उठकर सदा आनन्दमय बना रहता है, इसीलिए यह 'गोतम' कहता है कि **त्वा अनु**=मैं तेरे पीछे चलनेवाला बनता हूँ। 'यह सब मैं इसलिए करता हूँ कि **देववीतये**=दिव्य गुणों को प्राप्त कर सकूँ।

भावार्थ—सोम हमें उपतापों व पीड़ाओं से बचाता है। यह 'स्थूल, सूक्ष्म व कारण' शरीरों में अपराजित रूप से रहकर हमें नम्र व पवित्र बनाता है। इसकी रक्षा के अनुपात में ही हम दिव्य गुणों को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—वाक्। **छन्दः**—ब्राह्म्युष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

सिंही-सपत्नसाही

सि॒ꣳह्य॑सि सपत्नसा॒ही दे॒वेभ्य॑ः कल्पस्व सि॒ꣳह्य॑सि
सपत्नसा॒ही दे॒वेभ्य॑ः शुन्धस्व सि॒ꣳह्य॑सि सपत्नसा॒ही दे॒वेभ्य॑ः शुम्भस्व॥१०॥

१. गत मन्त्र में सोम (अग्नि) के द्वारा शरीरों से सब मलों को दूर करके दिव्य गुणों की प्राप्ति का उल्लेख था। इस सोम की रक्षा करनेवाला अपनी ज्ञानाग्नि को दीप्त करके वेदवाणी का अध्ययन करता है और उस वेदवाणी से कहता है कि तू **सिंही असि**=सब बुराइयों की हिंसा करनेवाली है (हिनस्ति दोषान्) और सब ज्ञानों का सेवन करनेवाली है (सिञ्चति–द०)। **सपत्नसाही**=इस ज्ञान-सेचन के द्वारा काम-क्रोध आदि शत्रुओं का पराभव करनेवाली है। इस प्रकार सिंही और सपत्नसाही बनकर तू **देवेभ्यः**=देवों के लिए **कल्पस्व**=सामर्थ्य देनेवाली हो। २. तू **सिंही असि**=बुराइयों की हिंसा करनेवाली, ज्ञान का सेचन करनेवाली व **सपत्नसाही**=कामादि का पराभव करनेवाली है तू **देवेभ्यः**=देवों के लिए **शुन्धस्व**=शोधन करनेवाली हो। ३. तू **सिंही असि सपत्नसाही**=बुराइयों को नष्ट करनेवाली, ज्ञान का सेचन करनेवाली तथा कामादि का पराभव करनेवाली है **देवेभ्यः**=देवताओं के लिए **शुम्भस्व**=जीवन को सुशोभित व अलंकृत करनेवाली हो।

भावार्थ—वेदवाणी बुराइयों को नष्ट करती है, ज्ञान का सेचन करती है, कामादि का पराभव करती है। बुराइयों को नष्ट करके यह हमें सबल बनाती है, ज्ञान-सेचन से यह हमारा शोधन करती है। कामादि के पराभव से यह हमारे जीवन को अलंकृत करती है।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—वाक्। **छन्दः**—निचृद्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

आचार्यकुल 'आचार्य, विद्यार्थी व शिक्षा'

इन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात्पातु प्रचेतास्त्वा रुद्रैः पश्चात्पातु मनोजवास्त्वा पितृभिर्दक्षिणतः पातु विश्वकर्मा त्वादित्यैरुत्तरतः पात्विदमहं तप्तं वार्बहिर्धा यज्ञान्निःसृजामि॥११॥

१. गत मन्त्र में वेदवाणी का उल्लेख है। उसी के लिए कहते हैं कि **इन्द्रघोषः**=आचार्य **त्वा**=तुझे **वसुभिः**=वसुओं के साथ **पुरस्तात्**=सामने से **पातु**=रक्षित करे। **प्रचेताः**=आचार्य **त्वा**=तुझे **रुद्रैः**=रुद्रों के साथ **पश्चात्**=पीछे से **पातु**=रक्षित करे। **मनोजवाः**=आचार्य **त्वा**=तुझे **पितृभिः**=पितरों के साथ **दक्षिणतः**=दक्षिण से **पातु**=रक्षा दे, **विश्वकर्मा**=आचार्य **त्वा**=तुझे **आदित्यैः**=आदित्यों के साथ **उत्तरतः**=उत्तर से **पातु**=रक्षित करे। २. यहाँ मन्त्रार्थ में आचार्य का, जिसने विद्यार्थियों के साथ ज्ञानयज्ञ करना है, चार नामों से स्मरण हुआ है 'इन्द्रघोष, प्रचेताः, मनोजवाः, विश्वकर्मा'। आचार्य की पहली विशेषता यह है कि **'इन्द्र इति घोषो यस्य'**=जितेन्द्रियता के कारण उसकी प्रसिद्धि है। **'आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते'**=आचार्य स्वयं जितेन्द्रिय बनकर ही ब्रह्मचारी को जितेन्द्रिय बना पाता है।

आचार्य की दूसरी विशेषता यह है कि वह **'प्रचेताः'**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला है। अगाध ज्ञानवाला आचार्य ही विद्यार्थी से आदर पा सकता है। आचार्य की तीसरी खूबी **'मनोजवाः'** है—उसका मन बड़ा स्फूर्तिमय होना चाहिए। वह विद्यार्थियों के प्रश्नों का झट उत्तर दे सके, अन्यथा वह विद्यार्थियों की दृष्टि में गिर जाएगा। अन्त में आचार्य **'विश्वकर्मा'** हो—क्रियात्मक ज्ञान में भी निपुण हो। दूसरे शब्दों में आगम के साथ उसमें प्रयोग का भी नैपुण्य हो। प्रयोग न जानने पर आचार्य का ज्ञान एकाङ्गी-सा लगता है। ३. आचार्य की भाँति विद्यार्थी के लिए भी मन्त्र में चार शब्द आये हैं—'वसु-रुद्र-पितृ व आदित्य'। विद्यार्थी को इस शरीर में उत्तम निवासवाला होना चाहिए। वह अपने शरीर को सदा नीरोग

रक्खे। पढ़ाई बहुत कुछ स्वास्थ्य पर निर्भर है। विद्यार्थी-काल में उसे 'रुद्र' बनना, औरों को भी (रुत्+र) ज्ञान देनेवाला बनना चाहिए। जितना औरों को पढ़ाएगा उतना उसका अपना पाठ परिपक्व होगा। यह विद्यार्थी 'पितृ' बने (पा रक्षणे) कामादि वासनाओं से अपना रक्षण करनेवाला बने और आदित्य बने—जहाँ से भी ज्ञान व उत्तमता प्राप्त होती है उसे लेने में सदा उद्यत रहे (आदानात् आदित्यः)। ४. मन्त्र में शिक्षा के उद्देश्यों को भी स्पष्ट करने के लिए चार शब्दों का प्रयोग हुआ है 'पुरस्तात्, पश्चात्, दक्षिणतः, उत्तरतः'। शिक्षा हमें **पुरस्तात्**=आगे ले चलनेवाली हो, **पश्चात्**=यह हमें 'प्रत्याहार' का पाठ पढ़ाए। विषयों में गई हुई इन्द्रियों को हम वापस लाना सीखें, अर्थात् शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो हमें विषयासक्त होने से बचाए। यह हमें **दक्षिणतः**=कुशलता से कर्म करनेवाला बनाए। **उत्तरतः**=यह हमें उन्नति की ओर ले-चले और अन्ततः इस भवसागर से तैरानीवाली हो।

५. आचार्य कैसे हों? विद्यार्थी किन गुणों से युक्त हों? शिक्षा का क्या उद्देश्य हो? यह सब विचार हो चुका। अब ये सब बातें जिसपर निर्भर है उस बात का उल्लेख करते हैं कि **इदं तप्तं वाः**=इस तपे जल को **यज्ञात्**=यज्ञ से **बहिर्धा**=बाहर करके **निःसृजामि**=रखता हूँ। बाहर जो पानी है वही शरीर में 'रेतस्' है। इस रेतस् में वासनाओं के कारण एक उबाल उत्पन्न होता है। उस समय यह 'तप्तं वाः' हो जाता है। ज्ञानयज्ञ से इसे बाहर ही रखना है। आचार्यकुल का सारा वातावरण ऐसा हो जिससे वासनाओं के कारण इस रेतस् में उबाल न आये। इसी रेतस् को ज्ञानाग्नि का ईंधन बनना है। विद्यार्थी ने सदा सौम्य भोजन करते हुए इस सोम की रक्षा करनी है। आचार्यकुल का सारा वातावरण ब्रह्मचर्याश्रम के अनुकूल होना चाहिए।

भावार्थ—आचार्य जितेन्द्रिय, ज्ञानी, मेधावी, सूझवाले व प्रयोगात्मक ज्ञान में निपुण हों। ब्रह्मचारी 'स्वस्थ, एक-दूसरे को ज्ञान देनेवाले, अपने को वासनाओं से बचानेवाले तथा अच्छाइयों को ग्रहण करनेवाले हों। शिक्षा हमें आगे ले-चले, विषयासक्ति से बचाए, कर्मकुशल बनाए और उन्नत करके संसार से तराये।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—वाक्। **छन्दः**—भुरिग्ब्राह्मीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

वेद व आश्रम चतुष्टय

सिꣳह्यसि स्वाहा सिꣳह्यस्यादित्यवनिः स्वाहा सिꣳह्यसि ब्रह्मवनिः क्षत्रवनिः स्वाहा सिꣳह्यसि सुप्रजावनी रायस्पोषवनिः स्वाहा सिꣳह्यस्यावह देवान्यजमानाय स्वाहा भूतेभ्यस्त्वा॥१२॥

१. गत मन्त्र में वर्णित आचार्यकुल में पढ़ाई जानेवाली वेदवाणी का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **सिंही असि**=तू सब दोषों की हिंसा करनेवाली है और ज्ञान से सींचनेवाली है। **स्वाहा**=यह बात सचमुच ठीक कही गई है। तू **सिंही असि**=दोषों की हिंसा व ज्ञान का सेचन करनेवाली है और इस प्रकार **आदित्यवनिः**=प्रकाश का सेवन करानेवाली है। सब सद्गुणों का आदान करानेवाली है (आदानात्) **स्वाहा** =यह बात ठीक कही गई है। २. हे वेदवाणि! तू ब्रह्मचर्याश्रम में **सिंही**=दोषहिंसक, ज्ञानसेचक होकर **ब्रह्मवनिः क्षत्रवनिः**=ज्ञान का सेवन करानेवाली व बल को देनेवाली **असि**=है। **स्वाहा**=यह बात ठीक कही गई है। ज्ञान को तो यह देती ही है, व्यसनों से बचाकर शक्ति भी प्राप्त कराती है। ३. अब गृहस्थ में यह वेदवाणी **सिंही असि**=दोषहिंसक, ज्ञानसेचक होती हुई **सुप्रजावनिः**=उत्तम प्रजा को

प्राप्त करानेवाली और **रायस्पोषवनिः**=धन का पोषण प्राप्त करानेवाली है। **स्वाहा**=यह बात ठीक ही कही गई है। ज्ञान से मनुष्य सद्गृहस्थ बनता है, सुन्दर सन्तान का निर्माण कर पाता है तथा यह ज्ञान उसे धन कमाने की योग्यता भी देता है।

४. अब जीवन के तृतीयाश्रम में इस वेदवाणी से कहते हैं कि तू **सिंही असि**=दोषनाशक, ज्ञानसेचक है। तू **देवान्**=त्यागमय, ज्ञानप्रधान जीवन बितानेवाले वनस्थों को **यजमानाय**=इस सृष्टि-यज्ञ के प्रवर्तक प्रभु के लिए **आवह**=ले-चल। ये वनस्थ लोग वेदवाणी का सदा अध्ययन करते हुए **(स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्)** प्रभु के समीप पहुँचने का प्रयत्न करें। **स्वाहा**=कितनी सुन्दर यह बात है! ५. इस प्रभु के उपासक वनस्थ को अब संन्यासी बनना है और वह कहता है कि हे वेदवाणि! अब मैं **त्वा**=तुझे **भूतेभ्यः**=सब प्राणियों के हित के लिए उन्हें प्राप्त कराता हूँ। मैं तेरे ही प्रचार में जीवनयापन करता हूँ।

भावार्थ—वेदज्ञान को प्राप्त करके हम प्रथमाश्रम में विज्ञान व बल का, दूसरे में सुसन्तान व धन का, तीसरे में प्रभु-प्राप्ति व चौथे में लोकहित का साधन करें।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

संन्यासी 'ध्रुव-ध्रुवक्षित्-अच्युतक्षित्'

ध्रुवो॑ऽसि पृथि॒वीं दृ॑ꣳह ध्रुव॒क्षिद॑स्य॒न्तरि॑क्षं दृꣳहाच्युत॒क्षिद॑सि॒ दिवं॒ दृꣳहा॒ग्नेः पुरी॑षमसि॥१३॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति 'भूतेभ्यस्त्वा' शब्दों से हुई थी। एक परिव्राजक अपने जीवन का ध्येय बनाता है कि वह वेदवाणी का ज्ञान सब मनुष्यों को प्राप्त कराएगा और प्राणिमात्र के हित में प्रवृत्त रहेगा। उसी संन्यासी का वर्णन करते हुए कहते हैं कि २. **ध्रुवः असि**=तू ध्रुव है। लोग स्तुति करें, निन्दा करें, धन आये या जाये, मृत्यु हो या जीवन, परन्तु ये न्यायमार्ग से कभी विचलित नहीं होते। ३. हे परिव्राजक! तू **पृथिवीं** =अपने इस शरीर को **दृंह**=दृढ़ बना। बीमार हो गया तो यह प्रचार क्या करेगा? ४. **ध्रुवक्षित् असि**=हे संन्यासिन्! तू (ध्रुव=मर्यादा क्षि=गति) मर्यादा में गति करनेवाला है, कभी मर्यादा को तोड़ता नहीं। ५. तू **अन्तरिक्षम्**=अपने हृदयान्तरिक्ष को **दृंह**=दृढ़ कर। यह कभी तुझे मर्यादा को तोड़ने न दे। 'अन्तरिक्ष'=मध्यमार्ग से चलना ही सबसे बड़ी मर्यादा है, अति का वर्जन करना है। ६. **अच्युतक्षित् असि**=तू उस अच्युत प्रभु में निवास करनेवाला है। उस प्रभु में जो कभी भी डिगनेवाला नहीं। इस प्रभु में निवास करके तू **दिवं**=अपनी ज्ञान-ज्योति को **दृंह**=पुष्ट कर। प्रभु में स्थित व्यक्ति को अन्दर से वह ज्ञान प्राप्त होता है जो उसे कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ठीक ज्ञान देता है। ३. इस प्रकार शरीर, मन व मस्तिष्क को दृढ़ बनाकर तू **अग्नेः** =उस अग्नि नामक प्रभु का **पुरीषम्**=अपने में पूरण करनेवाला—भरनेवाला है। इस प्रकार तू प्रभु का ही छोटा रूप प्रतीत होने लगता है।

भावार्थ—एक संन्यासी को 'ध्रुव, ध्रुवक्षित् व अच्युतक्षित्' बनना चाहिए।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—सविताः। **छन्दः**—स्वराडार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

प्रभु में मन का (योग) लगाना

**युञ्जते॒ मन॑ऽउ॒त यु॑ञ्जते॒ धियो॒ विप्रा॒ विप्र॑स्य बृह॒तो वि॑प॒श्चितः॑।
वि होत्रा॑ दधे वयुना॒विदेक॒ऽइन्म॒ही दे॒वस्य॑ सवि॒तुः परि॑ष्टुति॒ः स्वाहा॑॥१४॥**

१. गत मन्त्र में 'ध्रुव, ध्रुवक्षित् व अच्युतक्षित्' बनने के लिए मन्त्र का ऋषि 'गोतम' **मनः**=मन को **युञ्जते**=उस प्रभु में लगाते हैं **उत**=और **विप्रस्य**=विशेषरूप से पूर्ण, **बृहतः**= वर्धमान **विपश्चितः**=ज्ञानी उस प्रभु की **धियः**=बुद्धियों को **विप्राः**=अपना पूरण करनेवाले ये लोग **युञ्जते**=अपने साथ जोड़ते हैं। 'मन को प्रभु में केन्द्रित करना और उस हृदयस्थ प्रभु की ज्ञानवाणियों को सुनकर अपने ज्ञान को बढ़ाना', 'विप्र' बनने का यही मार्ग है। इससे भिन्न मार्ग से हम अपना पूरण नहीं कर सकते। यदि इस ज्ञान से हम अपने को युक्त करेंगे तो हम भी 'विप्र, बृहत् व विपश्चित' बनेंगे। २. हम उस प्रभु में अपने मनों को केन्द्रित करते हैं और **वयुनावित्**=सब प्रज्ञानों को जाननेवाले (वयुनं प्रज्ञानं—नि० ३।९) **एकः इत्**=वह एक प्रभु ही **होत्राः**=सब वेदवाणियों को (होत्रा वाङ्नाम—नि० १।११) **विदधे**=अग्नि आदि ऋषियों के हृदयों में स्थापित करते हैं। ३. **सवितुः देवस्य**=उस सबके उत्पादक देव की **परिष्टुतिः**=संसार में चारों ओर विद्यमान स्तुति **मही**=महान् है। सूर्य, चन्द्र, तारे, बादल, विद्युत्, भिन्न-भिन्न दिशाओं में बहती हुई नदियाँ, पर्वत, समुद्र, वन व रेगिस्तान—सभी उस प्रभु की महिमा का प्रतिपादन कर रहे हैं। **स्वाहा**=यह कितनी सुन्दर बात है! हमें उस प्रभु की प्राप्ति के लिए 'स्व' का 'हा' करनेवाला बनना है, अर्थात् स्वार्थत्याग (सु+आह) करना है।

भावार्थ—हम मन को कन्द्रित करें, प्रभु की वाणी को सुनें और ज्ञानी बनकर सर्वत्र प्रभु की महिमा का दर्शन करें, स्वार्थमुक्त जीवन-यापन करें।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—भुरिगार्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

मेधातिथि

इ॒दं विष्णु॒र्वि च॑क्रमे त्रे॒धा नि द॑धे प॒दम्। समू॑ढमस्य पाꣳसु॒रे स्वाहा॑॥१५॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति पर उस सविता देव की महान् स्तुति का उल्लेख था। उसी स्तुति को प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **विष्णुः**=वह व्यापक परमात्मा **इदम्**=इस ब्रह्माण्ड को **विचक्रमे**=विशेष क्रमपूर्वक बनाता है। संसार को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखें तो संसार में एक विशेष क्रम दीखता है। 'विमानः' शब्द इसी भावना को व्यक्त कर रहा है कि परमेश्वर ने इस ब्रह्माण्ड के पिण्डों को विशेष मानपूर्वक बनाया है। २. **त्रेधा** =तीन प्रकार के **पदम्**=पगों को **निदधे**=उस प्रभु ने रक्खा है। 'द्युलोक, अन्तरिक्षलोक व पृथिवीलोक' ये ही तीन पग हैं। ३. ये जितने भी पिण्ड हैं वे सब-के-सब मूल में परमाणुरूप थे। परमाणुओं को ही वह-वह आकृति प्राप्त हो गई—'किस प्रकार कणों से सुन्दर कान्तिमय पिण्डों का निर्माण हो गया?' इस बात को सोचते हैं तो आश्चर्य ही होता है कि **पांसुरे**=धूलिकणमय प्रकृति-समुद्र में इन लोक-लोकान्तरों का **समूढम्**=सम्यक् प्रापण-निर्माण **अस्य**=इस परमात्मा का ही कर्म वैचित्र्य है। (वह प्रापणे, सम्=उत्तमता से)। प्रभु ने इन परमाणुओं से क्या विचित्र सृष्टि का निर्माण कर दिया। यही प्रभु की महिमा है। एक-एक अणु की रचना अद्भुत है, एक-एक पिण्ड आश्चर्य से परिपूर्ण है। एक-एक फल की रचना कितनी विस्मयकारक प्रतीत होती है? उपनिषद् के शब्दों में यह सारा संसार सचमुच प्रभु का व्याख्यान कर रहा है '**इदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्**'। यह सारा संसार **स्वाहा**=सुन्दरता से उस प्रभु का प्रतिपादन कर रहा है।

भावार्थ—यह सारा ब्रह्माण्ड प्रभु की महिमा का प्रतिपादक है। प्रभु ने तीन लोकों में विभक्त करके इस सृष्टि की रचना की है। ये तीन लोक ही प्रभु के तीन पग हैं।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—विष्णुः। छन्दः—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

इरावती-धेनुमती (अन्न, दूध)

इरावती धेनुमती हि भूतꣳसूयवसिनी मनवे दशस्या।
व्यस्कभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः स्वाहा॥१६॥

१. गत मन्त्र में विष्णु द्वारा संसार के निर्माण का उल्लेख है। इस संसार में मनुष्य को वसिष्ठ=वशियों में श्रेष्ठ व उत्तम निवासवाला बनना है। यह वसिष्ठ निम्नरूप में आराधन करता है—हे **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक! तुम दोनों **इरावती**=(इरा=अन्न—नि० २।७) प्रशस्त अन्नवाले होओ तथा **हि**=साथ ही **धेनुमती**=प्रशस्त दुधारू गौवोंवाले **भूतम्**=होओ। **सूयवसिनी**=उन गौ इत्यादि पशुओं के लिए उत्तम यवस-(=चरी)-वाले होओ। **मनवे**=मननशील ज्ञानी के लिए **दशस्या**=सब उत्तम वस्तुओं के देनेवाले होओ।

२. हे **विष्णो**=व्यापक प्रभो! आप **एते**=इन **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **व्यस्कभ्ना**=विशेषरूप से अलग-अलग थामे हुए हो और **पृथिवीम्**=इस विशाल अन्तरिक्ष को (नि० १।३) **अभितः**=सब ओर **मयूखैः**=किरणों से **दाधर्थ** =आप ही धारण व पोषणवाला करते हो। इस विशाल अन्तरिक्ष में किरणों के द्वारा सारे वायुमण्डल में प्राणदायी तत्त्वों का समावेश होता है, जिससे सब प्राणी जीवनीशक्ति प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—मनुष्य इस सृष्टि में सब वस्तुओं का विचारपूर्वक प्रयोग करे। अन्न व दूध ही उसके भोजन हैं। अधिक-से-अधिक खुले में रहने का प्रयत्न करे। यह अन्तरिक्ष प्राणशक्ति से भरा हुआ है।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—विष्णुः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

यज्ञ का ऊर्ध्वनयन

देवश्रुतौ देवेष्वाघोषतं प्राची प्रेतमध्वरं कल्पयन्तीऽऊर्ध्वं यज्ञं नयतं मा जिह्वरतम्। स्वं गोष्ठमावदतं देवी दुर्येऽआयुर्मा निर्वादिष्टं प्रजां मा निर्वादिष्टमत्र रमेथां वर्ष्मन् पृथिव्याः॥१७॥

'गत मन्त्र के अनुसार 'अन्न-दूध' का ही मननपूर्वक प्रयोग करनेवाले पति-पत्नी कैसे बनते हैं' यह विषय प्रस्तुत मन्त्र में है—१. **देवश्रुतौ**=(दिव्यविद्याश्रुतौ—द०) सृष्टि के ३३ देवों के ज्ञान का श्रवण करनेवाले तुम हो। जिन देवों के सम्पर्क में हमें सदा रहना है और वस्तुतः जिन देवों से हमारा शरीर बना है, उनका ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक ही है। २. **देवेषु**=विद्वानों के चरणों में **(विद्वाꣳसो हि देवाः) आघोषतम्**=तुम इन ज्ञान की वाणियों का उच्चरण करो। विद्वानों से ३३ देवों का ज्ञान प्राप्त करो। ३. **प्राची प्रेतम्** =(प्र अञ्च्) इस प्रकार सदा आगे बढ़ते हुए चलते चलो। हम उन्नतिशील हों, क्रियाशील हों, अकर्मण्य न हो जाएँ। ४. हम सदा **अध्वरं कल्पयन्ती**=हिंसारहित यज्ञों को करनेवाले हों। **यज्ञम्**=यज्ञ को **ऊर्ध्वम्**=ऊपर **नयतम्**=ले-चलो। हमारे यज्ञों में किसी प्रकार का विकार न आ जाए। ५. **मा जिह्वरतम्**=किसी तरह की कुटिलता न करो। हमारा जीवन सरल हो।

६. (क) **स्वं गोष्ठम्**=अपने गोष्ठ को **आवदतम्**=चारों ओर प्रख्यात करो। अपने घर की गौशाला को ऐसा सुन्दर बनाओ कि तुम्हारी गौवों की चारों ओर चर्चा हो। (ख) अथवा **स्वम्**=अपने को **गोष्ठम्**=वेदवाणियों का निवासस्थान और परिणामतः देवों का

निवासस्थान **आवदतम्**=प्रसिद्ध करो। लोगों में तुम्हारे ज्ञान व श्रेष्ठता की ही चर्चा हो। ७. **देवी**=तुम दिव्य गुणोंवाले बनो और इस प्रकार **दुर्ये**=घर को उत्तम बनानेवाले होओ। ८. **आयुः**=अपने जीवन को **मा**=मत **निर्वादिष्टम्**=(निर्=निन्दायाम्) निन्दितरूप में उच्चारित कराओ, अर्थात् आपके जीवन की निन्दा न हो। **प्रजाम्**=अपनी सन्तान का भी **मा**=मत **निर्वादिष्टम्**=निन्दित रूप में उच्चारण कराओ, अर्थात् तुम्हारी सन्तान की चारों ओर निन्दा न हो। ९. इस प्रकार प्रशस्त जीवन व प्रशस्त सन्तानवाले बनकर **पृथिव्याः**=इस पृथिवी के **वर्ष्मन्**=शरीरभूत देवयजन के स्थान में **रमेथाम्**=आनन्द का अनुभव करो, अर्थात् तुम्हारा जीवन यज्ञमय हो। तुम यज्ञस्थान को ही पृथिवी का शरीर समझो। अथवा (वर्ष्मन्=handsome form) पृथिवी के सुन्दर रूप में **रमेथाम्**=आनन्द का अनुभव करो, पृथिवी=शरीर। तुम दोनों के शरीर बड़े सुन्दर हों। पृथिवी के देवयजन में स्थित होकर ये प्रभु का स्तवन करते हैं।

भावार्थ—हम देवश्रुत बनें, जीवन में यज्ञ को ऊँचा स्थान दें, कुटिलता से दूर रहें, इस प्रकार अपने जीवन व प्रजा को सुन्दर बनाएँ और अपने सुन्दर शरीरों में आनन्द का अनुभव करें अथवा इस पृथिवी के देवयजनों में ही आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

विष्णु-स्तवन

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि।
योऽअस्कभायदुत्तरꣳसधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायो विष्णवे त्वा॥१८॥

१. मैं **विष्णोः**=व्यापक परमात्मा के **वीर्याणि**=पराक्रमयुक्त कर्मों को **नु कं**=शीघ्र ही **प्रवोचम्**=प्रकर्षेण कहता हूँ। **यः**=जो विष्णु **पार्थिवानि**=(अन्तरिक्षे विदितानि—द०) अन्तरिक्ष में होनेवाले **रजांसि** =लोकों को **विममे**=विविधता से निर्माण करता है। प्रत्येक लोक में थोड़ा-थोड़ा भेद है। २. **यः**=जो सर्वाधार प्रभु त्रिधा गति करते हुए **उत्तरम्**=इस उत्कृष्ट **सधस्थम्**=सब लोकों के (सह) एकत्र स्थित होने के स्थान इस अन्तरिक्ष को **अस्कभायत्**=थामे हुए हैं। **विचक्रमाणः त्रेधा**=वे प्रभु तीन प्रकार से गति कर रहे हैं। द्युलोक में सूर्यरूप से, अन्तरिक्षलोक में वायुरूप से और पृथिवीलोक में अग्निरूप से प्रभु की गति हो रही है। **उरुगायः**=आप विशाल गतिवाले हैं या सब पदार्थों का वेद द्वारा गायन, उपदेश करनेवाले हैं। ३. **विष्णवे त्वा**=सर्वत्र व्यापक तुझ प्रभु को पाने के लिए ही मैं प्रयत्नशील होता हूँ।

भावार्थ—वे प्रभु अत्यन्त शक्तिशाली कर्मों को करनेवाले हैं। सारे ब्रह्माण्ड को धारण करनेवाले हैं। उरुगाय हैं। मैं उन्हीं की शरण में जाता हूँ।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—निचृदार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

दोनों हाथों से

दिवो वा विष्णऽउत वा पृथिव्या महो वा विष्णऽउरोरन्तरिक्षात्।
उभा हि हस्ता वसुना पृणस्वा प्रयच्छ दक्षिणादोत सव्याद्विष्णवे त्वा॥१९॥

१. हे **विष्णो**=सर्वव्यापक प्रभो! **दिवः वा**=चाहे द्युलोक से **उत वा पृथिव्याः**=या पृथिवी से **महः उरो अन्तरिक्षात् वा**=इस महनीय विशाल अन्तरिक्ष से **उभा हि हस्ता**=निश्चय

से दोनों हाथों को **वसुना**=धन से **पृणस्व**=भर दीजिए। **विष्णो**=सर्वव्यापक प्रभो! **दक्षिणात्**=दाहिने हाथ से **उत**=और **सव्यात्**=बायें हाथ से **आप्रयच्छ**=हमें सब ओर से धन दीजिए। **विष्णवे त्वा**=तुझ विष्णु को पाने के लिए ही मैं प्रयत्नशील होता हूँ। २. उल्लिखित मन्त्रार्थ में प्रभु से द्युलोक, पृथिवीलोक व अन्तरिक्षलोक के वसु की याचना है। द्युलोक का वसु 'ज्ञान' है, पृथिवीलोक का वसु 'स्वास्थ्य' है और अन्तरिक्षलोक का वसु 'नैर्मल्य' है। एवं, भक्त, ज्ञान, स्वास्थ्य व हृदय की निर्मलता व सत्य की प्रभु से याचना करते हैं। वे प्रभु इन वसुओं के साथ हमें सर्वत्र निवास के लिए आवश्यक धन भी प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार आन्तर व बाह्य धनों को प्राप्त करके हम अध्यात्म उन्नति के लिए पूर्ण अवसर पाते हैं। इस अवसर का उचित उपयोग उठाकर हम उस विष्णु को पाने में समर्थ होते हैं।

भावार्थ—अनुकूल वातावरण पाकर हम प्रभु को प्राप्त करने के मार्ग पर चलें।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

विष्णु के तीन विक्रमण

प्र तद्विष्णु॑ स्तवते वी॒र्ये॑ण मृ॒गो न भी॒मः कु॑च॒रो गि॑रि॒ष्ठाः।
यस्यो॒रुषु॑ त्रि॒षु वि॒क्रम॑णेष्वधिक्षि॒यन्ति॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑॥२०॥

वह **विष्णुः**=सर्वव्यापक प्रभु **मृगः**=(मार्ष्टि) हमारे जीवन का शोधन करनेवाले हैं। प्रभु के स्मरण से वासनाओं का विनाश हो जाता है। **न भीमः**=वे प्रभु हमारे लिए भयंकर नहीं हैं, वे तो पुत्रों के लिए पिता के समान हैं। **कुचरः**=(कौ चरति) वे प्रभु सम्पूर्ण पृथिवी पर विचरण करनेवाले हैं (क्वायं चरतीति)। सर्वव्यापक होते हुए भी न जाने कहाँ हैं। अदृश्य होने से ऐसा ही कहना पड़ता है। **गिरिष्ठाः**=वे प्रभु वेदवाणी में स्थित हैं। **सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति**=सारे वेद उस प्रभु का प्रतिपादन कर रहे हैं। (देहोऽपि गिरिरुच्यते—उ०) वे प्रभु 'इस शरीर में स्थित हैं। आश्चर्य तो यही है कि समीप-से-समीप हमारे ही शरीर में होते हुए दूर-से-दूर हैं—अदृश्य हैं। ये विष्णु वे हैं **यस्य**=जिनके **त्रिषु**=तीन **उरुषु**=विस्तृत **विक्रमणेषु**=विक्रमरूप लोकों में **विश्वानि**=सब **भुवनानि**=(भूतजातानि) प्राणी **अधिक्षियन्ति**=निवास करते हैं। **तत्**=(तस्मात्) अतः वे विष्णु **वीर्येण प्रस्तवते**=अपने वीरतापूर्ण कर्मों के कारण स्तुत किये जाते हैं।

भावार्थ—वे प्रभु हमारे जीवनों को शुद्ध बनाते हैं। क्या भूपृष्ठ पर, क्या पर्वतशिखर पर वे सर्वत्र विद्यमान हैं। ये तीनों लोक प्रभु के ही तीन विक्रमण हैं। इन्हीं में सब प्राणियों का निवास है।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—भुरिगार्चीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

वैष्णव

विष्णो॑ र॒राट॑मसि॒ विष्णोः॒ श्नप्त्रे॑ स्थो॒ विष्णोः॒ स्यूर॑सि॒ विष्णो॑र्ध्रु॒वो॒ऽसि।
वै॒ष्ण॒वम॑सि॒ विष्ण॑वे त्वा॥२१॥

गत मन्त्र के अनुसार विष्णु का स्मरण करनेवाले पवित्र बनते हैं। विष्णु यज्ञरूप हैं, अतः इनका जीवन यज्ञमय होता है। मन्त्र में कहते हैं कि तू **विष्णोः**=यज्ञ का **रराटम् असि**=ललाट है, मस्तक है। यज्ञ करनेवालों का तू मूर्धन्य बनता है। 'रठ परिभाषणे' धातु

से इस शब्द को बनाएँ तो अर्थ होगा कि तू सदा यज्ञ का ही जप करनेवाला, यज्ञ की ही रट लगानेवाला है। **विष्णोः**=यज्ञ के **श्नप्त्रे**=(सृक्किणी) तुम ओष्ठप्रान्त हो। तुम्हारे जीवन का आदि-अन्त यह यज्ञ ही है। तू **विष्णोः**=यज्ञ को **स्यूः असि**=अपने जीवन के साथ सी लेनेवाला है। यज्ञ तेरे जीवन से अविच्छिन्न रूप से जुड़ गया है। **विष्णोः**=यज्ञ का तू **ध्रुवः असि**=ध्रुव है। निश्चित स्थान है। तू यज्ञ से अलग नहीं होता, यज्ञ तुझसे अलग नहीं होता। तू तो इस यज्ञ का भक्त बनकर **वैष्णवम् असि** =वैष्णव ही हो गया है। **विष्णवे त्वा**=तूने अपने को विष्णु के लिए अर्पित कर दिया है।

भावार्थ—हम अपने जीवनों को यज्ञमय बनाकर 'वैष्णव' बन जाएँ।

सूचना—यज्ञ विष्णु है—विष्लृ व्याप्तौ—व्यापक कर्म है।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—साम्नीपङ्क्तिः[क], भुरिगार्षीबृहती[र]। **स्वरः**—पञ्चमः[क], मध्यमः[र]॥

बृहती वाक्

[क]देवस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम्।
[र]आद॑दे॒ नार्य॑सी॒दम॒हꣳरक्ष॑सां ग्री॒वाऽअपि॑ कृन्तामि।
बृ॒हन्न॑सि बृ॒हद्र॑वा बृह॒तीमिन्द्रा॑य॒ वाचं॑ वद॥२२॥

१. गत मन्त्र में जीवन को यज्ञमय बनाने का उल्लेख था। जीवन को यज्ञमय बनानेवाला व्यक्ति संसार में प्रत्येक वस्तु का उपयोग विशेष प्रकार से करता है। वह कहता है कि हे पदार्थ! मैं **त्वा**=तुझे **सवितुः देवस्य**=उस प्रेरक देव के **प्रसवे**=प्रसव में, अनुज्ञा में **आददे**=ग्रहण करता हूँ। न अतियोग करता हूँ, न अयोग; अपितु यथायोग करके मैं तुझसे लाभान्वित होता हूँ। **अश्विनोः बाहुभ्याम्**=प्राणापानों के प्रयत्न से मैं तेरा ग्रहण करता हूँ। मैं तुझे बिना प्रयत्न के लेना नहीं चाहता, क्योंकि उस स्थिति में प्रत्येक पदार्थ हानिकर होता है। **पूष्णोः हस्ताभ्याम्**=मैं पूषा के हाथों से तेरा ग्रहण करता हूँ और तेरे उपयोग में मेरा दृष्टिकोण स्वाद व सौन्दर्य न होकर पोषण होता है। २. हे पदार्थ! वस्तुतः इसी प्रकार ग्रहण किया हुआ तू नारी (नराणामियम्) मनुष्यों का हित करनेवाला होता है। अथवा **नारिः असि**=मनुष्यों का (न अरिः) शत्रु नहीं है। जब तक दृष्टिकोण पोषण का बना रहता है, यह मनुष्य का हित-ही-हित करता है। दृष्टिकोण स्वाद का बना और ये सृष्टि के पदार्थ उसके अहित का कारण बन जाते हैं। **'रसमूला हि व्याधयः'**=सब व्याधियाँ इस स्वाद के ही कारण होती हैं। मैं इन पदार्थों का ठीक उपयोग करके इस स्थिति में हो गया हूँ कि **रक्षसां ग्रीवा अपि**=इन रोगकृमियों की ग्रीवा को ही **कृन्तामि**=काट देता हूँ। इन रोगकृमियों का समूलोन्मूलन हो जाता है। ३. हे प्रभो! आप **बृहन् असि**=मेरे इन रोगकृमियों का उद्बर्हण (विनाश) करनेवाले हो। इन राक्षसों की ग्रीवा को मैं नहीं काटता, यह काम आप ही करते हो। **बृहद् रवाः**=आप हृदयस्थरूपेण वृद्धिकारक उपदेश देनेवाले हैं। **इन्द्राय**=मुझ जितेन्द्रिय के लिए इस **बृहतीम्** =वृद्धि की कारणभूत **वाचम्**=वेदवाणी को **वद**=कहिए। आपकी कृपा से मैं इस वेदवाणी को सुनूँ। इसके सुनने से मेरी वासनाओं का उद्बर्हण होता है और यह शरीर, मन व मस्तिष्क—सभी दृष्टिकोणों से मेरी वृद्धि का कारण बनती है।

भावार्थ—मैं सब वस्तुओं का ठीक प्रयोग करूँ। राक्षसों को जीतूँ। प्रभु की बृहती वाक् को सुनूँ।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—याजुषीबृहती[उ], स्वराड्ब्राह्म्यनुष्टुप्[ख], स्वराड्ब्राह्म्युष्णिक्[र]। **स्वरः**—मध्यमः[उ], गान्धारः[ख], ऋषभः[र]॥

कृत्या का उत्कृन्तन (उच्छेद)

[उ]रक्षोहणं वलगहनं [क]वैष्णवीमिदमहं तं वलगमुत्किरामि [ख]यं मे निष्ट्यो यममात्यो निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे समानो यमसमानो निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि [र]यं मे सबन्धुर्यमसबन्धुर्निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे सजातो यमसजातो निचखानोत्कृत्याङ्किरामि॥२३॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति 'बृहतीं वाचं वद' पर थी—बृहती वाक् को बोलिए। उस बृहती वाक् को जो **रक्षोहणम्**=सब राक्षसी वृत्तियों को समाप्त कर देती है। राक्षसी वृत्तियों को ही नहीं यह रोगकृमियों को भी नष्ट करनेवाली है। २. यह वाणी **वलगहनम्**=(वल veil. संवृत रूप में ग=गति करनेवाले) हमारे मनों में छिपेरूप में विचरनेवाले मनसिज (काम) को नष्ट करनेवाली है। यह काम न जाने कब और कहाँ से हमारे अन्दर प्रविष्ट हो जाता है। हम वेदवाणी का अध्ययन करते हैं तो यह उस वासना का विनाश करती है। ३. **वैष्णवीम्**=यह वाणी मुझे वासना से ऊपर उठाकर यज्ञिय मनोवृत्तिवाला बनाती है और विष्णु (परमात्मा) को प्राप्त कराती है। ४. इस वाणी को अपनाकर **इदम्**=(इदानीम्) अब **अहम्**=मैं **तं वलगम्**=अदृश्य रूप से मेरे अन्दर आ जानेवाली उस वासना को **उत्किरामि**=उखाड़कर बाहर फेंक देता हूँ, **यम्**=जिस वासना को **मे**=मुझमें **निष्ट्यः**=बाहर होनेवाले या **यम्**=जिसको **अमात्यः**=मेरे साथ ही होनेवाले किसी व्यक्ति ने **निचखान**=गाड़ दिया है। हममें वासनाएँ सङ्ग से उत्पन्न हो जाती हैं। कई बार इसके उत्पन्न करनेवाले बाहर के व्यक्ति होते हैं। ५. **इदम्**=अब **अहम्**=मैं **तं वलगम्**=उस संवृतरूप से गति करनेवाले काम को **उत्किरामि**=उखाड़ फेंकता हूँ **यम्**=जिसे **मे**=मुझमें **समानः**=समान आयु का **यम्**=जिसे **असमानः**=बड़ी आयु का मनुष्य **निचखान**=गाड़ देता है। हमउम्र साथियों से यह वासना उत्पन्न कर दी जाती है। कई बार बड़ी आयु के व्यक्ति भी इस बुरी आदत को पैदा करने के कारण बन जाते हैं। ६. **इदम् अहम्**=अब मैं **तं वलगम्**=उस मनसिज (काम) को **उत्किरामि**=उखाड़ फेंकता हूँ **यम्**=जिसे **मे**=मुझमें **सबन्धुः**=कोई सगोत्र व्यक्ति या **यम्**=जिसे **असबन्धुः**=असगोत्र व्यक्ति **निचखान**=गाड़ देता है। इस वासना की उत्पत्ति में रिश्तेदार भी कारण बन जाते हैं और जो रिश्तेदार नहीं होते वे भी। ७. **इदम् अहम्**=यह मैं **तं वलगम्**=उस वासना को **उत्किरामि**=उखाड़ फेंकता हूँ **यम्**=जिसे **मे**=मुझमें **सजातः**=सगा व्यक्ति, समान स्थान में उत्पन्न हुआ व्यक्ति **यम्**=जिसे **असजातः**=असमान स्थान में उत्पन्न व्यक्ति, दूर का व्यक्ति **निचखान**=गाड़ देता है। **कृत्याम्** (कृती छेदने)=छेदन-भेदन करनेवाली इस वासना को मैं **उत्किरामि** =निश्चय से उखाड़ फेंकता हूँ।

भावार्थ—मानव-जीवन का ध्येय यही होना चाहिए कि 'मैं इस अनन्त कारणों से, न जाने कब उत्पन्न हो जानेवाली अदृश्य वासना को अवश्य ही उखाड़ फेंकूँगा।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। **देवता**—सूर्यविद्वांसौ। **छन्दः**—भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

'स्वराट् से सर्वराट्'

स्वराडसि सपत्नहा सत्रराडस्यभिमातिहा जनराडसि
रक्षोहा सर्वराडस्यमित्रहा॥२४॥

१. गत मन्त्र के अनुसार वासना का उच्छेद करनेवाला यह 'दीर्घतमा' प्रभु का प्रिय बनता है। प्रभु इससे कहते हैं कि तू अपने इस जीवन के प्रथम प्रयाण में **स्वराट् असि**=स्वराट् है, अपना शासन करनेवाला बना है (स्व=अपना, राज्=regulate) तूने अपने जीवन को बड़ा नियमित बनाया है। **सपत्नहा**=तूने 'काम, क्रोध, लोभ, मोह व मद-मत्सर' इन सब शत्रुओं का हनन किया है। २. जीवन के दूसरे प्रयाण में तू **सत्रराट् असि**=यज्ञों से दीप्त होनेवाला बना है, यज्ञों से तेरी कीर्ति चारों ओर फैली है और **अभिमातिहा**=तूने अभिमानरूप शत्रु का संहार किया है। ३. अब जीवन की तृतीय मंजिल में **जनराट् असि**= तू अपने विकास से चमकनेवाला हुआ है (जनी=प्रादुर्भाव, विकास, evolution) और **रक्षोहा**=सब रोगकृमियों का या राक्षसी वृत्तियों का हनन करनेवाला है। शरीर से भी नीरोग रहता है और मन से भी प्रसादमय रहता है। ४. इस प्रकार **'सर्वराट् असि'**=तू सर्वव्यापक होने से 'सर्व' नामवाले प्रभु से चमकनेवाला बना है। उसको सदा हृदय में धारण करने से तेरा चेहरा ब्रह्मवर्चस् की दीप्ति से चमकता है और तू **अमित्रहा**=अस्नेह की भावना को समाप्त करनेवाला हुआ है। तेरा सबके प्रति प्रेम है। सारी वसुधा तेरा कुटुम्ब बन गई है। सभी तेरी मैं में समाविष्ट हो गये हैं और तू भी अपने उपास्य की तरह 'सर्व' बन गया है।

भावार्थ—हमें क्रमशः 'स्वराट्, सत्रराट् व जनराट्' बनकर सर्वराट् बनना है।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—ब्राह्मीबृहती[क], आर्षीपङ्क्तिः[र]। **स्वरः**—मध्यमः[क], पञ्चमः[र]॥

'प्रोक्षण-अवनयन-अवस्तरण' उपधान-पर्यूहण

[क]रक्षोहणो वो वलगहनः प्रोक्षामि वैष्णवान्रक्षोहणो वो वलगहनोऽवनयामि वैष्णवान्रक्षोहणो वो वलगहनोऽवस्तृणामि वैष्णवान्रक्षोहणौ [र]वां वलगहनाऽउपदधामि वैष्णवी रक्षोहणौ वां वलगहनौ पर्यूहामि वैष्णवी वैष्णवमसि वैष्णवा स्थ॥२५॥

१. २३वें मन्त्र में राक्षसी वृत्तियों व काम के विध्वंस का उल्लेख था। उन्हीं के विषय में प्रभु कहते हैं कि **वः**=तुममें से **रक्षोहणः**=इन राक्षसी वृत्तियों का विध्वंस करनेवालों को **वलगहनः**=संवृत (veiled) रूप में गति करनेवाले इस काम का हनन करनेवालों को **प्रोक्षामि**=मैं ज्ञान से सिक्त करता हूँ। जो तुम **वैष्णवान्**=वासना को जीतकर व्यापक मनोवृत्तिवाले बने हो (विष् व्याप्तौ)। २. **वः**=तुममें से **रक्षोहणः** =रोगकृमियों का संहार करनेवालों को तथा **वलगहनः**=काम का हनन करनेवाले राक्षसों को **अवनयामि**=इन बन्धनों से दूर ले-जाता हूँ, क्योंकि तुम **वैष्णवान्**=यज्ञिय जीवनवाले बने हो (विष्णुर्वै यज्ञः) ३. **रक्षोहणः**= अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवालों राक्षसों का हनन करनेवाले **वलगहनः**=वासना को नष्ट करनेवाले **वः**=तुम्हें **अवस्तृणामि**=संसार के कष्टों से दूर आच्छादित करता हूँ, क्योंकि तुम **वैष्णवान्**=विष्णु—व्यापक प्रभु के उपासक बने हो। ४. गृहस्थ में **रक्षोहणौ**= रोगकृमियों का नाश करनेवाले **वाम्**=तुम दोनों **वलगहनौ**=वासना का हनन करनेवाले पति-पत्नी को **उपदधामि**=मैं अपने समीप स्थापित करता हूँ। **वैष्णवी**=वह वेदवाणी इन पति-पत्नी के हृदयों को विशाल बनानेवाली है। **रक्षोहणौ**=राक्षसी भावों का नाश करनेवाले **वाम्**=तुम दोनों **वलगहनौ**=कामघाती पति-पत्नी को **पर्यूहामि**=इस वेदवाणी के द्वारा (परि ऊहामि=परि प्रापयामि) सब सन्देहों के परे पहुँचाता हूँ। आपको आपके मार्ग का निश्चय कराता हूँ। **वैष्णवी**=यह वेदवाणी व्यापक ज्ञानवाली है। **वैष्णवम् असि**=वेद का ज्ञान यज्ञों व विष्णु का ज्ञान है। इनमें परमात्मा व यज्ञों का प्रतिपादन है। **वैष्णवाः स्थ**=तुम सब उस व्यापक

प्रभु के उपासक बनो।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञान से अभिषिक्त करते हैं, वासनाओं के बन्धनों से दूर ले-जाते हैं, संसार के कष्टों से सुदूर सुरक्षित करते हैं, अपने समीप स्थापित करते हैं और सब सन्देहों से परे पहुँचाते हैं।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—निचृदार्षीपङ्क्तिः[क], निचृदार्षीत्रिष्टुप्[र]।
स्वरः—पञ्चमः[क], धैवतः[र]॥

यव

[क]देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। आददे नार्यसीदमहꣳ रक्षसां ग्रीवाऽअपि कृन्तामि। [र]यवोऽसि यवयास्मद् द्वेषो यवयारातीर्दिवे त्वाऽन्तरिक्षाय त्वा पृथिव्यै त्वा शुन्धन्ताँल्लोकाः पितृषदनाः पितृषदनमसि॥ २६॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार ज्ञान से सिक्त व्यक्ति संसार में ठीक प्रकार से चलता है। वह कहता है कि हे पदार्थ! मैं **त्वा**=तुझे **सवितुः देवस्य**=उस प्रेरक देव की **प्रसवे**=अनुज्ञा में ग्रहण करता हूँ, अर्थात् प्रभु ने **'पयः पशूनाम्'**=पशुओं के दूध के प्रयोग का आदेश दिया है तो मैं उनका दूध ही लेता हूँ, उनका मांस नहीं खाता। **अश्विनोः बाहुभ्याम्**=प्राणापान के प्रयत्न से मैं तेरा ग्रहण करता हूँ। **'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व'**=इस उपदेश का ध्यान करता हुआ श्रम को अपने जीवन से दूर नहीं होने देता। **पूष्णो हस्ताभ्याम् आददे**=पूषा के हाथों से मैं तेरा ग्रहण करता हूँ। मैं स्वाद के लिए नहीं खाता, सौन्दर्य के लिए नहीं पहनता, परिणमतः तू **नारी असि**=मुझ नर की शक्ति बनता है। विपरीतावस्था में यह उसकी शक्ति का ह्रास करनेवाला उसका (अरिः) शत्रु हो जाता है। २. **इदम्**=अब इस प्रकार शक्तिशाली बनकर **रक्षसां ग्रीवा अपिकृन्तामि**=मैं राक्षसों की ग्रीवा को भी काट देता हूँ। अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाले रोगकृमि ही 'रक्षस्' हैं (र+क्ष)। जब मनुष्य प्रत्येक पदार्थ का यथायोग सेवन करता है, प्रयत्न से पदार्थों का उपार्जन करता है और पोषण के दृष्टिकोण से ही वस्तुओं को स्वीकार करता है तब वस्तुतः वह रोगकृमियों का संहार कर पाता है। रोगकृमियों के नाश से शरीर तो सुन्दर बनता ही है, मन भी निर्मल बनता है। सब पदार्थों का ठीक प्रयोग हमारे हृदयों को वासनाओं से हिंसित नहीं होने देता, अतः मन्त्र में कहते हैं कि ३. **यवः असि**=हे प्रभो! आप यव हो। (यु मिश्रणामिश्रणयोः) हमें बुराइयों से पृथक् करके अच्छाइयों से जोड़नेवाले हो, अतः **अस्मत्**=हमसे **द्वेषः**=द्वेष को **यवय**=पृथक् कीजिए। **अरातीः**=न देने की भावनाओं को **यवय** =पृथक् कीजिए। ४. हे प्रभो! **दिवे त्वा**=मस्तिष्करूप द्युलोक के लिए मैं तुझे प्राप्त होता हूँ। आपकी उपासना से मेरा मस्तिष्क ठीक हो। **अन्तरिक्षाय त्वा**=हृदयान्तरिक्ष के ठीक रखने के लिए मैं आपको प्राप्त होता हूँ। आपकी कृपा से मेरा हृदयान्तरिक्ष वासनाओं के बवण्डर से मलिन न हो। **पृथिव्यै त्वा**=शरीररूप पृथिवी के विस्तार के लिए मैं तुझे प्राप्त होता हूँ। आपकी उपासना से मेरा शरीर शुद्ध बनता है। ५. **लोकाः शुन्धन्ताम्** =मेरे तीनों लोक शुद्ध हों। मस्तिष्करूप द्युलोक, हृदयरूप अन्तरिक्षलोक तथा शरीररूप पृथिवीलोक सभी मलों से रहित हों। द्युलोक में भ्रमों के बवण्डर न हों, अन्तरिक्ष में वासनाओं के तूफान न हों, पृथिवी पर—शरीर में **मल**=foreign matter का सञ्चय न हो। ६. **पितृषदनाः**=हे प्रभो! हमारे घर ज्ञानियों के निवासस्थान बनें। (पितरः ज्ञानिनः सीदन्तु येषु) अर्थात् हमें सदा ज्ञानियों का सङ्ग प्राप्त रहे। अब मन्त्र की समाप्ति पर अपने को प्रेरणा देता हुआ

दीर्घतमा कहता है कि हे मेरे हृदय **'पितृषदनम् असि'**–तू ज्ञानियों का घर है, अर्थात् मेरे हृदय में सदा ज्ञानियों की चर्चा (विचारणा) रहे।

भावार्थ–ज्ञानियों के सम्पर्क में रहकर हम अपने जीवनों को शुद्ध कर लें। हमारे हृदयों में न द्वेष हो न अदान की भावना।

ऋषिः–औतथ्यो दीर्घतमाः। **देवता**–यज्ञः। **छन्दः**–ब्राह्मीजगती। **स्वरः**–निषादः॥

ब्रह्म, क्षत्र, आयु, प्रजा

उद्दिवꣳस्तभानान्तरिक्षं पृण दृꣳहस्व पृथिव्यां द्युतानस्त्वा मारुतो मिनोतु मित्रावरुणौ ध्रुवेण धर्मणा। ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि रायस्पोषवनि पर्यूहामि। ब्रह्म दृꣳह क्षत्रं दृꣳहायुर्दृꣳह प्रजां दृꣳह॥२७॥

दीर्घतमा को, जिसने गत मन्त्र में सब लोकों के शोधन की प्रार्थना की है, प्रभु प्रेरणा देते हैं कि–१. **दिवं उत्स्तभान**=तू अपने मस्तिष्क को ऊपर थाम। जैसे पर्वत के मेखलाप्रदेश में ही बादल उमड़ते हैं और उसका शिखर सूर्य के प्रकाश से दीप्त रहता है, उसी प्रकार तेरा मस्तिष्क भी ज्ञान की ज्योति से जगमगाता रहे। वह कभी भ्रमों व सन्देहों से न भर जाए। २. **अन्तरिक्षम्**=तू अपने हृदयान्तरिक्ष को **पृण**=परिपूरण कर। अपने हृदय को वासनाओं के आक्रमण से सुरक्षित कर। ३. **पृथिव्यां दृंहस्व**=इस शरीर में तू दृढ़ बन। शरीर ही पृथिवी है। जैसे पृथिवी दृढ़ है, उसी प्रकार तू दृढ़ शरीरवाला बन। ४. **द्युतानः**=(दिवं तनोति) ज्ञान का विस्तार करनेवाला **मारुतः**=प्राण-साधना करनेवाला विद्वान् **त्वा**=तुझे **मिनोतु**=विषयों से परे फेंके, अर्थात् विषयवासना के संसार में उलझने न दे। ५. **मित्रावरुणौ**=स्नेह की देवता तथा द्वेष-निवारण की देवता तुझे **ध्रुवेण धर्मणा**=ध्रुव धर्म से युक्त करें, अर्थात् स्नेह व अद्वेष तुझे धर्म के मार्ग पर दृढ़ करें। ६. **ब्रह्मवनि**=ज्ञान का विजय करनेवाले **त्वा**=तुझे, **क्षत्रवनि**=बल का विजय करनेवाले, **रायस्पोषवनि**=धन के पोषण का विजय करनेवाले **त्वा**=तुझको **पर्यूहामि**=मैं अपने समीप प्राप्त कराता हूँ। वस्तुतः प्रभु को वही प्राप्त करता है जो ज्ञान के द्वारा अध्यात्म उन्नति का साधन करता है, बल के द्वारा शरीर की उन्नति का साधन करता है और धन से सांसारिक उन्नति को सिद्ध करता है। ज्ञान से **'सत्य'**, बल से **'यश'** तथा धन से **'शक्ति'** साधन करके हम प्रभु को प्राप्त करते हैं। ७. अतः तू **ब्रह्म दृंह**=अपने ज्ञान को दृढ़ कर, **क्षत्रं दृंह**=बल को दृढ़कर, **आयुः दृंह**=अपनी आयु को दृढ़कर और **प्रजाम्**=प्रजा को **दृंह**=दृढ़ कर। वस्तुतः ज्ञान की दृढ़ता से जीवन की दृढ़ता होती है और बल की दृढ़ता से सन्तान की दृढ़ता सिद्ध होती है। ज्ञान से जीवन, बल से सन्तान उत्तम होते हैं।

भावार्थ–प्रभु को प्राप्त करने के लिए जहाँ ज्ञान और बल की आवश्यकता है, वहाँ जीवन व सन्तान को सुन्दर बनाना भी नितान्त आवश्यक है।

ऋषिः–औतथ्यो दीर्घतमाः। **देवता**–यज्ञः। **छन्दः**–आर्षीजगती। **स्वरः**–निषादः॥

छाया

ध्रुवासि ध्रुवोऽयं यजमानोऽस्मिन्नायतने प्रजया पशुभिर्भूयात्।
घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथामिन्द्रस्य छदिरसि विश्वजनस्य छाया॥२८॥

१. गत मन्त्र की प्रेरणा ही प्रस्तुत मन्त्र में चल रही है। प्रभु कहते हैं कि अपने ज्ञान

व बल को दृढ़ करके एक गृहपत्नी **ध्रुवा असि**=ध्रुव बनी है। यह अपने मार्ग से विचलित नहीं होती। २. **अयं यजमानः**=यह यज्ञ के स्वभाववाला पति भी **अस्मिन् आयतने**=इस घर में **ध्रुवः**=स्थिर होकर निवास करनेवाला है। पति-पत्नी दोनों ही ध्रुव हैं। ये अपने मार्ग से विचलित नहीं होते। २. इस ध्रुवता के परिणामस्वरूप यह यजमान **प्रजया पशुभिः**=उत्तम सन्तानों व उत्तम गवादि पशुओं से **भूयात्**=फूले व फले। ३. इसके **द्यावापृथिवी** =मस्तिष्क व शरीर **घृतेन**=ज्ञान की दीप्ति से व मलों के क्षरण से **पूर्येथाम्**=पालित व पूरित हों। मस्तिष्क ज्ञानज्योति से पूर्ण हो तो शरीर भी मलों के क्षरण से पूर्ण स्वस्थ हो। ४. तू **इन्द्रस्य छदिः असि**=परमैश्वर्यशाली व सर्वशक्तिमान् प्रभु की छतवाला है। जैसे छत सर्दी-गर्मी, ओले-वर्षा से बचाती है इस प्रकार तू प्रभुरूपी छतवाला होता है और सब बुराइयों के आक्रमण से बचा रहता है। ५. उस 'इन्द्र' को छत के रूप में प्राप्त करके तू **विश्वजनस्य**=सब लोगों की **छाया**=शरणस्थल बनता है। प्रभु तेरे रक्षक बनते हैं, तू लोगों को सन्ताप से सुरक्षित करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु मेरे रक्षक हैं। मैं औरों का सन्ताप दूर करनेवाला बनूँ। मेरा मस्तिष्क ज्ञानदीप्ति से पूर्ण हो। मेरा शरीर मैल से रहित होकर स्वस्थ बने।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। **देवता**—ईश्वरसभाध्यक्षौ। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

वृद्धिशील-प्रिय (वृद्धयः-जुष्टयः)

परि त्वा गिर्वणो गिरऽइमा भवन्तु विश्वतः।
वृद्धायुमनु वृद्धयो जुष्टा भवन्तु जुष्टयः॥२९॥

१. पिछले मन्त्र की भावना के अनुसार यदि हम 'प्रभु के आश्रय' वाले बनना चाहते हैं तो हमारी प्रार्थना का स्वरूप यह होता है—हे **गिर्वणः**=(गीर्भिः स्तोतुमर्हः) वेद-वाणियों से स्तवन के योग्य प्रभो! **इमाः गिरः** =ये मेरी वाणियाँ **विश्वतः**=सब ओर से हटकर **त्वा परिभवन्तु**=आपके चारों ओर हों, अर्थात् मैं अपना ध्यान और सब ओर से हटकर अपनी वाणियों को आपके स्तवन में लगाऊँ। २. यह प्रभु-स्तवन हमें पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त कराता है। इससे हमारा मस्तिष्क दीप्त बनता है, मन पवित्र बनता है और शरीर दृढ़ बनता है। यह त्रिविध उन्नति करके—तीन पगों को रखकर—मनुष्य उत्कृष्ट जीवनवाला बनता है (वृद्धम् आयुर्यस्य) यह उत्कृष्ट जीवनवाला व्यक्ति 'वृद्धायु' कहलाता है। घर में मूलपुरुष के वृद्धायु होने पर आगे आनेवाले सन्तान भी वैसे ही बनते हैं। **वृद्धायुम् अनु**=इन उत्कृष्ट जीवनवाले पितरों का अनुकरण करते हुए **वृद्धयः**=उनके सन्तान भी वृद्धिवाले होते हैं। सन्तान माता-पिता के अनुरूप ही बनते हैं। ये सन्तान **जुष्टयः**=(जुषी प्रीतिसेवनयोः) बड़े प्रीतिपूर्वक अपने कर्त्तव्यों का सेवन करनेवाले हों और परिणामतः **जुष्टाः भवन्तु**=बड़े प्रिय हों। अपने माता-पिता के प्यारे बनें। बन्धु-बान्धवों व परिचितों के वे प्रिय हों।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन करनेवाले बनें। इससे हमारे जीवन उत्कृष्ट होंगे, हमारे सन्तानों के जीवन अच्छे बनेंगे और अपना कर्त्तव्य सेवन करनेवाले बनकर सभी के प्रिय होंगे।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—ईश्वरसभाध्यक्षौ। **छन्दः**—आर्च्युष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

प्रभु के साथ सिल जाना (इन्द्रस्य स्यूः)

इन्द्रस्य स्यूरसीन्द्रस्य ध्रुवोऽसि। ऐन्द्रमसि वैश्वदेवमसि॥३०॥

गत मन्त्र में 'दीर्घतमा' ऋषि का प्रभु-स्तवन समाप्त हुआ है। उसकी कामना यही रही है कि मेरी वाणियाँ सब ओर से हटकर प्रभु का ही स्तवन करनेवाली बनें। इससे उत्तम और कामना हो भी क्या सकती है? इस उत्तम कामनावाला यह अब 'मधुच्छन्दाः' बन जाता है—उत्तम इच्छाओंवाला। दूसरे शब्दों में दीर्घतमा=अज्ञान का विदारण करनेवाला मधुच्छन्दा—उत्तम इच्छाओंवाला बनकर अपने से कहता है कि—१. तू **इन्द्रस्य** =परमैश्वर्यशाली प्रभु को **स्यूः**=अपने साथ सी लेनेवाला **असि**=है। तूने उस प्रभु को अपने साथ जोड़ा है। २. **इन्द्रस्य ध्रुवः असि**=तू इन्द्र के ध्रुववाला है, अर्थात् तेरी सारी क्रियाएँ उस इन्द्र के ही चारों ओर घूमती हैं। 'इन्द्र का तू ध्रुव है' यह अर्थ करने पर भी भावना यही है कि तू चारों ओर प्रभु से आवृत है। ३. **ऐन्द्रम् असि**=प्रभु के निरन्तर सम्पर्क के कारण तू भी परमैश्वर्य का अधिकरण बना है और **वैश्वदेवम् असि**=सब दिव्य गुणों का तू अधिकरण हुआ है, अर्थात् 'सतत प्रभु उपासन' का तेरे जीवन पर यह प्रभाव हुआ है कि तू जहाँ परमैश्वर्य का अधिष्ठान बना है वहाँ सब दिव्य गुणों का भी निवासस्थान हुआ है। ऐश्वर्य व दिव्य गुणों को प्राप्त करके तू भी बहुत कुछ उस प्रभु-जैसा हो गया है। उपासना का यह परिणाम होना ही चाहिए था।

भावार्थ—मधुच्छन्दा प्रार्थना करता है कि मैं प्रभु के साथ सिल जाऊँ। उससे अलग हो ही न सकूँ। प्रभु ही मेरे ध्रुव हों—केन्द्रबिन्दु हों। मेरी सारी क्रियाएँ उन्हीं के चारों ओर घूमें जिससे मैं भी परमैश्वर्य व दिव्य गुणों का अधिकरण बनूँ।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

मधुच्छन्दा का प्रभु-स्तवन

विभूरसि प्रवाहणो वह्निरसि हव्यवाहनः।
श्वात्रोऽसि प्रचेतास्तुथोऽसि विश्ववेदाः॥३१॥

गत मन्त्र के अनुसार प्रभु के साथ अभिन्न हो जाने की कामनावाला मधुच्छन्दा प्रभु-स्तवन करता हुआ कहता है कि—१. हे प्रभो! **विभूः असि**=(वि-भवति) आप सर्वव्यापक हो, सब वैभवोंवाले हो (विभव=विभूति), **प्रवाहणः**=सारे संसार के संचालक हो। इस संसार को गति देनेवाले आप ही हैं। ये अत्यन्त तीव्र गति में चलते हुए पिण्ड आपसे ही गति पा रहे हैं। २. आप **वह्निः असि**=सारे संसार का वहन व धारण करनेवाले हैं, **हव्यवाहनः**=सब प्राणियों के लिए हव्यों को प्राप्त करानेवाले हैं। हव्य पदार्थ का अभिप्राय 'दानपूर्वक अदन' है। आप हमें उन-उन आवश्यक पदार्थों को प्राप्त कराते हैं जिनका त्यागपूर्वक उपभोग करते हुए हम अपने जीवनों का ठीक धारण कर सकें। ३. **श्वात्रः असि**=(शु क्षिप्रम् अतति—म०) आप शीघ्र गतिवाले हैं। आपके कर्मों में एक क्षण का भी विलम्ब नहीं होता। (श्वि=गतिवृद्धि+त्रा) आप गतिशील हैं, सदा वर्धमान हैं और त्राण (रक्षा) करनेवाले हैं। **प्रचेताः**=आप प्रकृष्ट ज्ञानवाले हैं। इस प्रकृष्ट ज्ञान के कारण ही आप की प्रत्येक क्रिया जीव की वृद्धि का कारण है। ४. **तुथः असि**=(to have authority or power) आप ही ईशान हो, (to be strong) आप शक्तिशाली हो, (to get) आप सभी को प्राप्त हुए-हुए हो, (to increase) सदा वर्धमान हो, (to go, move) सम्पूर्ण गति के देनेवाले हो, (to strike) अन्त में सारे संसार का संहार करनेवाले हो और **विश्ववेदाः**=सम्पूर्ण

धनोंवाले आप ही हो।

भावार्थ—प्रभु सब वैभवोंवाले, सर्वसंसारवाहक, शीघ्र गतिवाले व सदा वृद्ध हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

ऋतधाम स्वर्ज्योतिः

उशिगसि कविरङ्घारिरसि बम्भारिरवस्यूरसि दुवस्वाञ्छुन्ध्यूरसि मार्जालीयः सम्राडसि कृशानुः परिषद्योऽसि पवमानो नभोऽसि प्रतक्वा मृष्टोऽसि हव्यसूदनऽऋतधामासि स्वर्ज्योतिः॥३२॥

१. हे प्रभो! आप **उशिक् असि**=(वष्टि) सब जीवों का भला चाहनेवाले हैं, **कविः**=(कौति सर्वा विद्याः) सृष्टि के आरम्भ में ही सम्पूर्ण ज्ञानों के देनेवाले हैं। इस ज्ञान के द्वारा ही आप कल्याण करते हैं। देवों के रक्षण का प्रकार यह है कि जिसका हित चाहते हैं, उसे सद्बुद्धि प्राप्त कराते हैं। २. **अङ्घारिः असि** =(अंहसां अरिः) आप पापों के शत्रु हैं और इस प्रकार **बम्भारिः**=(बिभर्ति विश्वम्) विश्व का पालन करनेवाले हैं। विश्व का सच्चा पालन तो पाप-नाश से ही होता है। किसी व्यक्ति का सच्चा भरण यही है कि उसकी पापवृत्ति को दूर कर दिया जाए। ३. **अवस्यूः असि**=(अवः अन्नमिच्छति, रक्षणं वा) आप सबके लिए अन्न चाहनेवाले हैं। इस अन्न के द्वारा सबका रक्षण चाहते हैं और **दुवस्वान्**=हविष्मान् हैं (दुव इति हविर्नाम)। वस्तुतः जब हम इन देवों से प्राप्त अन्नों को हविरूप बनाकर यज्ञ में आहुति देते हैं तब ये देव उन हवियों से भावित होकर हमें फिर अन्न प्राप्त कराते हैं। प्रभु हमें अन्न प्राप्त कराने के लिए हवि देनेवाला बनाते हैं। ४. **शुन्ध्यूः असि** =(शुद्धः, शुन्धयति) आप पूर्ण शुद्ध हैं, और अतएव **मार्जालीयः**=(मार्ष्टि) शुद्ध करनेवाले हैं। ५. **सम्राट् असि** =(सम्यग्राजते) आप अपनी शक्ति से देदीप्यमान हैं और **कृशानुः**=(शत्रूं कर्शयति) शत्रुओं के क्षीण करनेवाले तथा (कृशम् आनयति) दुर्बलों को प्राणित करनेवाले हैं। शक्ति के दो सुन्दर प्रयोग हैं। (क) शत्रुओं को कृश करना तथा (ख) निर्बलों को प्रोत्साहित करना। ६. **परिषद्यः असि**=(परि सीदन्ति इति, तेषु साधुः) चारों ओर होनेवालों में उत्तम हैं। दिशा-काल-आकाश आदि हमारे चारों ओर होनेवाले पदार्थों में प्रभु उत्तम हैं। ये हमारे चारों ओर होकर हमें मृत्यु से बचाते हैं, **पवमानः**=हमारे जीवनों को पवित्र करते हैं। जब उपासक अपने को प्रभु में अनुभव करता है तब उसकी पापवृत्ति शान्त हो जाती है।

७. **नभः असि**=(नभ्=to kill, nip) आप सब विघ्नों की हिंसा करनेवाले हैं और **प्रतक्वा**=प्रकृष्ट गतिवाले हैं। प्रभु उपासकों के मार्ग के विघ्नों को हिंसित करके उन्हें उन्नति-पथ पर आगे ले-चलते हैं। ८. **मृष्टो असि**=(मृष् तितिक्षायाम्) अत्यन्त सहनशील हैं और **हव्यसूदनः**=(सूदः+पाचकः) दानपूर्वक अदन के योग्य पदार्थों के पकानेवाले हैं। वस्तुतः हव्य पदार्थों के प्रयोग द्वारा हमें सहनशील बनना है। ८. **ऋतधामा असि**=ऋत के आप धारण करनेवाले हैं और **स्वर्ज्योतिः**=स्वयं देदीप्यमान ज्योति हैं। जो भी ऋत का पालन करता है वह ज्योतिर्मय जीवनवाला बनता है।

भावार्थ—हे प्रभो! 'उशिग्' आदि शब्दों से आपका स्मरण करता हुआ मैं भी वैसा ही बन पाऊँ।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—अग्निः। छन्दः—ब्राह्मीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

ऋत के दो द्वार

समुद्रोऽसि विश्वव्यचाऽअजोऽस्येकपादहिरसि बुध्न्यो वागस्यैन्द्रमसि सदोऽस्यृतस्य द्वारौ मा मा सन्ताप्तमध्वनामध्वपते प्र मा तिर स्वस्ति मेऽस्मिन् पथि देवयाने भूयात्॥३३॥

१. हे प्रभो! आप **समुद्रः असि**=(समुद्द्रवन्ति भूतानि यस्मात्—द०) सब भूतों के उत्पत्तिस्थान हैं **विश्वव्यचाः**=(विश्वस्मिन् व्यचो व्याप्तिर्यस्य—द०) आप सर्वत्र व्याप्तिवाले हैं। अथवा (सर्वे देवाः सम्यग् उत्कर्षेण द्रवन्ति अत्र—म०) सब देवता उत्कर्ष से आपमें ही सम्यग् गति करते हैं और (विश्वं यज्ञं व्यचति गच्छति) सब यज्ञों को आप ही प्राप्त होनेवाले हैं अथवा (सह मुद्रया) आप सदा आनन्दसहित हैं, क्योंकि आप सर्वव्यापक हैं। 'जितनी-जितनी व्यापकता उतना-उतना आनन्द' यही नियम है। २. **अजो असि**=हे प्रभो! आप अज हैं (यो न जायते) आप कभी उत्पन्न नहीं होते अथवा (अज गतिक्षेपणयोः) गति के द्वारा सब बुराइयों को दूर फेंकनेवाले हैं। **एकपात्**=आप ही मुख्य गति देनेवाले हैं अथवा (एकस्मिन् पादे विश्वं यस्य—द०) आपके एक ही चरण में यह सारा विश्व है। ३. **अहिः असि**=(अह व्याप्तौ) आप समस्त विद्याओं में व्यापनशील हैं, **बुध्न्यः**=और सब संसार के मूल में हैं, अर्थात् सर्वाधार हैं। **वाक् असि**=आप ही वाणी हैं अथवा (वक्ति) सब ज्ञानों का उपदेश देनेवाले हैं। **ऐन्द्रम् असि**=इन्द्र—जीव—का हित करनेवाले हैं **सदः**=सबके अधिष्ठान **असि**=हैं। आपमें अधिष्ठित होकर ही सब चराचर अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। हे प्रभो! आप ऐसी कृपा करो कि **ऋतस्य द्वारौ**=ऋत के द्वार **मा**=मुझे **मा सन्ताप्तम्**=सन्तप्त न होने दें। 'विद्या+श्रद्धा' ये दो ऋत के द्वार हैं। अकेली विद्या लङ्गड़ी है तो अकेली श्रद्धा अन्धी है। ये दोनों अलग-अलग अनृत हैं—मनुष्य के सन्ताप का कारण बनती हैं। दोनों एक दूसरे की पूर्ति करती हुई ये 'ऋत' बन जाती हैं। ये उस 'ऋत' परमात्मा का द्वार हो जाती हैं और मनुष्य को किसी भी प्रकार सन्तप्त नहीं होने देती। **अध्वपते**=हे मार्गों के रक्षक प्रभो! **अध्वनाम्**=(अध्वनां मध्ये वर्त्तमानम्—म०) मार्गों पर चलनेवाले **मा**=मुझे **प्रतिर** =सब विघ्नों से पार कीजिए। **अस्मिन् देवयाने पथि**=इस देवयान मार्ग पर चलते हुए **मे**=मेरा **स्वस्ति**=कल्याण व उत्तम जीवन **भूयात्**=हो।

भावार्थ—मेरा प्रत्येक कार्य श्रद्धा और विद्या से हो। मैं देवयान मार्ग पर चलता हुआ कल्याण प्राप्त करूँ।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—अग्निः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

सगर अग्नियाँ (प्रभुभक्त माता-पिता व आचार्य)

मित्रस्य मा चक्षुषेक्षध्वमग्नयः सगराः सगरा स्थ सगरेण नाम्ना रौद्रेणानीकेन पात माग्नयः पिपृत माग्नयो गोपायत मा नमो वोऽस्तु मा मा हिꣳसिष्ट॥३४॥

१. गत मन्त्र के अनुसार 'यदि हम चाहते हैं कि हमारे जीवन मार्गभ्रष्ट न हों' तो हमारी यही कामना हो कि हमें 'माता-पिता व आचार्य' सब उत्तम मिलें। माता 'दक्षिणाग्नि' है, पिता 'गार्हपत्य' और आचार्य 'आहवनीय'। मनु के शब्दों में ये ही तीन अग्नियाँ उत्तम हैं। ये सब सगराः=(सह गरेण) स्तुतिसहित हों—प्रभु का स्तवन करनेवाले हों। मधुच्छन्दा

चाहता है कि हे **सगराः अग्नयः**=सदा प्रभु-स्तवन के साथ रहनेवाली अग्नियो! **मा**=मुझे **मित्रस्य**=स्नेह की **चक्षुषा**=आँख से **ईक्षध्वम्**=देखो। **सगराः स्थ**=आप सदा प्रभु-स्तुति के साथ रहनेवाले होओ। प्रभु की ओर झुकाववाले आचार्य निश्चय से हमारे जीवनों को सुन्दर बना पाएँगे। हम सदा इनके प्रिय बने रहें, जिससे वे हमारे जीवनों का ठीक निर्माण कर सकें। २. **सगरेण नाम्ना**=स्तुतियुक्त नम्रता से और **रौद्रणे अनीकेन**=(रुत् र) उपदेश देनेवाले मुख से या=(splendour, brilliance) तेज से हे **अग्नयः**=अग्नियो (माता-पिता, आचार्यो)! **मा पात**=मेरी रक्षा करो। हे अग्नियो! **मा पिपृत**=मेरा पालन व पूरण करो। **गोपायत मा**=मेरा रक्षण करो। मेरे शरीर को रोगों से, मन को वासनाओं से और मस्तिष्क को कुविचारों से बचाओ। मेरा मन स्तुति व नम्रता से पूर्ण हो (सगरेण नाम्ना), मेरा मस्तिष्क ज्ञान से भरा हो (रौद्रेण) और मेरा शरीर तेजस्वी हो (अनीकेन)। ३. हे अग्नियो! **वः**=आपके लिए **नमः अस्तु**=हमारा मस्तक सदा नत हो। हम सदा 'माता-पिता आचार्य' के प्रति नतमस्तक बने रहें। **मा**=मुझे **मा**=मत **हिंसिष्ट**=हिंसित होने दो। इन अग्नियों की कृपा से मेरे शरीर, मन व मस्तिष्क में सदा अग्नित्व=आगे बढ़ने की वृत्ति बनी रहे। मैं सदा शारीरिक, मानस व मस्तिष्क सम्बन्धी उन्नति करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—मैं प्रभु के उपासक 'माता-पिता आचार्य' को प्राप्त करूँ। उनके द्वारा मेरे जीवन में स्तुति, नम्रता, ज्ञान व तेजस्विता का सञ्चार हो। मेरा शरीर, मन व मस्तिष्क सभी उन्नत हों।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

विश्वरूप ज्योति

ज्योतिरसि विश्वरूपं विश्वेषां देवानाꣳसमित्। त्वꣳसोम तनूकृद्भ्यो द्वेषोभ्योऽन्यकृतेभ्यऽउरु यन्तासि वरूथꣳस्वाहा जुषाणोऽअप्तुराज्यस्य वेतु स्वाहा॥३५॥

'गत मन्त्र के अनुसार उत्तम माता-पिता व आचार्य के सम्पर्क में आनेवाला यह 'मधुच्छन्दा' शरीर में 'सोम' की रक्षा के द्वारा कैसा बनता है?' इसका वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं। १. हे सोम! तू **विश्वरूपं ज्योतिः असि**=सब पदार्थों का निरूपण करनेवाला ज्ञान है। यह सोम की रक्षा करनेवाला सब पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करता है। २. **विश्वेषां देवानां समित्**=यह सुरक्षित सोम सब दिव्य गुणों को दीप्त करनेवाला होता है। सोम की रक्षा होने पर मन में द्वेषादि बुरी वृत्तियाँ उत्पन्न ही नहीं होतीं और दिव्य गुणों का विकास होता है। ३. हे सोम! **त्वम्**=तू **तनूकृद्भ्यः**=(तनूं कृन्तन्ति) शरीर को छिन्न-भिन्न करनेवाले **अन्यकृतेभ्यः** =दूसरों के विषय में या दूसरों से किये गये (अन्येषु अन्यैः वा कृतेभ्यः) **द्वेषोभ्यः**=द्वेषों से **उरु**=खूब **यन्ता** =रोकनेवाला **असि**=है। सोम का पान करनेवाला द्वेष पर क़ाबू पा लेता है। सोमरक्षा के अभाव में मनुष्य औरों से द्वेष करनेवाला बनता है और अपने ही शरीर को छिन्न-भिन्न कर लेता है। ४. यह सुरक्षित सोम **वरुथम्**=रक्षण (cover) को **उरु**=खूब **यन्ता**=देनेवाला **असि**=है। यह शरीर को रोगों से बचाता है तो मन को मैल से तथा मस्तिष्क को कुण्ठा से बचानेवाला होता है। **स्वाहा**=(सु+आह) यह बात कितनी सुन्दर कही गई है? ५. **जुषाणः**=सोम का प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ, अर्थात् बड़े उत्साह से शरीर में सोम को सुरक्षित करता हुआ यह मधुच्छन्दा **अप्तुराज्यस्य**=(अप्तु=सोम, शरीर में व्याप्त होनेवाला, आज्यं=तेजः—तै० १।६।३।४) शरीर में व्याप्त होनेवाले सोम के तेज

को **वेतु**=(वी गति) प्राप्त हो। **स्वाहा**=इस कार्य के लिए वह अधिक-से-अधिक (स्व का हा) आत्मत्याग करे। सब आरामों को छोड़कर तपस्वी बने।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम ज्ञान को बढ़ाता है, दिव्य गुणों को दीप्त करता है, द्वेष से दूर करता है। शरीर, मन व बुद्धि सभी को सुरक्षित करता है। तेजस्वी बनाता है। मधुच्छन्दा की ये ही उत्तम इच्छाएँ हैं। उसकी ये सब इच्छाएँ सोम के अनुग्रह से पूर्ण होती हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्चीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

कुटिलता व पाप से दूर

अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमऽउक्तिं विधेम॥३६॥

१. गत मन्त्र का मधुच्छन्दा सोमरक्षा द्वारा सब बुराइयों को दूर करके 'अगस्त्य'=पाप का संहार करनेवाला बनता है और प्रभु से आराधना करता है कि—हे **अग्ने**=सर्वनेतः परमात्मन्! **अस्मान्**=हमें **राये**=धनों की प्राप्ति के लिए **सुपथा**=उत्तम मार्ग से **नय**=ले-चलिए। २. हे **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! आप हमारे **विश्वानि**=सब **वयुनानि**=कर्मों को व प्रज्ञानों को **विद्वान्**=जानते हैं। ज्यों ही कोई अशुभ विचार हममें उत्पन्न हो आप उसे उसी समय हमसे पृथक् करें, जिससे वह कार्य का रूप धारण करे ही नहीं। ३. आप **अस्मत्**=हमसे **जुहुराणम्**=कुटिलता को तथा **एनः**=पाप को **युयोधि**=दूर कीजिए (यु=अमिश्रण)। पाप व कुटिलता हमारे पास फटकें ही नहीं। ४. इसी उद्देश्य से हम **ते**=तेरे लिए **भूयिष्ठाम्**=बहुत ही अधिक **नमः उक्तिम्**=नमस्कार के कथन को **विधेम**=करते हैं (विधेम वदेम—द०) अथवा कहते हैं। आपके लिए किया गया यह सतत नमन व नाम-स्मरण हमें अशुभ मार्गों से रोकनेवाला होगा।

भावार्थ—हे प्रभो! हम आपका सतत स्मरण करें और कभी कुटिलता व पाप से धन न कमाएँ।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

संग्राम विजय

अयं नोऽअग्निर्वरिवस्कृणोत्वयं मृधः पुरऽएतु प्रभिन्दन्।
अयं वाजाञ्जयतु वाजसातावयःशत्रूञ्जयतु जर्हृषाणः स्वाहा॥३७॥

पिछले मन्त्र में धन के लिए उत्तम मार्ग से ले-चलने की प्रार्थना थी। उसी प्रसङ्ग को कुछ विस्तार से कहते हैं कि १. **अयं अग्निः**=सब उन्नतियों का साधक यह प्रभु **नः**=हमारे लिए **वरिवः**=(धनम्—म०, उत्तमं रक्षणम्—द०) धन व उत्तम रक्षण को **कृणोतु**=करे, अर्थात् प्रभुकृपा से हम रक्षण के लिए पर्याप्त धन प्राप्त करें। २. **अयम्**=यह प्रभु **मृधः**=हिंसकों को **प्रभिन्दन्**=विदीर्ण करता हुआ **पुरः एतु**=हमारे आगे चले। वे प्रभु हमारा नेतृत्व करें। प्रभुकृपा से हम शत्रुओं का विदारण करते हुए आगे और आगे बढ़ते चलें। ३. **अयम्**=ये प्रभु **वाजसातौ**=संग्रामों में अथवा शक्ति-प्राप्ति के निमित्त **वाजान्**=अन्नों का **जयतु**=विजय करें। प्रभुकृपा से हम अन्नों को प्राप्त करने के लिए पर्याप्त शक्ति-सम्पन्न हों। हमारी

निर्धनता अन्नाभाव का कारण बनकर हमारी समाप्ति का कारण न बन जाए। ४. **अयम्**=ये प्रभु ही हमारे लिए **जर्हृषाणः**=अत्यन्त हर्ष का हेतु होते हुए **शत्रून् जयतु**=हमारे शत्रुओं का विजय करें। प्रभुकृपा से हम शत्रुओं को जीतनेवाले बनें। ५. **स्वाहा**=इन सब बातों के लिए मैं स्व+हा=पूर्णरूपेण अपना त्याग करनेवाला बनूँ। 'स्व' का त्याग ही मुझे प्रभु का प्रिय बनाएगा और प्रभुकृपा से मैं (क) धन प्राप्त करूँगा, (ख) हिंसकों का विदारण कर सकूँगा, (ग) अन्नों का विजय करनेवाला बनूँगा और (घ) शत्रुओं को जीतूँगा।

भावार्थ—प्रभुकृपा से ही हम सब प्रकार की विजय प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

स्वयं कर

उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि।
घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा॥३८॥

१. अगस्त्य की इस प्रार्थना को सुनकर कि 'यह अग्नि हमारे लिए धनों व शत्रुओं को जीते' प्रभु कहते हैं कि हे **विष्णो**=व्यापक उन्नति करनेवाले जीव! तू **उरु**=खूब ही **विक्रमस्व**=विक्रम कर, पुरुषार्थ कर। प्रभु का साहाय्य तो तुझे तभी मिलेगा जब तू स्वयं शरीर, मन व मस्तिष्क की त्रिविध उन्नति में प्रवृत्त होगा। २. प्रभु पुनः कहते हैं कि **नः क्षयाय**=हमारे निवास के लिए **उरु कृधि**=हृदय को विशाल बना। विशाल हृदय में ही पवित्रता के कारण प्रभु का निवास होता है। ३. हे **घृतयोने**=घृतरूप योनिवाले जीव! तू **घृतम्**=घृत **पिब**=पी। **'घृत'** शब्द में दो भावनाएँ हैं (क) क्षरण=मलों का दूर होना, (ख) दीप्ति। शरीर की उन्नति के लिए मलों का दूर होना आवश्यक है। शरीर में मलों का सञ्चय होने पर ही रोग उत्पन्न होते हैं। मस्तिष्क का विकास ज्ञान की दीप्ति से होता है। एवं, जीव 'घृतयोनि' है—मलों का क्षरण व ज्ञान-दीप्ति ही उसके शरीर व मस्तिष्क की उन्नति के कारण हैं, अतः शारीरिक व बौद्धिक उन्नति के लिए घृत का पान करना आवश्यक है। घृतपान का अभिप्राय यही है कि सदा मलों के क्षरण का ध्यान किया जाए और ज्ञानदीप्ति को प्राप्त किया जाए। ४. इस प्रकार हृदय को विशाल बनाकर, शरीर के मलों का क्षरण करके और बौद्धिक विकास करके हे **विष्णो**=तीन कदमों को रखनेवाले जीव! तू **यज्ञपतिम्**=सब यज्ञों के पति प्रभु को **प्रप्रतिर**=अपने अन्दर खूब ही बढ़ा (प्रतिरतिः वर्धनार्थः)।

भावार्थ—हम विष्णु बनें । हृदय को विशाल, शरीर को निर्मल व बुद्धि को दीप्त बनाकर अपने हृदय में उस यज्ञपति प्रभु को आसीन करें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—सोमसवितारौ। **छन्दः**—साम्नीबृहती[क], निचृदार्षीपङ्क्तिः[र]। **स्वरः**—मध्यमः[क], पञ्चमः[र]॥

लोकसेवा व बन्धनविच्छेद

[क]देव सवितरेष ते सोमस्तꣳरक्षस्व मा त्वा दभन्। [र]एतत्त्वं देव सोम देवो देवाँ२॥ऽउपागाऽइदमहं मनुष्यान्त्सह रायस्पोषेण स्वाहा निर्वरुणस्य पाशान्मुच्ये॥३९॥

१. गत मन्त्र में दिये गये प्रभु के आदेश को सुनकर अगस्त्य प्रार्थना करता है कि हे **सवितः देव**=सबके उत्पादक व प्रेरक देव! **एषः सोमः**=यह सोम—शरीर में आहार से रस-रुधिरादि के क्रम से उत्पन्न होनेवाली यह शक्ति **ते**=तेरी प्राप्ति के लिए ही है। **तं**

रक्षस्व=कृपा करके उस सोम की आप ही रक्षा कीजिए। ये वासनाएँ मुझे तो दबा लेती हैं और इनसे दबने पर मेरे लिए इस सोम का रक्षण सम्भव नहीं होता। कामदेव को आप ही भस्म करेंगे तभी सोमरक्षा सम्भव होगी। ये वासनाएँ **मा**=मत **त्वा**=आपको **दभन्**=हिंसित करनेवाली हों। २. इस प्रकार प्रभु से सोमरक्षण के लिए प्रार्थना करके अगस्त्य सोम को ही सम्बोधित करके कहता है कि हे **देव सोम**=दिव्य गुणों को जन्म देनेवाले सोम! **एतत्**=यह **त्वम्**=तू ही **देवः**=प्रकाशमय है, ज्योति का कारण है। तू **देवान् उप अगाः**=सब देवों को हमारे समीप प्राप्त करा—हमें सब दिव्य गुणों का पुञ्ज बना। ३. **इदमहम्**=यह मैं **रायस्पोषेण सह**=धन के पोषण के साथ **मनुष्यान् उपागाः**=मनुष्यों के समीप प्राप्त होता हूँ और **स्वाहा**=उनके कष्टों को दूर करने के लिए अपने **स्व**=धन का **हा**=त्याग करता हूँ। यहाँ मन्त्रार्थ से यह बात स्पष्ट है कि लोकसेवा के लिए भी धन की आवश्यकता है। ४. इस प्रकार लोकसेवा करता हुआ मैं **वरुणस्य**=वरुण के **पाशात्**=पाश से **निर्मुच्ये**=निर्मुक्त होता हूँ। वरुण के बन्धनों से छूटता हूँ। बन्धनमुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त होता हूँ। वस्तुतः लोकसेवा ही मोक्ष का साधन है।

भावार्थ—(क) प्रभुकृपा से मैं सोम की रक्षा करता हूँ। (ख) सोमरक्षा से दैवी सम्पत्ति का वर्धन होता है। (ग) मैं धनार्जन करके मनुष्यों के दुःख-दूरीकरण में धन का विनियोग करता हूँ। (घ) और बन्धनों से मुक्त होकर 'ब्रह्मनिर्वाण' को प्राप्त करता हूँ।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

व्रत-पूरण (पूर्ति)

अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा या तव तनूर्मय्यभूदेषा सा त्वयि यो मम तनूस्त्वय्यभूदियꣳसा मयि। यथायथं नौ व्रतपते व्रतान्यनु मे दीक्षां दीक्षापतिरमꣳस्तानु तपस्तपस्पतिः॥४०॥

१. पिछले मन्त्र में पाशमुक्त होने का उल्लेख है। इस पाशमुक्ति के लिए इसी अध्याय के छठे मन्त्र में व्रत-ग्रहण की अनुमति ली थी। अब उद्देश्य पूरा हो जाने पर ऐसा कहते हैं कि प्रभु ने मुझे व्रत-पालन की अनुमति दी। प्रभु के साहाय्य से मैंने व्रतों का पालन किया और मुझे मोक्ष का लाभ हुआ। २. मन्त्र में कहते हैं कि **अग्ने**=हे अग्ने! आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **व्रतपाः**=आप व्रतों का पालन करनेवाले हो। वस्तुतः व्रतों का पालन करनेवाला ही आगे बढ़ा करता है। ३. हे प्रभो! **ते**=आपमें रहनेवाले व्यक्ति ही **व्रतपाः** =व्रतों की रक्षा करनेवाले होते हैं। व्रतों को धारण करने से ही प्रभु के अधिक और अधिक समीप होते जाते हैं। **या तव तनूः**=जो तेरा स्वरूप है **एषा सा त्वयि**=यह तुझमें होनेवाला स्वरूप **मयि**=मुझमें **अभूत्** =होता है। **उ**=और **या मम तनूः** =जो मेरा स्वरूप है **इयं सा मयि**=यह मुझमें रहनेवाला रूप **त्वयि अभूत्** =तुझमें होता है। व्रतों के पालन से मैं इस प्रकार ऊपर उठता हूँ कि तुझसे अभिन्न-सा हो जाता हूँ। मैं 'तूं' और तू 'मैं' की स्थिति हो जाती है। ४. हे **व्रतपते**=व्रतों के रक्षक प्रभो! **यथायथं नौ व्रतानि**=हमारे व्रत बिल्कुल ठीक-ठीक हों। **दीक्षापतिः**=व्रत ग्रहण के पति प्रभु ने **मे दीक्षाम्**=मेरे व्रत ग्रहण की **अन्वमंस्त**=अनुमति दी। उस **तपस्पतिः**=तप के पति प्रभु ने **तपः अन्वमंस्त**=तप की अनुमति दी। इस तप के द्वारा ही मैं व्रतों को पूरा कर पाया हूँ।

भावार्थ—प्रभु 'व्रतपा' है। उनका उपासक मैं भी व्रतपा बनूँ।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—विष्णुः। छन्दः—भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

'त्रिविक्रम बनना'=तीन मुख्य व्रतों का धारण करना

उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि।
घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा॥४१॥

गत मन्त्र में 'मैं व्रतपा बन सकूँ' इस प्रार्थना को सुनकर प्रभु कहते हैं कि १. हे **विष्णो**=व्यापक उन्नति करनेवाले जीव! **उरु विक्रमस्व**=खूब पुरुषार्थ कर। **नः क्षयाय**=हमारे निवास के लिए **उरु कृधि**=अपने हृदयान्तरिक्ष को विशाल बना। तेरे विशाल हृदय में ही पवित्रता के कारण मेरा निवास होगा। २. हे **घृतयोने**=क्षरण या दीप्तिरूप योनिवाले जीव! **घृतं पिब**=तू घृत का पान कर। तेरे शरीर का स्वास्थ्य मलों के ठीक क्षरण पर निर्भर करता है और तेरे मस्तिष्क के विकास के लिए ज्ञान की दीप्ति का महत्त्व है। ३. इस प्रकार (क) तू हृदय को विशाल बनाता है, (ख) शरीर को निर्मल व स्वस्थ और (ग) मस्तिष्क को ज्ञान से दीप्त। यह त्रिविध उन्नति करके तू तीन कदमों का रखनेवाला 'त्रिविक्रम' बनता है। ४. त्रिविक्रम बनकर तू **यज्ञपतिम्**=सब यज्ञों के रक्षक उस प्रभु को **प्रप्रतिर**=अपने में खूब बढ़ा। **स्वाहा**=इस यज्ञपति को अपने में बढ़ाने के लिए तुझे 'स्व' का हा=त्याग करना है। वस्तुतः स्वार्थ की आहुति दे डालना ही यज्ञपति का वर्धन करना है।

भावार्थ—हम हृदयों को विशाल बनाएँ। शरीर को निर्मल, नीरोग तथा मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त। इस प्रकार विष्णु बनकर, व्यापक उन्नति करके उस विष्णु के सच्चे उपासक बनें। ये तीन ही हमारे मुख्य व्रत हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—अग्निः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

आगे बढ़ जाना

अत्यन्याँ२॥ऽअगां नान्याँ२॥ऽउपागामर्वाक् त्वा परेभ्योऽविदं परोऽवरेभ्यः। तं त्वा जुषामहे देव वनस्पते देवयज्यायै देवास्त्वा देवयज्यायै जुषन्तां विष्णवे त्वा। ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनꣳहिꣳसीः॥४२॥

१. गत मन्त्र में तीन व्रतों का संकेत है। उन व्रतों का पालन ही 'तीन पदों का विक्रमण' है। इन तीन कदमों का रखनेवाला मैं **अन्यान् अति अगाम्**=औरों को लाँघ जाता हूँ। अव्रती पुरुष को व्रती सदा लाँघ जाता है। इसका जीवन उत्कृष्ट होता है। मैं **अन्यान्**=(अविदुषो विरुद्धान्—द०) व्रत-पराङ्मुख मूर्खजनों को **न उपागाम्**=न प्राप्त होऊँ। **परेभ्यः**=(उत्तमेभ्यः) श्रेष्ठ पुरुषों से **त्वा**=तुझे **अर्वाक्**=अन्दर ही **अविदम्**=मैंने जाना है। श्रेष्ठ पुरुषों से मुझे यह ज्ञान हुआ है कि आपका दर्शन तो अन्दर ही होना है। **अवरेभ्यः**=इन अवर आचार्यों से भी मैंने यही जाना है कि आप **परः**=पर हैं (बुद्धेरात्मा महान् परः—गीता) आप वाणी व मन का विषय नहीं हैं—आप वाङ्मनसातीत हैं। अथवा **त्वा**=आपको मैंने **अवरेभ्यः अर्वाक्**=समीपों से भी समीप और **परेभ्यः परः** (इति)=दूर से भी दूर **अविदम्**=जाना है। २. **ते त्वा**=उस आपको हे **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज! **वनस्पते**=भक्तों के रक्षक प्रभो! **जुषामहे**=हम प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं। हम प्रेम से आपकी उपासना करते हैं। **देवयज्यायै**=(देवानां सङ्गतये—द०) दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए हम उपासना करते हैं। **देवाः**=सब विद्वान् लोग **देवयज्यायै**=दिव्य गुणों की सङ्गति के लिए ही **त्वा जुषन्ताम्**=तेरी

उपासना करें। ३. **विष्णवे त्वा**=हे प्रभो! मैं आपको इसलिए उपासित करता हूँ कि आपकी उपासना से मेरा शरीर स्वस्थ होता है, मन निर्मल तथा बुद्धि दीप्त होती है। इन्हीं तीन कदमों को रखकर ही मैं 'त्रिविक्रम विष्णु' बनता हूँ। ३. **ओषधे**=हे दोषों का दहन करनेवाले प्रभो! **त्रायस्व**=आप मेरा त्राण कीजिए। **स्वधिते**=(स्व= आत्मीय) हे अपनों का धारण करनेवाले प्रभो! **एनम्**=इस अपने भक्त को **मा** =मत **हिंसीः**=हिंसित होने दीजिए।

भावार्थ—प्रभु हमारे अन्दर ही हैं। उनकी उपासना से (क) दिव्य गुणों की प्राप्ति होती है। (ख) व्यापक उन्नति हो पाती है। (ग) आसुर आक्रमणों से हमारी रक्षा होती है और (घ) हम प्रभु के आत्मीय बन जाते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

सहस्रवल्श विरोहण

द्यां मा लेखीर॒न्तरि॑क्षं॒ मा हि॑ꣳसीः पृथि॒व्या सम्भ॑व। अ॒यꣳहि त्वा॒ स्वधि॑ति॒स्तेति॑जानः प्रणि॒नाय॑ मह॒ते सौभ॑गाय। अत॒स्त्वं दे॑व वनस्पते श॒तव॑ल्शो॒ विरो॑ह स॒हस्र॑वल्शा॒ वि व॒यꣳरु॑हेम॥४३॥

पिछले मन्त्र में आगे बढ़ जाने की भावना थी। आगे बढ़ जाने के भाव को ही स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि १. **द्याम्**=हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक का **मा लेखीः**=विदारण मत कीजिए। हमारा मस्तिष्क सदा ठीक बना रहे। इसके सोचने की दिशा ग़लत न हो। २. **अन्तरिक्षं मा हिंसीः**=हमारे हृदयान्तरिक्ष को मत हिंसित कीजिए। यह वासनाओं का शिकार न हो जाए। इस हृदयान्तरिक्ष में वासनाओं की आँधियाँ न उठने लगें। ३. तू **पृथिव्या सम्भव**=इस शरीररूप पृथिवी के साथ उत्तमता से सङ्गत हो, अर्थात् हे प्रभो! आपकी कृपा से हमारा शरीर स्वस्थ हो और हम इस मानवदेह में आपका दर्शन करनेवाले बनें। ४. अगस्त्य की इस प्रार्थना पर प्रभु कहते हैं कि **स्वधितिः**=आत्मीयों का धारण करनेवाला **अयम्**=यह मैं **हि**=निश्चय से **तेतिजानः**=तेरे मस्तिष्क को खूब तीक्ष्ण बनाता हुआ **महते सौभगाय**=महान् सौभाग्य के लिए **प्रणिनाय**=तुझे प्राप्त कराता हूँ। त्रिविध उन्नति का होना ही सर्वमहान् सौभाग्य है। ३. अगस्त्य फिर प्रभु से प्रार्थना करता हुआ कहता है कि हे **देव वनस्पते**=दिव्य गुणों के पुञ्ज! भक्तों के रक्षक! प्रभो! **त्वम्**=आप **अतः**=इस मेरे शरीरादि से **शतवल्शः**=सैकड़ों शाखाओंवाले होकर **विरोह**=बढ़िए (विविधतया प्रादुर्भव—द०) आपको मैं सैकड़ों रूपों में देखूँ। अङ्ग-प्रत्यङ्ग में आपकी विभूति का अनुभव करूँ और आपकी कृपा से **सहस्रवल्शाः वयं विरुहेम**=सहस्रों शाखाओंवाले होकर हम विशेषरूप से बढ़ें। हम अपने जीवनों में अनन्त शक्तियों का विस्तार करनेवाले हों।

भावार्थ—हम अपने में प्रभु का प्रादुर्भाव करें और प्रभुकृपा से हमारी शक्तियों का सहस्रशः प्रादुर्भाव हो।

॥ इति पञ्चमोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

षष्ठोऽध्यायः

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—निचृत्पङ्क्तिः[उ], आसुर्युष्णिक्[क], भुरिगार्ष्युष्णिक्[र]।
स्वरः—पञ्चमः[उ], ऋषभः[क,र]॥

पितृ–सदन

[उ]देवस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम्।
आद॑दे॒ नार्य॑सी॒दम॒हꣳ रक्ष॑सां ग्री॒वाऽअपि॑ कृन्तामि।
[क]यवो॑ऽसि य॒वया॒स्मद् द्वेषो॑ य॒वयारा॑तीर् [र]दि॒वे त्वा॒ऽन्तरि॑क्षाय
त्वा पृथि॒व्यै त्वा॒ शुन्ध॑न्ताँल्लो॒काः पि॑तृ॒षद॑नाः पितृ॒षद॑नमसि॥१॥

१. गत अध्याय की समाप्ति 'अगस्त्य ऋषि' के 'सहस्रवल्शः विरोहण' (Manifold evolution) के साथ हुई थी। इस अध्याय का प्रारम्भ उस विरोहण के रहस्य के प्रतिपादन से होता है। अगस्त्य इस सर्वतोमुखी विकास को इसलिए कर पाये कि उन्होंने संसार की प्रत्येक वस्तु का प्रयोग बड़ा ठीक किया। इस प्रयोग में इनके तीन नियम रहे—(क) हे पदार्थ! **त्वा**=तुझे **सवितुः देवस्य प्रसवे**=उत्पादक व प्रेरक देव की प्रेरणा के अनुसार, अर्थात् ऋतरूप में—न अधिक न कम—**आददे**=ग्रहण करता हूँ। (ख) **अश्विनोः बाहुभ्याम्**=प्राणापान के प्रयत्न से ग्रहण करता हूँ—बिना मूल्य के नहीं लेता। (ग) **पूष्णः हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों से ग्रहण करता हूँ, अर्थात् केवल पोषण के दृष्टिकोण से ग्रहण करता हूँ, इसीलिए हे पदार्थ! तू **नारिः**=मुझ नर का हित करनेवाला **असि**=है। २. इस प्रकार प्रत्येक वस्तु का ठीक प्रयोग करता हुआ मैं सहस्रवल्शः विरोहण वा अनेकविध विकासवाला बनता हूँ और **इदम् अहम्**=यह मैं **रक्षसाम्**=राक्षसों की ग्रीवा को **अपिकृन्तामि**=काट देता हूँ। सब रोगों व बुरी वृत्तियों को विच्छिन्न कर देता हूँ। ३. हे प्रभो! **यवः असि**=आप सब बुराइयों को हमसे दूर करनेवाले हैं। **अस्मत्**=हमसे **द्वेषः**=द्वेष को **यवय**= पृथक् कीजिए। हे प्रभो! हम **त्वा**=आपके समीप आते हैं **दिवे**=मस्तिष्करूप द्युलोक के विकास के लिए **त्वा**=आपके समीप आते हैं **अन्तरिक्षाय**=हृदयान्तरिक्ष के नैर्मल्य के लिए **त्वा**=हम आपके पास आते हैं, **पृथिव्यै**=शरीररूप पृथिवी के विस्तार के लिए। ४. आपकी कृपा से **लोकाः**=हमारे लोक (मस्तिष्क=द्यौः, मन=अन्तरिक्ष, शरीर=पृथिवी) **शुन्धन्ताम्**=शुद्ध हों। **पितृषदनाः**=हमारे घर ज्ञानियों के सदन बनें, उनमें ज्ञानी पुरुषों का आना-जाना बना रहे। **पितृषदनम् असि**=हे प्रभो! आप ज्ञानियों में ही निवास करनेवाले हैं। मैं भी ज्ञानियों के सम्पर्क में आकर ज्ञानी बनूँ और अपने को आपका निवासस्थान बना पाऊँ।

भावार्थ—हम प्रत्येक पदार्थ का प्रयोग ठीक करें जिससे नीरोग व निर्मल बनें। द्वेष व अदान से ऊपर उठें। त्रिविध उन्नति करके, ज्ञानियों के सम्पर्क में ज्ञानी बनकर प्रभु का निवासस्थान बनें।

ऋषिः—शाकल्यः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—निचृद्गायत्री[क], स्वराट्पङ्क्तिः[र]। **स्वरः**—षड्जः[क], पञ्चमः[र]॥

शकलीकरण

[क]अ॒ग्रे॒णीर॑सि स्वावे॒शऽउ॑न्नेतृ॒णामे॒तस्य॑ वित्ता॒दधि॑ त्वा स्थास्यति [र]दे॒वस्त्वा॑ सवि॒ता मध्वा॑नक्तु सुपिप्प॒लाभ्य॒स्त्वौष॑धीभ्यः। द्यामग्रे॑णास्पृक्ष॒ऽआन्तरि॑क्षं मध्ये॑नाप्राः पृ॒थि॒वीमुप॑रेणादृꣳहीः॥२॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति 'प्रभु का निवासस्थान बनने' से हुई है। यह अपने को प्रभु का निवासस्थान बनाकर निरन्तर उन्नति करता है। **अग्रेणीः असि**=तू अपने को आगे ले-चलता है। **स्वावेशः**=(शोभनं धर्ममाविशति) उत्तम धर्म को अपने में स्थापित करता है। **उन्नेतृणाम्**=उत्कर्ष प्राप्त करानेवालों के **एतस्य वित्तात्**=इस उन्नति के मार्ग को तू जान। उन्नति के मार्ग पर चलने पर **सविता देवः**=वह प्रेरक देव **त्वा** =तेरा **अधिस्थास्यति**=पथ-प्रदर्शन करेगा। प्रभु तेरे अधिष्ठाता होंगे। वे प्रभु तुझे **मध्वा**=माधुर्य से अलंकृत करेंगे। माधुर्य से अलंकृत करने के लिए वे **त्वा**=तुझे **सुपिप्पलाभ्यः**=उत्तम फलवाली **ओषधीभ्यः**= ओषधि-वनस्पतियों के लिए **अनक्तु**=(अञ्च् गम) प्राप्त कराएँ, अर्थात् तू अपने जीवन में इन वनस्पतियों का ही प्रयोग कर, मांस का प्रयोग तुझे क्रूर स्वभाव का बनाएगा। २. इस प्रकार वनस्पति भोजन करता हुआ तू **अग्रेण**=(पुरस्तात्) सबसे पहले तो **द्याम्**=विद्या के प्रकाश को **अस्पृक्षः**=स्पर्श करनेवाला बन, अर्थात् ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान प्राप्त कर। इस ज्ञान की प्राप्ति को ही तू अपना प्रथम कर्त्तव्य समझ। ३. **अन्तरिक्षम्**=अपने हृदयान्तरिक्ष का **मध्येन**=सदा मध्य मार्ग पर चलने से **आप्राः**=समन्तात् पूरण कर। सीमाओं से बचता हुआ, अति का वर्जन करता हुआ तू सदा मध्यमार्ग से चल। यह मध्यमार्ग ही हृदय की कमी को दूर करनेवाला है। **'अति सर्वत्र वर्जयेत्'** यह तेरा नियम हो। ४. **उपरेण** (उत्कृष्ट नियमेन—द०)=उत्कृष्ट नियम से अथवा (उपर nearer) सदा प्रभु के समीप निवास से **पृथिवीम्**=इस शरीररूप पृथिवी को **अदृंहीः**=तूने दृढ़ बनाया है। प्रभु से दूर हुए, नियम भूले और शरीर रोगों का घर बना। शरीर के स्वास्थ्य के लिए **''हिताशी स्यात् मिताशी स्यात् कालभोजी जितेन्द्रियः''** इस नियम को अपनानेवाला व्यक्ति रोगों को खण्डशः करके नष्ट कर देता है—'शकलयति इति शाकल्यः' टुकड़े-टुकड़े कर देता है, अतः 'शाकल्य' कहलाता है। रोगों को ही नहीं, वासनाओं व अज्ञानों को भी तो यह विदीर्ण करता है, अतः इसका 'शाकल्य' नाम यथार्थ है।

भावार्थ—हम आगे बढ़ें, प्रभु के अधिष्ठातृत्व में जीवन को मधुर बनाएँ। ज्ञान के द्वारा अज्ञान का खण्डन करें, मध्यमार्ग पर चलने से वासनाओं का विनाश कर दें, और उत्कृष्ट नियम से रोगों को भगा दें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—आर्च्युष्णिक्[उ],भुरिगार्च्युष्णिक्[क], निचृत्प्राजापत्याबृहती[र]। **स्वरः**—ऋषभः[उ,क], मध्यमः[र]॥

प्रभु के परमपद का दीपन

[उ]या ते॒ धामा॑न्युश्मसि॒ गम॑ध्यै॒ यत्र॒ गावो॒ भूरि॑शृङ्गाऽअ॒यासः॑। [क]अत्राह॒ तदु॑रुगा॒यस्य॒ विष्णोः॑ पर॒मं प॒दमव॑भारि॒ भूरि॑। [र]ब्र॒ह्म॒वनि॑ त्वा क्षत्र॒वनि॑ रायस्पोष॒वनि॒ पर्यू॑हामि। ब्रह्म॑ दृꣳह क्ष॒त्रं दृ॒ꣳहायु॑र्दृꣳह प्र॒जां दृ॑ꣳह॥३॥

१. पिछले मन्त्र में बुराइयों के शकलीकरण–नष्ट करने का उल्लेख है। उन बुराइयों का विदारण करके 'दीर्घतमा'=तमोगुण का विदारण करनेवाला प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि कहता है कि हे प्रभो! **या ते धामानि** =जो आपके तेज हैं, हम उन्हें **गमध्यै**=प्राप्त करना **उश्मसि**=चाहते हैं, **यत्र**=जिन तेजों में **भूरिशृङ्गाः**=(भूरीणि शृङ्गाणि प्रकशा यासु ताः–द०, शृङ्गाणि इति ज्वलतोनामसु–नि० १।१७) अत्यन्त देदीप्यमान **गावः**=रश्मियाँ **अयासः**=प्राप्त हैं, अर्थात् हम आपके उन तेजों को प्राप्त करना चाहते हैं जो तेज ज्ञान की रश्मियों के साथ निवास करते हैं। २. **अत्र**=जहाँ ज्ञान और तेज का समन्वय होता है उस स्थान में, उस जीव में **अह**=निश्चय से **उरुगायस्य**=विशाल गतिवाले व विशाल यशोगानवाले **विष्णोः**=व्यापक प्रभु का **तत् परमं पदम्**=वह उत्कृष्ट पद **भूरि**=खूब **अवभाति**=चमकता है। प्रभु का दर्शन ज्ञान और तेज का समन्वय होने पर ही होता है। ३. प्रभु दीर्घतमा से कहते हैं कि **ब्रह्मवनि**= ज्ञान का विजय करनेवाले **त्वा**=तुझे, **क्षत्रवनि त्वा**=बल का विजय करनेवाले तुझे और **रायस्पोषवनि त्वा**=धन के पोषण के विजेता तुझे **पर्यूहामि**=मैं अपने समीप प्राप्त कराता हूँ। ४. तू अपने जीवन में **ब्रह्म दृंह**=ज्ञान को दृढ़ कर, **क्षत्रं दृंह**=बल को बढ़ा, **आयुः दृंह**=तू अपने जीवन को दृढ़ बना, **प्रजां दृंह**=तू अपने सन्तानों को भी दृढ़ बना। तेरा ज्ञान, बल तो दृढ़ हो ही, तेरा सारा जीवन भी दृढ़ हो। तू अपने मार्ग से विचलित होनेवाला न हो। तेरी सन्तानें भी दृढ़ता से जीवन–पथ का आक्रमण करनेवाली हों। सन्तानों के कारण तेरा जीवन उन्नति–पथ पर चलने से विहत न हो जाए।

भावार्थ–हमारे जीवन प्रभु के तेजों व ज्ञानों को अपनाकर प्रभु के परम पद को दीप्त करनेवाले हों। हम ज्ञान और बल के साथ धन भी प्राप्त करें। अपने ज्ञान, बल, जीवन व सन्तानों को दृढ़ बनाएँ।

ऋषिः–मेधातिथिः। **देवता**–विष्णुः। **छन्दः**–निचृदार्षीगायत्री। **स्वरः**–षड्जः॥

युज्यः सखा

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा॥४॥

१. अपने जीवन के मार्ग को निश्चित करने के लिए गत मन्त्र के 'आयुर्दृंह' आदेश के अनुसार अपने जीवन को दृढ़ बनाने के लिए समझदार व्यक्ति प्रभु के कर्मों का विचार करता है और उन्हीं कर्मों को स्वयं करने का व्रत लेता है। यही व्यक्ति मेधातिथि=(मेधया अतति) समझदारी से चलनेवाला है। यह कहता है कि २. **विष्णोः**=उस व्यापक प्रभु के **कर्माणि**=कर्मों को **पश्यत**=देखो, **यतः**=जिन कर्मों के देखने से ही यह द्रष्टा **व्रतानि**=अपने जीवन–नियमों को **पस्पशे**=(बध्नाति) अपने में बाँधता है, अर्थात् अपने जीवन को भी उन्हीं कर्मों में लगाने का ध्यान करता है। ३. यह **युज्यः**=(युनक्ति सदाचारेण) प्रभु के कर्मों का ध्यान करके अपने को उन कर्मों से जोड़नेवाला सदाचारी ही **इन्द्रस्य**=उस सर्वशक्तिमान् परमैश्वर्यशाली प्रभु का **सखा**=मित्र बनता है।

भावार्थ–हम प्रभु के कर्मों को देखें। उन्हीं व्रतों से अपने को बाँधें और व्रतों से अपने को जोड़नेवाले हम प्रभु के मित्र बनें।

ऋषिः–मेधातिथिः। **देवता**–विष्णुः। **छन्दः**–निचृदार्षीगायत्री। **स्वरः**–षड्जः॥

प्रभु-दर्शन

तद्विष्णोः परमं पदꣳसदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्॥५॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जो अपने को प्रभु के समान न्याय्य कर्मों से जोड़ने का प्रयत्न करता है, वही वस्तुतः प्रभु का सच्चा स्तोता है। इसी प्रकार प्रभुभक्त वही है जो प्रभु के पथ पर चले। विष्णु-भजन तो विष्णु बनकर ही होता है। ये **सूरयः**=(सूरिः स्तोता—नि० ३।१६) वेदज्ञ स्तोता **विष्णोः**=उस व्यापक प्रभु के **तत् परम् पदम्**=उस सर्वोत्कृष्ट पद को **सदा**=हमेशा **पश्यन्ति**=उसी प्रकार देखते हैं **इव**=जैसे **दिवि**=द्युलोक में **आततं चक्षुः**=इस फैली हुई (व्याप्तिमत्) सूर्यरूप आँख को सामान्य लोग देखा करते हैं। २. जैसे यह सूर्य सबके लिए दृश्य है, ठीक इसी प्रकार सूरि को—सच्चे स्तोता को—प्रभु भी दृश्य होते हैं। प्रभु-जैसा बनकर ये प्रभु के अत्यन्त समीप हो जाते हैं।

भावार्थ—हम सूरि (वेदवित्), ज्ञानी स्तोता बनें और प्रभु को आत्मतुल्य प्रिय हों। उस समय हम प्रभु का उतना ही स्पष्ट दर्शन कर रहे होंगे जितना कि सूर्य का।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—आर्ष्युष्णिक्[क], भुरिक्साम्नीबृहती[र]। **स्वरः**—ऋषभः[क], मध्यमः[र]॥

प्रभु-द्रष्टा का आश्रम

[क]परिवीरसि परि त्वा दैवीर्विशो व्ययन्तां परीमं यजमानꣳरायो मनुष्याणाम्।
[र]दिवः सूनुरस्येष ते पृथिव्याँल्लोकऽआरण्यस्ते पशुः॥६॥

गत मन्त्र के प्रभु-दर्शन करनेवाले व्यक्ति के जीवन का प्रस्तुत मन्त्र में चित्रण करते हुए कहते हैं कि हे दीर्घतमाः=प्रभु-दर्शन से सब तमस् को दूर भगानेवाले उपासक! १. **परिवीः असि**=(परितः सर्वाविद्या व्याप्नोति) तू सम्पूर्ण विद्याओं का अपने में व्यापन करनेवाला है। वस्तुतः ज्ञान को ही तू अपना भोजन बनाता है। तू ब्रह्म (ज्ञान का) चारी (चरण=भक्षण करनेवाला) है। २. **त्वा परि**=तुझे चारों ओर से **दैवीः विशः**=दिव्य गुणोंवाली प्रजाएँ **व्ययन्ताम्**=प्राप्त हों। तू उत्तम वृत्तिवाले लोगों का केन्द्र बन जाए। तेरा निवासस्थान दिव्य प्रजाओं के आश्रम के रूप में परिवर्तित हो जाए। ३. **इमम् यजमानम्**=इस यज्ञ के स्वभाववाले तुझको **मनुष्याणाम् रायः**=मनुष्यों के धन **व्ययन्ताम्**=प्राप्त हों। यह आश्रम उत्तम यज्ञों का केन्द्रस्थान बने और उन यज्ञों की पूर्ति के लिए लोग उदारता से धन देनेवाले हों। ४. ऐसे यज्ञों के अवसरों पर यह प्रभु का सच्चा स्तोता **दिवः सूनुः असि**=प्रकाश का प्रेरक होता है। वह अपने प्रवचनों से उपस्थित जनता के अन्दर ज्ञान का प्रचार करता है। ५. वह ऐसा प्रेम की वृत्तिवाला होता है कि **एषः पृथिव्यां लोकः**=ये पृथिवी पर विचरनेवाले लोग तो **ते**=तेरे होते ही हैं, **आरण्यः पशुः**=जङ्गल के सिंह आदि पशु भी **ते**=तेरे बन जाते हैं। इस प्रभु-द्रष्टा के आश्रम में सब लोक व प्राणी वैरभाव को छोड़कर प्रेमभाव से रहनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम ज्ञानी बनें, उत्तम लोगों के केन्द्र बन पाएँ, हमारा निवासस्थान यज्ञवेदि बन जाए। हम ज्ञान का प्रसार करनेवाले हों। सब लोकों व हिंस्र-पशुओं को भी अपना प्रेम दे सकें।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—त्वष्टा। **छन्दः**—निचृदार्षीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

देव-उशिक्-वह्नि

उपावीरस्युप देवान्दैवीर्विशः प्रागुरुशिजो वह्नितमान्।
देव त्वष्टर्वसु रम हव्या ते स्वदन्ताम्॥७॥

पिछले मन्त्र का प्रभु-द्रष्टा अपने आश्रम में क्या करता है? इस विषय को प्रस्तुत मन्त्र में इस प्रकार कहते हैं कि १. **उपावीः असि**=तू अपने को सदा प्रभु के समीप रखता

हुआ अपना अवन (रक्षण) करनेवाला है। वस्तुतः मनुष्य प्रभु से दूर हुआ और किसी-न-किसी वासना का शिकार बना। वासनाओं से बचने के लिए प्रभु के समीप रहना आवश्यक है। २. इस प्रकार के **देवान्**=दिव्य वृत्तिवाले **उशिजः**=मेधावी **वह्नितमान्** =औरों को भी उच्च स्थान पर प्राप्त करनेवाले लोगों के ही **उप**=समीप **दैवीः विशः**=दिव्य वृत्तिवाली प्रजाएँ **प्रागुः**=प्रकर्षेण प्राप्त होती हैं। जिसे औरों का निर्माण करना है, उसे पहले अपना निर्माण तो अवश्य करना ही चाहिए। स्वयं देव बने बिना वह औरों को देव न बना पाएगा। स्वयं ज्ञानी होगा तभी औरों को ज्ञान देगा। अपने को उच्च स्थान में प्राप्त कराके ही यह दूसरों को उस स्थान पर ले-चल सकता है, अतः इसका 'देव, उशिक् व वह्नि' बनना अत्यन्त आवश्यक है। ३. **देव**=हे दिव्य गुणोंवाले! **त्वष्टः**=देवों का निर्माण करनेवाले (देवशिल्पी) अथवा औरों के दुःखों का छेदन करनेवाले **वसु**=(वसु=वसूनि) निवास के लिए आवश्यक धन में ही तू **रम**=आनन्द ले। अधिक धन पतन का कारण बनता है। ४. **हव्या**=हव्य पदार्थ—यज्ञिय सात्त्विक भोजन **ते**=तुझे **स्वदन्ताम्**=स्वाद देनेवाले हों, रुचिकर हों। इस आहार की शुद्धि पर अन्तःकरण की शुद्धि निर्भर है। ५. आहार को शुद्ध करके तथा धन में आसक्त न होकर तू अपनी बुद्धि को स्वस्थ रख सकेगा और बुद्धि का वर्धन करनेवाला अपने 'मेधातिथि' नाम को सार्थक करेगा।

भावार्थ—जो व्यक्ति औरों का भला करना चाहता है उसे स्वयं 'देव, उशिक् (मेधावी) व वह्नि (अपने को ऊँचे स्थान पर ले-जानेवाला)' बनना चाहिए। वह निवास के लिए आवश्यक धन से अधिक धन न चाहे और सात्त्विक भोजनों को ही करे।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—बृहस्पतिः। **छन्दः**—प्राजापत्यानुष्टुप्[क], भुरिक्प्राजापत्याबृहती[र]।
स्वरः—गान्धारः[क], मध्यमः[र]॥

बृहस्पति

[क]रेवती रमध्वं बृहस्पते धारया वसूनि।
[र]ऋतस्य त्वा देवहविः पाशेन प्रतिमुञ्चामि धर्षा मानुषः॥८॥

१. पिछले मन्त्र के आश्रम-प्रकरण को ही कहते हुए प्रार्थना करते हैं कि १. **रेवतीः**=हे गौवो! तुम इस आश्रम में **रमध्वम्**=रमण करो। आश्रम की उत्तमता के लिए वहाँ गौवों का होना नितान्त आवश्यक है। (वाग् वै रेवती—श० ३।८।१।१२) गौवों के होने पर वहाँ ज्ञान की वाणियाँ भी रमण करती हैं। इतना ही नहीं (रेवत्यः सर्वाः देवताः—ऐ० २।१६) गौवों के कारण आश्रम में सब देवों का वास होता है। लोगों की वृत्तियाँ दिव्य बनती हैं। २. हे **बृहस्पते**=ब्रह्मणस्पते=वेदवाणी के पति आचार्य! आप आश्रमवासियों में **वसूनि धारय**=उत्तम निवास के कारणभूत ज्ञानों को धारण कीजिए (वसन्ति सुखेन यत्र तद्विज्ञानम् वसु—द०)। आचार्य को इस प्रकार ज्ञान का प्रसार करना है कि उस ज्ञान के प्रसार से लोगों का ऐहिक जीवन उत्तम बने। वे इस संसार को सचमुच निवास के योग्य बना पाएँ। ३. यह बृहस्पति **देवहविः**=देवताओं के लिए देकर यज्ञशेष को खानेवाला है। प्रभु वेद द्वारा इस बृहस्पति को कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **ऋतस्य पाशेन**=ऋत के पाश से **प्रतिमुञ्चामि**=बाँधता हूँ। तेरा जीवन बहुत ही नियमित हो, ऋत से जकड़ा हुआ हो, क्योंकि आश्रम में सभी ने इसी के अनुकरण में अपना जीवन चलाना है। ४. **धर्षा**=तू वासनाओं का धर्षण करनेवाला बन। कोई भी वासना व प्रलोभन तुझे ऋत के मार्ग से विचलित न करे। ५. **मानुषः**=तू मानवमात्र का हित करनेवाला हो। ६. इस प्रकार यह

बृहस्पति अपने जीवन से तम को दूर भगाकर औरों के तम के भी विदारण में लगा है, अत: 'दीर्घतमा:' इस सार्थक नामवाला है।

भावार्थ—हम अपने जीवन को ऋत के पाश से प्रतिबद्ध करें। हम वासनाओं का धर्षण करनेवाले हों और हमारा प्रत्येक कर्म मानवहित-साधक हो।

ऋषि:—दीर्घतमा:। **देवता**—सविता, अश्विनौ, पूषा। **छन्द:**—प्राजापत्याबृहती[क], पङ्क्ति:[र] याजुषीत्रिष्टुप्[३]। **स्वर:**—मध्यम:[क], पञ्चम[र], धैवत:[३]॥

ऋत का पाश

[क]देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। [र]अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं नियुनज्मि। अद्भ्यस्त्वौषधीभ्योऽनु त्वा माता मन्यतामनु पितानु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः। अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि॥९॥

१. गत मन्त्र में ऋत के पाश से अपने को बाँधने का उल्लेख है। प्रस्तुत मन्त्र में उस ऋत के पाश का वर्णन है। **देवस्य सवितु: प्रसवे**=सवितादेव की अनुज्ञा में मैं **त्वा**= तुझे ग्रहण करता हूँ। मैं प्रत्येक पदार्थ का स्वीकार प्रभु के आदेश के अनुसार करता हूँ। २. **अश्विनो: बाहुभ्याम्**=प्राणापान के प्रयत्न से मैं वस्तुओं का ग्रहण करता हूँ। ३. **पूष्ण: हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों से, अर्थात् पोषण के दृष्टिकोण से ही मैं प्रत्येक वस्तु को लेता हूँ। ४. इस प्रकार इस ऋत के पाश से अपने को बाँधने पर व्यक्ति में अग्नि व सोम दोनों तत्त्वों का सुन्दर विकास होता है। उसमें तेजस्विता व उत्साह (अग्नि) होते हैं तो उसका जीवन शान्ति (सोम) से भी अलंकृत होता है। प्रभु कहते हैं कि **अग्नीषोमाभ्याम्**=तेजस्विता व शान्ति से **जुष्टम्**=प्रीतिपूर्वक सेवित तुझे मैं **नियुनज्मि**=अपने प्रतिनिधि के रूप से नियुक्त करता हूँ। लोकहित के कार्यों को करने में तू मेरा निमित्त बनता है। ५. **अद्भ्य: त्वा ओषधीभ्य:**=मैं तुझे जलों व ओषधियों के लिए नियुक्त करता हूँ, अर्थात् पीने के लिए पानी और खाने के लिए वनस्पतियों का ही तू प्रयोग करता है। ६. इस सात्त्विक मार्ग पर चलने के लिए **त्वा**=तुझे **माता**=माता **अनुमन्यताम्**=अनुमति दे **पिता अनु (मन्यताम्)**=पिता भी अनुमति दे, **सगर्भ्य: भ्राता अनु (मन्यताम्)**=सहोदर भाई अनुमति दे **सयूथ्य: सखा**=इकट्ठे मिल-जुलकर खेलनेवाले अपनी पार्टी के साथी **अनु (मन्यताम्)**=अनुमति दें, अर्थात् इस मार्ग पर चलने में ये सब व्यक्ति तेरे सहायक हों। ७. इस प्रकार अनुकूल वातावरण में **अग्नीषोमाभ्याम्**=तेजस्विता व शान्ति से **जुष्टम्**=सेवित **त्वा**=तुझे **प्रोक्षामि**=मैं ज्ञान से सिक्त करता हूँ अथवा लोकहित के कार्य के लिए अभिषिक्त करता हूँ।

भावार्थ—हम अपने को ऋत के पाश से बाँधकर तेजस्वी व शान्त बनें। जल व वनस्पति ही हमारे सेव्य पदार्थ हों। हम प्रभु के सन्देशवाहक बनें।

ऋषि:—मेधातिथि:। **देवता**—आप:। **छन्द:**—प्राजापत्याबृहती[क], विराडार्षीबृहती[र]। **स्वर:**—मध्यम:॥

अपां पेरु

[क]अपां पेरुरस्यापो देवीः स्वदन्तु स्वात्तं चित्सद्देवहविः।
[र]सं ते प्राणो वातेन गच्छतांॅ समङ्गानि यजत्रैः सं यज्ञपतिराशिषा॥१०॥

१. पिछले मन्त्र में यह भावना थी कि हम अपने को ऋत के पाश से बाँधते हैं—तेजस्वी व शान्त बनते हैं। ऋत के पाश से अपने को बाँधनेवाला ही प्रस्तुत मन्त्र के

अनुसार **अपां पेरुः असि**=वीर्य का रक्षक है (आपः रेतो भूत्वा०)। 'आपः' शब्द रेतस् का वाचक है। जीवन के व्रती होने पर और भोजन के सात्त्विक होने पर शरीर में सोम का धारण सुगम होता है। यह 'मेधातिथि'=समझदारी से चलनेवाला व्यक्ति सबसे अधिक महत्त्व इसी बात को देता है कि वह 'अपां पेरु'–वीर्य का रक्षक हो। २. इसी उद्देश्य से प्रभु मेधातिथि से कहते हैं कि **आपः देवीः स्वदन्तु**=ये दिव्य गुणवाले जल तेरे लिए स्वादिष्ट हों। **सत्**=उत्तम **देवहविः**=देवों द्वारा खाये जानेवाले हव्य पदार्थ **चित्**=ही **स्वात्तम्**= (आस्वादितम्–म०) तेरे से स्वाद लिये जाएँ, अर्थात् तू सात्त्विक वानस्पतिक भोजनों को ही खानेवाला बन। ३. इस प्रकार जलों व वानस्पतिक भोजनों के सेवन से **ते प्राणः**=तेरा यह प्राण **वातेन**=वायु से **सङ्गच्छताम्**=सङ्गत हो। 'वातः प्राणो भूत्वा०' वायु ही प्राण का रूप धारण करके शरीर में रहती है। तेरे शरीरस्थ प्राणों का इस वायु से सङ्गमन (मेल) हो, विरोध न हो। वायु तेरे अनुकूल हो और यह वायु तुझमें प्राणशक्ति का सञ्चार कर दे। ४. **अङ्गानि**=तेरे सब अङ्ग **यजत्रैः**=यज्ञों द्वारा त्राण करनेवाले देवों के साथ **सम्** (गच्छन्ताम्)= सङ्गत हों, अर्थात् तेरे सब अङ्गों में दिव्यता का सञ्चार हो। ५. और यह प्राणशक्ति सम्पन्न दिव्यतापूर्ण अङ्गोंवाला **यज्ञपतिः**=यज्ञ का पालक 'मेधातिथि' **सम् आशिषा**=शुभ इच्छाओं से सङ्गत हो, सदा उत्तम इच्छाओंवाला हो।

भावार्थ–हम वीर्यरक्षा के लिए खान-पान को सात्त्विक बनाएँ। हमारी प्राणशक्ति ठीक हो, हमारे सब अङ्ग दिव्यतापूर्ण हों। हमारी इच्छाएँ उत्तम हों।

ऋषिः–मेधातिथिः। **देवता**–वातः। **छन्दः**–भुरिगार्च्युष्णिक्[क,र], स्वाराडार्च्युष्णिक्[३]। **स्वरः**–ऋषभः।।

पति-पत्नी का यज्ञमय जीवन

[क]घृतेनाक्तौ पशूँस्त्रायेथाᳪं रेवति यजमाने प्रियं धाऽआविश।
[र]उरोरन्तरिक्षात्सजूर्देवेन वातेनास्य हविषस्त्मना यज समस्य तन्वा भव।
[३]वर्षो वर्षीयसि यज्ञे यज्ञपतिं धाः स्वाहा देवेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा।।११।।

पिछले मन्त्र में 'वीर्यरक्षा' का प्रकरण था। 'उस मन्त्र के अनुसार खान-पान सात्त्विक होने पर पति-पत्नी का जीवन कैसा बनेगा?' इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्र में है। १. **घृतेन आक्तौ**=तुम दोनों शरीर में मल-क्षरण से और मस्तिष्क में ज्ञान की दीप्ति से अलंकृत होते हो। २. **पशून् त्रायेथाम्**=अपने दीप्त मस्तिष्कवाले स्वस्थ शरीरों में तुम काम-क्रोध आदि पशुओं की रक्षा करो–इनको क़ाबू में रक्खो। ठीक उसी प्रकार जैसे चिड़ियाघर में शेर-चीते आदि को बन्धन में रखते हैं। (कामः पशुः, क्रोधः पशुः)। वस्तुतः वीर्यरक्षा का यह स्वाभाविक परिणाम है कि मनुष्य काम-क्रोधादि का शिकार नहीं होता। ३. यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि **रेवति यजमाने**=धन-सम्पन्न यज्ञशील व्यक्तियों में **प्रियं धाः**=तृप्ति व शान्ति को स्थापित कीजिए। आप **आविश** =हमारे हृदयों में प्रविष्ट होओ, अर्थात् आपकी कृपा से हम संसार-यात्रा के लिए आवश्यक धन से युक्त हों और यज्ञशील बनें। हम आपके निवासस्थान बन पाएँ। हमारा हृदय आपका मन्दिर हो। ४. **उरोः अन्तरिक्षात्**=इस विशाल हृदयान्तरिक्ष से **त्मना**=स्वयं **यज**=हमें सङ्गत कीजिए। हम अपने हृदय को आपकी कृपा होने पर ही विशाल बना पाएँगे। ५. प्रभु कहते हैं कि **देवेन वातेन**=दिव्य वायु के हेतु से **अस्य हविषः**=इस हव्य पदार्थ का **सजूः**=बड़े प्रेमवाला होकर **यज**=यजन कर। यह यज्ञशीलता जहाँ वायु को शुद्ध करेगी वहाँ तेरे हृदय में प्राणिमात्र के लिए प्रेम की भावना पैदा करेगी। तेरे हृदय को यही विशाल बनाएगी। **अस्य** (हेतोः)=इस यज्ञ के द्वारा ही तू

तन्वा=शरीर से **सम्भव**=फूल-फल। तेरा शरीर सब प्रकार से उन्नत हो। ६. प्रभु के इस आदेश को सुनकर मेधातिथि प्रभु से प्रार्थना करता है कि **वर्षो**=हे यज्ञिय कर्म से सब सुखों के वर्षक प्रभो! आप मुझ **यज्ञपतिम्**=यज्ञों के रक्षक को **वर्षीयसि यज्ञे**=सब सुखों के वर्षक उत्कृष्ट यज्ञ में **धाः**=स्थापित कीजिए। मैं **देवेभ्यः**=देवताओं के लिए **स्वाहा**=उत्तम आहुति देनेवाला होऊँ और **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **स्वाहा**=स्वार्थ का त्याग करनेवाला बनूँ। वस्तुतः यज्ञ से वायु आदि देवताओं की शुद्धि होती है और मनुष्य को दिव्य गुणों की प्राप्ति होती है, क्योंकि यज्ञ का मूल ही स्वार्थत्याग है।

भावार्थ—हमारा जीवन यज्ञमय हो।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—भुरिक्प्राजापत्यानुष्टुप्[क], भुरिगासुर्यनुष्टुप्[र]। **स्वरः**—गान्धारः॥

दिव्य गुण

माहिर्भूर्मा पृदाकुर्नमस्तऽआतानानर्वा प्रेहि।
[र]घृतस्य कुल्याऽ उपऽ ऋतस्य पथ्याऽअनु॥१२॥

पिछले मन्त्र की समाप्ति दिव्य गुणों को प्राप्त करने की प्रार्थना पर थी। उन्हीं दिव्य गुणों का संकेत प्रस्तुत मन्त्र में दिया गया है। विद्वान् आचार्य मेधातिथि (समझदार) को आदेश देते हैं कि १. **अहिः मा भूः** =तू साँप मत बन। तुझमें सर्पवत् कुटिलता न हो। तू औरों को डसनेवाला, कटु शब्दों से उनके मन, हृदय को विद्ध करनेवाला न हो। २. **मा पृदाकुः**=तू अजगर न हो, औरों को निगल जानेवाला न हो। औरों की सम्पत्ति को तूने हड़प नहीं लेना। ३. **नमः ते**=इस प्रकार उत्तम जीवनवाले तेरे लिए आदर हो। सभी लोगों का तू हृदय से आदरणीय बन। ४. **आतान**=तू अपनी सब शक्तियों का सदा विस्तार कर। ५. परन्तु **अनर्वा**=तू किसी की हिंसा करनेवाला न हो। तेरी शक्तियाँ परि-रक्षण के लिए हों, पर-पीड़न के लिए नहीं। ६. **प्रेहि**=तू निरन्तर आगे बढ़ ७. **घृतस्य कुल्या उप**=ज्ञान की नहरों के समीप पहुँच और ८. **ऋतस्य पथ्या अनु**=ऋत के मार्गों के साथ तू आगे बढ़, अर्थात् आगे बढ़ने व उन्नति का स्वरूप यही है कि मनुष्य ज्ञान की धाराओं के समीप पहुँचता जाए और सूर्य-चन्द्रमा की गति के अनुसार अपने जीवन-मार्ग पर बड़े नियम से चले।

भावार्थ—वेद के दृष्टिकोण में दिव्य जीवन यह है १. कुटिलता का सर्वथा त्याग २. चुभनेवाली बातें न करना, कटु न बोलना ३. औरों की सम्पत्ति को न हड़पना ४. अपना जीवन आदरणीय बनाना ५. हिंसा न करना ६. निरन्तर आगे बढ़ना ७. ज्ञान प्राप्त करना और ८. नियमित जीवन बिताना।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—आपः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

आचार्य

देवीरापः शुद्धा वोड्ढ्वꣳ सुपरिविष्टा देवेषु
सुपरिविष्टा वयं परिवेष्टारो भूयास्म॥१३॥

दिव्य जीवन बनाने के लिए माता-पिता आचार्यों से प्रार्थना करते हैं कि १. **देवीः**= ज्ञान की ज्योति से चमकनेवाले **आपः**=रेतस् के पुञ्ज (आपः रेतस्) अथवा आप्त **शुद्धाः**=शुद्ध मनोवृत्तिवाले आचार्यो! **वोड्ढ्वम्**=('वह' प्रापणे='नी' उपनयन) आप इन विद्यार्थियों को अपने समीप लाइए, उनका उपनयन कीजिए। वेद के **'आचार्य उपनयनमानो ब्रह्मचारिणं**

कृणुते गर्भमन्तः' इन शब्दों के अनुसार उन्हें अपने गर्भ में धारण कीजिए। माता जैसे गर्भस्थ बालक की रक्षा करती है आप उसी प्रकार इन विद्यार्थियों के सदाचार आदि की रक्षा कीजिए। २. ये विद्यार्थी **सुपरिविष्टाः**=सुपरिविष्ट हों, अर्थात् इन्हें आपके द्वारा ज्ञान का भोजन उत्तमता से परोसा जाए। 'ब्रह्मचर्य' शब्द में भी ज्ञान के भक्षण की भावना है। ३. **देवेषु**=विद्वान् आचार्यों के समीप **सुपरिविष्टाः**=खूब उत्तमता से परोसे हुए ज्ञान को, अर्थात् आचार्यों के समीप रहकर सब प्राकृतिक देवों से सम्बन्धित ज्ञान को प्राप्त करनेवाले **वयम्**=हम **परिवेष्टारः**=इस ज्ञान के भोजन के परोसनेवाले **भूयास्म**=बनें। ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञान को औरों तक पहुँचानेवाले बनें।

भावार्थ—राष्ट्र में आचार्य दिव्य ज्योतिवाले, शक्तिसम्पन्न व शुद्ध वृत्तिवाले हों। इनके समीप रहकर विद्यार्थी ज्ञान का भोजन प्राप्त करें और स्वयं ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञान का सर्वत्र प्रसार करनेवाले हों।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—भुरिगार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

शोधन

वाचं॑ ते शुन्धामि प्रा॒णं तैं शुन्धा॒मि चक्षु॑स्ते शुन्धा॒मि श्रोत्रं॑ ते शुन्धा॒मि नाभिं॑ ते शुन्धा॒मि मेढ्रं॑ ते शुन्धामि पा॒युं तैं शुन्धामि च॒रित्राँ॑स्ते शुन्धामि॥१४॥

'आचार्य विद्यार्थी के जीवन का किस प्रकार शोधन करता है?' इस विषय को प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि—१. **ते वाचं शुन्धामि**=(आचार्य विद्यार्थी से कहता है कि) मैं तेरी वाणी को शुद्ध करता हूँ, जिससे तू इस वाणी को असत्यभाषण से अपवित्र करनेवाला न हो। तेरी वाणी सत्य से सदा पवित्र बनी रहे। २. **ते प्राणं शुन्धामि**=मैं तेरी घ्राणेन्द्रिय को शुद्ध करता हूँ, जिससे तू घ्राणेन्द्रिय से कृत्रिम गन्धों के प्रति आसक्त न हो जाए। ३. **ते चक्षुः शुन्धामि**=तेरी आँख को शुद्ध करता हूँ, जिससे तू पवित्र दृष्टि से देखनेवाला बने। स्त्रियों में मातृभावना, परद्रव्यों में लोष्ठभावना, सर्वप्राणियों में आत्मभावना से तू देखनेवाला हो। हिमाच्छादित पर्वतों, समुद्रों, विशाल पृथिवी व आकाश के तारों में तू प्रभु की महिमा को देखे। ४. **ते श्रोत्रं शुन्धामि**=तेरे कान को शुद्ध करता हूँ, जिससे तू इन कानों से अभद्र बातों को न सुनता रहे। तुझे निन्दा की बातें सुनने में स्वाद न आये। ५. **नाभिं ते शुन्धामि**=मैं तेरी नाभि को पवित्र करता हूँ, जिससे तेरा जीवन संयम के बन्धन में बँधकर चले। ६. **ते मेढ्रं शुन्धामि**=तेरी उपस्थेन्द्रिय को शुद्ध करता हूँ, जिससे तू ब्रह्मचर्य का जीवन बिताते हुए मूत्र-सम्बन्धी सब रोगों से बचा रहे। ७. **ते पायुं शुन्धामि**=तेरी मलशोधक इन्द्रिय को शुद्ध करता हूँ, जिससे ठीक मल-शोधन होते रहकर तू रोगों से बचा रहे। ८. **ते चरित्रान् शुन्धामि**=तेरे पाँवों को शुद्ध करता हूँ, जिससे तेरे चरित्र (चाल-ढाल) सदा ठीक बने रहें।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थी के जीवन को परिशुद्ध कर डालता है।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्[क], आर्षीपंक्तिः[र]। **स्वरः**—धैवतः, पञ्चमः॥

आप्यायन

[क]**मन॑स्त॒ऽआप्या॑यतां वाक् त॒ऽआप्या॑यतां प्रा॒णस्त॒ऽआप्या॑यता॒ं चक्षु॑स्त॒ऽआप्या॑यता॒ꣳ श्रोत्रं॑ त॒ऽआप्या॑यताम्। [र]यत्ते॑ क्रूरं यदास्थि॑त॒ं तत्त॒ऽआप्या॑यता॒ं निष्ट्या॑यता॒ं तत्ते॑ शुध्यतु शमहो॑भ्यः। ओष॑धे॒ त्राय॑स्व॒ स्वधि॑ते॒ मैन॑ꣳहिꣳसीः॥१५॥**

गत मन्त्र के 'शोधन' के बाद प्रस्तुत मन्त्र में 'आप्यायन' का वर्णन आता है। आचार्य विद्यार्थी से कहता है कि १. **ते मनः आप्यायताम्**=तेरा मन बढ़े। तेरे मन में सदा उत्साह का सञ्चार हो। निराशा तेरे मनःप्रसाद में किसी प्रकार की कमी को न आने दे। २. **ते वाक् आप्यायताम्**=तेरी वाणी आप्यायित हो—यह सदा सत्य बोलने के कारण 'क्रियाफलाश्रित' हो, अर्थात् जैसा तेरी वाणी से निकले वैसा ही हो जाए। ३. **ते प्राणः आप्यायताम्**=तेरे प्राण आप्यायित हों। तेरी घ्राणेन्द्रिय की शक्ति बढ़े। तू सूँघने के द्वारा ही 'सगन्धत्व' को, बन्धुत्व को, पहचाननेवाला हो। ४. **ते चक्षुः आप्यायताम्**=तेरी दृष्टिशक्ति आप्यायित हो। तू दूर तक देख सके, सूक्ष्म वस्तु को भी तेरी आँख देखने में समर्थ हो। ५. **श्रोत्रं ते आप्यायताम्**=तेरी श्रवणशक्ति विकसित हो। तू सूक्ष्म शब्दों को भी सुनने में समर्थ हो। ६. **यत् ते क्रूरम्**=जो कुछ भी तेरा भयंकर कर्म व स्वभाव है **तत् ते**=वह तेरा **निष्ट्यायताम्**=तुझसे दूर हो जाए, **तत् ते शुध्यतु**=वह तेरा शुद्ध हो जाए। तेरे उस स्वभाव का शोधन होकर क्रूरता दूर हो जाए। **यत्**=जो **आस्थितम्**=तेरी स्थिरता व दृढ़ता है, वह **आप्यायताम्** =आप्यायित हो, अर्थात् तुझमें क्रूरता तो न हो, परन्तु मोहमयी मृदुता भी न हो, तेरे स्वभाव में कुछ दृढ़ता बनी रहे। ७. इस क्रूरता के न होने और स्थिरता के होने से **अहोभ्यः शम्**=तेरे दिनों के लिए शान्ति हो, अर्थात् तू शान्तिपूर्वक दिनों को बितानेवाला बन। ८. **ओषधे**=हे दोषों का दहन करनेवाले आचार्य ! **त्रायस्व**=तू विद्यार्थी की रक्षा कर, उसे किन्हीं भी असदाचरणों में गिरने से बचा। ९. **स्वधिते**=आत्मीयों का धारण करनेवाले तथा आत्मतत्त्व का धारण करनेवाले! तू **एनम्**=इस अपने शिष्य को **मा हिंसीः**=मत हिंसित होने दे।

भावार्थ—आचार्य-कृपा से विद्यार्थी के सब अङ्गों का आप्यायन हो। उसका स्वभाव उत्तम हो। वह वासनाओं का शिकार न हो जाए।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—ब्राह्म्युष्णिक्[क, र]। **स्वरः**—ऋषभः॥

रक्षो बाधन

[क]रक्षसां भागोऽसि निरस्तꣳरक्षऽइदमहꣳरक्षोऽभितिष्ठामीदमहꣳ रक्षोऽवबाधऽइदमहꣳरक्षोऽधमं तमो नयामि। [र]घृतेन द्यावापृथिवी प्रोर्णुवाथां वायो वे स्तोकानामग्निराज्यस्य वेतु स्वाहा स्वाहाकृतेऽऊर्ध्वनभसं मारुतं गच्छतम्॥ १६॥

१. अपने सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों का आप्यायन करके हे मेधातिथि! तू **रक्षसाम्**=राक्षसी वृत्तियों का **भागः**=दूर भगानेवाला (भज्=put to flight) **असि**=है। **रक्षः**=सब रोगकृमि **निरस्तम्**=दूर फेंक दिये गये हैं। **इदम्**=यह **अहम्**=मैं **रक्षः**=इन राक्षसी वृत्तियों का **अभितिष्ठामि**= मुक़ाबला करता हूँ। **इदम् अहम्**=यह मैं **रक्षः**=इन रोगकृमियों को **अधमं तमः नयामि**=सबसे निकृष्ट अन्धकारमय स्थान में पहुँचाता हूँ, अपने से दूर अदृश्य स्थान में धकेल देता हूँ। २. इस प्रकार राक्षसी वृत्तियों व रोगकृमियों को दूर करके **द्यावापृथिवी**=(द्यौरहं पृथिवी त्वम्) पति-पत्नी दोनों ही **घृतेन**=मलक्षरण द्वारा शरीर के स्वास्थ्य से और ज्ञान की दीप्ति से **प्रोर्णुवाथाम्**=अपने को आच्छादित करते हैं। ३. हे **वायो**=गति के द्वारा अपनी सब बुराइयों को समाप्त करनेवाले! तू **स्तोकानाम्**=छोटी-छोटी बातों का भी **वेः**=जाननेवाला हो (वेः=विद्धि—द०)। यदि हम छोटी-छोटी ग़लतियों को अपने अन्दर न आने देंगे, तभी वास्तविक उत्थान होगा। ४. **अग्निः**=यह प्रकाशमय जीवनवाला व्यक्ति **आज्यस्य**=(आज्यं वै तेजः)

तेज को **वेतु**=प्राप्त करें। ५. **स्वाहा**=इन सब बातों के लिए वह स्वार्थत्याग करे। ६. और हे **स्वाहाकृते**=स्वार्थत्याग करनेवाले पति-पत्नियो ! **ऊर्ध्वनभसम्**=उत्कृष्ट हिंसावाले **मारुतम्**=रश्मि-समूह को **गच्छतम्** =प्राप्त होवो। ज्ञान की रश्मियों का समूह वासनाओं का विनाश करता है। यह वासना-विनाश ही उत्कृष्ट हिंसा है। (नभ् हिंसायाम्)।

भावार्थ—हम रोगकृमियों व राक्षसी वृत्तियों को अपने से दूर कर दें। पति-पत्नी दोनों ही स्वस्थ व ज्ञानी बनें। छोटी-छोटी कमियों का ध्यान करके उन्हें दूर करें। स्वार्थत्याग करनेवाले ये पति-पत्नी उस ज्ञान रश्मिसमूह को प्राप्त करें जो उनकी वासनाओं के अन्धकार का विनाश करे।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—आपः। **छन्दः**—निचृद्ब्राह्म्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।।

पाप-मोचन

इदमापः प्रवहतावद्यं च मलं च यत्। यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपेऽअभीरुणम्। आपो मा तस्मादेनसः पवमानश्च मुञ्चतु॥१७॥

गत मन्त्र का 'मेधातिथि' ज्ञान-रश्मिसमूह से वासनान्धकार का विदारण करके अब 'दीर्घतमा' बन गया है और प्रार्थना करता है कि—१. **आपः**=(आप्नुवन्ति सर्वा विद्याः): हे सब विद्याओं को प्राप्त करानेवाले आप्त पुरुषो! आप **इदम्**=इस **अवद्यं च**=अकथनीय-गर्हणीय पापों को **मलं च**=और मलों को **प्रवहत**=हमसे बहाकर दूर ले-जाओ। आपकी कृपा से मेरे ज्ञानचक्षु इस प्रकार खुलें कि मैं कोई भी बुरा कर्म न करूँ और खान-पान को ठीक रखता हुआ शरीर में किसी प्रकार के मल का सञ्चय न होने दूँ। २. **च**=और **यत्**=जो **अभिदुद्रोह**=मैं किसी का द्रोह (जिघांसा=मारने की इच्छा) करता हूँ, **यत् च**=और जो **अनृतम्** =झूठ-मूठ बातों को बनाता हूँ तथा **अभीरुणम्**=(अनपराधिनं) निष्पाप और निर्भय व्यक्ति से **शेपे**=गाली-गलौच करता हूँ **तस्मात् एनसः**=उस पाप से **आपः**=ज्ञानी लोक तथा **पवमानः च**=अपने को पवित्र करनेवाले सन्त लोग **मुञ्चतु**=अपने ज्ञानोपदेश व मधुर प्रेरणा के द्वारा मुक्त करें।

भावार्थ—सबसे बड़े पाप यही हैं कि (क) किसी से द्रोह करना (ख) अनृत बोलना (ग) निष्पाप को कोसना। ज्ञानी, पवित्रात्मा लोग हमें इन पापों से छुड़ाएँ।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—प्राजापत्यानुष्टुप्[क], दैवीपङ्क्तिः[२]आर्चीपङ्क्तिः[३]। **स्वरः**—गान्धारः[क], पञ्चमः[२,३]।।

मन व प्राण

[क]सं ते मनो मनसा सं प्राणः प्राणेन गच्छताम्। [२]रेडस्यग्निष्ट्वा श्रीणात्वापस्त्वा समरिणन्वातस्य त्वा ध्राज्यै पूष्णो रꣳह्याऽऊष्मणो व्यथिषत्प्रयुतं द्वेषः॥१८॥

पिछले मन्त्र के अनुसार जब 'दीर्घतमा' पापमुक्त होता है तब प्रभु उससे कहते हैं कि १. **ते**=तेरा **मनः**=मन **मनसा**=मननशक्ति से **सङ्गच्छताम्**=सङ्गत हो और **प्राणः**=जीवन **प्राणेन**=जीवनीशक्ति से **सङ्गच्छताम्** =सङ्गत हो, अर्थात् तुझमें ऋषियों की मननशक्ति हो और मल्लों की जीवनी शक्ति हो। तेरे 'क्षत्र व ब्रह्म' दोनों ही खूब विकसित हों। २. **रेट असि**=(रिष हिंसायाम्) तू ज्ञान-प्राप्ति में विघ्नभूत कामादि वासनाओं का संहार करनेवाला है और रोगों के कारणभूत स्वादादि को समाप्त करनेवाला है। ३. **अग्निः**=ज्ञानाग्नि **त्वा**

श्रीणातु=तुझे परिपक्व करे, अर्थात् ज्ञानाग्नि के कारण तेरे विचार इतने परिपक्व हों कि वे धर्म के मार्ग से कभी विचलित न हों। ४. **आप:**=विद्याओं को व्याप्त करनेवाले ज्ञानी लोक **त्वा**=तुझे **समरिणन्**=उत्तम गतिवाला करें (रिणति: गतिकर्मसु)। अथवा जल तेरे सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों व ग्रन्थियों को ठीक गतिवाला करें। ५. **त्वा**=तुझे **वातस्य**=वायु की **ध्राज्यै**= तीव्र गति के लिए **ऊष्मण:**=तेज़ी से--क्रोध में आ जाने से **व्यथिषत्**=भयभीत कर दूर भगा दे, अर्थात् क्रोध से तू डरे और इस क्रोध से सदा बचे रहकर वायु की तरह अपने कर्मों में तू लगा रहे। ६. **पूष्ण:**=पोषण के देवता सूर्य की **रंह्यै**=गति के लिए, अर्थात् सूर्य के समान नियमित कार्यक्रम में लगे रहने के लिए **द्वेष:**=द्वेष से **प्रयुतम्**=दूर करें (यु=अमिश्रण)। मनुष्य जब द्वेष की भावना से युक्त होता है तब सूर्य के समान निर्लेप नहीं हो पाता। मनुष्य द्वेष से ऊपर उठकर ही न्याय-मार्ग पर चल पाता है।

भावार्थ—मेरे मन व प्राण बलिष्ठ हों। मुझे क्रोध व द्वेष न छूएँ।

ऋषि:—दीर्घतमा:। **देवता**—विश्वेदेवा:। **छन्द:**—ब्राह्म्यनुष्टुप्। **स्वर:**—गान्धार:॥

घृत व वसा का पान

घृतं घृतपावानः पिबत वसां वसापावानः पिबतान्तरिक्षस्य हविरसि स्वाहा। दिशः प्रदिशऽआदिशो विदिशऽउद्दिशो दिग्भ्यः स्वाहा॥१९॥

पिछले मन्त्र की भावना को ही शब्दान्तर से कहते हैं कि १. **घृतपावान:**=घृत अर्थात् मल-क्षरण का पान करनेवालो! **घृतं पिबत**=मल-क्षरण का पान करो। शरीर से मल-क्षरण का पूरी तरह से ध्यान करो। शरीर में मलों का सञ्चय न होगा तभी तुम स्वास्थ्य की दीप्ति से चमकोगे। प्राणशक्ति की वृद्धि का एकमात्र मार्ग यही है। २. **वसापावान:**=(वसा=brain=दिमाग़) दिमाग़ की रक्षा करनेवालो! **वसां पिबत**=मस्तिष्क का पान करो, अर्थात् मस्तिष्क की सुरक्षा का पूर्ण प्रयत्न करो, तभी तो पूरी मननशक्ति से सङ्गत होओगे। ३. तू **अन्तरिक्षस्य**=हृदयान्तरिक्ष का **हवि:**=हवि **असि**=है। हवि का अभिप्राय 'दानपूर्वक अदन करना है'। तेरे हृदय में यह भावना सदा बनी रहती है। यही त्यागपूर्वक भोग है—यज्ञशेष 'अमृत' का सेवन है। **स्वाहा**=तू इसके लिए स्वार्थ का त्याग करनेवाला हो। स्वार्थत्याग से ही हविर्मय जीवन बनेगा। ४. तेरा शरीर घृत=मल-क्षरण से स्वास्थ्य की दीप्तिवाला हुआ है, मस्तिष्क वसा=दिमाग़ी ताकत की रक्षा से मनन की शक्ति से परिपूर्ण हुआ है और हृदय त्याग की भावनावाला होकर हविरूप हो गया है। इस प्रकार तूने सर्वतोमुखी उन्नति का साधन किया है। **दिश:-प्रदिश:-आदिश:-विदिश:-उद्दिश:-दिग्भ्य:**=पूर्वादि सब दिशाओं तथा ऊपर-नीचे इस प्रकार छह-की-छह ओर से **स्वाहा**= (सु+आ+हा) सब ओर युद्ध-क्रिया से शत्रुओं का खूब संहार किया है (युद्धानुरूप क्रिया से शत्रुओं को जीता है—द०)। जीव पर छह दिशाओं से छह शत्रु महारथियों का आक्रमण होता है। जीव को इन सब महारथियों का पराजय करके 'विश्वेदेवा:' सब दिव्य गुणों को प्राप्त करना है।

भावार्थ—हम स्वास्थ्य व मस्तिष्क की रक्षा करें। हृदय को त्याग की भावना से परिपूर्ण करें और छह दिशाओं से आक्रमणकारी छह शत्रु महारथियों (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर) पर विजय प्राप्त करें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—त्वष्टा। छन्दः—ब्राह्मीत्रष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

प्रतिकूल की अनुकूलता

ऐन्द्रः प्राणोऽअङ्गेऽअङ्गे निदीध्यदैन्द्रऽउदानोऽअङ्गेऽअङ्गे निधीतः।
देव त्वष्टर्भूरि ते सꣳसमेतु सलक्ष्मा यद्विषुरूपं भवाति।
देवत्रा यन्तमवसे सखायोऽनु त्वा माता पितरो मदन्तु॥२०॥

पिछले मन्त्र के अनुसार सब शत्रुओं का संहार कर देने से १. **ऐन्द्रः प्राणः**=जीव की प्राणशक्ति **अङ्गे अङ्गे**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में **निदीध्यत्**=चमकती है। **ऐन्द्रः उदानः**=यह जीव-सम्बन्धी उदानशक्ति भी **अङ्गे अङ्गे**=प्रत्येक अङ्ग में **निधीतः**=(निहितः) निहित हुई है। प्राणशक्ति स्वास्थ्य का कारण बनती है तो उदानशक्ति ज्ञानवृद्धि के द्वारा सब प्रकार के उत्थान का कारण होती है। २. हे **देव**=दिव्य गुणसम्पन्न! **त्वष्टः**=शक्ति व ज्ञान के द्वारा सब उत्तमताओं का निर्माण करनेवाले! **ते**=तुझे **भूरि**=(भृ=धारणपोषण) धारणपोषण के सब तत्त्व **सम् सम् एतु**=उत्तमता से प्राप्त हों। **यत्**=जो **विषुरूपम्**=प्रतिकूलता हो वह **सलक्ष्मा**=अनुकूलता में परिणत **भवाति**=हो जाती है। प्राणोदान शक्ति के ठीक होने पर किसी तत्त्व की प्रतिकूलता का प्रश्न ही नहीं रह जाता। ये प्राणोदान सबको अनुकूल कर लेते हैं। ३. सबको अनुकूल बनाकर **अवसे**=अपने रक्षण के लिए **देवत्रा यन्तम्**=दिव्य गुणों की ओर जाते हुए **त्वा अनु**=तुझे देखकर **सखायः**=सब सखा व **माता पितरः**=माता-पिता **मदन्तु**=हर्ष का अनुभव करें। तुम्हें उन्नतिपथ पर जाते देखकर सबको प्रसन्नता हो।

भावार्थ—प्राण एवं उदान को सिद्ध करके हम जीवन का निर्माण करें। दिव्य गुणों की ओर बढ़ें। हमारे जीवन को देखकर मित्रों व पिता-माता को प्रसन्नता हो।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—सेनापतिः। छन्दः—साम्नी[क] ब्राह्मी[ख] भुरिगार्षी[ग] आर्ष्युष्णिक[ग]। स्वरः—ऋषभः॥

ग्यारह दिव्य गुण

[क]समुद्रं गच्छ स्वाहाऽन्तरिक्षं गच्छ स्वाहा [ख]देवꣳसवितारं गच्छ स्वाहा मित्रावरुणौ गच्छ स्वाहाऽहोरात्रे गच्छ स्वाहा छन्दाꣳसि गच्छ स्वाहा द्यावापृथिवी गच्छ स्वाहा [ग]यज्ञं गच्छ स्वाहा सोमं गच्छ स्वाहा दिव्यं नभो गच्छ स्वाहाग्निं वैश्वानरं गच्छ स्वाहा [ग]मनो मे हार्दि यच्छ दिवं ते धूमो गच्छतु स्वर्ज्योतिः पृथिवीं भस्मनापृण स्वाहा॥२१॥

पिछले मन्त्र में 'देवत्रा यन्तम्' दिव्य गुणों की ओर जानेवाले का उल्लेख था। वे दिव्य गुण ही प्रस्तुत मन्त्र में प्रतिपादित हो रहे हैं। १. **स्वाहा** (स्वाहा=वाक्—नि० १।११) वेदवाणी के द्वारा **समुद्रं गच्छ**=समुद्र को जा। समुद्र गम्भीरता का प्रतीक है। वेदवाणी व ज्ञान की वाणियों के पढ़ने का जीवन पर पहला परिणाम यह है कि मनुष्य की मनोवृत्ति गम्भीरता को लिये हुए होती है। वह उथला नहीं होता। इस गम्भीरता का अभिप्राय किसी प्रकार भी उदास व मुस्कराहट से शून्य चेहरे से नहीं है। यह व्यक्ति **स-मुद्रः**=सदा प्रसन्न होता है। मनःप्रसाद इसकी दृष्टि में सर्वोच्च तप है। २. **स्वाहा**=इस वेदवाणी के द्वार **अन्तरिक्षं गच्छ** =अन्तरिक्षं को प्राप्त हो। 'अन्तरिक्ष' मध्यमार्ग का प्रतीक है। अन्तरा क्षि=बीच में चलना। अन्तरिक्ष भी द्युलोक और पृथिवीलोक के बीच में है। अति में न जाकर सद

मध्य में रहना। अतिभोजन न करना, उपवास में भी अति न कर जाना। ३. **देवं सवितारं गच्छ स्वाहा**=तू वाणी के द्वारा जीवन को प्रकाश देनेवाले सूर्य को प्राप्त हो। सूर्य को प्राप्त होने का अभिप्राय 'तेजसा सूर्यसंकाशः' इन शब्दों में स्पष्ट है—तू सूर्यदेव के समान तेजस्वी बन। ज्ञान भोगों से हटाता है तो तेजस्वी भी बनाता है। ४. **मित्रावरुणौ गच्छ स्वाहा**=वेदवाणी के द्वारा तू मित्रावरुण को प्राप्त करनेवाला हो। 'मित्र' स्नेह की देवता है तो 'वरुण' द्वेष-निवारण की देवता है। ज्ञानी बनकर सब 'प्रभु के ही पुत्र हैं' ऐसा समझनेवाला द्वेष कर ही नहीं सकता। वह सबसे प्रेम करेगा ही। ५. **अहोरात्रे गच्छ स्वाहा**=इन ज्ञान की वाणियों से तू अहन् व रात्रि को प्राप्त हो। अहन् 'दिन' है—यह न हनन करने योग्य है। ज्ञानी पुरुष दिन के एक क्षण को भी अकर्मण्यता में नहीं बिताता। इसी का परिणाम है कि रात्रि इसके लिए रमयित्री होती है। इसमें कार्यों का विराम करके वह वस्तुतः निद्रा में रमण करनेवाला होता है—सुख की नींद सोता है। ६. **स्वाहा**=इन ज्ञान की वाणियों के द्वारा तू **छन्दांसि गच्छ**=(छन्दांसि छादनात्) छन्दों को प्राप्त हो—तेरे पापों का छादन हो। ये ज्ञान की वाणियाँ तुझे पापों के आक्रमण से बचानेवाली हों। ७. **स्वाहा**=इस वेदवाणी के द्वारा तू **द्यावापृथिवी गच्छ**=द्यावापृथिवी को प्राप्त कर। तेरा मस्तिष्करूप द्युलोक द्युतिमय हो। तेरा पृथिवीरूप शरीर प्रथन=विस्तारवाला हो। ८. **यज्ञं गच्छ स्वाहा**=तू इस वेदवाणी से यज्ञ को प्राप्त हो। तेरा जीवन यज्ञिय हो। ज्ञान को प्राप्त करके 'मनुष्य स्वार्थी बना रहे' यह नहीं हो सकता। ९. **स्वाहा**=इस ज्ञान की वाणी के अध्ययन से तू **सोमं गच्छ**=सोम को प्राप्त हो। शरीर में वीर्य की रक्षा करनेवाला बन। १०. इस सोमरक्षा से जहाँ तू **स्वाहा**=वेदवाणी का अध्ययन करता हुआ **दिव्यं नभः**=प्रकाशमय द्युलोक को **गच्छ**=प्राप्त हो, वहाँ ११. **स्वाहा**=इस ज्ञान की वाणी के द्वारा **वैश्वानरं अग्निम्**=वैश्वानर अग्नि को, अर्थात् पाचनशक्ति को **गच्छ**=प्राप्त हो। यह ज्ञान तुझे अतिभोजन व असंयमादि दोषों से बचाकर सदा दीप्त अग्निवाला बनाएगा। जब तक तेरी अग्नि दीप्त है तब तक तेरा शरीर सर्वथा स्वस्थ ही रहेगा। १२. इस स्वस्थ शरीर में, प्रभु दीर्घतमा से कहते हैं कि **मे**=मेरे दिये हुए **मनः** =इस मन को **हार्दि**=हृदय (heart) में **यच्छ**=तू नियन्त्रित करनेवाला बन। मन 'हृत् प्रतिष्ठ' है। यह जब कभी स्थिर होगा तो हृदय में ही स्थिर होगा, क्योंकि वहाँ प्रभु का निवास है और इस प्रभु में एक बार उलझा हुआ मन न उसके ओर-छोर को पा सकता है और न फिर वहाँ से निकल सकता है। मन का स्वभाव ही यह है कि किसी भी वस्तु को चारों ओर से देखकर फिर उससे ऊब जाता है और अन्यत्र भागने की करता है। प्रभु को न तो यह पूरी तरह से देख पाता है और न ही फिर वहाँ से निकल पाता है। एवं, यह हृदय में नियन्त्रित हो जाता है। १३. नियन्त्रित मनवाला व्यक्ति ही यज्ञादि उत्तम कर्मों में लग पाता है। प्रभु इससे कहते हैं कि **ते**=तेरा **धूमः**=यज्ञ का धूम **दिवं गच्छतु**=द्युलोक तक पहुँचे, **ज्योतिः**=यह यज्ञाग्नि की ज्योति तेरे **स्वः**=स्वर्ग का कारण बने। यज्ञों से सब रोगादि दूर होकर घर स्वर्ग बन जाता है, अतः तू **पृथिवीम्**=इस पृथिवी को **भस्मना**=यज्ञाग्नि की भस्म से **पृण**=पूरित कर दे। इस पृथिवी पर स्थान-स्थान पर यज्ञ होंगे तो सब ऋतुएँ ठीक समय पर आकर सबके कल्याण का कारण बनेंगी।

भावार्थ—हम जीवन में गाम्भीर्य, मध्यमार्गाक्रमण, तेजस्विता, स्नेह व द्वेषाभाव, कर्मठता व सुखनिद्रा, पाप-निवारण, देदीप्यमान मस्तिष्क व दृढ़ शरीर, यज्ञ, सोमरक्षा, प्रकाशमय अहिंसक वृत्ति तथा तीव्र जाठराग्नि को धारण करें। मन को वशीभूत करके

यज्ञमय जीवन बिताएँ।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—वरुणः। **छन्दः**—स्वराड्ब्राह्म्युष्णिक्[क], त्रिपाद्विराड्गायत्री[र]।
स्वरः—ऋषभः[क], षड्जः[र]॥

जल-ओषधियाँ-गौवें

[क]मापो मौषधीर्हिꣳसीर्धाम्नोधाम्नो राजँस्ततो वरुण नो मुञ्च। यदाहुरघ्न्याऽइति वरुणेति शपामहे ततो वरुण नो मुञ्च। [र]सुमित्रिया नऽआपऽओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः॥२२॥

पिछले मन्त्र में ११ सद्गुणों का उल्लेख था। 'सब प्रजाओं के अन्दर ये दिव्य गुण आएँ', इसके लिए राजा को यह व्यवस्था करनी है कि सब लोगों को उत्तम जल, उत्तम ओषधियाँ प्राप्त हों। राष्ट्र में वृक्षों की स्थिति ठीक हो। वर्षा बहुत कुछ इन वृक्षों पर ही निर्भर है। राष्ट्र में गो-हिंसा कानूनन बन्द हो, क्योंकि मानव-जीवन की उन्नति इन गौवों पर निर्भर करती है। मन्त्र में कहते हैं कि १. हे **राजन्**=राष्ट्र में सुव्यवस्था (Regulation) लानेवाले! तू **धाम्नः धाम्नः**=प्रत्येक स्थान से **आपः**=जलों की **मा**=मत **हिंसीः**=हिंसा होने दे तथा **मा**=मत **ओषधीः**=ओषधियों की **हिंसीः**=हिंसा होने दे। हे **वरुण**=राष्ट्र को नियमों के पाशों से बाँधनेवाले राजन्! **नः**=हमें **ततः**=इन पापों से **मुञ्च**=मुक्त कीजिए। न तो हम जलों को खराब करनेवाले हों और न ही वनस्पतियों को व्यर्थ में हिंसित करनेवाले हों। प्रत्येक ग्राम व नगर के चारों ओर वृक्षों के उपवन होने चाहिएँ। ये आँधियों से सुरक्षित करते हैं इनसे रेगिस्तान की वृद्धि न होकर वृष्टि अधिक होती है। २. **यत्**=जिसे आप **अघ्न्या**=न मारने योग्य **आहुः**=कहते हैं **वरुण इति**=जिसे आप 'वरणीय'—'स्वीकार करने योग्य' इस प्रकार कहते हैं और हम इन बातों का ध्यान न करके **शपामहे**=उन्हें मारते हैं (शपतिर्वधकर्मा—उ०) **ततः**=उस गौ के मरने के अपराध से हे **वरुण** =नियमों में जकड़नेवाले राजन्! **नः**=हमें **मुञ्च**=छुड़ाइए। हम गो-हत्या आदि के पापों से सदा बचे रहें। ३. इस प्रकार करने पर वे **आपः**=जल और **ओषधयः**=ओषधियाँ **नः**=हमारे लिए **सुमित्रिया**=उत्तम स्नेह करनेवाली **सन्तु**=हों। हाँ, **तस्मै**=उसके लिए ये **दुर्मित्रिया सन्तु**=दुःखद शत्रु के तुल्य हों **यः** =जो **अस्मान्**=हमसे **द्वेष्टि**=द्वेष करता है **च**=और **यम्**=जिसको परिणामतः **वयम्**=हम सब **द्विष्मः**=प्रीति नहीं करते। वस्तुतः यह सबसे द्वेष करनेवाला व्यक्ति खिझकर ही भोज्य पदार्थों को खाएगा तो उनसे उत्तम रुधिरादि पैदा न होकर विष ही उत्पन्न होंगे, अतः इन सर्वद्वेषियों के लिए भोजन भी विष बन जाएगा। भोजन तो प्रसन्नचित्त से ही खाना चाहिए।

भावार्थ—हम जलों व ओषधियों को हिंसित न करें। गो-हिंसा को पाप समझें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अप्-यज्ञः, सूर्यः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

हविष्मान्

हविष्मतीरिमाऽआपो हविष्माँ२॥ऽआविवासति।
हविष्मान्देवोऽअध्वरो हविष्माँ२॥ऽअस्तु सूर्यः॥२३॥

१. पिछले मन्त्र में वर्णन था कि सब प्रजाएँ जलों, ओषधियों व गौवों की रक्षा करनेवाली हों। अब कहते हैं कि **इमाः**=ये जल, ओषधि व गौवों की हिंसा न करनेवाली

आपः=प्रजाएँ **हविष्मतीः**=हविवाली हों। ये सदा दानपूर्वक अदन करनेवाली हों। वस्तुतः **हविष्मान्**=यह दानपूर्वक अदन करनेवाला व्यक्ति ही **आविवासति**=प्रभु की परिचर्या करता है। प्रभु का आदेश है **त्यक्तेन भुञ्जीथाः**=त्यागपूर्वक भोग करो। बस, जो इस आदेश का पालन करता है, वही प्रभु का सच्चा उपासक है। २. **'केवलाघो भवति केवलादी'** अकेला खानेवाला शुद्ध पाप ही खाता है। **'अपञ्चयज्ञो मलिम्लुचः'** पञ्च यज्ञ न करनेवाला चोर है और वस्तुतः इसके विपरीत **हविष्मान्**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **देवः**=दिव्य गुणोंवाला बनता है। इसके मन में दान की वृत्ति होती है। **अध्वरः**=इसके हाथों से सदा 'अ-हिंसात्मक' उत्तम कर्म होते हैं। २१ वें मन्त्र में यही बात 'दिव्यं नभः' शब्दों से कही गई थी—'प्रकाशमय अहिंसा'। ३. और इन दोनों बातों से बढ़कर बात यह है कि **हविष्मान्**=यह हविवाला—दानपूर्वक अदन करनेवाला **सूर्यः**=ज्ञान का सूर्य **अस्तु**=हो। दूसरे शब्दों में हविष्मान् पुरुष का मन 'देवों' वाला होता है, उनके हाथों में 'अध्वर' होते हैं और इनका मस्तिष्करूप द्युलोक ज्ञान के सूर्य से देदीप्यमान हो उठता है। ४. एवं, 'दिर्घतमाः' का यही मार्ग है कि वह 'हविष्मान्' बने।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी कृपा से हविष्मान् बनकर हम आपके सच्चे उपासक बनें और अपने मनों को दिव्य गुणों का कोश बनाएँ। हविष्मान् के हाथों में अध्वर होता है और मस्तिष्क में ज्ञान का सूर्य।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्[क], त्रिपाद्गायत्री[र]। **स्वरः**—धैवतः[क], षड्जः[र]॥

बल-प्रकाश-स्नेह व द्वेषाभाव की प्रार्थना तथा कन्या का विवाह कहाँ?

[क]अ॒ग्नेर्वो॑ऽपन्नगृहस्य॒ सद॑सि सादयामीन्द्रा॒ग्न्योर्भा॑ग॒धेयी॑ स्थ मि॒त्रावरु॑णयोर्भाग॒धेयी॑ स्थ॒ विश्वे॑षां दे॒वानां॑ भाग॒धेयी॑ स्थ। [र]अ॒मूर्या॑ऽउप॒ सूर्ये॒ याभि॑र्वा॒ सूर्यः॑ स॒ह। ता नो॑ हिन्वन्त्वध्व॒रम्॥ २४॥

१. पिछले मन्त्र में प्रजाओं के हविष्मान् बनने का उल्लेख था। 'हमारी सन्तानें हविष्मान् ही बनी रहें' इस उद्देश्य से प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि हम उनके विवाहादि सम्बन्धों को ऐसे घरों में करें जहाँ अग्निहोत्र इत्यादि नियमपूर्वक होते हों। घर का वातावरण यज्ञ के अनुकूल होगा तो सन्तानें भी उसी प्रवृत्तिवाली बनी रहेंगी। कन्या का पिता कन्या से कहता है कि **वः**=तुम्हें **अपन्नगृहस्य**=(न पन्नं पतितं गृहं यस्य) यज्ञादि उत्तम कर्मों के त्याग से पतित नहीं हुआ है जिसका घर, उस **अग्नेः**=प्रगतिशील व्यक्ति के **सदसि**=घर में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। २. तुम इस उत्तम घर में स्थित होकर **इन्द्राग्न्योः**=इन्द्र और अग्नि के **भागधेयी स्थ**=भाग को धारण करनेवाले बनो। तुममें इन्द्र और अग्नि दोनों देवों का अंश स्थापित हो। 'इन्द्र' बल का प्रतीक है तो 'अग्नि' प्रकाश का। तुम बल और प्रकाशवाले होवो। ३. **मित्रावरुणयोः**=मित्र और वरुण के **भागधेयी स्थ**=भाग को धारण करनेवाले बनो। 'मित्र और वरुण' इन दोनों देवों का अंश तुममें स्थापित हो। तुम मित्र के अंश को धारण करके सबके साथ स्नेह करनेवाले बनो और वरुण के अंश को धारण करके तुम द्वेष का निवारण करनेवाले होओ। तुम किसी से भी द्वेष न करो। ४. ठीक-ठीक बात तो यह है कि तुम **विश्वेषाम्**=सब **देवानाम्**=देवों के **भागधेयी स्थ**=भाग को धारण करनेवाले बनो। तुममें सब दिव्य गुणों की वृद्धि हो। यद्यपि इस वाक्य में 'इन्द्र-अग्नि और

मित्र-वरुण' का भी समावेश है तो भी 'ब्राह्मणा आयाता वसिष्ठोऽप्यायात:'- 'ब्राह्मण आ गये, वसिष्ठ भी आ गये' जैसे इस वाक्य में ब्राह्मणों के अन्तर्गत होते हुए भी अधिक आदरणीय होने से वसिष्ठ का अलग उल्लेख है, उसी प्रकार यहाँ 'इन्द्राग्नी और मित्र-वरुण' का अलग उल्लेख हुआ है। ५. **अमू:**=हमारी वे प्रजाएँ-सन्तानें **या:**=जो **उपसूर्ये**=ज्ञान के सूर्य आचार्य के समीप रही हैं **वा**=और **याभि: सह**=जिनके साथ **सूर्य:**= ज्ञान का सूर्य आचार्य रहा है, अर्थात् आचार्य के समीप रहने से जो सचमुच 'अन्तेवासी' इस नाम से कहलाने योग्य थीं और आचार्य ने भी जिन्हें मानो अपने गर्भ में धारण किया हुआ था, **न:**=हमारी **ता:**=वे सन्तानें **अध्वरम्**=हिंसारहित यज्ञादि कर्मों को **हिन्वन्तु**=(प्रीणन्तु= बढ़ावें-द०) अपने घरों में बढ़ानेवाली (प्रेरित करनेवाली) हों।

भावार्थ-हमारे घरों में यज्ञों का कभी लोप न हो, हमारी सन्तानें सब देवांशों को धारण करनेवाली हों। विशेषतया उनमें 'बल, प्रकाश, स्नेह व द्वेषाभाव' तो अवश्य ही हों।

ऋषि:-मेधातिथि:। **देवता**-सोम:। **छन्द:**-विराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वर:**-गान्धार:॥

पति पत्नी से

हृदे त्वा मन॑से त्वा दि॒वे त्वा॒ सूर्या॑य त्वा।
ऊ॒र्ध्वमि॒मम॑ध्व॒रं दि॒वि दे॒वेषु॒ होत्रा॑ यच्छ॥२५॥

गत मन्त्र में कन्या को ऐसे घर में विवाहित करने का प्रसङ्ग था जहाँ यज्ञादि का लोप न हुआ हो। उस घर में कन्या के पहुँचने पर पति कहता है कि-१. **त्वा**=मैं तुझसे अपना यह सम्बन्ध **हृदे**=हृदय के लिए करता हूँ। मेरे जीवन में तेरे प्रवेश से कुछ रस व कोमलता का सञ्चार होगा, कुछ श्रद्धा की भावना बढ़ेगी। २. **त्वा**=तुझे मैं अपने जीवन का साथी बना रहा हूँ **मनसे**=मन के लिए। मेरे जीवन में कुछ विचार-शक्ति बढ़े। मैं सब कामों को सोच-विचार कर करनेवाला बनूँ। ३. **दिवे त्वा**=मैं तुझे स्वर्ग-निर्माण के लिए अपना रहा हूँ। 'तेरे आने से मेरा घर स्वर्ग बन जाए' ऐसी मेरी कामना है। ४. **सूर्याय त्वा**=तुझे सूर्य के लिए अपना रहा हूँ। तेरे आने से इस घर में प्रकाश की वृद्धि हो और सूर्य के समान निरन्तर क्रियाशीलता हो। ५. **इमं अध्वरम्**=सबका कल्याण करनेवाले इस यज्ञ को तूने **ऊर्ध्वम्**=सबसे ऊपर स्थापित करना, अर्थात् यज्ञ इस घर का मुख्य कर्तव्य हो। **दिवि**=(निमित्त सप्तमी) स्वर्ग के निमित्त तथा **देवेषु**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के निमित्त **होत्रा:**=हवियों को **यच्छ**=दे, अर्थात् तू नियमित रूप से यज्ञ करनेवाली हो। वस्तुत: इस यज्ञ से ही घर स्वर्ग बनेगा और घर के सब लोगों में दिव्य गुणों का विकास होगा (होत्राभि: हवनक्रियाभि: ऋ. ७।६०।९-द०)। मन्त्र के अन्तिम भाग का अर्थ इस रूप में भी हो सकता है कि (क) **दिवि**=स्वर्ग के निमित्त **होत्रा यच्छ**=हवियों को दे। **'स्वर्गकामो यजेत'** यह उक्ति प्रसिद्ध ही है। यज्ञों का फल स्वर्ग-प्राप्ति है। यज्ञ को ब्राह्मणग्रन्थों में **'स्वर्ग्या नौ:'**=स्वर्ग प्राप्त करनेवाली नाव कहा है। (ख) **देवेषु**=विद्वानों के चरणों में बैठकर **होत्रा:**=ज्ञान की वाणियों को **यच्छ**=(निबध्नीहि) अपने में बाँध, अर्थात् विद्वानों के समीप रहकर तू अपने ज्ञान को बढ़ा। इस प्रकार यज्ञों से घर स्वर्ग बनेगा तो ज्ञान से उसमें निरन्तर पवित्रता बनी रहेगी।

भावार्थ-पत्नी-पति के जीवन में 'श्रद्धा, मननशक्ति, प्रकाश व नियमितता' को बढ़ानेवाली हो। वह घर में यज्ञों को प्रमुख स्थान दे। यज्ञों में जहाँ हवियों को डाले वहाँ

विद्वानों से ज्ञान को प्राप्त करनेवाली हो।

ऋषि:—मेधातिथि:। **देवता**—सोम:। **छन्द:**—भुरिग्गायत्री[क], आर्षीत्रिष्टुप्[र]। **स्वर:**—षड्ज:[क], धैवत:[र]॥

राजा

[क]सोम॑ राज॒न्विश्वा॒स्त्वं प्र॒जाऽ उ॒पाव॑रोह॒ विश्वा॒स्त्वां प्र॒जाऽ उ॒पाव॑रोहन्तु।
[र]शृ॒णोत्व॒ग्निः स॒मिधा॒ हवं॑ मे शृ॒ण्वन्त्वापो॑ धि॒षणा॑श्च दे॒वीः।
श्रोता॑ ग्रावाणो वि॒दुषो॒ न य॒ज्ञꣳशृ॒णोतु॑ दे॒वः स॑वि॒ता हवं॑ मे॒ स्वाहा॑॥२६॥

प्रजाओं को उत्तम बनाने में सबसे अधिक भाग राजा का है, अत: 'राजा कैसा हो' इस विषय का वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं कि १. हे **सोम राजन्**=सौम्य निरभिमानिन् राजन्! **त्वम्**=तू **विश्वा: प्रजा:**=सब प्रजाओं के **उप अवरोह**=समीप प्राप्त हो और **विश्वा: प्रजा:**= सब प्रजाएँ **त्वाम् उप अवरोहन्तु**=तेरे समीप प्राप्त हों। राजा प्रजाओं के लिए अधृष्य ही न बन जाए, वह उनके लिए अभिगम्य भी हो। जो राजा प्रजाओं के लिए अभिगम्य न होगा, वह प्रजाओं की स्थिति को कभी ठीक-ठीक न समझ सकेगा। २. राजा प्रार्थना करता है कि राष्ट्र में **अग्नि:**=ज्ञान का प्रकाश देनेवाला 'ब्राह्मण' **समिधा**=ज्ञान-दीप्ति के हेतु से **मे हवम्**= मेरी पुकार को **शृणोतु**=सुने, अर्थात् जब-जब मैं इन ब्राह्मणों को आमन्त्रित करूँ तब-तब ये अवश्य मुझे दर्शन देने की कृपा करें और मुझे आवश्यक ज्ञान देकर मेरे अज्ञानान्धकार को दूर करें। ४. **आप:**=राष्ट्र के आप्त पुरुष तथा प्रजाएँ **धिषणा: च**=जो बुद्धि के ही मूर्त्तरूप हैं तथा **देवी:**=दिव्य गुणोंवाले हैं, वे भी **शृण्वन्तु**=मेरे आमन्त्रण को स्वीकार करें। इन व्यक्तियों को जब कभी मैं मन्त्रणा आदि के लिए कहूँ तो वे इसे अस्वीकार न करें। ५. **ग्रावाण: श्रोत**=हे सद्-असद् का विवेक करनेवाले सभासदो! (विद्वांसो हि ग्रावाण:—श० ३।९।३।१४) तुम भी मेरी बात को सुनो। **न**=जैसे **विदुष:**=विद्वान् से **यज्ञम्**=यज्ञ को सुनते हैं इसी प्रकार मैं तुमसे राष्ट्रहित के लिए आवश्यक बातों को सुननेवाला होऊँ। ६. सबसे बड़ी बात तो यह है कि **सविता देव:**=वह सबका प्रेरक देव प्रभु **मे हवम्** =मेरी प्रार्थना को **शृणोतु**=सुने। मैं भी **स्वाहा** =उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—राजा को निरभिमानी होना चाहिए। वह प्रजाओं के लिए अभिगम्य हो। ब्राह्मण उसे ज्ञान दें। आप्त बुद्धिमान् सत्पुरुष उसे राष्ट्रकार्य में सहायता करें। विवेकी पुरुषों से वह उसी प्रकार ज्ञान प्राप्त करे जैसेकि वह विद्वानों से यज्ञ के विषय में सुनता है। प्रभु का यह उपासक हो।

ऋषि:—मेधातिथि:। **देवता**—आप:। **छन्द:**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वर:**—धैवत:॥

कर (tax)

देवी॑रापोऽअपान्नपा॒द्यो व॑ऽ ऊ॒र्मिर्ह॑वि॒ष्य॒ऽ इ॒न्द्रि॒यावा॑न् म॒दिन्त॑मः।
तं दे॒वेभ्यो॑ देव॒त्रा द॑त्त शुक्र॒पेभ्यो॒ येषां॑ भा॒ग स्थ स्वाहा॑॥२७॥

गत मन्त्र में राजा का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में राजदेय कर का उल्लेख करते हैं। १. हे **देवी:**=दिव्य गुणोंवाली **आप:**=प्रजाओ! **यो व:**=जो तुम्हारा **हविष्य:**=(हविर्भ्यो हित:, हु=दान) कररूप में देने के लिए रक्खा हुआ भाग है **तम्**=उसे **देवेभ्य:**=दिव्य गुणोंवाले—विलासशून्य जीवनोंवाले **शुक्रपेभ्य:**=वीर्य का पान (रक्षण) करनेवाले जितेन्द्रिय राजाओं के लिए **देवत्रा**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के निमित्त **दत्त** =दे डालो, उन राजाओं को

दे डालो **येषाम्**=जिनके तुम **भाग स्थ**=(भाजः) सेवा के योग्य हो, सेवनीय हो। **स्वाहा**=जो राजा तुम्हारी सेवा के लिए अपनी आहुति दे डालता है, अपने स्वार्थों को छोड़कर, अपने आराम को त्यागकर, जो तुम्हारी उन्नति में ही दिन-रात लगा रहता है। तुम सोये हो, तब भी वह 'जागृवि' है।

इस मन्त्रभाग में यह बात स्पष्ट है कि (क) राजा को दिव्य गुणोंवाला, सब विलासों से ऊपर (देव) जितेन्द्रिय (शुक्रप) तथा प्रजा-सेवक (भाग) होना चाहिए। प्रजा की सेवा के लिए वह अपने सभी स्वार्थों को छोड़ दे। (ख) प्रजाओं को भी दिव्य व आप्त (विश्वास के योग्य) बनने का प्रयत्न करना। (ग) प्रजा राजा को कर दे, क्योंकि इस कर-प्राप्त धन से ही राष्ट्र की सब सुव्यवस्था सम्भव होगी और प्रजाओं में शिक्षा के द्वारा ही अधिकाधिक उत्तम गुणों को उपजाया जा सकेगा।

२. यह **'कर' अपान्नपात्**=प्रजाओं का न पतन होने देनेवाला है। इस प्रकार कर को ठीक प्रकार से देनेवाली प्रजाओं में विलास की वृत्तियाँ उत्पन्न नहीं होतीं, क्योंकि उनके पास उन विलासों के लिए अतिरिक्त धन रह ही नहीं जाता। ३. **ऊर्मिः**=यह 'कर' लहर के समान है। लहर समुद्र में उठती है फिर समुद्र में ही जा गिरती है। इसी प्रकार यह कर प्रजा से उठता है और फिर उसी प्रजा में जा गिरता है। प्रजा से प्राप्त करके प्रजाहित के लिए इस धन का व्यय कर दिया जाता है। इस 'कर' से राजा को अपने ही अन्तःपुरों (महलों) की रचना नहीं करनी चाहिए। ४. **इन्द्रियावान्**=इस कर ने प्रजाओं को (इन्द्रियं वै वीर्यम्) शक्तिशाली बनाना है अथवा प्रशस्त इन्द्रियोंवाला बनाना है। ५. **मदिन्तमः**=यह कर प्रजाओं को आनन्द देनेवाला है। इस 'कर' के द्वारा सुन्दर वनों, उपवनों, तालाबों और नहरों आदि का निर्माण होकर प्रजा का जीवन सच्चा हर्ष व आनन्द प्राप्त करता है। प्रजाओं के लिए उत्तमोत्तम आमोद-प्रमोद के साधनों को यह 'कर' प्राप्त कराता है।

भावार्थ—कर का उद्देश्य है कि (क) ऐसी व्यवस्था की जाए कि प्रजाओं का पतन न हो। (ख) वह प्रजाहित के लिए ही विनियुक्त हो। (ग) प्रजाओं को प्रशस्तेन्द्रिय व शक्तिशाली बनाये। (घ) प्रजाओं के लिए उत्तम आमोद-प्रमोद के साधनों को भी जुटाये।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—प्रजा। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

वैश्यवर्ण व कृषि

कार्षिरसि समुद्रस्य त्वा क्षित्याऽउन्नयामि।

समापोऽअद्भिरग्मत समोषधीभिरोषधीः॥ २८॥

राष्ट्र की उन्नति के प्रसङ्ग में वैश्यवर्ण का उल्लेख करते हैं। वस्तुतः गत मन्त्र में वर्णित 'कर' इन्हें ही देना है। १. **कार्षिः असि**=तू कृषि करानेवाला है। राष्ट्र में **'कृषिगोरक्ष-वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्'**=कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य ये वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं। वैश्यों ने शूद्रों=अपठित व्यक्तियों के द्वारा इन कृषि आदि कर्मों को कराना है। २. सर्वोत्तम कृषि उस मेघ-जल द्वारा होती है जो मेघ **'यज्ञात् भवति पर्जन्यः'**=यज्ञ से निर्मित होता है। राष्ट्र में यज्ञों की व्यवस्था ठीक होने पर बादल ठीक समय पर वर्षा करनेवाले होते हैं (**निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु**)। इन यज्ञों की व्यवस्था राजा को ही करनी है। यज्ञ न करनेवाले को राजा ने चोर के रूप में दण्ड देना है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **समुद्रस्य**=अन्तरिक्षस्थ मेघ की **क्षित्या**=खेती से **त्वा**=तुझे **उन्नयामि**=उन्नत करता हूँ। भाषा में ऐसा ही बोलने का प्रकार है कि **'यह कूएँ की खेती खड़ी है'** अर्थात् कूएँ के जल

से उत्पन्न। इसी प्रकार यहाँ कहा है कि 'समुद्र की खेती से' अर्थात् (समुद्रः=अन्तरिक्षस्थ मेघ) मेघजल से उत्पन्न खेती से। ३. **आपः**=जल **अद्भिः**=जलों से **सम्**=सङ्गत हों और **ओषधीः**=ओषधियाँ **ओषधीभिः**=ओषधियों से **सम्**= सङ्गत हों, अर्थात् अवृष्टि के कारण जलों का विच्छेद न हो जाए और परिणामतः ओषधियों की उत्पत्ति में रुकावट न हो।

भावार्थ—राष्ट्र में वैश्यवर्ण कृषि के कार्य में किसी प्रकार का शैथिल्य न आने दें। यज्ञों के परिणामरूप वृष्टि समय-समय पर होती रहे, जिससे ओषधियों व अन्नों की उत्पत्ति में कमी न आ जाए।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

युद्ध के समय भी वैश्यवर्ग की कृषि आदि में व्यापृतता

यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु यं जुनाः। स यन्ता शश्वतीरिषः स्वाहा॥२९॥

पिछले मन्त्र की समाप्ति 'समोषधीभिरोषधीः' पर हुई थी कि ओषधियाँ ओषधियों से सङ्गत हों, अर्थात् ओषधियों की कमी न हो जाए। उसी प्रकरण को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि राजा का कर्त्तव्य है कि संग्रामों के समय भी वैश्यवर्ग को पीड़ित न होने दे और ऐसी व्यवस्था करे कि उस समय भी ये अपने कृषि आदि कार्यों में लगे रह सकें। यदि युद्धों के आधिक्य के कारण वैश्य युवकों का भी सेना में प्रवेश वाञ्छनीय हुआ तब कृषि आदि कार्य कैसे हो सकेंगे, अतः कहते हैं कि **अग्ने**=राष्ट्र का नेतृत्व करनेवाले राजन्! आप **यं मर्त्यम्**=जिस मनुष्य को **पृत्सु**=संग्रामों में **अवाः**=सुरक्षित रखते हो और **यम्**=जिसे **वाजेषु**=(अन्ननिमित्त-क्षेत्रादिषु—द०) अन्न आदि पदार्थों की सिद्धि करने के निमित्त (क्षेत्रादि) में **जुनाः**=(गमयेः—द०) नियुक्त करते हो **सः**=वह **शश्वतीः**=नष्ट न होनेवाले **इषः**=अन्नों को **यन्ता**=प्राप्त करता है, इसप्रकार उस राजा के राष्ट्र में अन्नों की कमी नहीं आती। **स्वाहा**=यह बात (सु+आह) वेद में उत्तमता से कही गई है।

भावार्थ—राजा ऐसी व्यवस्था करे कि युद्ध के समय भी खेती आदि कार्य निर्बाधरूप से चलते रहें।

सूचना—अध्यात्म प्रकरण में अर्थ यह होगा—हे **अग्ने**=उन्नति साधक प्रभो! **पृत्सु**=काम-क्रोधादि से संग्रामों में **यं मर्त्यम्**=जिस मनुष्य की **अवाः**=आप रक्षा करते हो और **यम्**=जिसको **जुनाः**=प्रेरणा प्राप्त कराते हो **सः**=वह **शश्वतीः**=क्रियामय अथवा सनातन **इषः**=प्रेरणाओं को **यन्ता**=प्राप्त होता है, अर्थात् हृदयस्थ आपकी प्रेरणाओं को सुनता है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—स्वराडार्षीपङ्क्तिः[क], निचृदार्ष्यनुष्टुप्[र]। **स्वरः**—पञ्चमः, गान्धारः॥

राज्य की दृढ़ता

[क]देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। आददे रावासि गभीरमिममध्वरं कृधीन्द्राय सुषूतमम्। [र]उत्तमेन पविनोर्जस्वन्तं मधुमन्तं पयस्वन्तं निग्राभ्या स्थ देवश्रुतस्तर्पयत मा॥३०॥

राजा प्रजा से कहता है कि १. मैं **त्वा**=तुझे **सवितुः देवस्य**=प्रेरक प्रभु की **प्रसवे**=अनुज्ञा में **आददे** =स्वीकार करता हूँ। प्रभु ने वेदवाणी में जिस प्रकार राजा के लिए लिखा है कि **'विशो मे अङ्गानि सर्वतः'**=प्रजाएँ मेरे सब ओर होनेवाले अङ्ग हैं, अतः मुझे प्रजाएँ अपने अङ्गों की भाँति प्रिय हैं। २. **अश्विनोर्बाहुभ्याम्**=सूर्य और चन्द्रमा के प्रयत्नों से मैं प्रजाओं का स्वीकार करता हूँ। सूर्य जिस प्रकार अन्धकार को दूर कर देता है उसी प्रकार

मैं राष्ट्र में शिक्षा की उत्तम व्यवस्था से अविद्यान्धकार को दूर करने का प्रयत्न करता हूँ। जिस प्रकार चन्द्र आह्लाद का कारण होता है (चदि आह्लादे) उसी प्रकार मैं क्रीड़ा व स्नान के लिए तालाब व उद्यानादि की उत्तम व्यवस्थाओं से प्रजा की प्रसन्नता का कारण बनता हूँ। ३. **पूष्णः हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों से मैं तेरा ग्रहण करता हूँ, अर्थात् प्रत्येक कार्य में मेरा उद्देश्य प्रजा का पोषण ही होता है। ४. **रावा असि**=हे प्रजे! तू मुझे खूब कर देनेवाली है। प्रसन्नतापूर्वक कर देकर तू **इमम्**=इस **अध्वरम्**=राष्ट्रयज्ञ को **गभीरम्**=खूब गहरा **कृधि**=कर दे—इसकी नींवें बड़ी गहरी हों। यह दृढ़ नींव पर स्थित हो। ५. **इन्द्राय**= राष्ट्र के अध्यक्ष के लिए अथवा राष्ट्र की जितेन्द्रिय प्रजाओं के लिए **सुषूतमम्**=(सुष्ठु सूते) राष्ट्र को उत्तमोत्तम पदार्थों को उत्पन्न करनेवाला बनाओ। ६. **उत्तमेन**=अत्यन्त उत्कृष्ट **पविना**=वज्र से, शस्त्रास्त्रों से **ऊर्जस्वन्तम्**=इस राष्ट्र को सबल बनाओ। **मधुमन्तम्**=यह राष्ट्र माधुर्यवाला हो। बल के साथ ही माधुर्य का निवास होता है, निर्बलता के साथ चिड़चिड़ेपन का। **पयस्वन्तम्**=तुम इस राष्ट्र को पयस्वाला बनाओ। प्रजा के आप्यायन के लिए सब आवश्यक वस्तुएँ इस राष्ट्र में हों। ७. राजा कहता है कि **निग्राभ्याः स्थ**=हे प्रजाओ! तुम नियन्त्रण में रखने योग्य होओ। तुम्हारा जीवन राष्ट्र के नियमों का पालन करने के झुकाववाला हो। **देवश्रुतः**=तुम विद्वानों से उत्तम ज्ञान की चर्चाओं को सुननेवाले बनो। ऐसे बनकर **मा तर्पयत**=मुझे प्रीणित करो। मैं तुम्हारी स्थिति को देखकर अपने में एक आनन्द का अनुभव करूँ। जैसे पिता पुत्र की उत्तम स्थिति को देखकर प्रसन्न होता है, उसी प्रकार मैं प्रजा की उन्नति से तृप्ति का अनुभव करूँ।

भावार्थ—राजा वेदानुकूल प्रजाओं का शासन करे। प्रजा उचित 'कर' देकर राष्ट्र की नींव को दृढ़ करे। राष्ट्र अन्य उन्नतियों के साथ शत्रु के आक्रमण से सुरक्षा के लिए उत्तम शस्त्रों से सुसज्जित हो। राष्ट्र में माधुर्य हो, आप्यायन हो। प्रजाएँ नियन्त्रित जीवनवाली व ज्ञान की रुचिवाली हों।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—प्रजासभ्यराजानः। **छन्दः**—ब्राह्म्युष्णिक्[क], आर्ष्युष्णिक्[र]। **स्वरः**—ऋषभः॥

राजा सभ्यों से

[क]मनो॑ मे तर्पयत॒ वाचं॑ मे तर्पयत प्रा॒णं मे॑ तर्पयत॒ चक्षु॑र्मे मे तर्पयत॒ श्रोत्रं॑ मे तर्पयता॒त्मानं॑ मे तर्पयत [र]प्र॒जां मे॑ तर्पयत प॒शून्मे॑ तर्पयत ग॒णान्मे॑ तर्पयत ग॒णा मे॒ मा वितृ॑षन्॥ ३१॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में राजा सभ्यों से कहता है कि हे सभा और समिति के सदस्यो! तुम इस प्रकार राष्ट्र का विधान व राष्ट्र की व्यवस्था करो कि **मे मनः तर्पयत**=मेरे मन को तृप्त करो। मैं मन में आनन्द का अनुभव करूँ। **वाचं मे तर्पयत**=मेरी वाणी को तृप्त करो। मेरी वाणी से ऐसे ही शब्द निकलें कि यह विधान ठीक बना है और यह व्यवस्था ठीक हुई है। **प्राणं मे तर्पयत**=मेरे प्राणों को तृप्त करो। मुझे जीवन में सन्तोष का अनुभव हो। **चक्षुर्मे तर्पयत**=राष्ट्र में चतुर्दिक् उन्नति को देखकर मेरी आँखें तृप्ति का अनुभव करें। **श्रोत्रं मे तर्पयत**=देश-विदेश में सर्वत्र राष्ट्र की प्रशंसा सुनकर मेरे कान तृप्त हों। **आत्मानं मे तर्पयत**=इस राष्ट्रोन्नति से मैं अन्दर-ही-अन्दर आत्मा में सन्तोष मानूँ। २. परन्तु इससे भी बढ़कर बात तो यह है कि तुम्हारा विधान व व्यवस्था ऐसी हो कि उससे तुम **मे प्रजां तर्पयत**=मेरी सारी प्रजा को प्रीणित करनेवाले बनो, प्रजा में सन्तोष हो। प्रजा उन्नतिपथ पर आगे बढ़े। ३. **पशून् मे तर्पयत**=राष्ट्र के पशुओं को भी तुम प्रीणित करो। तुम्हारी व्यवस्था से गौ इत्यादि उपकारी पशुओं का भी यहाँ खूब आप्यायन हो। ४. **गणान् मे तर्पयत**=अपनी

व्यवस्था से मेरे सैनिकगणों को भी तृप्त करो। **मे गणाः**=मेरे ये सैन्यगण **मा वितृषन्**=प्यासे ही न रह जाएँ। इनके वेतनादि की व्यवस्था बड़ी ठीक हो। अन्यथा राष्ट्र की रक्षा सम्भव न होगी। इन्हें ही समय पर राष्ट्ररक्षा के लिए अपने प्राण देने हैं।

भावार्थ—राज्य सभाधिकारी जहाँ अपनी व्यवस्था व विधान से राष्ट्रपति को प्रीणित करनेवाले हों, वहाँ उनका ध्येय (क) प्रजा की उन्नति, (ख) पशुओं का विकास व (ग) सैनिकों को भी उन्नत व सन्तुष्ट करना हो।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—सभापती राजा। **छन्दः**—पञ्चपाज्ज्योतिष्मतीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

राष्ट्रपति का चुनाव क्यों? अथवा राष्ट्रपति के गुण

इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवतऽइन्द्राय त्वादित्यवतऽइन्द्राय त्वाभिमातिघ्ने।
श्येनाय त्वा सोमभृतेऽग्नये त्वा रायस्पोषदे॥३२॥

प्रजाएँ राजा का वरण क्यों करती हैं? १. **इन्द्राय**=जितेन्द्रियता के लिए हम **त्वा**=(वृणुमः) तेरा वरण करती हैं। **वसुमते**=आप वसुमान् हो, इसलिए आपका वरण करती हैं। आप राष्ट्र में उत्तमोत्तम निवास के साधनों को जुटाते हो। **रुद्रवते**=रुद्रवान् होने के कारण हम आपका चुनाव करती हैं, (रुत्=ज्ञान द =देना) आप राष्ट्र में ज्ञान देनेवाले आचार्यों को नियुक्त करते हो। उनके द्वारा ज्ञान का विस्तार करते हो। २. **इन्द्राय त्वा**=जितेन्द्रियता के लिए हम आपका वरण करती हैं **आदित्यवते**='आप आदित्योंवाले हो' इसलिए हम आपको चुनती हैं। शिक्षणालयों में आपने ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञानी व गुणों का आदान करनेवाले पुरुषों को नियत किया है, अतः हम आपका वरण करती हैं। ३. **अभिमातिघ्ने**=शत्रुओं का विदारण करनेवाले **इन्द्राय**=आपके जितेन्द्रिय होने के कारण **त्वा**=हम आपका वरण करती हैं। ४. **श्येनाय**=आप (श्यै गतौ) निरन्तर क्रियाशील हैं, अतः **त्वा**=आपको हम वरती हैं। **सोमभृते**=इस क्रियाशीलता से ही आप अपने में सोम (वीर्य) का भरण करनेवाले हैं। क्रियाशीलता आपको विलास से बचाती है और आप अपने सोम की रक्षा करते हो। ५. **त्वा**=हम आपका वरण इसलिए करती हैं कि **अग्नये**=आप राष्ट्र को आगे और आगे ले-चलनेवाले हैं और **रायस्पोषदे**=उत्तम व्यवस्था से हमें धनों का पोषण प्राप्त करानेवाले हैं, अर्थात् आपके सु-शासन में राष्ट्र में मार्गादि सुरक्षित हैं और व्यापार की सब सुविधाएँ होने से प्रजाओं की धन-वृद्धि होती है।

भावार्थ—राष्ट्रपति जितेन्द्रिय हो। राष्ट्र में निवास के उत्तम साधनों को जुटाए। योग्य अध्यापक व ऊँचे ज्ञानी पुरुष राष्ट्र में से अविद्यान्धकार को दूर करें। शत्रुओं के आक्रमण से राष्ट्र सुरक्षित हो। राष्ट्रपति क्रियाशील व संयमी हो। वह राष्ट्र को उन्नति-पथ पर ले-चले और राष्ट्र की सम्पत्ति को बढ़ाने की व्यवस्था करे।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—सोमः। **छन्दः**—भुरिगार्षीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

राष्ट्रपति क्या करे?

यत्ते सोम दिवि ज्योतिर्यत्पृथिव्यां यदुरावन्तरिक्षे।
तेनास्मै यजमानायोरु राये कृध्यधि दात्रे वोचः॥३३॥

१. हे **सोम**=विनीत राजन्! **ते**=तेरे **दिवि**=मस्तिष्क में **यत्**=जो **ज्योतिः**=प्रकाश है **यत्**=जो **पृथिव्याम्**=शरीर में **ज्योतिः**=स्वास्थ्य का प्रकाश है और **यत्**=जो **उरौ**=इस विशाल

अन्तरिक्षे=हृदाकाश में **ज्योतिः**=प्रकाश है **तेन**=उससे अर्थात् मस्तिष्क, हृदय व शरीर (Head, Heart and Hand) तीनों की शक्तियों से—प्राणपण से—**अस्यै**=इस **यजमानाय**=यज्ञ के स्वभाववाले प्रजावर्ग के लिए **राये**=धन-प्राप्ति के लिए **उरु कृधि**=अत्युत्तम व्यवस्था कर। तेरे राष्ट्र में जो आर्यपुरुष हैं—यज्ञादि उत्तम कार्यों को करनेवाले लोग हैं, उनके लिए तू ऐसी व्यवस्था कर कि वे जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक धनों को अवश्य कमा सकें। २. और जो यजमानों से विपरीत घात-पात आदि के कार्यों में लगे हुए हैं उन **दात्रे**=(दाप् लवने) काट-छाँट करनेवालों के लिए **अधिवोचः**=आधिक्येन उपदेश दे। ज्ञानी पुरुष ऐसे लोगों के अन्दर प्रचार-कार्य करके उनके जीवनों को अच्छा बनाने का प्रयत्न करें। अथर्व के मन्त्र **'अग्निः पूर्व आरभताम्'** के अनुसार ब्राह्मण पहले अपने कार्य को प्रारम्भ करें। वे ऐसे लोगों को ज्ञान देने का उपक्रम करें। यदि इस ज्ञान-प्रचार के कार्य का अनुकूल प्रभाव न हो तो विवशता में **'प्रेन्द्रो नुदतु बाहुमान्'**=शक्तिशाली इन्द्र को उन्हें दण्ड देना ही है, परन्तु दण्ड से ही प्रारम्भ न कर दिया जाए। पहले ज्ञान-प्रचार का कार्य, पीछे दण्ड। ३. इसप्रकार स्पष्ट है कि राष्ट्र में दो पुरुष हैं (क) यजमान (ख) दात्र। यजमान ही आर्य है, दात्र ही दस्यु हैं। राजा ने आर्यों के लिए आवश्यक धन-प्राप्ति के साधनों को जुटाना है और दस्युओं को ज्ञान-प्रसार की व्यवस्था से आर्य बनाने का प्रयत्न करना है। विवशता में दण्ड देकर उन्हें घात-पात से रोकना तो होगा ही।

भावार्थ—राष्ट्रपति वा राजा पूर्ण प्रयत्न व सुव्यवस्था से राज्य में लोगों को धन-प्राप्ति के उचित साधन प्राप्त कराए और घात-पात की मनोवृत्तिवाले लोगों की मनोवृत्ति को बदलने के लिए उनमें खूब (अधि) ज्ञान का प्रचार कराए (वोचः)।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—स्वराडार्षीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

राजा व राजसभा के सभ्यों की 'पत्नियाँ'

श्वात्रा स्थ वृत्रतुरो राधोगूर्त्ताऽअमृतस्य पत्नीः।
ता देवीर्देवत्रेमं यज्ञं नयतोपहूताः सोमस्य पिबत॥३४॥

सभापति व राजसभा के लोग राष्ट्रहित के कार्यों में तभी अच्छी प्रकार लगे रह सकते हैं यदि उनकी पत्नियाँ उनके लिए अत्यन्त अनुकूलता उत्पन्न करें, अतः उन पत्नियों का वर्णन करते हैं—

१. **श्वात्राः स्थ**=तुम (श्वि गतिवृद्ध्योः, त्रा रक्षणे) क्रियाशीलता के द्वारा सदा वृद्धि को प्राप्त करनेवाली हो। इस क्रियाशीलता के द्वारा ही तुम वासनाओं के आक्रमण से अपना त्राण करनेवाली हो। २. **वृत्रतुरः**=ज्ञान को आवृत करनेवाले काम का तुम विध्वंस करती हो। ३. **राधोगूर्ताः**=(धनवर्धिन्यः—द०) धनों का तुम वर्धन करनेवाली हो (गुरी उद्यमने) तुम धन का अनुचित व्यय न होने देते हुए उसका संग्रह करती हो। ४. **अमृतस्य पत्नीः**=तुम न मरियल पतियों की पत्नी हो। तुम्हारे द्वारा घर में भोजन की व्यवस्था इतनी सुन्दर होती है कि कोई अस्वस्थ होता ही नहीं। तुम घर के उत्तम प्रबन्ध द्वारा पतियों को चिन्ताओं से मुक्त-सा रखती हो। परिणामतः उनका स्वास्थ्य अत्युत्तम रहता है। ५. **ताः देवीः**=वे दिव्य गुणोंवाली तुम **देवत्रा**=देवों में **इमं यज्ञं नयत**=इस यज्ञ को प्राप्त कराओ, अर्थात् सदा यज्ञ करनेवाली बनो। 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' इस 'व्याकरण-सूत्र' से पत्नी का मुख्यकार्य यज्ञ ही प्रतीत होता है। ६. **उपहूताः**=**'उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान् वाचस्पतिर्ह्वयताम्'**

इस अथर्व-वाक्य के अनुसार तुम आचार्यों के समीप उपहूत होनेवाली होओ, अर्थात् आचार्यकुल में रहकर तुमने विद्याध्ययन किया हो और **सोमस्य पिबत**=सोम का पान किया हो, अर्थात् संयमपूर्वक अपनी शक्ति की रक्षा की हो। वस्तुतः पत्नियों के उल्लिखित गुणों से सम्पन्न होने पर ही सभापति व सभादि अपने-अपने कार्यों को निश्चिन्तता से अच्छी प्रकार कर सकते हैं।

भावार्थ—पत्नी अपने उत्तम व्यवहार से पति को प्रसन्न व निश्चिन्त रक्खेंगी तो पति अपने कार्यों को उत्तमता से कर पाएँगे।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

पति-पत्नी

मा भेर्मा संविक्थाऽऊर्जं धत्स्व धिषणे वीड्वी सती वीडयेथामूर्जं दधाथाम्। पाप्मा हतो न सोमः॥३५॥

गत मन्त्र में पत्नी का कर्त्तव्य विशेषरूप से कहा गया। अब पति-पत्नी दोनों के लिए कुछ सामान्य बातें कहते हैं। १. **मा भेः**=तुम डरो नहीं। संसार में सबसे निकृष्ट वस्तु डर है। दैवी सम्पत्ति का प्रारम्भ 'अभयम्' से होता है। घर में यदि पत्नी पति से डरती है या पति पत्नी से तब तो उस घर में दैवी सम्पत्ति का प्रारम्भ ही कैसे हो सकता है? दोनों का परस्पर प्रेम हो, भय का वहाँ प्रश्न ही न हो। २. **मा संविक्थाः**=भय के कारण अपने धर्ममार्ग से विचलित न होओ। डर के कारण किसी कर्म को करना या किसी को छोड़ना उचित नहीं। आदर्श यही है कि स्तुति हो, निन्दा हो, सम्पत्ति आये, विपत्ति आये, जीवन हो या मृत्यु हो, हम अपने न्यायमार्ग पर ही चलते चलें, उससे विचलित न हों। ३. **ऊर्जं धत्स्व**=बल और प्राणशक्ति को धारण करो। शारीरिक शक्ति के साथ तुममें आत्मिक शक्ति भी हो। ४. **धिषणे**=(द्यावापृथिव्यौ) तुम द्यावापृथिवी के समान बनो (द्यौरहं पृथिवी त्वम्) पति द्युलोक के समान ज्ञानदीप्त हो और पत्नी अपनी शक्तियों के विस्तार से दृढ़ जीवनवाली हो। अथवा (धिषणा=बुद्धि) पति-पत्नी दोनों ही बुद्धि के पुञ्ज बनने का प्रयत्न करें। ५. **वीड्वी सती**=(वीड्वी बल-नि० २।९) खूब बलवाले होते हुए **वीडयेथाम्**= संसार में शक्तिशाली कर्मों के करनेवाले बनो। ६. यही मार्ग है जिस मार्ग पर चलने से **पाप्मा हतः**=पाप नष्ट होता है **न सोमः**=सोम नष्ट नहीं होता। सौम्य स्वभाववाला व्यक्ति सदा सुरक्षित रहता है। **ऊर्जं दधाथाम्** =इस सबके लिए तुम दोनों बल और प्राणशक्ति को धारण करो। ऊर्ज् के साथ ही पुण्य का निवास है, ऊर्ज् के अभाव में पाप-ही-पाप है।

भावार्थ—हम अभय हों, अविचल हों, बल और प्राणशक्ति को धारण करें। बुद्धिमान् बनें, शक्तिशाली कर्मों को करते हुए पाप को विनष्ट करें और सौम्य स्वभाव को विकसित करें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—सोमः। **छन्दः**—उष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

सर्वतो-धावन (शोधन)

प्रागपागुदगधराक्सर्वतस्त्वा दिशऽआधावन्तु। अम्ब निष्पर समरीर्विदाम्॥३६॥

१. गत मन्त्र में निर्भयता आदि सद्गुणों के धारण का प्रसङ्ग था। उल्लिखित गुणोंवाले माता-पिता अपने सन्तानों के जीवन को सर्वतः शुद्ध बनाने का प्रयत्न करते हैं। **प्राक्**=पूर्व से **अपाक्**=पश्चिम से **उदक्**=उत्तर से तथा **अधराक्**=दक्षिण से **सर्वतः**=सब

ओर से, सब दिशाओं से **दिशः**=सदा उत्तम बातों का उपदेश देनेवाले माता-पिता व आचार्यादि **त्वा**=तुझे **आधावन्तु**=सर्वतः शुद्ध बना दें। (धावु गतिशुद्धयोः) गति के द्वारा वे तेरे जीवन को शुद्ध करनेवाले हों। २. सन्तान व शिष्य माता-पिता व आचार्य से कहती है कि **अम्ब**=(अमति प्रेमभावेन प्राप्नोति) अत्यन्त प्रेम से मुझे प्राप्त होनेवाली हे मातः! **निष्पर**=तू नितरां मेरा पालन कर। मेरी कमियों को दूर करके उनका पूरण करनेवाली हो। **अरीः**=(प्रजा वा अरीः-श० ३।९।४।२१) सब प्रजाएँ (ऋ गतौ) क्रियाशील सन्तानें- **संविदाम्**=(संविदताम्) संज्ञानवाली हों, परस्पर लड़नेवाली न हों। ३. मधुच्छन्दा ऋषि का यह अन्तिम मन्त्र है। उसकी सर्वोत्तम इच्छा यही है कि (क) बड़ों के उपदेशों से हमारे जीवन शुद्ध हों। (ख) प्रेमभाव से प्राप्त होनेवाली माता अपने उपदेशों से बच्चे के जीवन को बड़ा उत्तम बनाये। (ग) सब प्रजाएँ परस्पर मिलकर चलनेवाली-संज्ञानवाली हों।

भावार्थ-माता-पिता अपने सन्तानों का, आचार्य शिष्यों का तथा राजा प्रजा का सर्वतः शोधन करे, उन्हें बुराइयों से दूर करे, जिससे सब सन्तान परस्पर संज्ञानवाली हों।

ऋषिः-गोतमः। **देवता**-इन्द्रः। **छन्दः**-भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**-गान्धारः॥

महान् उपदेष्टा प्रभु

त्वमङ्ग प्रशंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम्।

न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः॥३७॥

१. माता-पिता सन्तानों को उत्तम उपदेश देते हैं। पिछले मन्त्र में इसका वर्णन हुआ है। परन्तु अन्ततः उपदेश देनेवाले तो वे प्रभु ही हैं, अतः प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **शविष्ठ**=अतिशयेन शक्तिमन् प्रभो! **त्वम्**=आप **देवः**=ज्ञान की ज्योति से देदीप्यमान हो। इस ज्योति से आप औरों को दीप्त करनेवाले हो तथा सभी को आप ही इस ज्ञान को देनेवाले हो। आप **अङ्ग**=(क्षिप्रम्) शीघ्र ही **मर्त्यम्**=इस मृत्युधर्मा मनुष्य को **प्रशंसिषः** =प्रशंससि=प्रकृष्ट ज्ञान देते हैं (शंस् Science=विज्ञान)। २. इस ज्ञान को देकर आप मनुष्य का कल्याण करते हैं। हे **मघवन्**=ज्ञानैश्वर्य से समृद्ध प्रभो! **त्वदन्यः**=आपसे भिन्न कोई और **मर्डिता** =सुख देनेवाला **न**=नहीं **अस्ति**=है। हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! अतः मैं **ते**=तेरे लिए ही **वचः**= वचन **ब्रवीमि** =कहता हूँ, अर्थात् आपसे ही इस उत्कृष्ट ज्ञान को देने की प्रार्थना करता हूँ। ३. आपसे उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करके मैं प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'गोतम' बनूँ=अत्यन्त प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाला बनूँ। उन ज्ञानन्द्रियों से वेदवाणी का ग्रहण करनेवाला होऊँ। इस वाणी ने ही मुझे पवित्र करना है। पवित्र होकर ही मैं आपको प्राप्त कर सकूँगा और आनेवाले मन्त्र (७।१) के 'वाचस्पतये पवस्व' इस उपदेश को अपने जीवन में घटा सकूँगा।

भावार्थ-प्रभु ही सर्वमहान् उपदेष्टा है। वे ही हमारे जीवनों को सुखी करनेवाले हैं। हमें उन्हीं से ज्ञान-प्राप्ति की प्रार्थना करनी चाहिए।

॥ इति षष्ठोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

सप्तमोऽध्यायः

ऋषिः—गोतमः। देवता—प्राणः। छन्दः—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

पवित्रता

वाचस्पतये पवस्व वृष्णोऽअंशुभ्यां गभस्तिपूतः।
देवो देवेभ्यः पवस्व येषां भागोऽसि॥१॥

१. पिछले अध्याय की समाप्ति इन शब्दों पर हुई थी कि 'वे प्रभु जीव को उत्कृष्ट ज्ञान देते हैं—उत्कृष्ट शंसन करते हैं', अतः प्रस्तुत अध्याय का प्रारम्भ इस प्रकार करते हैं कि **वाचस्पतये**=वाणी के पति प्रभु के लिए, उसको हृदयासीन करने के लिए **पवस्व**=तू अपने जीवन को पवित्र बना। प्रभु को अपने हृदय में आसीन करने का प्रकार यही है कि हम अपने हृदय को निर्मल और निर्मलतर बनाते चलें। २. 'हृदय को निर्मल कैसे बनाएँ?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **वृष्णः**=सब सुखों की वर्षा करनेवाले सोम की **अंशुभ्याम्**=(अंश to divide) भेदक शक्तियों से। शरीर में उत्पन्न होनेवाली वीर्यशक्ति 'सोम' है। इस सोम के अन्दर शरीर के रोगों व बुद्धि की मन्दता को दूर करने की क्षमता है। वही इसकी भेदक शक्ति है। इस सोम की भेदक शक्तियों से हमारा जीवन पवित्र हो जाता है और हम प्रभु के निवास के योग्य बनते हैं। ३. **गभस्तिपूतः**=ज्ञान की रश्मियों से पवित्र हुआ-हुआ **देवः**=प्रभु का स्तोता बनकर (दिव्+स्तुति) **देवेभ्यः**=देवों के लिए तू **पवस्व**=अपने को पवित्र कर ले, अर्थात् ज्ञान+भक्ति से पवित्र हुआ तू देवों का निवासस्थान बन, **येषाम्**=जिन देवों का तू **भागः** =सेवनीय **असि**=है। सारे देव तुझमें आकर निवास करते हैं। तू ज्ञान व भक्ति से अपने कर्मों को पवित्र कर डाल, जिससे तू देवों का सेवनीय स्थान बना रहे। ४. मन्त्र का ऋषि गोतम है। यह अपने जीवन को पवित्र करके देवों को अपनाता है। देवों का निवास-स्थान बनकर यह प्रभु को प्राप्त करनेवाला बनता है। 'वाचस्पति' प्रभु की प्राप्ति से इसे भी ज्ञान की वाणियाँ प्राप्त होती हैं और यह मन्त्र का ऋषि 'गोतम'=अत्यन्त प्रशस्त ज्ञान की वाणियोंवाला बनता है।

भावार्थ—अपने जीवन को पवित्र करके तू प्रभु को प्राप्त कर और ज्ञानवाणियों को ग्रहण करके 'गोतम' बन। इस स्थिति में पहुँचने के लिए तू सोम की रक्षा कर। नीरोग व तीव्र बुद्धि बनकर तू देव बन।

ऋषिः—गोतमः। देवता—सोमः। छन्दः—निचृदार्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

नाम-स्मरण

मधुमतीर्नऽइषस्कृधि यत्ते सोमादाभ्यं नाम जागृवि तस्मै
ते सोम सोमाय स्वाहा स्वाहोर्वुन्तरिक्षमन्वेमि॥२॥

१. पिछले मन्त्र में प्रभु को हृदयासीन करने के लिए गोतम ने अपने जीवन को अधिकाधिक पवित्र करने का प्रयत्न किया। यह गोतम प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **सोम**=हृदयस्थ शान्त प्रभो! आप **नः** =हमारे लिए **मधुमतीः इषः**=अत्यन्त माधुर्य से पूर्ण

प्रेरणाओं को **कृधि**=कीजिए। हमारे जीवनों में, हमारे व्यवहारों में ये प्रेरणाएँ माधुर्य भरने-वाली हों। २. हे **सोम**=प्रभो! **यत्**=जो **ते**=तेरा **अदाभ्यम्**=हिंसित न होने देनेवाला **जागृवि**=सदा सावधान, पहरेदार की भाँति रक्षा करनेवाला **नाम**=नाम है, उसे हे सोम! **तस्मै ते सोमाय**=उस तुझ सोम को प्राप्त करने के लिए **स्वाहा**=(सु+आह) मैं सुन्दरता से उच्चारण करता हूँ। प्रभु-नाम का उच्चारण मुझे एकाग्र करेगा और अपने अन्दर उस शान्तात्मा प्रभु को देखने के योग्य बनाएगा। ३. मैं **स्वाहा**=स्वार्थ का त्याग (स्व+हा) करता हूँ और **अन्तरिक्षं अन्वेमि**=विशाल हृदयान्तरिक्ष को प्राप्त करता हूँ, स्वार्थ की भावनाओं से ऊपर उठकर हृदय को विशाल बनाता हूँ।

भावार्थ—प्रभु का नाम-स्मरण करने से हम वासनाओं व रोगों के शिकार नहीं होते। यह नाम हमारा सदा जागरित रक्षक बन जाता है। हम नाम का सुन्दरता से उच्चारण करें, जिससे उस सोम=शान्तस्वरूप प्रभु को प्राप्त कर सकें। हम स्वार्थ-त्याग करके अपने हृदयान्तरिक्ष को विशाल बनाएँ।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

सोम

स्वाङ्कृतोऽसि विश्वेभ्यऽइन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाष्टु स्वाहा त्वा सुभव सूर्याय देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्यो देवांशो यस्मै त्वेडे तत्सत्यमुपरिप्रुता भङ्गेन हतोऽसौ फट् प्राणाय त्वा व्यानाय त्वा॥ ३॥

गत मन्त्र में वर्णित सोम=उस शान्तात्मा प्रभु को पाने के लिए शरीर में सोम (वीर्य) की रक्षा आवश्यक है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में उसी का वर्णन करते हैं—१. **स्वाङ्कृतोऽसि**=तू स्वयंकृत है, अर्थात् प्रभु-निर्मित व्यवस्था के अनुसार हमारे किसी प्रयत्न के बिना तू शरीर में स्वयं उत्पन्न होता है। तू **विश्वेभ्यः इन्द्रियेभ्यः**=इन्द्र की सब शक्तियों के लिए उत्पन्न किया गया है (इन्द्रिय=इन्द्र की शक्ति)। चाहे वे शक्तियाँ **दिव्येभ्यः**=द्युलोक अर्थात् मस्तिष्क-सम्बन्धी हों और चाहे **पार्थिवेभ्यः**=वे शक्तियाँ पृथिवी अर्थात् शरीर-सम्बन्धी हों, अर्थात् इस सोम के द्वारा मस्तिष्क व शरीर दोनों का ही विकास होता है। ज्ञानाग्नि दीप्त होती है, शरीर स्वस्थ होता है। २. इस सोम की रक्षा से **मनः**=ज्ञान **त्वा**=तुझे **अष्टु**=व्याप्त करे। **स्वाहा**=अतः इस सोम की रक्षा के लिए तू सुन्दरता से उस प्रभु के नाम का उच्चारण कर (सु आह)। ३. हे **सुभव**=उत्तम सात्त्विक अन्नों से उत्पन्न होनेवाले सोम! मैं **सूर्याय**=अपने मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञानसूर्य के उदय के लिए **त्वा**=तुझे सुरक्षित करता हूँ। **मरीचिपेभ्यः**=ज्ञान की किरणों का पान करने के लिए मैं तुझे अपने में धारण करता हूँ। ४. हे **देव**=सब दिव्य गुणों को जन्म देनेवाले **अंशो**=शत्रुओं का भेदन करनेवाले सोम! **यस्मै**=जिस उद्देश्य से **त्वा ईडे**=मैं तेरी (प्रशंसा=स्तुति) करता हूँ **तत् सत्यम्**=वह मेरा उद्देश्य सत्य हो, अर्थात् मेरी वह कामना पूर्ण हो। मेरी वह कामना यह है कि तेरे **उपरिप्रुता**=(उपरि प्रवते) ऊर्ध्व गतिवाले **भङ्गेन**=शत्रुमर्दक बल से **असौ**=वह अज्ञानरूप शत्रु **फट्**=झट **हतः**=मारा जाए, अर्थात् सोम की ऊर्ध्वगति से मुझमें वह शक्ति उत्पन्न हो कि मैं ज्ञान पर पर्दा डाल देनेवाली सब वासनाओं को नष्ट कर डालूँ। ५. हे सोम! **प्राणाय**=मैं शरीर में प्राणशक्ति की वृद्धि के लिए **त्वा**=तुझे स्वीकार करता हूँ। **व्यानाय त्वा**=मैं तुझे व्यानशक्ति की वृद्धि के लिए स्वीकार करता हूँ। प्राणशक्ति की वृद्धि से मैं नीरोग बनूँगा, और

व्यानशक्ति की वृद्धि से मैं शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग पर काबू पाऊँगा। ऐसा होने पर मैं वस्तुतः 'गोतम' प्रशस्तेन्द्रिय बनता हूँ।

भावार्थ—सोम की रक्षा से मेरे मस्तिष्क व शरीर दोनों का विकास होता है, वासना का विनाश होकर प्राण व व्यानशक्ति बढ़ती है।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—मघवाः। **छन्दः**—आर्ष्युष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

अन्तर्नियमन

उपयामगृहीतोऽस्यन्तर्यच्छ मघवन् पाहि सोमम्। उरुष्य रायऽएषो यजस्व॥४॥

गत मन्त्र में वर्णित सोम की रक्षा के लिए संयम आवश्यक है। संयम ही योग है। इस योग का उल्लेख प्रस्तुत मन्त्र में चलता है। १. हे गोतम! तू **उपयाम गृहीतः असि**=(उपयामाः=योगनियमाः) तू योग के नियमों से गृहीत है, अर्थात् तूने योग के नियमों का पालन किया है। इन योग-नियमों के द्वारा तू **अन्तः यच्छ** =इधर-उधर भटकनेवाले मन को अन्दर ही रोक। २. मन के निरोध से ही तेरा जीवन वास्तविक ऐश्वर्य से युक्त होगा। उस ऐश्वर्य से युक्त होकर **मघवन्**=ज्ञानैश्वर्यवाले गोतम! तू **सोमम्**=सोम को **पाहि**=सुरक्षित कर। **उरुष्य**=इन वासनाओं को खूब ही नष्ट कर (षोऽन्तकर्मणि) ३. वासनाओं को नष्ट करके **रायः**=ज्ञान-धनों को तथा **इषः**=प्रभु से दी जानेवाली प्रेरणाओं को तू **आयजस्व**=अपने साथ सङ्गत कर। ४. वस्तुतः योगमार्ग पर चलनेवाले जीवन का क्रम यही होता है कि (क) वह योग-नियमों को स्वीकार करता है (ख) मन का अन्दर ही निरोध करता है (ग) ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करके सोम की रक्षा करता है। (घ) वासनाओं का विनाश करता है। (ङ) और ज्ञान-धनों व प्रभु-प्रेरणाओं के साथ अपने को जोड़ता है। यह अन्तर्नियमन ही योग है। यही कल्याणकर है।

भावार्थ—हम योग-नियमों का पालन कर मनोनिरोध करें। वासनाओं को जीतकर ज्ञान-धनों को प्राप्त करें।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—ईश्वरः। **छन्दः**—आर्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

अवर-पर देवमैत्री

अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम्।
सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्यामे मघवन् मादयस्व॥५॥

गत मन्त्र के 'उपयामगृहीत'=योग के नियमों का पालन करनेवाले से प्रभु कहते हैं कि मैं १. **ते अन्तः**=तेरे अन्दर **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **दधामि**=धारण करता हूँ। तेरे मस्तिष्करूप द्युलोक को ज्योतिर्मय बनाता हूँ और तेरे पृथिवीरूप शरीर को बड़ा दृढ़ बनाता हूँ। २. **अन्तः**=तेरे अन्दर **उरु अन्तरिक्षम्**=विशाल हृदयान्तरिक्ष को धारण करता हूँ। तेरे हृदय को विशाल बनाता हूँ। ३. इस योग-साधना से शरीर में सब देवांश बड़े ठीक ढङ्ग से अपना-अपना कार्य करते हैं। शरीर के मस्तिष्करूप द्युलोक में निवास करनेवाले देव 'पर' हैं तो पाँव आदि में रहनेवाले देव 'अवर' हैं। **अवरै परैः च**=इन अवर व पर **देवेभिः सजूः**=देवों से मित्रतावाला तू **अन्तर्यामे**=योग के द्वारा मन को अन्दर ही नियमन करने पर **मघवन्**=ज्ञानरूप उत्कृष्ट ऐश्वर्यवाला होकर **मादयस्व**=आनन्द का अनुभव कर। योग को यहाँ 'अन्तर्याम' शब्द से स्मरण किया गया है, क्योंकि इसके द्वारा मन को

बाह्य विषयों से रोककर अन्दर रोका जाता है और इसके साथ ही प्राणनिरोध के द्वारा सोम का भी शरीर के अन्दर नियमन होता है। एवं, यह योग 'अन्तर्याम' है। इस अन्तर्याम के होने पर मनुष्य का ज्ञानैश्वर्य बढ़ता है और यह 'मघवन्' बन जाता है। इस ज्ञान (ऋतम्भरा प्रज्ञा) के प्राप्त होने पर मनुष्य वास्तविक आनन्द का अनुभव करता है।

भावार्थ—योग द्वारा मनोनिरोध होने पर 'मस्तिष्क, मन व शरीर' सुन्दर बनते हैं। अवर व पर सब देवों से मित्रता होती है। ज्ञानैश्वर्य प्राप्त कर हम आनन्द प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—योगी। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

उदान

स्वाङ्कृतोऽसि विश्वेभ्यऽइन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाष्टु स्वाहा त्वा सुभव सूर्याय देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्यऽउदानाय त्वा॥६॥

पिछले मन्त्र में योग द्वारा मन को अन्दर ही रोकने का उल्लेख था। इस मनोनिरोध के परिणामस्वरूप सोम की रक्षा होती है। इस सोमरक्षा के परिणाम का वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में किया गया है। १. **स्वाङ्कृतः असि**=हे सोम! तू स्वयं कृत है, अर्थात् उस प्रभु की व्यवस्था से शरीर में तेरा स्वयं ही उत्पादन होता रहता है। तेरा उत्पादन **विश्वेभ्यः**=सब **इन्द्रियेभ्यः**=इन्द्र (आत्मा) की शक्तियों के लिए हुआ है। सब शक्तियों का मूल यह सोम ही है, चाहे वे शक्तियाँ **दिव्येभ्यः**=मस्तिष्करूप द्युलोक-सम्बन्धी हैं और चाहे **पार्थिवेभ्यः**=शरीररूप पृथिवी के साथ सम्बद्ध हैं। जहाँ यह सोम ज्ञानाग्नि को दीप्त बनाता है वहाँ यह शरीर को भी दृढ़ बनाता है। २. **मनः**=मनन-शक्ति व ज्ञान **त्वा**=तुझे **अष्टु**=व्याप्त करे, अर्थात् इस सोमरक्षा से हे गोतम! तू सचमुच गोतम बन जाए। तुझे उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त हो, अतः सोमरक्षा के लिए स्वाहा (सु आह) तू उत्तमता से प्रभु के नाम का उच्चारण कर। ३. **सुभव**=हे उत्तम सात्त्विक पदार्थों से उत्पन्न सोम! मैं **त्वा**=तुझे **सूर्याय**=मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान के सूर्योदय के लिए सुरक्षित करता हूँ। **त्वा**=तुझे **देवेभ्यः** =दिव्य गुणों की उत्पत्ति के लिए सुरक्षित करता हूँ, **मरीचिपेभ्यः**=ज्ञान की किरणों के पान के लिए तुझे सुरक्षित करता हूँ और अन्ततः **उदानाय त्वा**=उदानवायु की ठीक रक्षा के लिए तेरा स्वीकार करता हूँ। इस उदानवायु ने ही अन्ततः मुझे उत्थान की ओर ले-चलना है। प्राणों का संयम करके उदानवायु से ऊर्ध्व गति करता हुआ मैं अन्त में ब्रह्मरन्ध्र से निकलने में समर्थ होऊँगा और प्रभु को प्राप्त करनेवाला बनूँगा।

भावार्थ—मैं सोमरक्षा द्वारा उदानवायु को सिद्ध करनेवाला बनूँ और अन्ततः मोक्ष प्राप्त करूँ।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—वायुः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः॥

पूर्व-पेय

आ वायो भूष शुचिपाऽउप नः सहस्रं ते नियुतो विश्ववार। उपो तेऽअन्धो मद्यमयामि यस्य देव दधिषे पूर्वपेयं वायवे त्वा॥७॥

गत मन्त्र में गोतम ने वीर्यरक्षा द्वारा उदानवायु की साधना की थी। इस प्रकार संयमी जीवनवाला यह 'वसिष्ठ' बनता है। प्रभु इस वसिष्ठ से कहते हैं—१. **वायो**=(वा गतिगन्धनयोः) गति के द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाले वसिष्ठ! **आभूष**=तू सब प्रकार से अपने

को सुभूषित कर। तेरा शरीर स्वास्थ्य से, मन नैर्मल्य से और बुद्धि तीव्रता से अलंकृत हो। २. **शुचिपाः**=तू अत्यन्त शुद्धता को पालनेवाला हो। तेरा जीवन पवित्र-ही-पवित्र हो। ३. हे **विश्ववार**=सब गुणों के स्वीकार करनेवाले वसिष्ठ! **नः**=हमारे **सहस्त्रम्**=हज़ारों **नियुतः**= (नियुज्यन्ते ये तान् निश्चितान् शमादिगुणान्–द०) शम आदि गुणों को **आभूष**=अपने में सजा, अर्थात् इन गुणों के धारण से अपने जीवन को अलंकृत कर और **ते**=तेरे ये गुण तुझे **नः उप**=हमारे समीप लानेवाले हों। ४. अब वसिष्ठ प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभो! मैं **ते**=तेरे **मद्यम्**=आनन्द देनेवाले **अन्धः**=आध्यायनीय सोमरूप अन्न को **उ उप अयामि**=निश्चय से समीपता से प्राप्त होता हूँ। इस सोम को अपने अन्दर सुरक्षित करता हूँ। उस सोम को **यस्य**=जिसके **पूर्वपेयम्**=पालन व पूरण करनेवाले पान को हे **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! **दधिषे**=आप हमारे लिए धारण करते हैं, अर्थात् जिसका पान व रक्षण हम आपकी कृपा से कर पाते हैं। ५. हे सोम! मैं **वायवे त्वा**=वायु बन सकूँ, इसलिए तेरा स्वीकार करता हूँ कि वायु=गतिशीलता के द्वारा मैं सब बुराइयों का दूर करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—हम सोमरक्षा द्वारा शतशः शमादि गुणों से अपने जीवनों को अलंकृत करें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—इन्द्रावायू। **छन्दः**—आर्षीगायत्री [क], स्वराडार्षीगायत्री [र]। **स्वरः**—षड्जः॥

इन्द्र+वायु

[क]इन्द्र॑वायूऽइ॒मे सु॒ताऽउप॒ प्रयो॑भि॒राग॑तम्। इन्द॑वो वामु॒शन्ति॒ हि।
उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि वा॒यव॑ऽइन्द्रवा॒युभ्यां॑ त्वै॒ष ते॒ योनिः॑ स॒जोषो॑भ्यां त्वा॥८॥

सोमरक्षा के विषय को ही प्रस्तुत मन्त्र में इन शब्दों में कहते हैं कि १. **इन्द्रवायू**=हे इन्द्र और वायु ! **इमे**=ये सोमकण **सुताः**=तुम्हारे अन्दर उत्पन्न किये गये हैं। **प्रयोभिः**=सात्त्विक भोजनों (food) से तथा आनन्दमयी मनोवृत्ति (delight, pleasure) से तथा त्याग की भावना (sacrifice) से **उप आगतम्**=इन सोमकणों को समीपता से प्राप्त करो। 'इन्द्र' शब्द जितेन्द्रियता का संकेत करता है और 'वायु' शब्द क्रियाशीलता का। सोमकण इन्द्र और वायु के लिए उत्पन्न किये गये हैं। जितेन्द्रिय और क्रियाशील पुरुष ही इनकी रक्षा कर पाता है। इनकी रक्षा के लिए आवश्यक है कि मनुष्य सात्त्विक भोजनों का प्रयोग करे (प्रयस्), सदा प्रसन्नता को धारण करे (प्रयस्) तथा त्याग की भावनावाला हो (प्रयस्)। यह त्याग की भावना ही उसे विलासमय जीवन से बचाएगी। २. हे इन्द्र और वायो! **इन्दवः**=ये शक्ति देनेवाले सोमकण **वाम् उ**=आप दोनों को ही निश्चय से **उशन्ति**=चाहते हैं। सोमकण इन्हीं में सुरक्षित रहते हैं। 'जितेन्द्रियता और क्रियाशीलता' सोमरक्षा के मुख्य उपाय हैं। ३. **उपयामगृहीतः असि**=प्रभु के समीप (उप) निवास के द्वारा यम-नियमों से तू गृहीत है, योग के नियमों का तूने पालन किया है। **वायवे**=इस क्रियाशील पुरुष के लिए तू है। प्रभु कहते हैं कि हे सोम ! **इन्द्रवायुभ्याम्**=इन्द्र और वायु के लिए ही मैंने **त्वा**=तुझे उत्पन्न किया है। **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरा घर है। इस शरीर में ही तूने रहना है, इससे दूर नहीं होना। मनुष्य इस सोम की रक्षा के लिए प्रातः-सायं प्रभु चिन्तन करता हुआ यम-नियमों के पालन का प्रयत्न करे। यम-नियमों के पालन से ही मानव-जीवन में क्रियाशीलता और जितेन्द्रियता उत्पन्न होती है। ये क्रियाशील तथा जितेन्द्रिय पुरुष ही सोम की रक्षा करनेवाले होते हैं। ४. हे सोम! **सजोषोभ्यां त्वा**=समानरूप से मिलकर प्रीतिपूर्वक गृहकार्यों का सेवन करनेवाले पति-पत्नी के लिए मैं तुझे उत्पन्न करता हूँ (स=मिलकर

जुष्=प्रीति-सेवन)। जिस गृहस्थ में पति-पत्नी का समन्वय नहीं होता, उसमें दोनों का जीवन अनियन्त्रित-सा हो जाता है। उस अनियन्त्रित जीवन में दोनों का पतन होता है। जब पति-पत्नी मिलकर यज्ञादि उत्तम कार्यों में लगते हैं तो वे एक-दूसरे को पतन से बचानेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम इन्द्र=जितेन्द्रिय और वायु=क्रियाशील बनकर सोम की रक्षा करनेवाले बनें। यही मधुरतम कामना है। इस मधुर इच्छावाले हम 'मधुच्छन्दा' बनते हैं।

ऋषिः—गृत्समदः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—आर्षीगायत्री [क], आसुरीगायत्री [र]। **स्वरः**—षड्जः॥

मित्र+वरुण

[क]अयं वां मित्रावरुणा सुतः सोमऽऋतावृधा। ममेदिह श्रुतꣳहवम्।
[र]उपयामगृहीतोऽसि मित्रावरुणाभ्यां त्वा॥९॥

१. गत मन्त्र में 'मधुच्छन्दा'=माधुर्य-ही-माधुर्य को अपनानेवाला, सभी का स्नेही (मित्र) तथा किसी से भी द्वेष न करनेवाला (वरुण) बनता है। यही प्रभु का सच्चा स्तवन है। यही जीवन के आनन्द का मूल है। सच्चा स्तवन करनेवाला और आनन्द को प्राप्त करनेवाला यह 'गृत्स-मद' कहलाता है। 'गृणाति+माद्यति'=स्तुति करता है, प्रसन्न रहता है। यही सोम की रक्षा कर पाता है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि हे **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण—स्नेह करनेवाले व द्वेष का निवारण करनेवाले! इस प्रकार **ऋतावृधा**=अपने में ऋत का वर्धन करनेवाले! **वाम्**=तुम दोनों पति-पत्नी के लिए **अयं सोमः**=यह सोम **सुतः**=उत्पन्न किया गया है। २. **इह**=मानव-जीवन में **इत्**=निश्चय से **मम**=मेरी **हवम्**=पुकार को, प्रेरणा को **श्रुतम्**=तुम सुनो। मुझसे प्रतिपाद्यमान सोम के महत्त्व को सुनो और इसकी रक्षा के लिए नितान्त प्रयत्नशील होओ। ३. **उपयामगृहीतः असि**=हे सोम! तू प्रभु-उपासन के द्वारा और यम-नियमों के द्वारा धारण किया जाता है। **मित्रावरुणाभ्यां त्वा**=मैं तुझे मित्र और वरुण के लिए ही उत्पन्न करता हूँ, अर्थात् इस सोम की रक्षा के लिए मित्र और वरुण बनना आवश्यक है।

भावार्थ—हम सबके साथ स्नेह करनेवाले, द्वेष से सदा दूर रहनेवाले बनकर सच्चे प्रभुभक्त बनें और प्रसन्नचित्त होकर सोमरक्षा में समर्थ हों।

ऋषिः—त्रसदस्युः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

ऋत और आयु

राया वयꣳससवाꣳसो मदेम हव्येन देवा यवसेन गावः। तां धेनुं मित्रावरुणा युवं नो विश्वाहा धत्तमनपस्फुरन्तीमेष ते योनिर्ऋतायुभ्यां त्वा॥१०॥

१. पिछले मन्त्र की भावना के अनुसार जब हम सचमुच मित्र व वरुण बनकर प्रभु के सच्चे उपासक बनते हैं तब प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'त्रसदस्यु' बनते हैं। त्रस=डरते हैं दस्यु=दुष्टभाव जिससे। जिसमें आसुर वृत्तियाँ बिल्कुल नहीं होतीं, ऐसे त्रसदस्यु बनकर **वयम्**=हम **राया**=धन से **ससवांसः**=संभक्त हुए-हुए, अर्थात् संविभागपूर्वक धन को प्राप्त हुए-हुए **मदेम**=इस प्रकार आनन्द अनुभव करें जैसेकि **देवाः**=देव **हव्येन**=हव्य पदार्थों से प्रसन्न होते हैं और **गावः**=गौ आदि पशु **यवसेन**=अपने चारे (fodder) से प्रसन्न होते हैं। अथवा जब हम धन प्राप्त करें तो उस धन में से देवताओं को भी हव्य प्राप्त हो और गौवों

को भी यवस प्राप्त हो। हमारे धन में देवों व गवादि पशुओं का भी भाग हो। यही देवयज्ञ व बलिवैश्वदेव यज्ञ कहलाते हैं। २. प्रभु इन मित्र और वरुण बननेवालों से कहते हैं कि हे **मित्रावरुणा**=स्नेह करनेवाले व द्वेष को दूर भगानेवाले! **युवम्**=तुम **नः तां धेनुम्**=हमारी वेदवाणीरूप गौ को **अनपस्फुरन्तीम्**=मन में फुरती हुई को **विश्वाहा**=सदा **धत्तम्**=धारण करो। तुम्हें वेदवाणी स्पष्ट हो। तुम वेदवाणीरूप धेनु के ज्ञानदुग्ध का पान करनेवाले बनो। ३. इस वाणी के स्फुरण के लिए आवश्यक है कि हम सोम की रक्षा करनेवाले बनें, अतः प्रभु कहते हैं कि हे सोम! **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरी योनि है, उत्पत्ति व निवासस्थान है। इस शरीर में ही तूने रहना है। **त्वा**=तुझे **ऋतायुभ्याम्**=ऋत और आयु के लिए इस शरीर में स्थपित करता हूँ। शरीर में 'सब क्रियाएँ ठीक-ठीक चलें और दीर्घ जीवन प्राप्त हो' इसीलिए सोम का उत्पादन हुआ है। ऋत और आयु शब्द मित्र और वरुण के लिए भी प्रयुक्त होते हैं, अतः मित्र और वरुण के लिए तुझे स्थापित करता हूँ। (मित्राः ऋतं वरुण एव वायुः—श० ४।१।४।१०) अथवा ऋत को चाहनेवाले पति-पत्नी के लिए तुझे स्थापित करता हूँ।

भावार्थ—सोमरक्षा द्वारा हमारा जीवन ऋतमय हो और हम दीर्घायुष्य प्राप्त करें।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—ब्राह्म्युष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

माधुर्यमयी वाणी

या वां कशा मधुमत्यश्विना सूनृतावती। तया यज्ञं मिमिक्षतम्।
उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वैष ते योनिर्माध्वीभ्यां त्वा॥११॥

१. पिछले मन्त्र में 'मित्रावरुणौ' का प्रकरण था—'सबके साथ स्नेह करनेवाले, द्वेष न करनेवाले'। उन्हीं से कहते हैं कि **या**=जो **वाम्**=आप दोनों **अश्विना**=पति-पत्नी की **मधुमती**=माधुर्यवाली तथा **सूनृता-वती**=उत्तमता से दुःखों का परिहाण करनेवाली ऋत, अर्थात् सत्य **कशा**=वाणी है **तया**=उससे **यज्ञम्** =यज्ञ को **मिमिक्षतम्**=खूब सिक्त कर दो। आपका जीवन यज्ञमय हो। यज्ञ के लिए ही आपका संयोग हुआ है। वह यज्ञ बड़ी मधुर वाणी को लिये हुए हो। उस यज्ञ में मधुर शब्दों का ही प्रयोग हो। २. हे सोम! तू **उपयामगृहीतः असि**=प्रभु के समीप निवास द्वारा धारण किये गये यम-नियम से धारण किया जाता है, अर्थात् तेरी रक्षा के लिए यम-नियमों का पालन आवश्यक है। **अश्विभ्यां त्वा**=तुझे मैंने पति-पत्नी के लिए, अर्थात् उनके कार्यों को सुचारुरूपेण चलाने के लिए स्थापित किया है। ३. **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरा घर है। इसी में तूने व्याप्त होकर रहना है। **माध्वीभ्यां त्वा**=तुझे मैंने शरीर में इसलिए स्थापित किया है कि पति-पत्नी दोनों का जीवन बड़े माधुर्य को लिये हुए हो। सुरक्षित सोम जीवन में माधुर्य को उत्पन्न करने का कारण बनता है। 'अश्विना' शब्द प्राणापान के लिए भी प्रयुक्त होता है। तब अर्थ होगा कि यह सोम प्राणापान की शक्ति की वृद्धि के लिए स्थापित हुआ है और प्राणापान की शक्ति की वृद्धि के द्वारा यह माधुर्य को जन्म देने के लिए है। वस्तुतः 'मेधातिथि'=(मेधया अतति) समझदार वही है जो सोमरक्षा द्वारा प्राणापान की शक्ति को बढ़ाता है और परिणामतः अपने जीवन व वाणी को माधुर्यमय बनाता है।

भावार्थ—हम सोमरक्षा द्वारा वाणी को मधुर बनाएँ। हमारे यज्ञ मधुर वाणी से सम्पन्न हों।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—निचृदार्षीजगती[क], पङ्क्तिः[र]।
स्वरः—निषादः[क], पञ्चमः[र]॥

दोहन या वीरता (वीरता-दोहन)

[क]तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा ज्येष्ठतातिं बर्हिषदꣳस्वर्विदम्। प्रतीचीनं वृजनं दोहसे धुनिमाशुं जयन्तमनु यासु वर्धसे। [र]उपयामगृहीतोऽसि शण्डाय त्वैष ते योनिर्वीरतां पाह्यपमृष्टः शण्डो देवास्त्वा शुक्रपाः प्रणयन्त्वनाधृष्टासि॥१२॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार पूर्ण मधुर जीवन बनाने के लिए कहते हैं कि **तम्**=उस प्रभु को जोकि **ज्येष्ठतातिम्**=ज्येष्ठता का विस्तार करनेवाले हैं, उपासक के जीवन को अधिकाधिक प्रशस्त बनानेवाले हैं, **बर्हिषदम्**=वासनाशून्य हृदयाकाश में विराजनेवाले हैं, **स्वर्विदम्**=सुख व प्रकाश को प्राप्त करानेवाले हैं, **प्रतीचीनम्**=अविद्यादि दोषों के प्रतिकूल हैं, अर्थात् अविद्यादि से हमें दूर ले-जानेवाले हैं **वृजनम्**=जो बलरूप हैं, अर्थात् जिसकी उपासना से उपासक शक्ति का अनुभव करता है **धुनिम्**=सब दोषों को कम्पित करके दूर करनेवाले हैं **आशुम्**=शीघ्रता से कार्यसिद्धि देनेवाले हैं **जयन्तम्**=सदा विजयी हैं, अर्थात् हमारे कामादि शत्रुओं का पराभव करनेवाले हैं, उस प्रभु को **प्रत्नथा**= प्राचीनकाल की भाँति **पूर्वथा**=अपने से पहले होनेवाले योगियों की भाँति **विश्वथा**=अन्य सब देवों की भाँति **ईमथा**=वर्त्तमान काल के योगियों की भाँति **दोहसे**=तू अपने अन्दर दोहन करता है, अर्थात् उस प्रभु की भावना को अपने अन्दर भरता है। **अनुयासु**=इन दोहन-क्रियाओं के अनुसार ही **वर्धसे**=तू बढ़ता है, जितना-जितना तू अपने में प्रभु का दोहन करता है उतना-उतना तेरा वर्धन होता है, उतना-उतना ही तू वासनाओं को जीतकर आगे बढ़ता चलता है। २. उपासक के हृदयाकाश में आसीन प्रभु शरीर में उत्पादित सोमशक्ति से कहते हैं कि **उपयामगृहीतः असि**=तू उपासना के द्वारा धारण किये गये यम-नियमों से गृहीत होता है। **शण्डाय त्वा**=शमादि गुणयुक्त पुरुष के लिए मैं तुझे शरीर में उत्पन्न करता हूँ। **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरा निवासस्थान है, तूने शरीर में ही रहना है, शरीर में व्याप्त होकर तू उस पुरुष को शमादि गुणयुक्त करता है। ३. **वीरतां पाहि**=तू इस शान्त पुरुष की वीरता की रक्षा कर। **शण्डः**=यह शमादि गुणयुक्त पुरुष **अपमृष्टः**=सब मलों के दूरीकरण से शुद्ध कर दिया जाए। **शुक्रपाः**=वीर्य की रक्षा करनेवाले **देवाः**=विद्वान् लोग **त्वाम्**=तुझ वीरता को **प्रणयन्तु**=प्रकर्षेण अपने में प्राप्त कराएँ। **अनाधृष्टा असि**=तू वासनाओं से धर्षित नहीं होती। वीरता के साथ सब सद्गुणों का वास है, वीरता ही virtue है। अवीरता के साथ evil आती है। वीर पुरुष कामादि से धर्षित नहीं होता।

भावार्थ—हम योगक्रियाओं द्वारा सोम की रक्षा करें। सुरक्षित सोम से हमारी वीरता बढ़े और हम वासनाओं से धर्षित न हों।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्[क], प्राजापत्यागायत्री[र]।
स्वरः—धैवतः[क], षड्जः[र]॥

शमादि गुणयुक्त पुरुष

[क]सुवीरो वीरान् प्रजनयन् परीह्यभि रायस्पोषेण यजमानम्। संजग्मानो दिवा पृथिव्या शुक्रःशुक्रशोचिषा निरस्तः शण्डः [र]शुक्रस्याधिष्ठानमसि॥१३॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार अपने में वीरता का पूरण करनेवाला **सुवीरः**=उत्तम वीर **वीरान्**=(virtues, उत्कृष्टगुणान्—द०) उत्तम गुणों को **प्रजनयन्**=अपने में विकसित करता हुआ तू **परीहि**=सर्वतः प्राप्त हो। २. **रायस्पोषेण**=धन के पोषण से तू **यजमानम्**=यज्ञ करनेवाले को, अर्थात् दानादि उत्तम कार्यों के करनेवाले को **अभि**=लक्ष्य करके **परीहि**=प्राप्त हो, अर्थात् तू धन-धान्य से समृद्ध होकर यज्ञादि उत्तम कर्मों को करनेवाला बन। ३. **दिवा**=देदीप्यमान मस्तिष्क से तथा **पृथिव्या**=(प्रथ विस्तारे) विस्तृत शक्तियोंवाले शरीर से **संजग्मानः**=सङ्गत हो, अर्थात् तेरा मस्तिष्क ज्ञानज्योति से चमके तो तेरा शरीर सब शक्तियों के विस्तारवाला होता हुआ. सचमुच 'पृथिवी' हो। ४. **शुक्रः**=तू वीर्य का पुञ्ज बन। **शुक्रशोचिषा**=पवित्र करनेवाले वीर्य की दीप्ति से तू **निरस्तः**=अपमृष्टः=सब मलिनताओं को दूर करके पूर्ण शुद्ध बन। ४. पूर्ण शुद्ध बना हुआ यह **शण्डः**=शमादि गुणयुक्त पुरुष **शुक्रस्य**=इस जीवन को पवित्र करनेवाले सोम का **अधिष्ठानम्**=आधार **असि**=है। शमादि गुण वीर्यरक्षा में सहायक होते हैं। इसी से शान्त पुरुष वीर्य का अधिष्ठान बनता है। वीर्य शमादि गुणों का जनक है तो शमादि गुण वीर्यरक्षा में सहायक हैं। इसी दृष्टिकोण से ब्रह्मचारी के लिए सौम्य होना आवश्यक है और क्रोध वर्जित है।

भावार्थ—१. वीर्यरक्षा से वीर बनकर मनुष्य अपने में सद्गुणों का पोषण करता है। २. धन की वृद्धि करके यज्ञशील बनता है। ३. देदीप्यमान मस्तिष्क व विस्तृत शक्तिवाले शरीर को प्राप्त करता है। ४. सब मालिन्यों से दूर होता है और ५. शमादि गुणों से युक्त होता है।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—स्वराड्जगती। **स्वरः**—निषादः॥

प्रथमा संस्कृति

अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम।
सा प्रथमा सँस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रोऽअग्निः॥१४॥

१. गत मन्त्र का शमादि गुणयुक्त पुरुष प्रार्थना करता हुआ कहता है कि हे **देव सोम**=दिव्य गुणों को उत्पन्न करनेवाले सोम! हम **ते**=तेरे **अच्छिन्नस्य**=कभी विच्छिन्न न होनेवाले **सुवीर्यस्य**=उत्तम वीरता से युक्त **रायस्पोषस्य**=धन के पोषण के **ददितारः**=(दधितारः) धारण करनेवाले **स्याम**=हों। हम सोम की रक्षा के द्वारा उत्तम शक्ति को प्राप्त करें, उत्तम धनों को धारण करनेवाले बनें। ३. (क) अविच्छिन्नरूप से हम वीर्य को धारण करनेवाले बनें, (ख) धनों को प्राप्त करके यज्ञादि उत्तम कार्यों के लिए दान करनेवाले हों। **सा**=इन दोनों बातों का पालन करना ही **प्रथमा**=प्रमुख अथवा हमारे जीवनों व शक्तियों का विस्तार करनेवाली **संस्कृतिः**=संस्कृति (culture) है। यह संस्कृति **विश्ववारा**=सबसे वरने के योग्य है। सभी को इस संस्कृति को अपनाना चाहिए, अथवा यह **विश्ववारा**=सब वरणीय वस्तुओंवाली है। इस संस्कृति से हमारे अन्दर सब इष्ट गुणों की उत्पत्ति होती है। ४. **सः**=वह—इस संस्कृति को अपनानेवाला व्यक्ति **प्रथमः**=अपनी सब शक्तियों का विस्तार करता है, अतएव समाज में मुख्य—प्रथम स्थान में स्थित होता है। **वरुणः**=यह सब द्वेषों व अन्य बुराइयों का निवारण करनेवाला होता है और इस प्रकार 'वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः' श्रेष्ठ जीवनवाला होता है। **मित्रः**=यह सभी के साथ स्नेह करता है 'प्रमीतेः त्रायते' और अपने को पापरूप मृत्युओं से बचाता है, तथा **अग्निः**=निरन्तर आगे बढ़नेवाला होता है।

भावार्थ—सबसे स्वीकार करनेयोग्य संस्कृति यही है कि १. हम अविच्छिन्न वीर्य

को धारण करनेवाले बनें, शक्ति की रक्षा करें। २. और दान दिये जानेवाले (रा दाने) धन के पोषक हों।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—निचृद्ब्राह्म्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः ॥

आग्नीत् की मधुर वाणी

स प्रथमो बृहस्पतिश्चिकित्वाँस्तस्मा इन्द्राय सुतमा जुहोत स्वाहा।
तृम्पन्तु होत्रा मध्वो याः स्विष्टा याः सुप्रीताः सुहुता यत्स्वाहायाडग्नीत् ॥१५॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार संस्कृति को अपनानेवाला **सः**=वह व्यक्ति **प्रथमः**=अपनी सब शक्तियों का विस्तारक होता है। २. यह **बृहस्पतिः**=बृहती वेदवाणी का पालक बनता है—विद्यायुक्त वाणी का अधिष्ठाता होता है। सर्वोच्च ऊर्ध्वा दिशा का यह अधिपति होता है। ३. **चिकित्वान्**=विज्ञानवान् अथवा 'कित निवासे रोगापनयने च'=उत्तम निवासवाला या नीरोग होता है। ४. हे विश्वेदेवा! तुम **तस्मा इन्द्राय**=इस इन्द्रियों के अधिष्ठाता के लिए **सुतम्**=ऐश्वर्य को **आजुहोत**=सर्वथा दो। **स्वाहा**=यही सु+हा=उत्तम त्याग है। देवों का सर्वोत्तम दान यही है कि वे जितेन्द्रिय पुरुष को ऐश्वर्य प्राप्त कराते हैं। ५. इन इन्द्रवृत्तिवाले लोगों को **होत्राः**=वाणियाँ **तृम्पन्तु**=तृप्त करें, **यत्**=जो वाणियाँ **मध्वाः**=माधुर्य से युक्त हैं और **याः**=जो **स्विष्टाः**=(सु इष्टाः) अत्यन्त वाञ्छनीय हैं **याः**=जो **सुप्रीताः**=(प्रीञ् तर्पणे) उत्तम तृप्ति देनेवाली हैं **सुहुताः**=जिन वाणियों से उत्तम यज्ञादि कर्म किये जाते हैं। ६. **यत्**=क्योंकि **अग्नीत्**=(अग्निमिन्धे) अग्नि को समिद्ध करनेवाला व्यक्ति **स्वाहा**=उत्तम वाणियों के द्वारा (सत्यवाणी से—द०) **अयाट्**=यज्ञों को करता है अथवा सभी को सत्कृत करता है (यज्=देवपूजा)। **अग्नीत्**=अग्नि को समिद्ध करता है, अर्थात् अग्निहोत्रादि कर्मों को करता है तथा प्रभुरूप अग्नि को अपने हृदय में देखने का प्रयत्न करता है। सर्वत्र प्रभु को देखनेवाला यह व्यक्ति सभी के साथ मधुर वाणियों का प्रयोग करता है।

भावार्थ—प्रभुरूप अग्नि को समिद्ध करनेवाला सदा मधुर वाणी का प्रयोग करता है, मधुर सत्यवाणी से ही सबका सत्कार करता है।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्[क], साम्नीगायत्री[र]।
स्वरः—धैवतः[क], षड्जः[र]॥

शक्ति व शान्ति का समन्वय

[क]अयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने। इममपाᳪ सङ्गमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति। [र]उपयामगृहीतोऽसि मर्काय त्वा॥१६॥

१. **अयम्**=गत मन्त्र में वर्णित मधुर वाणियोंवाला यह व्यक्ति ही **वेनः**=मेधावी है (नि० ३।१५)। यह **पृश्निगर्भाः**=(पृश्निः आदित्यो गर्भे येषाम्) आदित्य के समान ज्योति है गर्भ में जिनके, अर्थात् ज्ञान से परिपूर्ण वाणियों को **चोदयत्**=प्रेरित करता है, अर्थात् इसकी वाणियाँ सदा ज्ञान के प्रकाशवाली होती हैं। २. यह **रजसो विमाने**=रजोगुण के विशिष्ट रूप से निर्माण के निमित्त **ज्योतिर्जरायुः**=ज्योतिरूप वेष्टन व आच्छादनवाला होता है। यह ज्ञान को अपना आवरण बनाता है और परिणामतः रजोगुण को विशिष्ट परिमाण में अपने अन्दर विकसित होने देता है। ज्ञान के कारण इसका रजोगुण उच्छृंखल न होकर सदा नियन्त्रित होता है। ३. **इमम्**=इस वेन (मेधावी) को **अपाम्**=जलों, **सूर्यस्य**=सूर्य व

तेज का **सङ्गमे**=सङ्गम होने पर, अर्थात् शान्ति (=जल) व शक्ति (=सूर्य-तेज) का समन्वय होने पर **शिशुं न**=शिशु के समान अर्थात् पुत्रवत् प्रेम करते हुए **विप्राः**=ज्ञानी लोग **मतिभिः**=ज्ञानों से **रिहन्ति**=सत्कृत करते हैं (रिहन्तीत्यर्चतिकर्मसु-नि० ३।१४), अर्थात् शान्ति व शक्ति का अपने में समन्वय करनेवाले इस मेधावी को जो **शिशुं न**=एक अबोध बालक के समान निर्दोष है, ज्ञानी लोग प्रेम से ज्ञान देते हैं। आचार्यों का विद्यार्थी को ज्ञान देना ही अर्चन है। ४. **उपयामगृहीतः असि**=हे वेन! तू उपयामगृहीत है, प्रभु की उपासना द्वारा यम-नियमों से युक्त है। **मर्काय त्वा**=(मर्च गतौ) मैं तुझे गतिशीलता के लिए प्रेरित करता हूँ। यह गतिशीलता ही तुझे पवित्र बनाएगी और तू प्रभु का उपासक बनकर यम-नियमों का पालन करनेवाला हो सकेगा।

भावार्थ–मेधावी पुरुष ज्ञान को अपना आच्छादन बनाता है। यह अपने जीवन में शान्ति व शक्ति का मिश्रण करता है। ज्ञानी इसे प्रेम से ज्ञान प्राप्त कराते हैं और यह गतिशील बनकर प्रभु का उपासक होता हुआ यम-नियमों का पालन करता है।

ऋषिः–अवत्सारः काश्यपः। **देवता**–विश्वेदेवाः। **छन्दः**–स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**–धैवतः॥

मनो विजय

मनो न येषु हवनेषु तिग्मं विपः शच्या वनुथो द्रवन्ता।
आ यः शर्याभिस्तुविनृम्णोऽअस्याश्रीणीतादिशं गभस्तावेष ते योनिः
प्रजाः पाह्यपमृष्टो मर्को देवास्त्वा मन्थिपाः प्रणयन्त्वनाधृष्टासि॥१७॥

गत मन्त्र में प्रभु की उपासना के द्वारा वेन अपने जीवन को अत्यन्त सुन्दर बनाने का निश्चय करता है। 'इन प्रभु-उपासनाओं से क्या होता है?' यह बात प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **येषु हवनेषु**=जिन प्रभु के पुकारने के समयों पर अथवा प्रभु के प्रति अपना अर्पण करने के अवसरों पर **विपः**=मेधावी पति-पत्नी **मनः**=अपने मन को, जो मन **न तिग्मम्**=तेज़ नहीं है, अर्थात् जो शान्त है, उसे **शच्या**=प्रज्ञापूर्वक **द्रवन्ता**=गति करते हुए **वनुथः**=जीतते हैं। २. उपासना से मन शान्त होता है, मनुष्य सब क्रियाओं को बुद्धिमत्तापूर्वक करता है, अन्त में मन को पूर्णरूप से जीत लेता है। यह मनोविजेता वह है **यः**=जो **आशर्याभिः**=(शॄ हिंसायाम्) सब बुराइयों की हिंसा के द्वारा **तुविनृम्णः**=महान् बलवाला है। **अस्य**=इसकी **गभस्तौ**=ज्ञान-किरणों में **आदिशम्**=(दिशायाम् दिशायाम्) प्रत्येक दिशा में **आश्रीणीत**=अपने को परिपक्व करो। जिसने स्वयं मन को जीता है, उसके अनुभवों से पूर्ण लाभ लेते हुए अन्य लोग भी अपनी शक्तियों का परिपाक करें। ३. **एषः ते योनिः**=हे सोम! जिस तेरी रक्षा पर ही सब उन्नतियाँ निर्भर करती हैं, उस तेरा यह शरीर ही घर है। इस शरीर में ही व्यापक होकर तूने रहना है। ४. शरीर में रहकर **प्रजाः पाहि**=सब प्रजाओं का तू पालन कर। तेरे निवास से ही यह **मर्कः**=शरीर **अपमृष्टः**=बुराइयों के सुदूर विध्वंस के द्वारा शुद्ध कर दिया जाता है। ५. इसीलिए **मन्थिपाः**=सोम की रक्षा करनेवाले **देवाः**=देव **त्वा**=तुझे **प्रणयन्तु**=शरीर में विशेष रूप से प्राप्त कराएँ। हे शुक्रशक्ते! तू **अनाधृष्ट असि**=अपराजेय है। तेरे होने पर शरीर में किसी रोगादि का आक्रमण नहीं होता।

भावार्थ–प्रभु-उपासना से मन शान्त होता है। जीवन शुद्ध होता है। यह शुक्रशक्ति अपराजेय है। इसकी रक्षा से ही शरीर निर्दोष होता है।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्[क], प्राजापत्यागायत्री[ग]। **स्वरः**—धैवतः[क], षड्जः[ग]॥

सु-प्रजाः

[क]सुप्रजाः प्रजाः प्रजनयन् परीह्यभि रायस्पोषेण यजमानम्। संजग्मानो दिवा पृथिव्या मन्थी मन्थिशोचिषा निरस्तो मर्को [ग]मन्थिनोऽधिष्ठानमसि॥१८॥

१. गत मन्त्र का मनोविजेता **सुप्रजाः**=उत्तम प्रजाओंवाला होता है। यह **प्रजाः**=प्रजाओं को **प्रजनयन्**=विकसित करनेवाला होता है। २. यह **यजमानम्**=इस सृष्टि-यज्ञ को रचनेवाले प्रभु को **अभिरायस्पोषेण**=आन्तर व बाह्य सम्पत्ति के पोषण से **परीहि**=प्राप्त होता है। प्रभु की प्राप्ति का उपाय यही है कि मनुष्य बाह्य सम्पत्ति, अर्थात् शरीर के स्वास्थ्य का सम्पादन करे और साथ ही आन्तर सम्पत्ति पवित्रता व ज्ञान को सिद्ध करे। 'स्वस्थ, पवित्र व ज्ञानी' पुरुष ही प्रभु-प्राप्ति का अधिकारी होता है। ३. **दिवा**=ज्ञान की ज्योति से तथा **पृथिव्या**=विस्तृत शक्तियोंवाले शरीर से **संजग्मानः**=सङ्गत हुआ-हुआ तू **मन्थी**=शत्रुओं का मथन करनेवाला होता है। ४. **मन्थिशोचिषा**=रोगकृमियों का मथन करनेवाले सोम की दीप्ति से **मर्कः** =यह देह **निरस्तः**=(अपमृष्टः) सब दोषों को दूर फेंकनेवाला होता है (असु क्षेपणे)। ५. हे सुप्रजाः! तू इसी दृष्टिकोण से **मन्थिनः**=सोम का **अधिष्ठानम् असि**=अधिष्ठान बनता है। वस्तुतः 'सुप्रजाः' का 'सुप्रजास्त्व' इस सोम के कारण ही है। १३ वें मन्त्र में इसे ही 'सुवीर' शब्द से स्मरण किया गया था। वहाँ सोम के लिए 'शुक्र' शब्द का प्रयोग था।

भावार्थ—वीर्यरक्षा से मनुष्य 'सुप्रजाः' होता है, स्वस्थ व ज्ञानी बनकर प्रभु को प्राप्त करनेवाला होता है, निर्दोष शरीरवाला बनता है।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

तेतीस (३३) देव

ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ।
अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम्॥१९॥

गत मन्त्र की भावना को जीवन में अनूदित करके जब मनुष्य अपने जीवन को पवित्र व यज्ञमय बनाता है तब वह इस प्रकार प्रार्थना करने का अधिकारी होता है कि—१. **ये**=जो **दिवि**=द्युलोक में—मस्तिष्क में **एकादश**=ग्यारह **देवासः स्थ**=देव हो और **पृथिव्याम् अधि**=इस पृथिवी पर, स्थूलशरीर में, **एकादश स्थ**=जो ग्यारह देव हो तथा **महिना**=(महिम्ना) अपनी महिमा से **अप्सुक्षितः**=अन्तरिक्ष में, हृदयाकाश में, रहनेवाले **एकादश स्थ**=ग्यारह देव हो, **ते देवासः**=वे सब देव **इमं यज्ञम्**=मेरे इस यज्ञमय जीवन का **जुषध्वम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करो। २. मेरा यह जीवन यज्ञमय हो और इसमें सब देवों का निवास हो। वस्तुतः जब हमारा जीवन देवों का निवासस्थान बनता है तभी यह परमात्मा का भी निवासस्थान बनने के योग्य होता है। उस महादेव के आने के लिए पहले देवों का आना आवश्यक है। देवों का आना महादेव के आने की तैयारी है। ३. द्युलोक के देवों का मुखिया सूर्य है। मेरे मस्तिष्करूप द्युलोक में भी ज्ञान-सूर्य का उदय हो। अन्तरिक्ष लोक के देवों का मुखिया वायु व विद्युत् हैं। मेरा हृदय भी वायुवत् निरन्तर क्रियाशीलता के संकल्प से भरा हुआ हो तथा सब वासनाओं को विद्युत् की तरह छिन्न-भिन्न करनेवाला हो। पृथिवीलोक में देवों का

मुखिया 'अग्नि' है। मेरा शरीर भी अग्नि की उष्णतावाला हो। एवं, सब देवों से युक्त होकर मैं सचमुच जीवन को यज्ञ का रूप दे डालूँ और यज्ञमय बनकर प्रभु का निवासस्थान बन जाऊँ।

भावार्थ—मेरा जीवन यज्ञरूप हो। यह देवों का आश्रम बने और प्रभु को प्राप्त करनेवाला हो।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—निचृदार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

आग्रयण

उपयामगृहीतोऽस्याग्रयणोऽसि स्वाग्रयणः। पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिं विष्णुस्त्वामिन्द्रियेण पातु विष्णुं त्वं पाह्यभि सवनानि पाहि॥२०॥

१. गत मन्त्र के तेतीस देवों का अधिष्ठान बननेवाले व्यक्ति के लिए कहते हैं कि तू **उपयामगृहीतः असि** =प्रभु-उपासना के द्वारा यम-नियमों को धारण करनेवाला बना है। २. **आग्रयणः असि**=(अग्रे अयनं यस्य) तू अग्रगतिवाला है **सु आग्रयणः**=बड़ी उत्तमता से आगे बढ़नेवाला है। ३. तू अपने जीवन में **यज्ञं पाहि**=यज्ञ की रक्षा कर। तेरा जीवन यज्ञमय बना रहे। ४. **यज्ञपतिं पाहि**=तू यज्ञों के पालक प्रभु की रक्षा करनेवाला बन। प्रभु की रक्षा का अभिप्राय यह है कि तू इन यज्ञों को सिद्ध करके प्रभु को भूल न जाए। 'यज्ञपति विष्णु ही हैं' तूने इस बात को भूलना नहीं। ५. नहीं भूलने पर **विष्णुः**=सब यज्ञों के धारक प्रभु **त्वाम्**=तुझे **इन्द्रियेण**=(इन्द्रियं वीर्यम्) शक्ति से **पातु**=रक्षित करते हैं। ६. इसलिए **त्वम्**=तू **विष्णुं पाहि**=उस प्रभु की रक्षा कर। उस प्रभु को कभी भूल नहीं। ७. प्रभु को न भूलता हुआ तू शक्ति-सम्पन्न बनेगा और शक्ति-सम्पन्न बनकर **सवनानि** =यज्ञों को **अभिपाहि**= अन्दर-बाहर दोनों ओर सुरक्षित कर। बाहर के यज्ञ 'द्रव्ययज्ञ' हैं, अन्दर के यज्ञ 'ज्ञानयज्ञ'। तू दोनों को करनेवाला बन। ज्ञानयज्ञ उत्कृष्ट है। उसे तो करना ही है, पर द्रव्ययज्ञों की भी आवश्यकता है। द्रव्ययज्ञों से शरीर का शोधन होता है, ज्ञानयज्ञों से आत्मा का, अतः आग्रयण दोनों ही यज्ञों को करता है।

भावार्थ—हमारा जीवन यज्ञमय हो, परन्तु हमें उन यज्ञों का गर्व न हो जाए। 'प्रभु ही सब यज्ञों के पति हैं' इस बात को हम भूलें नहीं।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। **देवता**—सोमः। **छन्दः**—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्[क], याजुषीजगती[र]। **स्वरः**—धैवतः[क], निषादः[र]॥

पवित्रता

[क]सोमः पवते सोमः पवतेऽस्मै ब्रह्मणेऽस्मै क्षत्रायास्मै सुन्वते यजमानाय पवतऽइषऽऊर्जे पवतेऽद्भ्यऽओषधीभ्यः पवते द्यावापृथिवीभ्यां पवते सुभूताय पवते विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यऽ [र]एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः॥२१॥

१. गत मन्त्र की मुख्य भावना यह है कि प्रभु ही सब यज्ञों के पति हैं। वस्तुतः जीव से समय-समय पर किये जानेवाले सब यज्ञों को करने की शक्ति उसे प्रभु ही देते हैं। प्रभु ने हमारे शरीरों में सोम-निर्माण की व्यवस्था की है। यह **सोमः**=सोम **पवते**=हमारे जीवनों को पवित्र करता है। इस वीर्य के द्वारा शरीर नीरोग रहता है, मन बुराइयों से बचा रहता है और मस्तिष्क दीप्त ज्ञानाग्निवाला बनता है। एवं, सोम शरीर, मन व मस्तिष्क सभी

को पवित्र बनाता है। २. **अस्मै ब्रह्मणे**=इस ज्ञान के लिए **सोम:**=सोम **पवते** =हमें पवित्र करता है, **अस्मै क्षत्राय**=इन क्षतों से त्राण करनेवाले, रोगों के आघातों से बचानेवाले, बल के लिए यह सोम हमें पवित्र करता है तथा **अस्मै सुन्वते यजमानाय**=इस ऐश्वर्य का सम्पादन करनेवाले (सुवानाय) यजमान के लिए यह सोम हमें पवित्र करता है। इस सोम की रक्षा से जहाँ हम ऐश्वर्य कमाने की योग्यतावाले होते हैं, वहाँ उसका यज्ञों में विनियोग करने की रुचिवाले होते हैं। ३. यह सोम **पवते**=हममें गति करता हुआ हमारे जीवनों को पवित्र बनाता है, जिससे **इषे**=हम प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाले बनें और **ऊर्जे**=बल तथा प्राणशक्ति से युक्त होकर उस प्रेरणा को क्रियारूप में ला सकें।

४. यह सोम हमारे अन्दर **अद्भ्य:**=जलों से तथा **ओषधीभ्य:**=वनस्पतियों से ही **पवते**=पवित्रता का सञ्चार करता है। जलों व वनस्पतियों से उत्पन्न वीर्य ही सात्त्विक वीर्य है। वही हमारे जीवनों को पवित्र करता है। मांसाहार से उत्पन्न वीर्य इस पवित्रता का साधक नहीं होता। इसे वेद में **'उष्णं वा:'**=उष्ण वीर्य कहा गया है और इसका शरीर में सुरक्षित होना सुगम नहीं है। ५. यह जलों व ओषधियों से उत्पन्न सोम **द्यावापृथिवीभ्याम्**=हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक को ज्योतिर्मय तथा शरीररूप पृथिवी को दृढ़ बनाने के लिए **पवते**=हममें गति करता है। ६. इस प्रकार **सुभूताय**=यह सोम उत्तम स्थिति के लिए अथवा उत्तम ऐश्वर्य के लिए **पवते**=हममें गति करता है। ७. ठीक-ठीक बात यह है कि यह सोम **विश्वेभ्य: देवेभ्य:**=सब दिव्य गुणों के लिए **त्वा**=तुझे **पवते**=पवित्र कर देता है। ८. **एष: ते योनि:**=यह सोम ही तेरी सब उन्नतियों का कारण है। यही **त्वा**=तुझे **विश्वेभ्य: देवभ्य:**=सब दिव्य गुण प्राप्त कराता है।

भावार्थ—शरीर के अन्दर जलों व ओषधियों से उत्पन्न वीर्य 'ज्ञान-बल-ऐश्वर्य' को बढ़ानेवाला होता है। यह शरीर व मस्तिष्क दोनों को सुन्दर बनाता हुआ सब दिव्य गुणों को प्राप्त कराता है।

ऋषि:—अवत्सार: काश्यप:। **देवता**—विश्वेदेवा:। **छन्द:**—विराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वर:**—धैवत:॥

दिव्यता व यज्ञमय जीवन

उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा बृहद्वते वयस्वतऽउक्थाव्यं गृह्णामि।
यत्तऽइन्द्र बृहद्वयस्तस्मै त्वा विष्णवे त्वैष ते योनिरुक्थेभ्यस्त्वा
देवेभ्यस्त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि॥२२॥

१. गत मन्त्र में जलों व ओषधियों से उत्पन्न सोम का वर्णन था। उसी का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **उपयामगृहीत: असि**=प्रभु-उपासन के द्वारा तू यम-नियमों से स्वीकृत है। मैं **त्वा**=तुझे, जो तू **उक्थाव्यम्**=(उक्थम् अवति) प्रशंसनीय वस्तुओं की रक्षा करनेवाला है **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। क्यों? (क) **इन्द्राय**=परमैश्वर्य की प्राप्ति के लिए अथवा शत्रुओं के विदारण के लिए। सोम की रक्षा से ही ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान का ऐश्वर्य प्राप्त होता है, और हम रोगकृमि आदि शत्रुओं का संहार करनेवाले बनते हैं। (ख) **बृहद्वते**=(बृहन्ति प्रशस्तानि कर्माणि विद्यन्ते यस्मिन्) प्रशस्त कर्मोंवाले जीवन के लिए। सोमरक्षा से हमारी प्रवृत्तियाँ सुन्दर बनी रहती हैं और परिणामत: हमारे कार्य भी सुन्दर होते हैं। (ग) **वयस्वते**=प्रशस्त जीवन के लिए। 'सोम रक्षा से ज्ञान व स्वास्थ्य की वृद्धि होकर जीवन उत्तम बनता है' इस बात में तो सन्देह है ही नहीं। २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो!

यत्=जो **ते**=तेरा **बृहद्वयः**=वृद्धिशील जीवन है **तस्मै**=उसके लिए मैं **त्वा**=आपको स्वीकार करता हूँ। **विष्णवे त्वा**=(यज्ञो वै विष्णुः) अपने जीवन को यज्ञात्मक रखने के लिए मैं आपको स्वीकार करता हूँ। **एषः ते योनिः**=यह सोम ही आपकी प्राप्ति का कारण है। ३. मैं **उक्थेभ्यः**=स्तोत्रों के लिए, प्रशंसनीय कर्मों के लिए **त्वा**=तुझे **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **त्वा**=तुझे **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। **देवाव्यम्**=(देवान् अवति) दिव्य गुणों की रक्षा करनेवाले तुझे **यज्ञस्य**=यज्ञ के **आयुषे**=जीवन के लिए **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ, अर्थात् सोम की रक्षा के द्वारा मैं दिव्यता का साधन करता हुआ यज्ञमय जीवन बिताता हूँ।

भावार्थ—सोमरक्षा के द्वारा मेरा जीवन दिव्य व यज्ञमय बनता है।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—अनुष्टुप्[१], प्राजापत्यानुष्टुप्[२], स्वराट्साम्न्यनुष्टुप्[३], भुरिगार्चीगायत्री[४], भुरिक्साम्न्यनुष्टुप्[५]। **स्वरः**—गान्धारः[१,२,३,५], षड्जः[४]॥

'अग्नि-वरुण-बृहस्पति-विष्णु'

[१]मित्रावरुणाभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीन्द्राय त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामी[२]न्द्राग्निभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामी[३]न्द्रावरुणाभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामी[४]न्द्राबृहस्पतिभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामी[५]न्द्राविष्णुभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि॥ २३॥

१. पिछले मन्त्र की भावना को ही आगे चलाते हुए कहते हैं कि हे सोम! **देवाव्यम्**=दिव्य गुणों की रक्षा करनेवाले **त्वा**=तुझे **मित्रावरुणाभ्याम्**=स्नेह तथा द्वेष निवारण के लिए और इस प्रकार **यज्ञस्य आयुषे** =यज्ञमय जीवन के लिए **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ, अर्थात् सोम की रक्षा से जहाँ मुझमें दिव्यता व यज्ञ की वृद्धि होती है वहाँ मेरा जीवन स्नेहवाला (मित्र) तथा द्वेष का निवारण करके (वरुण) निर्द्वेषता से पूर्ण होता है। २. हे सोम! **देवाव्यं त्वा**=दिव्य गुणों की रक्षा करनेवाले तुझे **इन्द्राय**=जितेन्द्रियता के लिए, ज्ञानरूप परमैश्वर्य के लिए तथा **यज्ञस्य आयुषे**=यज्ञमय जीवन के लिए **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ, अर्थात् इस सोम की रक्षा से मैं ज्ञानरूप परमैश्वर्य को सिद्ध करता हूँ। ३. हे सोम! **देवाव्यं त्वा**=दिव्य गुणों की रक्षा करनेवाले तुझे **इन्द्राग्निभ्याम्**=बल व प्रकाश के लिए, और इस प्रकार **यज्ञस्य आयुषे**=यज्ञमय जीवन के लिए **गृह्णामि** =ग्रहण करता हूँ। इस सोम की रक्षा से मुझमें 'इन्द्र और अग्नि' का विकास होता है। इन्द्र 'बल' का प्रतीक है तो अग्नि 'प्रकाश' का। ४. हे सोम! **देवाव्यं त्वा**=दिव्य गुणों की रक्षा करनेवाले तुझे **इन्द्रावरुणाभ्याम्**=इन्द्र और वरुण के लिए, अर्थात् सब शत्रुओं का विदारण करने और श्रेष्ठ बनने के लिए **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। सोम के धारण से मुझमें बल की वृद्धि होती है। मैं कामादि शत्रुओं का संहार करता हूँ। इस प्रकार श्रेष्ठ बनता हूँ और **यज्ञस्य आयुषे**=मेरा जीवन यज्ञ का जीवन होता है।

५. हे सोम! **देवाव्यं त्वा**=दिव्य गुणों के रक्षक तुझे **इन्द्राबृहस्पतिभ्याम्**=इन्द्र और बृहस्पति के लिए, अर्थात् शक्ति व ज्ञान के लिए **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। इस शक्ति व ज्ञान को **यज्ञस्य आयुषे**=यज्ञमय जीवन के लिए ग्रहण करता हूँ। ६. **देवाव्यं त्वा**=हे दिव्य गुणों के रक्षक सोम! तुझे **इन्द्राविष्णुभ्याम्**=इन्द्र और विष्णु के लिए—शक्तिशाली व व्यापक हृदयवाला बनने के लिए और शक्ति व उदारता से **यज्ञस्य**=यज्ञ के **आयुषे**=जीवन के लिए **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। ७. 'अग्नि' प्रकाश का सूचक है अथवा मलों को भस्म करने का

प्रतीक है। 'वरुण'=द्वेष-निवारण की सूचना दे रहा है, द्वेष-निवारण से ही मनुष्य श्रेष्ठ बनता है। 'बृहस्पति'=सर्वोच्च दिशा का अधिपति है, यह ज्ञानियों का भी ज्ञानी है। 'विष्णु' सबका धारक है। यह व्यापकता व उदारता का प्रतीक है। 'इन्द्र' इन सबके साथ जुड़ा हुआ है, यह शक्ति का प्रतीक है। 'अग्नित्व' आदि गुण शक्ति के साथ ही कार्यक्षम होते हैं। इन सब गुणों का मूल यह सोम है।

भावार्थ—हम सोमरक्षा के द्वारा 'अग्नि-वरुण-बृहस्पति व विष्णु' बनें। हममें इन्द्रशक्ति का विकास हो। हम सोम की रक्षा करनेवाले 'अवत्सार' बनें।

ऋषिः—भरद्वाजः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

'भारद्वाज बार्हस्पत्य'

मूर्द्धानं दिवोऽअरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृतऽआजातमग्निम्।
कविःसम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः॥२४॥

पिछले मन्त्रों का ऋषि 'अवत्सार' सोम की रक्षा करने के द्वारा 'भरद्वाज'=अपने में शक्ति को भरनेवाला 'बार्हस्पत्यः'=ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी बनता है। सोम को गत मन्त्र में 'देवाव्यम्'=दिव्य गुणों की रक्षा करनेवाला कहा है। **देवाः**=सोमरक्षा से सुरक्षित हुए-हुए ये देव **जनयन्त**=मनुष्य को प्रादुर्भूत करते हैं। किस रूप में? १. **मूर्धानं दिवः**=ज्ञान के शिखर को। सोमरक्षा से यह अपनी ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है और उस दीप्त ज्ञानाग्नि से यह ज्ञान के शिखर पर पहुँचता है। २. **पृथिव्याः अरतिम्**=ज्ञानाग्नि के प्रदीप्त होने से यह पार्थिव भोगों के प्रति अत्यन्त लालायित नहीं होता। ज्ञानाग्नि में काम भस्म हो जाता है और यह ज्ञानी सांसारिक भोगों के प्रति रुचिवाला नहीं रहता। ३. ज्ञानी व अनासक्त बनकर यह **वैश्वानरम्**=सब मनुष्यों के हित के लिए कार्यों में प्रवृत्त रहता है। ४. **ऋते आजातम्**=यह ऋत में ही उत्पन्न हुआ होता है, अर्थात् इसके सब कार्य सूर्य और चन्द्रमा की भाँति नियमितता को लिये हुए होते हैं। ५. **अग्निम्**=नियमित जीवन बिताते हुए यह आगे और आगे बढ़ता चलता है। ६. **कविम्**=यह 'कौति सर्वा विद्याः'=सब विद्याओं का उपदेश करता है। ७. **सम्राजम्**=यह अपना सम्राट् होता है, इन्द्रियों का पूर्ण अधीश होता है। ८. **जनानाम् अतिथिम्**=लोगों के प्रति निरन्तर जानेवाला होता है। उनके अज्ञानान्धकार को दूर करने का सतत प्रयत्न करता है। ९. **आसन् आपात्रम्**=मुख के द्वारा यह समन्तात् रक्षा करनेवाला होता है। मुख के द्वारा यह औरों पर ज्ञान का प्रकाश करता है और इस प्रकार उनकी रक्षा करता है।

भावार्थ—सोमरक्षा के द्वारा हम स्वयं ज्ञान के शिखर पर पहुँचें तथा औरों को यह ज्ञान देकर उनकी रक्षा करनेवाले बनें।

ऋषिः—भरद्वाजः। **देवता**—वैश्वानरः। **छन्दः**—याजुष्यनुष्टुप्[क], विराडार्षीबृहती[र,३]।
स्वरः—गान्धारः[क], मध्यमः[र,३]॥

भरद्वाज का प्रभुभजन (उपासना व प्रेम)

[क]उपयामगृहीतोऽसि [र]ध्रुवोऽसि ध्रुवक्षितिर्ध्रुवाणां ध्रुवतमोऽच्युतानामच्युतक्षित्तमऽएष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा। [३]ध्रुवं ध्रुवेण मनसा वाचा सोममवनयामि। अथा नऽइन्द्रऽ इद्विशोऽसपत्नाः समनसस्करत्॥२५॥

गत मन्त्र का 'भरद्वाज' प्रस्तुत मन्त्र में निम्न शब्दों में प्रभु का उपासन करता है—१. हे प्रभो! **उपयामगृहीतः असि**=उपासना के द्वारा यम-नियमों के धारण से आप गृहीत होते हो, अर्थात् वही व्यक्ति आपका ग्रहण कर पाता है जो प्रातः-सायं आपके चरणों में बैठकर यम-नियमों को अपनाने का प्रयत्न करता है। २. **ध्रुवः असि**=हे प्रभो। आप ध्रुव हो! **ध्रुवक्षितिः**=(ध्रुवाः क्षितयो यस्मिन्) आपमें ही ये सब लोक-लोकान्तर ध्रुव हैं, स्थिर हैं। **ध्रुवाणां ध्रुवतमः**=हे प्रभो! आप ध्रुवों में भी ध्रुव हो। **अच्युतानाम्**=(च्युतिर क्षरणे) न नष्ट होनेवालों में **अच्युतक्षित्तमः**=आप अत्यन्त अविनश्वर निवासवाले हो। प्रकृति अविनश्वर है, परन्तु यह सदा विकृत होती रहती है। 'प्रकृति-विकृति' यह इसका क्रम ही हो गया है। जीव भी अविनश्वर है, परन्तु यह भी विविध भूमिकाओं में जाता रहता है। कभी गौ है तो कभी घोड़ा, कभी कोई पशु-पक्षी और कभी मनुष्य। प्रभु सदा 'एकरस' हैं, स्थाणु हैं, अचल हैं। उस अचल प्रभु में ही ये चलाचल लोक ध्रुव-से होकर रह रहे हैं। **'अच्युतानाम्'**—इस मन्त्रभाग में यह भावना भी निहित है कि वे प्रभु न डिगनेवाले हैं। किसी के बहकाने से वे बहक जाएँगे ऐसी बात नहीं है। मनुष्यों की भाँति वे कान के कच्चे नहीं हैं। वे अपनी व्यवस्था के अनुसार चलते हैं, सभी का भला चाहते हैं। २. भरद्वाज प्रभु से कहते हैं कि **एषः ते योनिः**=यह मेरा हृदय तेरा घर है। मैं चाहता हूँ कि मेरा हृदय आपका मन्दिर हो। मैं उसे निर्मल व प्रकाशमय करने का प्रयत्न करूँ। **वैश्वानराय त्वा**=हे प्रभो! मैं आपको अपने हृदय-मन्दिर में इसलिए बिठाता हूँ कि मुझमें सब मनुष्यों के हित की भावना प्रबल हो। ३. **ध्रुवम्**=अत्यन्त स्थिर **सोमम्**=अत्यन्त शान्त आपको **ध्रुवेण मनसा**=स्थिर मन से, निरुद्ध चित्तवृत्तिवाले चित्त से तथा **वाचा**=ज्ञानपरिपूर्ण वेदवाणी से **अवनयामि**=अपने में अवतरित करने का प्रयत्न करता हूँ। ४. **अथ**=अब, जब मैं निरुद्धवृत्तिवाले मन से और ज्ञान की वाणियों से प्रभु को अपने हृदय-मन्दिर में अवतीर्ण करता हूँ, तब **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **नः विशः**=हम प्रजाओं को **इत्**=निश्चय से **असपत्नाः**=सपत्नशून्य, शत्रुरहित और **समनसः**=समान मनवाला **करत्**=करे। वस्तुतः जब हमारे हृदयों में प्रभु का निवास होता है, उस समय परस्पर विरोध सम्भव ही नहीं। प्रभु-स्मरण करनेवाले लोग परस्पर मैत्री से चलते हैं, उनमें वैरभाव नहीं होता।

भावार्थ—प्रभु यम-नियमों के पालन से गृहीत होते हैं। उस ध्रुवों में ध्रुव प्रभु को हम ध्रुव मन से ही प्राप्त कर सकते हैं। उस प्रभु का हृदय में प्रकाश होने पर सब वैरभाव समाप्त हो जाते हैं और प्रेम का प्रसार होता है। एवं, प्रस्तुत मन्त्र में १. प्रभु के स्वरूप का प्रतिपादन है, २. प्रभु-प्राप्ति के उपाय का वर्णन है, ३. और प्रभु-प्राप्ति के लाभों का उल्लेख है।

ऋषिः—देवश्रवाः। **देवता**—यज्ञः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः।।

देवों का उत्क्रमण

यस्ते द्रप्स स्कन्दति यस्तेऽअंशुर्ग्रावच्युतो धिषणयोरुपस्थात्। अध्वर्योर्वा परि वा यः पवित्रात्तं ते जुहोमि मनसा वषट्कृतꣳस्वाहा देवानामुत्क्रमणमसि॥२६॥

१. गत मन्त्र में प्रभु को हृदय में उतारने का वर्णन था। प्रभु का यह अवतरण सोमरक्षा से ही हो सकता है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि हे **द्रप्स**=सोम! **यः**=जो **ते**=तेरा **अंशुः**=छोटा-सा भी कण (small particle) **स्कन्दति**=ऊर्ध्वगतिवाला होता है (ascends)

और ऊर्ध्वगतिवाला होकर जो तेरा कण **ग्रावच्युतः** =(प्राणाः वै ग्रावाणः श०, च्युत्=सेचन) प्राणों का सेचन करनेवाला है। **तम्**=उस कण को **धिषणयोः**=द्यावापृथिवी के निमित्त अर्थात् मस्तिष्क व शरीर के विकास के लिए तथा **उपस्थात्**=जननेन्द्रिय के स्वास्थ्य के हेतु से **वा**=अथवा **अध्वर्योः**=अध्वर्यु के **पवित्रात्**=पवित्र हृदय के उद्देश्य से **ते**=तेरे अन्दर **परिजुहोमि**=सारे शरीर में आहुत करता हूँ। इस सोमकण को शरीर में ही व्याप्त करता हूँ। २. यह सोमकण **मनसा**=मन से **वषट्कृतम्**=शरीर में आहुति दिया जाता है, अर्थात् मनोनिरोध ही एक उपाय है जिससे यह सोम शरीर से पृथक् नहीं होता। ३. **स्वाहा**=(सुहु) शरीर में सुहुत हुआ-हुआ यह सोम **देवानाम्**=देवों का, दिव्य गुणों का, **उत् क्रमणम्**=ऊर्ध्वगति—उन्नति करनेवाला **असि**=होता है।

प्रभु ने शरीर में सोम की स्थापना इसलिए की है कि यह (क) सारे शरीर में प्राणशक्ति का सेचन करता है। (ख) मस्तिष्क को दीप्त करता है। (ग) शरीर को दृढ़ बनाता है। (घ) जननेन्द्रिय को स्वस्थ करता है। (ङ) हृदय को पवित्र व हिंसावृत्तिशून्य करता है और अन्त में (च) देवताओं के उत्थान का कारण बनता है।

इस सोमरक्षा से देवताओं का उत्थान करनेवाला यह 'देवश्रवाः' बनता है, देवताओं के निमित्त कीर्तिवाला।

भावार्थ—हम सोम की रक्षा करें, जिससे हममें प्राणशक्ति की वृद्धि हो और दिव्य गुणों का विकास हो।

ऋषिः—देवश्रवाः। **देवता**—यज्ञपतिः। **छन्दः**—आसुर्य्यनुष्टुप्[१,२,६] आसुर्य्युष्णिक्[३,७], साम्नीगायत्री[४], आसुरीगायत्री[५]। **स्वरः**—गान्धारः[१,२,६], ऋषभः[३,७], षड्जः[४,५]॥

वर्चस्

[१]प्राणाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व [२]व्यानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वो[३]दानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व [४]वाचे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व [५]क्रतूदक्षाभ्यां मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व [६]श्रोत्राय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व [७]चक्षुर्भ्यां मे वर्चोदसौ वर्चसे पवेथाम्॥ २७॥

पिछले मन्त्र के 'देवानामुत्क्रमणमसि' का ही व्याख्यान २७ व २८ मन्त्र में करते हैं। देवश्रवाः सोम को सम्बोधित करते हुए कहता है कि १. हे सोम! **मे प्राणाय**=मेरे प्राणों के लिए तू **वर्चोदाः**=वर्चस् देनेवाला है, अतः **वर्चसे**=प्राणशक्ति के लिए तू मुझे **पवस्व**=प्राप्त हो। २. **मे व्यानाय**=मेरी व्यानवायु के लिए तू **वर्चोदाः**=वर्चस् देनेवाला है। **वर्चसे**=व्यान की शक्ति के लिए तू **पवस्व**=मुझे प्राप्त हो। व्यानवायु ही सारे शरीर में गति करती हुई सब संस्थानों के कार्यों को ठीक प्रकार से चलाती है। ३. **मे उदानाय**=मेरे कण्ठदेश में काम करनेवाले उदानवायु के लिए तू **वर्चोदाः**=वर्चस् देनेवाला है। **वर्चसे**=उदान की शक्ति के लिए तू मुझे **पवस्व**=प्राप्त हो। ४. **मे वाचे**=मेरी वाणी के लिए तू **वर्चोदाः**=वर्चस् देनेवाला है। **वर्चसे**=मेरी वाक्शक्ति के लिए तू **पवस्व**=मुझे प्राप्त हो। ५. **मे क्रतुदक्षाभ्याम्**=(प्रज्ञाबलाभ्याम्—द०) मेरी प्रज्ञा व मेरे बल के लिए **वर्चोदाः**=तू वर्चस् देनेवाला है। **वर्चसे**=मेरी प्रज्ञाशक्ति के लिए तथा शारीरिक शक्ति के लिए तू **पवस्व**=मुझे प्राप्त हो। ६. **मे श्रोत्राय**=मेरे कान के लिए **वर्चोदाः**=तू शक्ति देनेवाला है। **वर्चसे**=श्रोत्रशक्ति के लिए तू **पवस्व**=मुझे प्राप्त हो। ७. **मे चक्षुर्भ्याम्**=मेरी आँखों के लिए तुम **वर्चोदसौ** =शक्ति को

देनेवाले हो। **वर्चसे**=दृष्टिशक्ति के लिए **पवेथाम्**=मुझे प्राप्त होओ अथवा पवित्र करो। यहाँ सारे मन्त्र में इस अन्तिम वाक्य में ही 'वर्चोदसौ' यह द्विवचन का प्रयोग है, क्योंकि 'चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ' इस वाक्य के अनुसार आँखों में चन्द्र व सूर्यशक्ति का निवास है। इस शक्तिद्वय के कारण यहाँ द्विवचन है। सूर्य यदि 'तेजस्' का प्रतीक है तो चन्द्र 'प्रसाद' का। आँखों में तेजस्विता व प्रसाद दोनों ही होने चाहिएँ। इसी दृष्टिकोण से द्विवचन है।

भावार्थ—सोम 'प्राण-व्यान-उदान-वाणी-प्रज्ञा और बल-श्रोत्र व चक्षु' को वर्चस् प्राप्त करानेवाला है।

ऋषिः—देवश्रवाः। **देवता**—यज्ञपतिः। **छन्दः**—ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

सर्वांगीण विकास

आत्मने मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वौजसे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वायुषे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व विश्वाभ्यो मे प्रजाभ्यो वर्चोदसौ वर्चसे पवेथाम्॥२८॥

१. हे सोम! **मे आत्मने**=मेरे मन के लिए तू **वर्चोदाः**=वर्चस् देनेवाला है। तू **वर्चसे**=मन की शक्ति के लिए **पवस्व**=मुझे प्राप्त हो। २. **मे ओजसे**=मेरे ओजस्तत्त्व के लिए, शरीर की वृद्धि के कारणभूत तत्त्व के लिए **वर्चोदाः**=तू वर्चस् को देनेवाला है। **वर्चसे**=इस ओजस्तत्त्व को शक्तिशाली बनाने के लिए तू **पवस्व** =मुझे प्राप्त हो अथवा मुझे पवित्र कर। ३. **मे आयुषे**=मेरे जीवन के लिए तू **वर्चोदाः**=वर्चस् देनेवाला है। **वर्चसे**=मेरे जीवन को शक्ति-सम्पन्न बनाने के लिए **पवस्व**=तू मुझे प्राप्त हो। ४. **मे**=मेरी **विश्वाभ्यः** =सब **प्रजाभ्यः**=विकास-शक्तियों के लिए **वर्चोदसौ**=तुम वर्चस् देनेवाले हो। **वर्चसे**=इस मेरे वर्चस् के लिए **पवेथाम्**=मुझे प्राप्त होओ या पवित्र करो।

भावार्थ—सोम की रक्षा से मन बलवान् होता है, शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों को बढ़ानेवाली शक्ति पुष्ट होती है, जीवन स्फूर्तिमय बनता है और सब शक्तियों का विकास होता है। शारीरिक, मानस व बौद्धिक-विकास का मूल यह सोम ही है।

ऋषिः—देवश्रवाः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—आर्चीपङ्क्तिः[क], भुरिक्साम्नीपङ्क्तिः[र]। **स्वरः**—पञ्चमः॥

देवश्रवा का प्रभुस्तवन

[क]कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि। यस्य ते नामामन्महि यं त्वा सोमेनातीतृपाम। [र]भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याᳬसुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः॥२९॥

१. सोम के महत्त्व को समझता हुआ 'देवश्रवाः' प्रभु-स्मरण को सोमरक्षा का प्रमुख साधन जानकर प्रभु की आराधना करता है कि **कः असि**=हे प्रभो! आप आनन्दमय हो **क-तमः असि**=अत्यन्त आनन्दमय हो। २. **कस्य असि**=आप आनन्दमय के हो, अर्थात् आप उसे ही प्राप्त होते हो जो अपनी चित्तवृत्तियों को वशीभूत करके सदा प्रसन्न रहता है। ३. **को नाम असि**=हे प्रभो! आप 'क' अर्थात् आनन्दमय नामवाले हो। **यस्य ते**=जिन आपके **नाम**=नाम का **अमन्महि**=हम सदा चिन्तन करते हैं। ४. हे प्रभो! आप वे हैं **यं त्वा**=जिन आपको **सोमेन**=सोम के द्वारा **अतीतृपाम**=हम प्रीणित करते हैं। प्रभु ने हमें सोम ही सर्वोत्तम वस्तु प्राप्त करायी है। यह सोम हमारे जीवनों को आनन्दमय व उल्लासमय बनाता है और हम उस आनन्दमय प्रभु के अधिक समीप पहुँच जाते हैं। ५. हे प्रभो! इस सोमरक्षा के द्वारा **भूः**=मैं स्वस्थ बनूँ, **भुवः**=मैं ज्ञानी बनूँ, **स्वः** =मैं जितेन्द्रिय—'स्वयं राजमान'

होऊँ। **प्रजाभिः**=प्रजाओं से मैं **सुप्रजाः स्याम्**=उत्तम प्रजाओंवाला होऊँ। ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले पति-पत्नी उत्तम सन्तान प्राप्त करते हैं। **वीरैः**=वीरों से मैं **सुवीरः**=उत्तम वीरोंवाला बनूँ। **पोषैः**=धनों के पोषण से **सुपोषः**=उत्तम पोषणवाला होऊँ, अर्थात् मेरी सन्तान उत्तम हो, मैं स्वयं वीर होऊँ और मेरा धन उत्तम उपायों से कमाया जाए।

भावार्थ—आनन्दमय प्रभु की उपासना हम 'मनःप्रसाद' को सिद्ध करके ही कर सकते हैं। प्रभु-उपासन से सोमरक्षा होती है। सोमरक्षा से प्रभु का प्रीणन होता है। हम स्वस्थ, ज्ञानी व जितेन्द्रिय बनते हैं। उत्तम प्रजावाले, वीर व उत्तम धनोंवाले होते हैं।

ऋषिः—देवश्रवाः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—साम्नीगायत्री[१,३,४,५,९,११], आसुर्यनुष्टुप्[२,६,१०,१२], याजुषीपङ्क्तिः[७,८], आसुर्युष्णिक्[१३]। **स्वरः**—षड्जः[१,३,४,५,९,११], गान्धारः[२,६,१०,१२], पञ्चमः[७,८], ऋषभः[१३]॥

बारह मास प्रभु-चिन्तन

[१]उपयामगृहीतोऽसि मधवे [२]त्वोपयामगृहीतोऽसि माधवाय [३]त्वोपयामगृहीतोऽसि शुक्राय [४]त्वोपयामगृहीतोऽसि शुचये [५]त्वोपयामगृहीतोऽसि नभसे [६]त्वोपयामगृहीतोऽसि नभस्याय [७]त्वोपयामगृहीतोऽसीषे [८]त्वोपयामगृहीतोऽस्यूर्जे [९]त्वोपयामगृहीतोऽसि सहसे [१०]त्वोपयामगृहीतोऽसि सहस्याय [११]त्वोपयामगृहीतोऽसि तपसे [१२]त्वोपयामगृहीतोऽसि तपस्याय [१३]त्वोपयामगृहीतोऽस्यꣳहसस्पतये त्वा॥३०॥

देवश्रवा प्रभु का आराधन करता हुआ कहता है कि—१. हे प्रभो! आप **उपयामगृहीतः असि**=उपासना के द्वारा धारित यम-नियमों से ग्रहण किये जाते हैं। जो व्यक्ति जीवन में यम-नियमों का पालन करता है, उसी को आप प्राप्त होते हैं। **मधवे त्वा**=मैं मधुमास के लिए आपका स्वीकार करता हूँ। वर्ष को प्रारम्भ करनेवाले चैत्र मास में मैं आपको हृदाकाश में बिठाने का प्रयत्न करता हूँ। इस मधुमास में आपको स्वीकार करते हुए मैं सचमुच **मधु**=माधुर्य को प्राप्त करता हूँ। मेरा जीवन माधुर्यमय बनता है। २. हे प्रभो! आप **उपयामगृहीतः असि**=उपासना द्वारा धारित यम-नियमों से गृहीत होते हैं। **माधवाय त्वा**=मैं वैशाख मास के लिए आपको स्वीकार करता हूँ। आप स्वयं 'मा-धव' हैं। आपको प्राप्त करके लक्ष्मी को तो मैं प्राप्त कर ही लूँगा। ३. **उपयामगृहीतः असि**=आप उपयाम से गृहीत होते हैं। **शुक्राय त्वा**=ज्येष्ठ मास में हम आपको पाने का व्रत लेते हैं। आपको पाकर हम आपकी भाँति 'शुक् गतौ' निरन्तर गतिशील बनते हैं। लक्ष्मीपति बनकर हमें अकर्मण्य व आरामपसन्द थोड़े ही बन जाना है? ४. **उपयामगृहीतः असि**=हे प्रभो! आप उपयामगृहीत हैं। **शुचये त्वा**=आपको आषाढ़ मास के लिए स्वीकार करता हूँ। आपको स्वीकार करके मैं सचमुच 'शुचि'=पवित्र बनता हूँ। लक्ष्मी का पति बनकर मैं अर्थ के दृष्टिकोण से अपवित्र हृदयवाला नहीं बनता। ५. **उपयामगृहीतः असि**=हे प्रभो! आप उपयामगृहीत हैं। **नभसे त्वा**=श्रावण मास के लिए मैं आपको स्वीकार करता हूँ जिससे आपसे मिलकर (णभ हिंसायाम्) मैं इन बुराइयों को मूल में ही समाप्त कर सकूँ (Nip the evil in the bud)। ६. **उपयामगृहीतः असि**=हे प्रभो! आप उपयामगृहीत हैं। **नभस्याय त्वा**=भाद्रपद मास के लिए मैं आपको स्वीकार करता हूँ, (न भस्=to revile, blame, abuse+य) मैं गाली देने में ही उत्तम न बना रहूँ। आपका उपासक बनकर किसी से घृणा न करूँ। किसी के दोष न देखूँ। (न+भस् to eat+य) अथवा खाने में ही उत्तम न बना रहूँ। पार्थिव भोग मेरे जीवन का लक्ष्य न हो जाएँ। ७. **उपयामगृहीतः असि**=आप उपयामगृहीत हैं। **इषे त्वा**=मैं आश्विन मास के लिए

आपको स्वीकार करता हूँ, जिससे सदा आपकी प्रेरणा को पाता रहूँ। ८. **उपयामगृहीतः असि**=आप उपयामगृहीत हैं। **ऊर्जे त्वा** =कार्त्तिक मास के लिए मैं आपका स्वीकार करता हूँ, जिससे मैं (ऊर्ज् बलप्राणनयो:) बल और प्राणशक्ति प्राप्त का सकूँ। ९. **उपयामगृहीतः असि**=आप सुनियमों से स्वीकृत होते हो। **सहसे त्वा**=मैं मार्गशीर्ष मास के लिए आपको स्वीकार करता हूँ, जिससे मेरे अन्दर सहस्=सहनशक्ति (toleration) हो। १०. **उपयामगृहीतः असि**=हे प्रभो! आप सुनियमों से स्वीकृत हो **सहस्याय त्वा**=हम पौष मास के लिए आपको स्वीकार करते हैं, इसलिए कि हम (सहसि साधु:) उत्तम बलवाले हो सकें। ११. **उपयामगृहीतः असि**=हे प्रभो! आप सुनियमों से स्वीकार किये जाते हो। **तपसे त्वा**=माघ मास के लिए हम आपको स्वीकार करते हैं, जिससे हमारा जीवन तपस्वी हो। १२. **उपयामगृहीतः असि**=आप उपयामगृहीत हो। **तपस्याय त्वा**=फाल्गुन मास के लिए हम आपको स्वीकार करते हैं, जिससे हमारा जीवन सुनियम में स्थित हो। (तपस्या नियमस्थिति:) हम सदा मर्यादा में चलनेवाले हों। १३. **उपयामगृहीतः असि**=आप उपयामगृहीत हो। **अहंसस्पतये त्वा**=इस तेरहवें मलमास के लिए भी हम आपको ही स्वीकार करते हैं, जिससे हम अंहस् पापों से अपनी रक्षा (पति) कर सकें। आपका स्मरण हमें सदा पापों से बचानेवाला हो।

भावार्थ—यदि हम देवश्रवा:=दिव्य गुणों के कारण कीर्तिवाले बनना चाहते हैं तो हम वर्ष के सभी मासों में प्रभु का स्मरण करनेवाले बनें। यह स्मरण हमें दिव्य गुणों को धारण करनेवाला बनाएगा। हमारे जीवन में 'माधुर्य, लक्ष्मी, क्रियाशीलता, शुचिता, असुर-संहार, अपशब्दराहित्य, प्रभु-प्रेरणा श्रवण, बल व प्राणशक्ति, सहनशक्ति, उत्तम बल, तप, मर्यादा व पापदूरीकरण का निवास होगा।

ऋषि:—विश्वामित्र:। **देवता**—इन्द्राग्नी। **छन्द:**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वर:**—धैवत:॥

शक्ति व प्रकाश

इन्द्राग्नीऽआगतꣳसुतं गीर्भिर्नभो वरेण्यम्। अस्य पातं धियेषिता।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राग्निभ्यां त्वैष ते योनिरिन्द्राग्निभ्यां त्वा॥३१॥

१. गत मन्त्र के उपासक 'देवश्रवा:' में दिव्य गुणों की उत्पत्ति होती है। इन्हीं के कारण उसकी कीर्ति है। इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण प्रथम गुण 'माधुर्य' है। यह सबके साथ मधुरता व प्रेम से वर्तता है। प्रेम से वर्तने के कारण यह 'विश्वामित्र' बन जाता है। इसके जीवन में 'शक्ति' भी होती है, 'प्रकाश' भी। इन्हीं तत्त्वों को प्रस्तुत मन्त्र में 'इन्द्राग्नी' शब्द से कहा गया है। इनसे कहते हैं कि हे **इन्द्राग्नी**=शक्ति व प्रकाशवाले व्यक्तियो! **सुतम्**=शरीर में उत्पन्न इस सोम को **आगतम्**=प्राप्त होओ। वस्तुत: यह सुत सोम तुम्हें 'इन्द्राग्नी' बनानेवाला है। २. इस सोम की रक्षा के लिए तुम **गीर्भि:**=ज्ञान की वाणियों व प्रभु-स्तुति की वाणियों से **वरेण्यं नभ:**=वरणीय हिंसा को **आगतम्**=प्राप्त होवो। यह वरणीय=स्वीकारने योग्य हिंसा 'वासनाओं की हिंसा' है। ३. **धिया इषिता**=प्रज्ञापूर्वक कर्मों में प्रेरित हुए-हुए तुम **अस्य पातम्**=इस सोम की रक्षा करो। जब मनुष्य ज्ञान-सम्पादन करता है और ज्ञानपूर्वक कर्मों में व्यापृत रहता है तब वह वासनाओं का शिकार नहीं होता। यह वासनाओं का शिकार न होना ही हमें सोम की रक्षा में समर्थ करता है ४. विश्वामित्र प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! **उपयामगृहीतः असि**=आप सुनियमों के पालन से गृहीत होते हो।

इन्द्राग्निभ्यां त्वा=मैं बल व प्रकाश के लिए आपका उपासक बनता हूँ। **एषः ते योनिः**=यह मेरा हृदय (आत्मा) तेरा निवास-स्थान है, अर्थात् मैं अपने हृदय-मन्दिर में आपका ध्यान करता हूँ। **इन्द्रग्निभ्यां त्वा**=हे प्रभो! मैं आपका ध्यान इसलिए करता हूँ कि शक्ति व प्रकाश को प्राप्त करनेवाला बनूँ। शक्ति व प्रकाश को प्राप्त करके ही मैं अपने 'विश्वामित्र' नाम को चरितार्थ कर पाऊँगा।

भावार्थ—ज्ञान व स्तुति की वाणियों से तथा ज्ञानपूर्वक कर्म करने से हम सोम की रक्षा करें और सोमरक्षा द्वारा शक्ति व प्रकाश को प्राप्त करके सबके साथ स्नेह करनेवाले 'विश्वामित्र' बनें।

ऋषिः—त्रिशोकः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—आर्षीगायत्री[क], आर्च्युष्णिक्[र]। **स्वरः**—षड्जः[क], ऋषभः[र]॥

त्रि-शोक

[क]आ घा येऽअग्निमिन्धते स्तृणन्ति बर्हिरानुषक्। येषामिन्द्रो युवा सखा।
[र]उपयामगृहीतोऽस्यग्नीन्द्राभ्यां त्वैष ते योनिरग्नीन्द्राभ्यां त्वा॥३२॥

१. गत मन्त्र का 'विश्वामित्र' माधुर्यमय जीवन से 'शरीर के स्वास्थ्य', 'मन के नैर्मल्य' तथा 'मस्तिष्क की उज्ज्वलता' को सिद्ध करके 'त्रिशोक' बनता है, जिससे शरीर, मन व मस्तिष्क तीनों ही चमकते हैं। २. ये त्रिशोक वे होते हैं **ये**=जो **घ**=निश्चय से **आ**=सर्वथा **अग्निम्**=अग्नि को **इन्धते**=दीप्त करते हैं, अर्थात् नियमपूर्वक अग्निहोत्र करते हैं और प्रभु के प्रकाश को अपने में दीप्त करने का प्रयत्न करते हैं। ३. **ये**=जो **आनुषक्**=निरन्तर **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय को **स्तृणन्ति**=प्रभु के आसन के रूप में बिछाते हैं। यह निर्वासन हृदय ही प्रभु का 'कुशासन' बनता है। ४. त्रिशोक वे होते हैं **येषाम्**=जिनका **इन्द्रः**=ईश्वर **युवा**=(मिश्रण-अमिश्रण) बुराइयों का अमिश्रण करके अच्छाइयों का मिश्रण करनेवाला होता है और इस प्रकार **सखा**=सच्चा मित्र होता है। ५. त्रिशोक इस मित्र से कहता है कि **उपयामगृहीतः असि**=आप उपासना द्वारा धारित यम-नियमों से गृहीत होते हो। **अग्नीन्द्राभ्यां त्वा**=मैं प्रकाश व शक्ति के लिए आपको स्वीकार करता हूँ। **एषः ते योनिः**=यह मेरा हृदय तेरा निवास-स्थान है। **अग्नीन्द्राभ्यां त्वा**=प्रकाश व शक्ति के लिए मैं आपको स्वीकार करता हूँ। ६. पिछले मन्त्र में 'इन्द्राग्निभ्यां' था, प्रस्तुत मन्त्र में 'अग्नीन्द्राभ्यां' है। यह आगे-पीछे करके लिखना इस बात का सूचक है कि 'शक्ति व प्रकाश' उतने ही महत्त्व के हैं जितने कि 'प्रकाश व शक्ति'। प्रकाश व शक्ति दोनों ही समानरूप से इष्ट हैं।

भावार्थ—(क) मैं अग्निहोत्र करूँ तथा प्रभु का ध्यान भी। (ख) हृदय को वासनाशून्य बनाऊँ। (ग) प्रभु की मित्रता को प्राप्त करूँ। (घ) इस प्रभु को मित्र बनाकर हम विश्वबन्धुत्व की भावना का आनन्द लें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—आर्षीगायत्री[क], आर्चीबृहती[र]। **स्वरः**—षड्जः[क], मध्यमः[र]॥

मधुच्छन्दाः

[क]ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वे देवासऽआगत। दाश्वाꣳसो दाशुषः सुतम्।
[र]उपयामगृहीतोऽसि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यऽएष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः॥३३॥

गत मन्त्र का 'त्रिशोक' अत्यन्त उत्तम इच्छाओंवाला होने के कारण 'मधुच्छन्दाः'

बन जाता है। इनके लिए कहते हैं कि १. **ओमासः**=(अव् रक्षणे, अवन्ति सद्गुणै रक्षन्ति) सद्गुणों के धारण से अपनी रक्षा करनेवाले २. **चर्षणीधृतः**=मनुष्यों का धारण करनेवाले ३. **विश्वेदेवासः**=सब दिव्य गुणों को अपनानेवाले ४. **दाश्वांसः**=दान देनेवाले **दाशुषः सुतम्**=दानशील के ऐश्वर्य को **आगत**=प्राप्त होओ। दानशील के ऐश्वर्य को प्राप्त होने का अभिप्राय यह है कि तुम वह ऐश्वर्य प्राप्त करो जो तुम्हें कृपणता की वृत्तिवाला न बना दे, जिस धन को तुम उदारता से दान देनेवाले बने रहो। ५. हे प्रभो! **उपयायमगृहीतः असि**=आप उपयामों से गृहीत होते हो। **विश्वेभ्यः त्वा देवेभ्यः**=मैं आपका ग्रहण इसलिए चाहता हूँ कि दिव्य गुणों को प्राप्त करनेवाला बनूँ। **एषः ते योनिः**=यह मेरा शरीर तेरा निवास-स्थान है। मैं अपने शरीर में **त्वा**=आपको इसलिए प्रतिष्ठित करता हूँ कि **विश्वेभ्यः देवेभ्यः**=सब दिव्य गुणों को प्राप्त कर सकूँ।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम १. वासनाओं से अपना रक्षण करनेवाले हों। २. मनुष्यों का धारण करनेवाले हों। ३. दिव्य गुणोंवाले हों ४. दान की वृत्तिवाले हों। ५. दान की वृत्तिवाले के धन को प्राप्त हों। ६. इस प्रकार सब दिव्य गुणोंवाले हों।

ऋषिः—गृत्समदः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—आर्षीगायत्री[क], निचृदार्ष्युष्णिक्[र]। **स्वरः**—षड्जः[क], ऋषभः[र]॥

विश्वेदेवाः

[क]विश्वे देवास॒ऽआग॑त शृणु॒ता म॑ इ॒मꣳहव॑म्। एदं ब॒र्हिर्निषी॑दत। [र]उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि॒ विश्वे॑भ्यस्त्वा दे॒वेभ्य॑ऽए॒ष ते॒ योनि॒र्विश्वे॑भ्यस्त्वा दे॒वेभ्यः॑॥३४॥

गत मन्त्र का मधुच्छन्दा सब दिव्य गुणों को अपनाकर प्रभु का सच्चा उपासक 'गृत्स' बनता है और आनन्दमय जीवनवाला होने के कारण 'मद' होता है। यह 'गृत्समद' प्रार्थना करता है कि १. **विश्वे देवासः** =हे सब दिव्य गुणो! **आगत**=आओ। **मे**=मेरी **इमं हवम्**=इस पुकार को, इस प्रार्थना को **शृणुत**=सुनो और **इदम्**=इस **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय में **आनिषीदत**=सर्वथा विराजमान होओ। जब हृदय में से वासनाओं का कूड़ा-करकट दूर कर दिया जाता है तब यह हृदयक्षेत्र दिव्य गुणों के बीजवपन के लिए तैयार हो जाता है। यह दिव्य गुण-बीजवपन ही प्रभु का सच्चा उपासन है। उपासना का यह परिणाम कम-से-कम होना ही चाहिए। २. यह गृत्समद प्रभु से कहता है कि **उपयामगृहीतः असि**=आप उपयामों से गृहीत होते हैं। **विश्वेभ्यः त्वा देवेभ्यः**=सब दिव्य गुणों के लिए मैं आपको स्वीकार करता हूँ। **एषः ते योनिः** =यह शरीर तेरा निवास-स्थान है। मैं तुझे अपने हृदय-मन्दिर में प्रतिष्ठित करता हूँ। **विश्वेभ्यः त्वा देवेभ्यः** =सब दिव्य गुणों के लिए तुझे स्वीकार करता हूँ।

भावार्थ—हम प्रभु के उपासक बनें। सदा प्रसन्न रहें, जिससे सब दिव्य गुणों के पात्र हों।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्[क], आर्ष्युष्णिक्[र]। **स्वरः**—धैवतः[क], ऋषभः[र]॥

सोमपान

[क]इन्द्र॑ मरुत्वऽइ॒ह पा॑हि॒ सोमं॒ यथा॑ शार्या॒तेऽअपि॑बः सु॒तस्य॑। तव॒ प्रणी॑ती॒ तव॑ शूर॒ शर्म॒न्नावि॑वासन्ति क॒वयः॑ सुय॒ज्ञाः। [र]उ॒प॒या॒मगृ॑हीतो॒ऽसीन्द्रा॑य त्वा म॒रुत्व॑तऽए॒ष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य त्वा म॒रुत्व॑ते॥३५॥

१. 'गृत्समद'=प्रभु का स्तवन करता है और प्रसन्न रहता है। यह सभी के साथ स्नेह करता है, अतः 'विश्वामित्र' बन जाता है। इस विश्वामित्र के लिए कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता **मरुत्वः**=मरुतोंवाले! प्राणोंवाले, प्राणसाधना करनेवाले! **इह**=इस मानव-जीवन में तू **सोमं पाहि**=सोम की सुरक्षा कर। **यथा**=जिस प्रकार **शार्याते**=(शर्याभिः, निर्वृत्तानि कर्माणि व्याप्नोति—द०) कर्मों में निरन्तर व्याप्त होनेवाले विश्वामित्र! तू **सुतस्य अपिबः**=इस उत्पन्न सोम का पान कर। 'कर्मों में व्याप्त रहना' सोमपान का सर्वप्रथम साधन है। २. हे **शूर**=सब मलिनताओं की हिंसा करनेवाले सोम! **तव प्रणीती**=तेरे प्रकृष्ट **नयन**=प्रापण से, अर्थात् शरीर में तेरे पान से तथा **तव शर्मन्**=तेरी शरण में **कवयः**=ज्ञानी तथा **सुयज्ञाः**=उत्तम यज्ञों को करनेवाले **आविवासन्ति**=सब अज्ञानान्धकारों को दूर करते हैं। सोम की रक्षा से ज्ञानाग्नि दीप्त होती है। ३. **उपयामगृहीतः असि**=उपासना से धारित यम-नियमों से तू गृहीत होता है। मैं **त्वा**=तेरा ग्रहण **इन्द्राय मरुत्वते**=प्राण-साधनावाला जितेन्द्रिय पुरुष बनने के लिए करता हूँ। **एषः ते योनिः**=यह मेरा हृदय-मन्दिर तेरा निवास-स्थान बनता है। **त्वा**=तुझे मैं हृदय-मन्दिर में इसीलिए बिठाता हूँ कि **इन्द्राय मरुत्वते**=(मरुतः प्राणाः) मैं उत्तम प्राणोंवाला जितेन्द्रिय पुरुष बन पाऊँ।

भावार्थ—मैं सोमपान करके मरुत्वान् इन्द्र=प्रकृष्ट प्राणोंवाला, जितेन्द्रिय, परमैश्वर्यशाली पुरुष बनूँ।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्[१], आर्ष्युष्णिक्[२], साम्न्युष्णिक्[३]। **स्वरः**—धैवतः[१], ऋषभः[२,३]॥

कैसा राजा ?

[१]मरुत्वन्तं वृषभं वावृधानमकवारिं दिव्यꣳशासमिन्द्रम्। विश्वासाहमवसे नूतनायोग्रꣳसहोदामिह तꣳहुवेम। [२]उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वतऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते। [३]उपयामगृहीतोऽसि मरुतां त्वौजसे॥३६॥

१. गत मन्त्र में 'मरुत्वान् इन्द्र' बनने की कल्पना थी। 'यथा राजा तथा प्रजा' इस उक्ति के अनुसार प्रस्तुत मन्त्र में यह प्रार्थना करते हैं कि राजा भी 'मरुत्वान् इन्द्र' ही हो। 'माता-पिता, आचार्य, अतिथि व राजा' सब ऐसी वृत्ति के होंगे तब इनसे बनाये जानेवाले मनुष्य भी मरुत्वान् इन्द्र क्यों न होंगे, अतः कहते हैं कि **इह**=यहाँ—अपने राष्ट्र में **तं हुवेम**=उसे ही राजा होने के लिए पुकारते हैं जो (क) **मरुत्वन्तम्**=प्राणोंवाला है, प्राणसाधना के द्वारा जिसने प्राणों का विकास किया है (ख) **वृषभम्**=जो श्रेष्ठ है, शक्तिशाली है। (ग) **वावृधानम्**=निरन्तर उन्नति कर रहा है। (घ) **अकवारिम्**=(कु शब्दे से भाव में अप् करके कवः, कवं इयर्ति प्राप्नोति 'कवारिः') शब्द न करनेवाले, कम बोलनेवाले, व्यर्थ की काँय-काँय न करनेवाले। (ङ) **दिव्यम्**=प्रकाश में निवास करनेवाले (च) **शासम्**=अपना शासन करनेवाले (छ) **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय (ज) **विश्वासाहम्**=काम-क्रोध- लोभादि शरीर में घुस आनेवाली अवाञ्छनीय वासनाओं को कुचल डालनेवाले (झ) **उग्रम्**=तेजस्वी व उदात्त (ञ) **सहोदाम्**=सभी में बल का सञ्चार करनेवाले को राजा के रूप में **नूतनाय अवसे**=स्तुत्य रक्षण के लिए **हुवेम**=पुकारते हैं।

२. हे राजन्! **उपयामगृहीतः असि**=आप उपयामों से गृहीत हैं। आपका जीवन यम-नियमवाला है। मैं **त्वा**=आपको इसलिए ग्रहण करता हूँ कि **इन्द्राय मरुत्वते**=मैं उत्तम

प्राणोंवाला, जितेन्द्रिय पुरुष बन पाऊँ। राजा के अनुकरण में ही प्रजा चलती है। **एषः ते योनिः**=यह राष्ट्र तेरा घर है। यही तुझे जन्म देनेवाला है। **इन्द्राय त्वा मरुत्वते**=आपका स्वीकार हम इसीलिए करते हैं कि हम भी उत्तम प्राणोंवाले, जितेन्द्रिय पुरुष बन सकें। हे राजन्! **उपयामगृहीतः असि**=आपने अपने जीवन में सुनियमों को स्वीकार किया है। **मरुतां त्वा ओजसे**=हम आपको इसलिए स्वीकार करते हैं कि हम भी प्राणों का ओज प्राप्त कर सकें।

भावार्थ—इन्द्र, अर्थात् राजा 'मरुत्वान्' हो तो प्रजा भी प्राणों के बलवाली होती है।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्[क], प्राजापत्यात्रिष्टुप्[र]। **स्वरः**—धैवतः॥

सेनापति

[क]सजोषाऽइन्द्र सगणो मरुद्भिः सोमं पिब वृत्रहा शूर विद्वान्।
जहि शत्रूँ१॥ऽरप मृधो नुदस्वाथाभयं कृणुहि विश्वतो नः।
[र]उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वतऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते॥३७॥

१. गत मन्त्र के राजा के साथ मिलकर कार्य करनेवाला सेनापति है। राजा और सेनापति राष्ट्र के मुख्य अधिकारी हैं। आन्तरव्यवस्था का मुख्य दायित्व राजा पर है तो राष्ट्र की बाह्य शत्रुओं से रक्षा करने के लिए सेनापति ने सेना को सन्नद्ध रखना है। यह सेनापति भी जितेन्द्रिय होना चाहिए, अतः कहते हैं कि **इन्द्र**=हे शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले जितेन्द्रिय सेनापते! तू **सजोषाः**=राजा के साथ प्रीतिपूर्वक राष्ट्र की सेवा करनेवाला हो (जुषी प्रीतिसेवानयोः)। **सगणः**=अपने गणों के साथ, अपने सैन्यगणों के साथ **मरुद्भिः**=प्राणों की साधना के द्वारा **सोमं पिब**=तू सोम का पान करनेवाला हो। सोमशक्ति को शरीर में सुरक्षित करनेवाला हो **वृत्रहा**=ज्ञान के आवरणभूत काम को तू नष्ट करनेवाला हो। **शूर विद्वान्**=तू ज्ञानी हो, परन्तु तेरा ज्ञान शूरता से युक्त हो। तू अपने ज्ञान को शूरता से विशिष्ट करनेवाला हो। २. **शत्रून् जहि**=राष्ट्र के शत्रुओं की तू हिंसा कर। **मृधः**=क़ातिलों को **अपनुदस्व**=दूर भगानेवाला हो। ऐसी व्यवस्था करके **अथ**=अब **नः**=हमें **विश्वतः**=सब ओर से **अभयम्**=निर्भय **कृणुहि**=कीजिए। ३. **उपयामगृहीतः असि**=हे सेनापते! तू भी यम-नियमों से युक्त जीवनवाला हो। **त्वा**=तुझे **मरुत्वते इन्द्राय**=प्रशस्त प्राणोंवाले जितेन्द्रिय पुरुष के लिए हम चाहते हैं, अर्थात् तू प्राणसाधना करनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष हो। **एषः ते योनिः**=यह राष्ट्र ही तेरा घर है। **इन्द्राय त्वा मरुत्वते**=तुझे हम इसलिए स्वीकार करते हैं कि हम भी प्राणसाधनावाले जितेन्द्रिय पुरुष बन सकें।

भावार्थ—राजा की भाँति सेनापति भी, प्राणसाधाना करनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष हो। यही राष्ट्र की उत्तमता से रक्षा कर सकेगा।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्[क], प्राजापत्यात्रिष्टुप्[र]। **स्वरः**—धैवतः॥

प्रज्ञा-दीप्ति

[क]मरुत्वाँ२॥ऽइन्द्र वृषभो रणाय पिबा सोममनुष्वधं मदाय।
आसिञ्चस्व जठरे मध्वऽऊर्मिं त्वꣳराजासि प्रतिपत्सुतानाम्।
[र]उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वतऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते॥३८॥

राष्ट्र में राजा व सेनापति के उत्तम होने पर प्रजा का जीवन भी बड़ा सुन्दर बनता है, अतः कहते हैं कि १. **मरुत्वान्**=तू प्राणोंवाला है, तूने प्राणों की साधना करके उन्हें प्रशस्त बनाया है। २. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **वृषभः**=तू प्राणसाधना के परिणामरूप श्रेष्ठ बना है। ३. तू **रणाय**=रमणीयता के लिए **सोमं पिब**=सोम का पान कर। प्राणसाधना का यह स्वाभाविक परिणाम है कि शक्ति की ऊर्ध्वगति होती है और शक्ति के शरीर में व्याप्त होने से तू अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रमणीयतावाला होता है। ४. इस शक्ति के धारण से ही **अनुष्वधं मदाय**=(स्वधामनु, स्वधा=अन्न) अन्न के बाद तू हर्ष का अनुभव करता है। वीर्यरक्षा से पाचनशक्ति ठीक रहती है और भोजन के बाद व्यक्ति विशेष आनन्द का अनुभव करता है। ५. **जठरे**=अपने उदर में **मध्वः ऊर्मिं आसिञ्चस्व**=इन सोम की तरङ्गों को सिक्त कर। यौवन में इस सोम के उत्पादन से उसमें ज्वार-सी उठती है, उबाल-सा आता है। इन तरङ्गों को तू अपने अन्दर ही सिक्त करनेवाला हो। ६. **प्रतिपत्सुतानाम्**=(प्रतिपत्=चेतना) ज्ञान की वृद्धि के लिए उत्पन्न किये गये इन सोमों का **त्वम्**=तू **राजा असि**=शरीर में ही नियमन (regulate) करनेवाला है। इन सोमकणों ने तेरी ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर उसे प्रज्वलित रखना है। प्रभु ने इन्हें मुख्यरूप से इस चेतना के लिए ही उत्पन्न किया है। ७. इस प्रकार प्रेरणा दिया हुआ विश्वामित्र प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! **उपयामगृहीतः असि**=आप सुनियमों से स्वीकृत होते हो। **त्वा**=आपको मैं इसलिए उपासित करता हूँ कि **इन्द्राय मरुत्वते**=मैं प्राणसाधनावाला मरुत्वान् बन सकूँ। **एषः ते योनिः**=यह मेरा 'विग्रह'=शरीर आपका विशिष्ट गृह है। **त्वा**=आपको मैं यहाँ इसलिए आसीन करता हूँ कि **इन्द्राय मरुत्वते**=मैं प्राणसाधना द्वारा उत्तम प्राणोंवाला, जितेन्द्रिय पुरुष बन सकूँ।

भावार्थ—प्रभु ने हमारे जीवनों में सोम की स्थापना इसलिए की है कि हमारी प्रज्ञा में वृद्धि हो, हमारी ज्ञानाग्नि दीप्त हो।

ऋषिः—भरद्वाजः। **देवता**—प्रजासेनापतिः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः[क], साम्नीत्रिष्टुप्[र]। **स्वरः**—पञ्चमः[क], धैवतः[र]॥

इन्द्र से महेन्द्र

[क]महाँ२॥ऽइन्द्रो नृवदाचर्षणिप्राऽउत द्विबर्हाऽअमिनः सहोभिः।
अस्मद्र्यग्वावृधे वीर्यायोरुः पृथुः सुकृतः कर्तृभिर्भूत्।
[र]उपयामगृहीतोऽसि महेन्द्राय त्वैष ते योनिर्महेन्द्राय त्वा॥३९॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार जब विश्वामित्र सोमरक्षा द्वारा अङ्ग-प्रत्यङ्ग को रमणीय बनाता है और प्रज्ञा को दीप्त करता है तब वह प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'भरद्वाज' बन जाता है, अपने में शक्ति व ज्ञान को भरनेवाला। २. यह **महान्**=बड़ा बनता है, महनीय होता है। ३. **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता होता है ४. **नृवत्**=(नृ=नेता) औरों के लिए नेता के समान होता है, औरों का मार्गदर्शक बनता है। ५. **आचर्षणिप्राः**=मनुष्यों का समन्तात् पूरण करनेवाला होता है। ६. **उत**=और **द्विबर्हाः**=दोनों क्षेत्रों में, अर्थात् ज्ञान व शक्ति के दोनों स्थानों में बढ़ा हुआ होता है। ज्ञान के दृष्टिकोण से ऋषि, तो शक्ति के दृष्टिकोण से मल्ल। ७. **सहोभिः**=अपने बलों के कारण **अमितः**=अहिंसित होता है (मीञ् हिंसायाम्) अथवा अपने बलों से यह औरों की हिंसा करनेवाला नहीं बनता। ८. **अस्मद्र्यक्**=प्रभु कहते हैं कि (अस्मान् अञ्चति) यह वह व्यक्ति है जो हमारी ओर आ रहा है। ९. **वावृधे वीर्याय**=यह शक्ति के लिए निरन्तर बढ़ता चलता है। १०. **उरुः**=यह विशाल हृदयवाला

होता है। ११. **पृथुः**=विस्तृत शरीरवाला अथवा विशाल यशवाला व विस्तृत बलवाला (यशसा विपुलः, बलेन विस्तृतः—म०) १२. **कर्तृभिः**=अपने कर्त्तव्यों से **सुकृतः**=(शोभनं कृतं यस्य) उत्तम पुण्य कर्मोंवाला **भूत्**=होता है। १३. यह भरद्वाज प्रभु से प्रार्थना करता है कि **उपयामगृहीतः असि**=आप सुनियमों से स्वीकृत होते हो। **त्वा**=आपको मैं इसलिए उपासित करता हूँ कि **महेन्द्राय**=मैं महेन्द्र बन सकूँ। **एषः ते योनिः**=यह मेरा विग्रह (शरीर) आपका विशिष्ट गृह है। मैं **त्वा**=आपको इस गृह में प्रतिष्ठित करता हूँ जिससे **महेन्द्राय**=मैं भी महेन्द्र बन जाऊँ। ब्रह्म का उपासक 'ब्रह्म-सा' बन जाता है। उपासना में आगे और आगे बढ़ते हुए इन्द्र 'महेन्द्र'-सा बन जाता है।

भावार्थ—उपासना में आगे और आगे बढ़ते हुए मनुष्य इन्द्र से महेन्द्र बनने का यत्न करे।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—आर्षीगायत्री[क], विराडार्षीगायत्री[र]। **स्वरः**—षड्जः॥

वत्स

[क]महाँ२॥ऽइन्द्रो यऽओजसा पर्जन्यो वृष्टिमाँ२॥ऽइव। स्तोमैर्वत्सस्य वावृधे। [र]उपयामगृहीतोऽसि महेन्द्राय त्वैष ते योनिर्महेन्द्राय त्वा॥४०॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार इन्द्र से महेन्द्र बननेवाला व्यक्ति ही वस्तुतः प्रभु का उपासक है। इसका जीवन प्रभु का प्रतिपादन करनेवाला होता है। 'वदतीति वत्सः' इसी कारण यह 'वत्स' कहलाता है। यह प्रभु को निम्न रूप में देखता है। २. **महान्**=ये प्रभु महान् हैं। ३. **यः**=जो **ओजसा**=अपने ओज के कारण **इन्द्रः**=सब शत्रुओं का विदारण करनेवाले हैं। ४. और सब उपासकों के लिए **वृष्टिमान् पर्जन्यः इव**=बरसनेवाले बादल की भाँति हैं। जैसे यह बादल सब सन्ताप को समाप्त कर देता है, इसी प्रकार प्रभु के उपासक का चित्त भी शान्त होता है। ५. ये प्रभु **वत्सस्य**=अपने जीवन से प्रभु का प्रतिपादन करनेवाले के **स्तोमैः**=स्तुति-समूहों से **वावृधे**=बढ़ाये जाते हैं, अर्थात् स्तुति वही करता है जो प्रभु के उस गुण को अपने जीवन में धारण करने का प्रयत्न करता है। ६. हे प्रभो! **उपयामगृहीतः असि**=आप सुनियमों से स्वीकृत होते हो। **महेन्द्राय त्वा**=मैं भी इन्द्र से महेन्द्र बन सकूँ, इसलिए आपको स्वीकार करता हूँ। **एषः ते योनिः**=यह मेरा शरीर आपका घर है, मैं अपने हृदय-मन्दिर में आपको प्रतिष्ठित करता हूँ, **महेन्द्राय त्वा**=जिससे मैं महेन्द्र बन सकूँ। इन्द्र से महेन्द्र बनना ही मानव का लक्ष्य होना चाहिए।

भावार्थ—हम प्रभु की भाँति विशाल हृदय (महान्), शक्ति से शत्रुओं का विदारण करनेवाले (इन्द्र) और सबके सन्ताप को दूर करनेवाले (पर्जन्य), बनेंगे तभी प्रभु के प्रिय व 'वत्स' बन पाएँगे।

ऋषिः—प्रस्कण्वः। **देवता**—सूर्यः। **छन्दः**—भुरिगार्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

प्रस्कण्व

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यंᳫस्वाहा॥४१॥

गत मन्त्र का 'वत्स' प्रकृति से ऊपर उठकर प्रभु के गुणों को धारण करता है। यही बुद्धिमत्ता है। इस बुद्धिमत्ता के कारण यह 'प्रस्कण्व' (मेधावी) हो जाता है। ये **केतवः**=(केतुः=प्रज्ञा—नि० ३।९) प्रज्ञा के पुञ्ज ज्ञानी लोग **उत्**=निश्चय से इन प्राकृतिक भोगों से ऊपर उठकर (उत्=out) **त्यम्**=उस प्रसिद्ध **जातवेदसम्**=(जाते-जाते विद्यते—नि० ७।१९)

प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में वर्त्तमान **देवम्**=प्रकाशमय, सब-कुछ देनेवाले, चमकनेवाले और चमकानेवाले **सूर्यम्**=सबको हृदयस्थरूपेण कर्मों की प्रेरणा देनेवाले, सहस्र-सूर्यसम ज्योतिवाले उस प्रभु को **विश्वाय दृशे**=सब पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए **वहन्ति**=धारण करते हैं। प्रभु का ज्ञान होने पर ब्रह्माण्ड के सब पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। उपनिषद् में **'कस्मिन्नु खलु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति'** किसके ज्ञात होने पर यह सारा ब्रह्माण्ड ज्ञात हो जाता है? इस प्रश्न का उत्तर यही दिया है कि आत्मतत्त्व का ज्ञान होने पर ही ऐसा होता है। ब्रह्मातिरिक्त सब पदार्थों का ज्ञान 'शब्द-ब्रह्म' या अपराविद्या' है। इसके द्वारा ही वस्तुत: मनुष्य 'परब्रह्म' तक पहुँचता है। वहाँ पहुँच जाने पर ये सब ज्ञान अनायास हो जाते हैं।

भावार्थ—हम अपने इस मानव-जीवन को इसी प्रकार सफल कर सकते हैं कि प्रकृति से ऊपर उठें और उस 'जातवेदस् देव' का दर्शन करें।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—सूर्यः। **छन्दः**—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

कुत्स

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षꣳ सूर्यऽआत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा॥४२॥

गत मन्त्र के अनुसार प्रभु का दर्शन करनेवाला 'प्रस्कण्व'=मेधावी पुरुष सब बुराइयों का संहार करनेवाला होता है। बुराइयों का संहार करने के कारण ही वह 'कुत्स' (कुथ हिंसायाम्)=आदरणीय हिंसक बनता है। यह कह उठता है कि यह प्रभु **उदगात्**=उदित हो गया, जोकि १. **चित्रम्**=(चित्+र) सम्पूर्ण ज्ञान को देनेवाला है। २. **देवानां अनीकम्**=सब देवों का बल है। वस्तुत: देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाला यही है। यही **मित्रस्य**=अहरभिमानी देवता सूर्य का (दिन के देवता 'दिवा-कर' का) **वरुणस्य**=रात्रि के अभिमानी देवता चन्द्र का तथा **अग्ने:**=इस पृथिवीस्थ देवों के मुखिया अग्नि का **चक्षु:**=प्रकाशक है। ३. इस प्रभु ने ही **द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्**=द्युलोक, पृथिवीलोक तथा अन्तरिक्षलोक को **आप्रा:**=व्याप्त किया हुआ है, पूरण किया हुआ है। ४. **सूर्य:**=यही स्वयं प्रकाश है, अन्यों को प्रकाश देनेवाला है ५. **आत्मा**=(अतति सर्वत्र व्याप्नोति) सर्वत्र व्याप्त है। ६. **जगत: तस्थुष: च**=जङ्गम व स्थावर—सम्पूर्ण जगत् का यह **स्वाहा**=(सु आह) उत्तमता से उपदेश देनेवाला है।

भावार्थ—कुत्स वही बनता है जो सर्वत्र प्रभु की व्याप्ति को देखने का प्रयत्न करता है। उसी की शक्ति को सर्वत्र कार्य करता हुआ देखने पर मनुष्य निरभिमान हो जाता है।

ऋषिः—आङ्गिरसः। **देवता**—अन्तर्यामी जगदीश्वरः। **छन्दः**—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

आङ्गिरस

अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमऽउक्तिं विधेम स्वाहा॥४३॥

गत मन्त्र का 'कुत्स' ही 'आङ्गिरस' बनता है। सब दुर्गुणों का संहार ही मनुष्य को शक्तिशाली बनाता है। यह आङ्गिरस संसार में अपने गौरव के प्रतिकूल कोई बात नहीं करता। विशेष रूप से यह कुपथ से धन कमाने में प्रवृत्त नहीं होता। इसकी प्रार्थना है कि १. **अग्ने**=हमारी सब उन्नतियों के साधक हे प्रभो! **अस्मान्**=हमें **राये**=धन के लिए **सुपथा**=उत्तम

मार्ग से **नय**=ले-चलिए। २. हे **देव**=सब दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! आप **विश्वानि**=सब **वयुनानि**=विज्ञानों को **विद्वान्**=जानते हैं। आप हमें भी उन सब विज्ञानों को प्राप्त कराइए। ३. **अस्मत्**=आप हमसे **जुहुराणम्**=सब कुटिलताओं को तथा **एनः**=सब पापों को **युयोधि**=(वियोजय-द०) पृथक् कीजिए। ४. हम **ते**=आपके लिए **भूयिष्ठाम्**=अत्यधिक **नमउक्तिम्**=नतिपुरःसर स्तुति को **विधेम**=करते हैं। ५. **स्वाहा**=अन्याय्य मार्ग से धन कमानेरूप पाप से बचने के लिए हम (स्व+हा) आपके प्रति अपना अर्पण करते हैं।

भावार्थ—हम सदा न्याय-मार्ग से ही धन कमाएँ। पाप व कुटिलता से दूर रहें।

ऋषिः—आङ्गिरसः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

विजय

अयं नोऽअग्निर्वरिवस्कृणोत्वयं मृधः पुरऽएतु प्रभिन्दन्।

अयं वाजाञ्जयतु वाजसातावयःशत्रूञ्जयतु जर्हृषाणः स्वाहा॥४४॥

१. गत मन्त्र में न्याय-मार्ग से धन कमाने का उल्लेख था, वस्तुतः धन देनेवाले तो प्रभु हैं। जीव को तो प्रभु से उपदिष्ट न्याय-मार्ग पर चलते चलना है। इसी बात को इन शब्दों में कहते हैं कि **अयं अग्निः**=सब उन्नतियों का साधक यह प्रभु **नः**=हमारे लिए **वरिवः**=धन **कृणोतु**=प्राप्त करे। प्रभु हमें उन्नति के लिए आवश्यक निवास आदि को सुन्दर बनाने के लिए सब धन देनेवाले हैं। हम पुरुषार्थ नहीं छोड़ते तो प्रभु हमें धन देते ही हैं। २. **अयम्**=ये प्रभु ही **मृधः**=सब हिंसकों को **प्रभिन्दन्**=नष्ट करते हुए **पुरएतु**=हमें आगे ले-चलनेवाले हों। हमारा नेतृत्व प्रभु के हाथ में हो। प्रभु नेता और मैं अनुयायी। वे सब विघ्नों को दूर कर देंगे और इस प्रकार मेरी उन्नति निर्विघ्न होगी। ३. **अयम्**=ये प्रभु ही **वाजसातौ**=संग्रामों में **वाजान्**=अन्नों को **जयतु**=जीतें। इस जीवन-संग्राम में जब हम काम-क्रोधादि शत्रुओं के पराजय में व्यस्त होंगे तो हमारे खान-पान का ध्यान प्रभु करेंगे ही। ४. ये प्रभु ही **जर्हृषाणः**=हमें अत्यन्त हर्षित करते हुए **शत्रून् जयतु**=हमारे शत्रुओं को जीतें। काम-क्रोधादि का विजय भी वस्तुतः मुझे क्या करना? मुझे तो बस **स्वाहा**=उस प्रभु के प्रति अपना अर्पणमात्र करना है।

भावार्थ—सब धनों का विजय व प्रापण करानेवाले प्रभु हैं। वे ही हमें संग्रामों में विजयी बनाते हैं।

ऋषिः—आङ्गिरसः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—विराड्जगती। **स्वरः**—निषादः॥

चार आश्रम

रूपेण वो रूपमभ्यागां तुथो वो विश्ववेदा विभजतु।

ऋतस्य पथा प्रेत चन्द्रदक्षिणा वि स्वः पश्य व्युन्तरिक्षं यतस्व सदस्यैः॥४५॥

१. गत मन्त्र की भावना थी कि हम आगे और आगे बढ़ते चलें। उसी भावना को अधिक व्यक्त शब्दों में प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं। यहाँ जीवन-यात्रा को चार भागों में बाँटकर पहले ब्रह्मचर्याश्रम के लिए कहते हैं कि (क) हे मेरे अङ्ग-प्रत्यङ्गो! **वः रूपेण**=तुम्हारे उत्तम रूप से **रूपम्**=सुन्दर रूप को **अभ्यागाम्**=प्राप्त होऊँ। ब्रह्मचर्याश्रम में मैं शक्ति का सञ्चय करूँ। इस शक्ति-सञ्चय से मेरा प्रत्येक अङ्ग सुन्दर रूपवाला हो। प्रत्येक अङ्ग के सौन्दर्य पर ही शरीर का सौन्दर्य भी निर्भर करता है। (ख) इस ब्रह्मचर्याश्रम में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात ज्ञान की है, अतः कहते हैं कि **तुथः**=ज्ञानवृद्ध **विश्ववेदाः**=सम्पूर्ण ज्ञानोंवाला,

सब विषयों का पण्डित आचार्य **वः विभजतु**=तुम्हें अपने ज्ञान का विशेषरूप से सेवित करानेवाला हो। अपने ज्ञान का तुम्हारे साथ विभाग करे। एवं, ब्रह्मचर्याश्रम में हम स्वास्थ्य, सौन्दर्य व ज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनें। २. इसके बाद गृहस्थ के लिए भी दो बातों को कहते हैं कि (क) **ऋतस्य पथा प्रेत**=सत्य के मार्ग से चलो। जीवन में ऋत का पालन करो। ऋत=right और नियमितता regularity=तुम्हारे जीवन का अङ्ग हो। सूर्य और चन्द्रमा की तरह अपने दैनिक कृत्यों को समय पर करनेवाले बनो। (ख) **चन्द्रदक्षिणाः**=तुम (चदि आह्लादे) आनन्दमय दानवाले बनो। तुम्हें दान देने में आनन्द का अनुभव हो। अथवा (चन्द्रं सुवर्णं दक्षिणा दानं येषां ते—द०) तुम सुवर्णादि उत्तम धातुओं को दान देनेवाले बनो। एवं, गृहस्थ के कर्तव्य हैं (क) नियमितता व (ख) दान।

३. अब वनस्थ के लिए कहते हैं कि (क) **स्वः**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति आत्म-तत्त्व को **विपश्य** =विशेषरूप से देखने का प्रयत्न कर। वनस्थ ने सदा स्वाध्याय में युक्त रहकर आत्मदर्शन के लिए पूर्ण प्रयत्न करना है। (ख) **अन्तरिक्षम्**=अपने हृदयान्तरिक्ष को **विपश्य**=विशेषरूप से देख। अपने हृदय का प्रातः-सायं निरीक्षण करनेवाला बन। यह आत्मालोचन की वृत्ति ही सारी उन्नतियों का मूल है। एवं, वनस्थ के कर्तव्य हैं—आत्मदर्शन व आत्मालोचन। ४. अब जीवन के अन्ति प्रयाण में संन्यासी के लिए कहते हैं कि **सदस्यैः**= सभा में स्थित व्यक्तियों के साथ **यतस्व**=तू यत्नशील हो। जो लोग ज्ञान की चर्चा सुनने के लिए सभा में पहुँचते हैं, उनके साथ तू पूर्ण प्रयत्न कर, अर्थात् तू अधिक-से-अधिक सुन्दर शब्दों में उन्हें ज्ञान देनेवाला बन। पूर्ण चिन्तन के साथ सरल-स्पष्ट युक्ति को उपस्थित करते हुए तू उन्हें धर्म के मार्ग को हृदयङ्गम करानेवाला बन। ज्ञान देना ही संन्यासी का कर्त्तव्य है।

भावार्थ—प्रथमाश्रम में स्वास्थ्य व ज्ञान, द्वितीयाश्रम में ऋत व दान, तृतीय में आत्मदर्शन व आत्मालोचन तथा चतुर्थ में ज्ञानप्रदान यही हमारे जीवन का कार्यक्रम हो।

ऋषिः—आङ्गिरसः। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

दक्षिणा के योग्य ब्राह्मण

ब्राह्मणमद्य विदेयं पितृमन्तं पैतृमत्यमृषिमार्षेयःसुधातुदक्षिणम्।
अस्मद्राता देवत्रा गच्छत प्रदातारमाविशत॥४६॥

गत मन्त्र में गृहस्थ का एक कर्त्तव्य 'दान' भी बताया गया था। दान पात्र को ही देना चाहिए। उस पात्र के विषय में गृहस्थ प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! आपकी कृपा से मैं **विदेयम्**=प्राप्त करूँ। दान देने के लिए ऐसे व्यक्ति को पा सकूँ जो १. **ब्राह्मणम्**= (वेदेश्वरविदम्—द०) **'वेदाभ्यासात्ततो विप्रो ब्रह्म वेत्तीति ब्राह्मणः'** वेदाभ्यास से ब्रह्म को जाननेवाले ज्ञानी को, अर्थात् जो ज्ञान प्राप्त करता है और ईश्वर के साक्षात्कार के लिए यत्नशील होता है। २. **पितृमन्तम्**=अतिविशिष्ट पितावाले को, जिसे माता-पिता से उत्तम सात्त्विक गुण प्राप्त हुए हैं ३. **पैतृमत्यम्**=जिसके पितामहादि भी वश्य व श्रोत्रिय थे, अर्थात् जितेन्द्रियता व विद्वत्ता जिसके कुल की विशेषता रही है। ४. **ऋषिम्**=जो तत्त्वद्रष्टा है ५. **आर्षेयम्**=(ऋषिषु विख्यातः—म०) ऋषियों में भी जो व्याख्यान-शक्ति के कारण प्रसिद्ध है। 'ऋषि' शब्द में आगम=ज्ञान की प्राप्ति की प्रधानता है तथा आर्षेय शब्द में संक्रान्ति, अर्थात् ज्ञान के व्याख्यान की प्रधानता है। संक्षेप में जिसके impression and expression दोनों ही उत्तम हैं। ६. **सुधातुदक्षिणम्**=उत्तम वीर्यादि धातुओं के कारण जो अपने कर्त्तव्य-

कर्मों में बड़ा दक्ष है। ७. उपर्युक्त गुणों से युक्त पात्र को हम प्राप्त करें। पात्र में दिया हुआ दान ही सफल होता है। **अस्मद्राताः**=हमारे दिये हुए धनो! तुम **देवत्रा गच्छत**=देवों में प्राप्त होओ, अर्थात् हमारे धन दिव्य गुणों से युक्त पुरुषों में ही दिये जाएँ, जिससे तुम फिर से **प्रदातारम्**=देनेवाले में **आविशत**=प्रविष्ट होओ। सुपात्र को दिया हुआ दान इस रूप में फलता है कि वह कई गुणा होकर दाता को फिर से प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—हम सदा पात्र में दान देनेवाले बनें।

ऋषिः—आङ्गिरसः। **देवता**—वरुणः। **छन्दः**—भुरिक्प्राजापत्याजगती[१], स्वराट्प्राजापत्याजगती[२], निचृदार्चीजगती[३], विराडार्चीजगती[४]। **स्वरः**—निषादः॥

दान व प्रतिग्रह का प्रयोजन

[१]अग्नये त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीयायुर्दात्रऽएधि मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे [२]रुद्राय त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीय प्राणो दात्रऽएधि वयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे [३]बृहस्पतये त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीय त्वग्दात्रऽएधि मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे [४]यमाय त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीय हयो दात्रऽएधि वयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे॥४७॥

१. लेनेवाला ग्राह्य वस्तु को सम्बोधित करते हुए कहता है कि **त्वा**=तुझे **मह्यं अग्नये**=मुझ अग्नि के लिए **वरुणः**=पात्र का वरण करनेवाला दाता **ददातु**=दे। **सः**=वह मैं तुझे प्राप्त करके **अमृतत्त्वम् अशीय**=अमृतत्व को प्राप्त करूँ, अर्थात् तेरे अभाव में आवश्यक वस्तु की अप्राप्ति के कारण रोगादि की सम्भावना थी, वह अब न रहे। **दात्रे**=देनेवाले के लिए तू **आयुः**=आयु **एधि**=हो, उसके दीर्घ जीवन का कारण बन और **मह्यं प्रतिगृहीत्रे**=मुझ प्रतिग्रहीता के लिए तू **मयः**=सुख व नीरोगता का कारण हो। २. **त्वा**=तुझे **मह्यं रुद्राय**=मुझ रुद्र के लिए **वरुणः**=पात्र का वरण करनेवाला दाता **ददातु**=दे। **सः**=वह मैं तुझे प्राप्त करके **अमृतत्त्वम् अशीय**=अमृतत्व अर्थात् नीरोगता को प्राप्त करूँ। तू **दात्रे**=देनेवाले के लिए **प्राणः**=प्राणशक्ति **एधि**=हो। दाता की प्राणशक्ति बढ़े और **मह्यं प्रतिग्रहीत्रे**=मुझ प्रतिग्रहीता के लिए **वयः**=दीर्घजीवन हो। ३. **त्वा**=तुझे **मह्यं बृहस्पतये**=मुझ ऊर्ध्वादिक् के अधिपति बृहस्पति के लिए **वरुणः**=पात्र का वरण करनेवाला दाता **ददातु**= दे। **सः**=वह मैं **अमृतत्वम् अशीय**=अमरता को प्राप्त करूँ। **दात्रे**=दाता के लिए यह दान **त्वक्**=रक्षा करने का संवरण **एधि**=हो और **मह्यं प्रतिग्रहीत्रे**=मुझ प्रतिग्रहीता के लिए **मयः**=सुख व नीरोगता देनेवाला हो। ४. **त्वा**=तुझे **मह्यं यमाय**=मुझ यम-नियमों से बद्ध जीवनवाले यम के लिए **वरुणः**=पात्र का वरण करनेवाला **ददातु**=दे। **सः**=वह मैं **अमृतत्वम्**=अमरता को **अशीय** =प्राप्त करूँ। **दात्रे**=दाता के लिए तू **हयः**=घोड़ा-शक्ति का प्रतीक **एधि**=हो और **मह्यं प्रतिग्रहीत्रे** =मुझ प्रतिग्रहीता के लिए **वयः**=दीर्घजीवन हो।

ऊपर के मन्त्रार्थ में स्पष्ट है कि 'प्रतिग्रहीता' में निम्न गुण होने चाहिएँ—

(क) **अग्नये**=वह अग्नि हो (अग् गतौ), गतिशील हो। प्रकाश का फैलानेवाला व दोषों का जलानेवाला हो। (ख) **रुद्राय**=(रुत्+र) यह प्रजाओं को ज्ञान देनेवाला हो। रोरूयमाणो द्रवति=ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करते हुए विचरनेवाला हो। (ग) **बृहस्पतये**=यह ब्रह्मणस्पति=ज्ञान की वाणी का पति हो तथा सर्वोच्च दिशा का अधिपति हो, अर्थात् अधिक-से-अधिक उन्नत हो। (घ) **यमाय**=इसका जीवन यम-नियम से नियन्त्रित हो।

दान लेने का उद्देश्य यह है कि—**'अमृतत्वम् अशीय'**=इसका जीवन आवश्यक वस्तुओं की कमी के कारण रोगाक्रान्त व असमय में मृत्यु का ग्रास न हो जाए। अत्यन्त आवश्यक वस्तुओं के लिए ही दान ले, मौज की सामग्री के लिए नहीं। **'मयः वयः'**=सुख—सब इन्द्रियों का स्वास्थ्य (सु+ख) व दीर्घजीवन प्राप्त हो सके यही लेने का उद्देश्य है।

दान देने का उद्देश्य यह है कि—दाता को दीर्घजीवन, प्राणशक्ति, वासनाओं के आक्रमण से बचाव तथा क्रियाशक्ति व वेग (आयुः, प्राणः, त्वक्, हयः) प्राप्त हो। दान मनुष्य को विलासवृत्ति से बचाकर इन सब वस्तुओं को प्राप्त कराता है। यज्ञशेष तो अमृत है। यह दान पाप से बचानेवाला सर्वोत्तम साधन है।

दाता का यह प्राथमिक कर्त्तव्य है कि वह 'वरुण' बने। वह वृ वरणे=पात्र का ही वरण करे। अपात्र में दिया हुआ दान न परलोक में कल्याण देता है न इहलोक में। व्यक्ति में अपात्रता की अधिक आशंका है, अतः समाज को दान देना श्रेयस्कर है।

भावार्थ—हम पात्र का विचार करके दान देनेवाले बनें।

ऋषिः—आङ्गिरसः। **देवता**—आत्मा। **छन्दः**—आर्ष्युष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

दाता-प्रतिग्रहीता ?

कोऽदात्कस्माऽअदात्कामोऽदात्कामायादात्।
कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामैतत्ते॥४८॥

१. गत मन्त्र में दान का महत्त्व सुव्यक्त है। **'जुहोत प्र च तिष्ठत'** इस वेदवाक्य के अनुसार मनुष्य देता है और प्रतिष्ठा को पाता है। **'न दुष्टुतिर्द्रविणोदेषु शस्यते'**=देनेवालों की कभी निन्दा नहीं होती। 'दान देने पर यह प्रतिष्ठा कहीं दाता को गर्वयुक्त न कर दे', इसलिए समाप्ति पर कहते हैं कि हे मनुष्य! तू कभी यह मत सोचना कि तू देनेवाला है, देनेवाला तो वह सुखस्वरूप परमेश्वर ही है। **कः अदात्**=सुखस्वरूप परमेश्वर देता है। **कस्मै अदात्**=सुख के लिए ही देता है। प्रभु देते इसलिए हैं कि हमारा जीवन सुखी हो सके। जीवन के लिए आवश्यक सब वस्तुओं के प्राप्त हो जाने से सु-ख=सब इन्द्रियाँ स्वस्थ बनी रहें। २. **कामः**=(Supreme Being) सभी से कामना किया जानेवाला वह प्रभु ही (काम्यते) **अदात्**=देता है। **कामाय अदात्**=प्रभु इसलिए देते हैं कि हम उस प्रभु को पा सकें। यह पंक्ति विचित्र अवश्य प्रतीत होती है, परन्तु इसमें वह मौलिक सत्य निहित है जो 'भूखे भजन न होई' इन शब्दों में कवियों से व्यक्त किया गया है। अधिक धन मनुष्य को मूढ़ बनानेवाला हो सकता है, पर धनाभाव तो अवश्य मूढ़ बना ही देता है। ३. **कामः दाता**=वे प्रभु ही दाता हैं। **कामः**=प्रभु की कामना करनेवाला जीव **प्रतिग्रहीता**=लेनेवाला है। ४. **काम**=हे संसार की सर्वोच्च सत्तारूप प्रभो! **एतत् ते**=यह सब दान आपका ही है। यह मेरा नहीं। मैं सदा लेनेवाला ही हूँ, अतः मैं क्या दान का गर्व करूँ। यह तो मेरे माध्यम से आप ही के द्वारा हो रहा है।

भावार्थ—हम दान दें, परन्तु उस दान का हमें गर्व न हो, क्योंकि वस्तुतः यह दानादि उत्तम कार्य हमारे माध्यम से उस प्रभु द्वारा ही किये जा रहे होते हैं।

॥ इति सप्तमोऽध्यायः सम्पूर्णः ॥

अष्टमोऽध्यायः

ऋषिः—**आङ्गिरसः**। देवता—**बृहस्पतिस्सोमः**। छन्दः—**आर्चीपङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

आदर्श पति

उपयामगृहीतोऽस्यादित्येभ्यस्त्वा।
विष्णोऽउरुगायैष ते सोमस्तꣳरक्षस्व मा त्वा दभन्॥१॥

१. इस अध्याय का प्रारम्भ 'आङ्गिरस' ऋषि के मन्त्रों से होता है। यह आङ्गिरस ऋषि ही सप्तमाध्याय की समाप्ति के मन्त्रों का भी ऋषि था। सप्तमाध्याय की समाप्ति के मन्त्र 'दान' का प्रतिपादन कर रहे थे। अब दान देनेवाले गृहस्थों का प्रकरण प्रारम्भ होता है। इस प्रथम मन्त्र में वधू वर से कहती है—(क) **उपयामगृहीतः असि**=तेरा जीवन प्रभु की उपासना द्वारा यम-नियमों से स्वीकृत हुआ है। तूने उपासना द्वारा अपने जीवन को व्रती बनाया है। मैं **आदित्येभ्यः त्वा**=(आदित्यः वै प्रजाः—तै० १।८।८।१) सूर्य के समान दीप्त प्रजाओं के लिए आपको वरती हूँ। मैं चाहती हूँ कि आप मेरे हाथ को ग्रहण करें, जिससे हम सूर्य के समान वर्चस्वी सन्तानों को प्राप्त करें। (ख) **विष्णो**=आप विष्णु हैं (विष्लृ व्याप्तौ) व्यापक हृदयवाले हैं। आपका मन विशाल है, वहाँ कृपणता का निवास नहीं। (ग) **उरुगाय**=आप प्रभु का खूब ही गायन करनेवाले हैं। प्रभु-प्रवण मनुष्य विलासमय जीवनवाला नहीं होता, अतः यह प्रभु-प्रवणता गृहस्थ की पवित्रता के लिए अत्यन्त आवश्यक है। (घ) **एषः ते सोमः**=यह आपका सोम है, यह आपकी वीर्यशक्ति है। **तं रक्षस्व** =उसकी आपने रक्षा करनी है। **मा**=मत **त्वा**=तुझे **दभन्**=रोगादि हिंसित करनेवाले हों। सोम का अपव्यय होते ही शरीर में रोग-प्रतिरोधक शक्ति नहीं रहती और मनुष्य को नाना प्रकार के रोग आ घेरते हैं। वस्तुतः इस सोम की रक्षा से सब अङ्ग रसमय बने रहते हैं। वे सूखे काठ के समान मृत नहीं हो जाते। उनमें लोच-लचक बनी रहती है और इसका 'आङ्गिरस' नाम सार्थक होता है।

भावार्थ—आदर्श पति वही है जो १. यम-नियमों से संयत जीवनवाला है २. उदार हृदय है। ३. प्रभु का सतत स्मरण व कीर्तन करनेवाला है। ४. सोम के महत्त्व को समझकर उसकी रक्षा करता है। यही व्यक्ति उत्तम सन्तान को जन्म देता है। एक आदर्श वधू वर का वरण इसीलिए करती है कि वह आदित्यसम देदीप्यमान सन्तानों को जन्म दे सके।

ऋषिः—आङ्गिरसः। **देवता**—गृहपतिर्मघवा। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

परस्पर अर्पण

कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे।
उपोपेन्नु मघवन्भूयऽइन्नु ते दानं देवस्य पृच्यतऽआदित्येभ्यस्त्वा॥२॥

गत मन्त्र के विषय को आगे बढ़ाती हुई पत्नी कहती है कि आप १. **कदाचन**=कभी भी **स्तरीः**=(स्वभावाच्छादकः—द०, स्तृञ् आच्छादने) अपने स्वभाव को छिपानेवाले **न असि**= नहीं हैं। पति-पत्नी में ऐसा सामञ्जस्य होना चाहिए कि उन्हें एक-दूसरे से कुछ छिपाने का

विचार ही उत्पन्न न हो। उनमें किसी प्रकार का भेदभाव न हो। २. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता शक्तिशाली पते! आप **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए, आपके प्रति अपना समर्पण करनेवाले के लिए **सश्चसि**=प्राप्त होते हो (सस्ज गतौ)। कन्या पितृगृह को छोड़कर पति के घर को अपना घर बनाती है। वह पति के प्रति अपना अर्पण कर डालती है, अतः पति को भी उसे प्राप्त होना ही चाहिए, उसे कभी धोखा नहीं देना चाहिए। ३. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन्! अथवा यज्ञशील! **उप उप इत् नु**=आप निश्चय से प्रभु के अधिकाधिक निकट हो, उसके उपासक बनो। प्रभु-प्रवणता भोग-प्रवणता को रोकती है। ४. **देवस्य**=(देवो दानात्) देनेवाले आपको **भूयः इत्**=अधिक ही **दानम्**=दान **पृच्यते**=प्राप्त होता है। ५. **आदित्येभ्यः त्वा**=मैं आदित्य-तुल्य दीप्तिवाली सन्तानों के लिए आपको प्राप्त होती हूँ।

भावार्थ—१. पति पत्नी से किसी प्रकार का छिपाव न रक्खे। यह छिपाव ही एक-दूसरे में शक पैदा करता है। २. पति पत्नी को पूर्णतया प्राप्त हो, क्योंकि पत्नी ने पति के प्रति अपना अर्पण किया है। ३. उसमें प्रभु-प्रवणता हो। ४. वह दानशील हो।

ऋषिः—आङ्गिरसः। **देवता**—आदित्यो गृहपतिः। **छन्दः**—निचृदार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

इहलोक व परलोक

कदा चन प्रयुच्छस्युभे निपासि जन्मनी।
तुरीयादित्य सवनं तऽइन्द्रियमातस्थावमृतं दिव्यादित्येभ्यस्त्वा॥३॥

पति के ही विषय में कहते हैं कि आप १. **कदा च**=कभी भी **न प्रयुच्छसि**=प्रमाद नहीं करते हो। **'न प्रमदितव्यम्'** आचार्य के इस उपदेश को आप भूलते नहीं। २. सदा सतर्क और अप्रमत्त रहते हुए आप **उभे**=दोनों **जन्मनी**=जन्मों को **निपासि**=निश्चय से रक्षित करते हो। इहलोक व परलोक दोनों को सुधारने का प्रयत्न करते हो। आप अभ्युदय के साथ निःश्रेयस को जोड़कर चलते हो, यही तो धर्म है। ३. **तुरीय**=आप तुरीय हो। तुरीय का अर्थ निम्न मन्त्र से स्पष्ट हो जाता है—**'सोमस्य जाया प्रथमं गन्धर्वस्तेऽपरः पतिः। तृतीयोऽग्निष्टे पतिः तुरीयस्ते मनुष्यजाः'** (अथर्व १४।२।३) प्रथम तू सोम की पत्नी है, तेरा दूसरा पति गन्धर्व है, अग्नि तेरा तीसरा पति है और चौथा मनुष्य से होनेवाला, अर्थात् माता-पिता कन्या के लिए वर खोजते समय पहला ध्यान तो यह करें कि वह 'सोम' हो, शक्ति का पुञ्ज हो। उसमें वीर्यशक्ति हो, वह नामर्द न हो, सन्तानोत्पत्ति के अयोग्य न हो। दूसरी बात यह कि वह ज्ञान की वाणी का पति हो (गां धरति) कुछ पढ़ा-लिखा हो, अनपढ़, गँवार न हो। तीसरा यह कि वह अग्नि हो—उन्नतिशील (progressive) हो और चौथे यह कि वह मनुष्यता—दयालुता को लिये हुए हो, क्रूर न हो, Humane हो। एवं, तुरीय का अर्थ है, आप दयालु हों, आपमें मानवता हो। ४. **आदित्य**=गुणों के आप आदान करनेवाले हों, अच्छाई की आप कदर करते हों। ५. **ते इन्द्रियम्**=आपका वीर्य **सवनम्**=उत्पादक है, सुन्दर सन्तान को जन्म देनेवाला है। ६. **आतस्थौ**=आपका यह वीर्य शरीर में ही स्थित होता है, यह व्यर्थ में नष्ट नहीं किया जाता। ७. **अमृतम्**=यह आपको अमृत—नीरोग बनानेवाला है। ८. **दिवि**=यह ज्ञान के निमित्त है। अथवा मस्तिष्करूप द्युलोक में स्थित होता है। ९. ऐसे **त्वा**=आपको मैं **आदित्येभ्यः**=उत्तम प्रजाओं के लिए वरती हूँ।

भावार्थ—१. आप प्रमादशून्य हो। २. इहलोक व परलोक दोनों का ध्यान करते हो। ३. आप मानवता को लिये हुए हो। ४. गुणों का आह्वान करनेवाले हो। ५. उत्पादक शक्ति

से युक्त हो। ६. शक्ति को नष्ट नहीं होने देते हो। ७. नीरोग हो। ८. शक्ति को ज्ञानाग्नि का ईंधन बनाते हो।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—आदित्यो गृहपतिः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः॥

दैनिक अग्निहोत्र

यज्ञो देवानां प्रत्येति सुम्नमादित्यासो भवता मृडयन्तः।

आ वोऽर्वाची सुमतिर्ववृत्यादँहोश्चिद्या वरिवोवित्तरासदादित्येभ्यस्त्वा॥४॥

गत मन्त्र का आङ्गिरस अप्रमाद से धर्म का पालन करता हुआ सब बुराइयों का संहार करने से 'कुत्स' हो जाता है। इस कुत्स के घर में १. **देवानां यज्ञः**=देवयज्ञ अर्थात् अग्निहोत्र **प्रतिएति**=प्रतिदिन आता है, अर्थात् इसके घर में अग्निहोत्र एक जरामर्य सत्र बना रहता है। मृत्यु तक इसमें विच्छेद नहीं आता। २. इसी का परिणाम है कि घर में **सुम्नम्**=सुख-ही-सुख रहता है। ३. **आदित्यासः**=हे सूर्यसम सन्तानो ! तुम **मृडयन्तः**=सुखी करनेवाले **भवत**=होवो। घर में यज्ञों के चलने पर सन्तानों के जीवन उत्तम होते हैं और उनकी वृत्ति क्लब्स (Clubs) आदि की ओर नहीं होती। ४. 'आदित्यास' का अर्थ आदित्य ब्रह्मचारियों से भी है। ये अतिथिरूपेण हमारे घरों में आते रहें, हमपर इनकी कृपा बनी रहे। ५. हे आदित्यो! **वः**=तुम्हारी **सुमतिः**=कल्याणी मति **अर्वाची**='अर्वाङ् अञ्चति' हृदय को प्राप्त होनेवाली, हृदयङ्गम होनेवाली, **आववृत्यात्**=सर्वथा हो। **या**=जो **अंहोः चित्**=ज्ञानी को भी **वरिवोवित्तरा**=उत्कृष्ट ज्ञानधन को प्राप्त करानेवाली **असत्**=हो। इस मन्त्रभाग का यह भी अर्थ हो सकता है कि **अंहो चित्**=पापवृत्तिवाले को भी यह आदित्यों से दी गई सुमति उत्तम सेवनीय धन या पूजा की वृत्ति को प्राप्त करानेवाली होती है। विद्वान् अतिथियों के सम्पर्क में इन गृहस्थों को सदा सुमति प्राप्त होती रहे और ये अपने ज्ञान को अधिकाधिक बढ़ानेवाले हों। ६. **आदित्येभ्यः त्वा**=मैं तुझे उत्तम सन्तानों के लिए प्राप्त होती हूँ।

भावार्थ—१. घरों में अग्निहोत्र नियम से हो, जिससे वहाँ सुख का राज्य हो। २. विद्वान् अतिथियों का आना-जाना बना रहे, जिससे उनकी सुमति इन्हें सदा प्राप्त रहे। घरों में उत्तम सन्तान का निर्माण हो।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—गृहपतयः। **छन्दः**—प्राजापत्यानुष्टुप्[क], निचृदार्षीजगती[र]। **स्वरः**—गान्धारः[क], निषादः[र]॥

ज्ञानी, गुणी, संयमी, दानी

[क]**विवस्वन्नादित्यैष ते सोमपीथस्तस्मिन् मत्स्व।**

[र]**श्रदस्मै नरो वचसे दधातन यदाशीर्दा दम्पती वाममश्नुतः।**

पुमान् पुत्रो जायते विन्दते वस्वधा विश्वाहारप एधते गृहे॥५॥

१. पिछले मन्त्र में उत्तम सन्तान निर्माण का संकेत था। उसी का उपाय प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं—१. हे **विवस्वन्**=ज्ञान की किरणोंवाले! **आदित्य**=सूर्य के समान उत्तम गुणों का ग्रहण करनेवाले पतिदेव ! **एषः ते सोमपीथः**=यह तेरा सोम का पान है। **तस्मिन् मत्स्व**=उसमें तू आनन्द का अनुभव कर, अर्थात् पति ज्ञानी, गुणग्राही व संयमी हो। २. प्रभु इन प्रगतिशील व्यक्तियों से कहते हैं कि **नरः**=हे उन्नतिशील पुरुषो! **अस्मै वचसे**=इस वचन के लिए **श्रत् दधातन**=श्रद्धा करो। **यत्**=कि **आशीर्दा**=इच्छापूर्वक दान देनेवाले **दम्पती**=पति-

पत्नी **वामम्**=सुन्दर सन्तानों को ही **अश्नुतः**=प्राप्त करते हैं। दान देने से मनोवृत्ति सुन्दर बनती है, मनुष्य विलास से ऊपर उठता है, परिणामतः सन्तानों में भी वही सौन्दर्य अवतीर्ण होता है। ३. **पुमान् पुत्रः जायते**=इनका सन्तान (पू=पवित्र करना) पवित्र हृदय व पौरुषवाला होता है। **विन्दते वसु**=वह सन्तान निवास के लिए आवश्यक उत्तम धनों को प्राप्त करनेवाला होता है। **अध**=और **विश्वाहा**=सदा **अरपः**=पापशून्य होता हुआ (अ-रपस्) **गृहे**=अपने घर में **एधते**=सब दृष्टिकोणों से उन्नति करता है। ४. यह सन्तान **पुमान्**=अपने जीवन को पवित्र बनाता है। **अरपः**=पापशून्य होता है। अतएव इसका नाम 'कुत्स' (सब बुराइयों की हिंसा करनेवाला) हो जाता है। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—पति 'ज्ञानी, गुणग्राही व संयमी' हो। पति-पत्नी दिल खोलकर उदारता से दान देनेवाले हों तो उनके घरों में 'उत्तम, वीर, पवित्र व पापशून्य' सन्तान होते हैं।

ऋषिः—भरद्वाजः। **देवता**—गृहपतयः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

वामभाक्

वा॒मम॒द्य स॑वितर्वा॒मम॑ु श्वो दि॒वेदि॑वे वा॒मम॒स्मभ्य॑ꣳसावीः।
वा॒मस्य॒ हि क्षय॑स्य देव॒ भूरे॑र॒या धि॒या वा॑म॒भाज॑ः स्याम॥६॥

१. गत मन्त्र के पति-पत्नी शक्ति प्राप्त करके 'भरद्वाज' बनते हैं और प्रार्थना करते हैं—हे **सवितः**=सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करनेवाले प्रभो! **अद्य**=आज **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **वामम्**=सौन्दर्य **सावीः** =उत्पन्न कीजिए, अर्थात् हमारे घर में प्रत्येक वस्तु सुन्दर व श्रीसम्पन्न हो। क्या सन्तान, क्या सम्पत्ति, क्या यश—सभी सौन्दर्य को लिये हुए हों। **उ**=और **श्वः**=कल भी **वामम्**=सौन्दर्य को, और **दिवेदिवे**=प्रतिदिन सौन्दर्य को ही उत्पन्न कीजिए। २. हे **देव**=सब उत्तम वस्तुओं के देनेवाले प्रभो! हम **हि**=निश्चय से **वामस्य क्षयस्य**=सुन्दर घर के (क्षि निवासगत्योः) **भूरेः**=धन-धान्य के बाहुल्यवाले घर के अथवा (भृ =पालनपोषणयोः) जिस घर में पालन व पोषण सुन्दरता से चलता है, उस घर को प्राप्त करनेवाले हों, अर्थात् हमारे घर में सब वस्तुएँ सौन्दर्य को लिये हुए हों और हमारा घर पालन व पोषण की सामग्री से युक्त हो। ३. **अया धिया**=इस (अनया) आपकी दी हुई बुद्धि से हम **वामभाजः**=सुन्दर वस्तुओं व बातों का सेवन करनेवाले हों, अर्थात् हमारी बुद्धि हमें कभी ग़लत मार्ग पर न ले-जाए। हम उन्हीं कार्यों को करें जिनसे हम सदा यशोन्वित हों।

भावार्थ—हम शक्तिशाली बनकर अपने कर्मों से घरों को सौन्दर्य से अलंकृत करनेवाले हों।

ऋषिः—भरद्वाजः। **देवता**—सविता गृहपतिः। **छन्दः**—विराड्ब्राह्म्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

भग-देव-सविता

उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि सावि॒त्रोऽसि चनो॒धाश्च॑नो॒धाऽअ॑सि॒ चनो॒ मयि॑ धेहि।
जिन्व॑ य॒ज्ञं जिन्व॑ य॒ज्ञप॑तिं॒ भगा॑य दे॒वाय॑ त्वा सवि॒त्रे॥७॥

१. पत्नी पति से कहती है कि—आप **उपयामगृहीतः असि**=उपासना के द्वारा यम-नियमों के धारण करनेवाले हैं। २. आप **सावित्रः असि**=सविता देव के उपासक हैं, अर्थात् आपका जीवन सूर्य की भाँति नियमित है और परिणामतः आप सूर्य की भाँति ही चमकनेवाले हैं। अथवा आप (सू-प्रसव) उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाले हैं। ३. **चनोधाः**=उत्तम अन्न को धारण करनेवाले और **चनोधाः**=निश्चय से उत्तम अन्न को धारण करनेवाले **असि**=हैं

(अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते—नि० १०।४२)। **चनो मयि धेहि**=मुझमें अन्न धारण कीजिए। 'अन्न प्राप्त कराना घर में सबके पालन-पोषण के लिए आवश्यक सामग्री जुटाना' यह पाणिग्रहण के मन्त्रों में **'ममेयमस्तु पोष्या'** इन शब्दों में तीसरा व्रत लिया जाता है। पति अन्न-प्रापण के द्वारा ही रक्षा करता है। ४. **यज्ञं जिन्व**=आप यज्ञ को भी प्राप्त हों। केवल खाने-पीने के लिए थोड़े ही कमाना है, यज्ञों के लिए भी तो कमाना है। **यज्ञपतिं जिन्व**=इन यज्ञों के द्वारा यज्ञों के पति प्रभु को आप प्रीणित करनेवाले बनें। वस्तुतः **'यज्ञो वै विष्णुः'** वे प्रभु यज्ञरूप हैं। हम उस यज्ञरूप प्रभु की यज्ञों के द्वारा ही उपासना कर पाते हैं। ५. मैं **त्वा**=आपको **भगाय**=ऐवर्श्य के लिए प्राप्त होती हूँ। आप घर के ऐश्वर्य को बढ़ानेवाले होओ। **देवाय त्वा**=मैं आपको दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए स्वीकार करती हूँ। आपके कारण घर में देवत्व की वृद्धि होगी। मैं **सवित्रे**=उत्तम सन्तानों को जन्म देने के लिए आपका स्वीकार करती हूँ (षू प्रसव)। आपके द्वारा मैं उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाली बन सकूँगी।

भावार्थ—पति इतना कमाये कि घर का व्यय भी चले और यज्ञ-यागादि के लिए भी खर्च निकलता रहे। घर में ऐश्वर्य की वृद्धि हो, देवत्व का विकास हो और उत्तम सन्तानें हों।

ऋषिः—भरद्वाजः। **देवता**—विश्वेदेवा गृहपतयः। **छन्दः**—प्राजापत्यागायत्री[क], निचृदार्षीबृहती[र]।
स्वरः—षड्जः[क], मध्यमः[र]॥

सुशर्मा-सुप्रतिष्ठान

[क]उपयामगृहीतोऽसि [र]सुशर्मासि सुप्रतिष्ठानो बृहदुक्षाय नमः।
विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यऽएष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः॥८॥

१. पत्नी कह रही है कि—**उपयामगृहीतः असि**=आप प्रभु-उपासना के द्वारा स्वीकार किये हुए यम-नियमोंवाले हैं। २. **सुशर्मा असि**=उत्तम गृहवाले हैं (शर्म गृह—नि० ३।४)। ३. **सुप्रतिष्ठानः**=(सुष्ठु प्रतिष्ठानं प्रतिष्ठा यस्य—द०) आप उत्तम प्रतिष्ठावाले हैं। ४. **बृहद् उक्षाय**=उत्कृष्ट वीर्यवान् आपका **नमः**=मैं उचित आदर करती हूँ या उचित अन्नादि की व्यवस्था (नमः=अन्न—नि० २।७) करती हूँ। ५. **विश्वेभ्यः त्वा देवेभ्यः**=सब दिव्य गुणों के लिए मैं आपको स्वीकार करती हूँ। **एषः ते योनिः**=यही आपका घर है। **विश्वेभ्यः त्वा देवेभ्यः**=सब दिव्य गुणों के लिए मैं आपको स्वीकार करती हूँ।

भावार्थ—पति यम-नियम का पालन करे। वह अपने घर को उत्तम बनाए। उसके कार्य उसे यशस्वी बनानेवाले हों। उसके कारण घर में दिव्य गुणों की वृद्धि हो।

सूचना—'शर्म' शब्द सुखवाची भी है। तब 'सुशर्मा' का अर्थ यह होगा कि जिसके कारण घर में सुख-ही-सुख है, जो घर में क्लेश बढ़ाने का कारण नहीं बनता।

ऋषिः—भरद्वाजः। **देवता**—गृहपतयो विश्वेदेवाः। **छन्दः**—प्राजापत्यागायत्री[उ], आर्ष्युष्णिक्[क], स्वराडार्षीपङ्क्तिः[र]। **स्वरः**—षड्जः[उ], ऋषभः[क], पञ्चमः[र]॥

सूर्य का उभयतो दर्शन

[उ]उपयामगृहीतोऽसि [क]बृहस्पतिसुतस्य देव सोम तऽइन्दोरिन्द्रियावतः पत्नीवतो ग्रहाँ२॥ऽऋध्यासम्। [र]अहं परस्तादहमवस्ताद्यदन्तरिक्षं तदु मे पिताभूत्। अहꣳसूर्यमुभयतो ददर्शाहं देवानां परमं गुहा यत्॥९॥

१. पिछले मन्त्र की भाँति प्रस्तुत मन्त्र में भी पत्नी कथन करती है कि—आप **उपयामगृहीतः असि**=सुनियमों से स्वीकृत हैं। आपका जीवन यम-नियमवाला है। २. **बृहस्पतिसुतस्य**=सब ज्ञानों के पति, अथवा सर्वोच्च दिशा के पति के पुत्र, अर्थात् जिन्हें ज्ञानी, गुणोन्नत आचार्यों ने दूसरा जन्म देकर द्विज बनाया है, उस आपके, हे **देव सोम**=दिव्य गुणोंवाले तथा उत्पादक शक्ति से युक्त पते! **इन्दोः**=सोम की रक्षा के कारण शक्तिशाली **इन्द्रियावतः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले तथा **पत्नीवतः**=उत्तम पत्नीवाले **ते**=आपके **ग्रहान्**=(गृह्यन्ते विवाहकाले—द०) विवाह के अवसर पर लिये गये व्रतों की **ऋध्यासम्**=मैं समृद्ध करनेवाली बनूँ। पति के व्रतों के पालन में पत्नी ने सहायक होना है। पत्नी की सहायता के बिना उन व्रतों की पूर्ति सम्भव नहीं। ३. अब पत्नी अपने लिए कहती है कि **अहम्**=मैं **परस्तात्**=परलोक का ध्यान करनेवाली बनूँ और **अहम्**=मैं **अवस्तात्**=यहाँ इहलोक का भी ध्यान करनेवाली होऊँ। **'उभे निपासि जन्मनी'** ये तीसरे मन्त्र के शब्द मुझपर भी लागू हों। ४. **यद् अन्तरिक्षम्**=जो अन्तरिक्ष अर्थात् (अन्तरा क्षि) मध्यमार्ग है **तत् उ**=वह ही **मे पिता अभूत्**=मेरा रक्षक हुआ है, अर्थात् सदा मध्यमार्ग पर चलने से मैं रोगादि का शिकार नहीं होती। ५. **अहम्**=मैं **सूर्यम्**=सूर्य को **उभयतः**=दोनों ओर **ददर्श**=देखती हूँ। एक तो **अहम्**=मैं उस सूर्य को देखती हूँ जो कि **देवानां परमम्**=देवताओं में सर्वोत्कृष्ट है, अर्थात् ३३ देवों का मुखिया द्युलोक में वर्त्तमान यह सूर्य है और **गुहा यत्**=जो ब्रह्मरूपी सूर्य हृदयरूपी गुहा में विद्यमान है। बाह्य सूर्य के व्रत में चलती हुई मैं निरन्तर क्रियाशील बनूँ और अन्तःसूर्य को देखने के कारण मैं अपनी क्रियाओं में मार्गभ्रष्ट नहीं होती।

भावार्थ—पति यम-नियम का पालन करनेवाला, ज्ञानी आचार्यों से शिक्षा पाया हुआ, शक्तिशाली तथा प्रशस्तेन्द्रिय हो और उत्तम पत्नी की सहायता से व्रतों का पालन करे। पत्नी भी इहलोक व परलोक दोनों को देखे, सदा मध्यमार्ग पर चले। वह बाह्य सूर्य से क्रियाशीलता की प्रेरणा ले और अन्तःसूर्य से मार्ग का ज्ञान प्राप्त करे जिससे भटक न जाए।

ऋषिः—भरद्वाजः। **देवता**—गृहपतयः। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

प्रजापति

अग्ना३॥ऽइ पत्नीवन्त्सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिब स्वाहा। प्रजापतिर्वृषासि रेतोधा रेतो मयि धेहि प्रजापतेस्ते वृष्णो रेतोधसो रेतोधामशीय॥१०॥

पति के लिए कहते हैं—१. हे **अग्ने**=प्रगतिशील! **पत्नीवन्**=उत्कृष्ट पत्नीवाले! **देवेन**=दिव्य गुणों के पुञ्ज **त्वष्ट्रा**=सर्वदुःख विच्छेदक अथवा सर्वनिर्माता प्रभु के **सजूः**=साथ प्रीतिपूर्वक कार्यों का सेवन करनेवाला होकर तू **सोमं पिब**=सोम का पान कर। **स्वाहा**=इसके लिए तू स्वार्थों का, भोगवृत्ति का त्याग करनेवाला बन। भोगवृत्ति को छोड़कर सोम पान करने से तू भी छोटे रूप में 'देव त्वष्टा' बन सकेगा, अर्थात् सुन्दर दिव्य गुणोंवाली सन्तानों को जन्म दे सकेगा। २. तू इस सोमपान के कारण **प्रजापतिः**=उत्तम प्रजा का रक्षक है, **वृषा असि**=शक्तिशाली है तथा (वृष=धर्म) धर्ममय जीवनवाला है। **रेतोधाः**=इस सोमपान के कारण ही तू उचित ऋतु में रेतस् का आधान करनेवाला होता है। ३. इस रेतोधा पति से पत्नी कहती है कि **मयि रेतः धेहि**=तू मुझमें रेतस् का आधान कर, जिससे मैं **ते प्रजापतेः** =प्रजा के रक्षक तुझ **वृष्णः** =शक्तिशाली तथा **रेतोधसः**=ऋतु में रेतस् का आधान करनेवाले के **रेतोधाम्** =वीर्यधारक, पराक्रमवाले पुत्र को **अशीय**=प्राप्त करूँ। वस्तुतः संयमी माता-पिता

ही शक्तिशाली सन्तान को जन्म दे पाते हैं। माता-पिता भी शक्तिशाली, उनकी सन्तान भी शक्तिशाली। वे शक्ति को अपने में भरनेवाले सचमुच प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'भरद्वाज' हैं।

भावार्थ—पति-पत्नी 'सोमपान' करनेवाले और रेतस् का अपने में धारण करनेवाले हों, जिससे उनकी सन्तानें भी शक्तिशाली हों।

ऋषिः—भरद्वाजः। **देवता**—गृहपतयः। **छन्दः**—भूरिगार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

हारियोजन

उपयामगृहीतोऽसि हरिरसि हारियोजनो हरिभ्यां त्वा।
हर्योर्धाना स्थ सहसोमाऽइन्द्राय॥११॥

पत्नी पति से कहती है—१. **उपयामगृहीतः असि**=आपका जीवन उपासना के द्वारा यम-नियमों से युक्त है अथवा उपयाम=विवाह के द्वारा आपने मेरा हाथ ग्रहण किया है। २. **हरिः असि** =आप गृहस्थरूपी शकट के खैंचनेवाले हैं, यथायोग्य गृहाश्रम के व्यवहार को चलानेवाले हैं ३. **हारियोजनः**=(ऋक्सामे वै हरी—श०।४।४।३।७, तौ योजयति। स्वार्थे तद्धितः) अपने जीवन में आप ऋक् और साम को जोड़नेवाले हैं। 'ऋक्' विज्ञान है, 'साम' उपासना। आपके जीवन में विज्ञान व उपासना दोनों को स्थान मिला है। आपका जीवन 'विद्या-श्रद्धा' सम्पन्न है। इसमें मस्तिष्क व हृदय दोनों का ठीक विकास हुआ है। ४. **हरिभ्यां त्वा**=मैं भी ऋक् व साम, अर्थात् विद्या व श्रद्धा के विकास के द्वारा आपको स्वीकार करती हूँ। वस्तुतः पत्नी अपने जीवन में इन दोनों तत्त्वों का विकास करके ही पति की अनुकूलता का सम्पादन कर पाती है।

५. अब इन पति-पत्नी से प्रभु कहते हैं कि तुम **हर्योः**=इन विद्या व श्रद्धा के **धानाः**=धारण करनेवाले **स्थः**=हो अथवा कर्मेन्द्रिय पञ्चक व ज्ञानेन्द्रिय पञ्चकरूप इन्द्रियाश्वों को तुम अपने वश में करनेवाले हो। ६. **सहसोमाः**=तुम दोनों साथ-साथ शक्ति का सम्पादन करनेवाले हो, अर्थात् गृहस्थ में भी संयमी जीवन बिताते हुए अपनी शक्ति को नष्ट नहीं होने देते। ७. **इन्द्राय**=मैं तुम्हें परमैश्वर्य की प्राप्ति के लिए इस गृहस्थ में सङ्गत करता हूँ। तुम गृहस्थ-धर्मों का ठीक प्रकार पालन करते हुए मोक्षरूप परमैश्वर्य को प्राप्त करो।

भावार्थ—गृहस्थ में हम 'ज्ञान व भक्ति' दोनों का समन्वय करके चलें। हम कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों को धारण करनेवाले बनें। शक्ति का सम्पादन करते हुए मोक्ष को प्राप्त करें।

ऋषिः—भरद्वाजः। **देवता**—गृहपतयः। **छन्दः**—आर्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

सात्त्विक भोजन

यस्तेऽअश्वसनिर्भक्षो यो गोसनिस्तस्य तऽइष्टयजुष स्तुतस्तोमस्य
शस्तोक्थस्योपहूतस्योपहूतो भक्षयामि॥१२॥

पिछले ग्यारह मन्त्रों में वर्णित सारी उत्तम बातें अन्ततोगत्वा भोजन की सात्त्विकता पर निर्भर करती हैं, अतः प्रस्तुत मन्त्र में उसी भोजन का उल्लेख करते हुए पत्नी कहती है कि १. **यः**=जो **ते**=तेरा **भक्षः** =भोजन **अश्वसनिः**=उत्तम कर्मेन्द्रियों को प्राप्त करानेवाला है, अर्थात् तेरी क्रियाशक्ति को बढ़ानेवाला है, २. **यः गोसनिः**=जो भोजन उत्तम ज्ञानेन्द्रियों को प्राप्त करानेवाला है (अश्नुवते कर्मसु अश्वाः, गमयन्ति अर्थान् गावः), अर्थात् जिस

भोजन के द्वारा ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति बढ़कर ज्ञानशक्ति में वृद्धि होती है, ३. **उपहूतः** =जो भोजन उपहूत हुआ है, अर्थात् 'अनमीवस्य, शुष्मिणः' जिस नीरोग व शत्रुओं के शोषक बलवाले भोजन की प्रार्थना की गई है, उस भोजन को **भक्षयामि**=मैं तुझे खिलाती हूँ। ४. **तस्य ते**=उस आपको जो (क) **इष्टयजुषः**=यजुर्मन्त्रों से निरन्तर यज्ञ करनेवाले हो (इष्टं यजुर्भिर्येन, तस्य)। (ख) **स्तुतस्तोमस्य**=(स्तुतं स्तोमैः साममन्त्रविशेषैर्ये) साम-मन्त्रों से प्रभु का स्तवन करनेवाले हो। (ग) **शस्तोक्थस्य**=(शस्तानि उक्थानि यस्य) प्रशस्त ऋक् मन्त्रोंवाले हो। (घ) **उपहूतस्य**=उपासना द्वारा प्रभु का आह्वान करनेवाले हो।

भावार्थ—भोजन वही ठीक है जो कर्मेन्द्रियों को क्रियाशील और ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञानप्राप्तिक्षम बनाता है और जिसकी वेद में इस रूप में प्रार्थना है कि यह नीरोगता व शत्रु-शोषण-शक्ति को देनेवाला हो। इससे पति का जीवन इतना सुन्दर बनेगा कि वे यजुर्मन्त्रों से यज्ञ करनेवाले बनेंगे। साममन्त्रों से प्रभु-स्तवन करेंगे तथा ऋङ्मन्त्रों का उच्चारण करनेवाले होंगे, अतः पत्नी ने पति व परिवार को सात्त्विक भोजन ही खिलाना है।

ऋषिः—भरद्वाजः। **देवता**—गृहपतयो विश्वेदेवाः। **छन्दः**—निचृत्साम्न्युष्णिक्[१,२,४], साम्न्युष्णिक्[३], प्राजापत्योष्णिक्[५], निचृदार्ष्युष्णक्[६]। **स्वरः**—ऋषभः॥

सात्त्विक भोजन का परिणाम पाप का अवयजन

[१]देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि [२]मनुष्यकृतस्यैनसोऽवयजनमसि [३]पितृकृतस्यैनसोऽवयजनमस्या[४]त्मकृतस्यैनसोऽवयजनमस्येनस[५] एनसोऽवयजनमसि। [६]यच्चाहमेनो विद्वाँश्चकार यच्चाविद्वाँस्तस्य सर्वस्यैनसोऽवयजनमसि॥१३॥

१. गत मन्त्र के सात्त्विक भोजन का पहला परिणाम यह है कि हमारे जीवनों से पाप दूर हो जाते हैं, क्योंकि 'जैसा अन्न वैसा मन' **आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः**' यह कथन प्रामाणिक है। २. मन्त्र में कहते हैं कि इस सात्त्विक भोजन से तुम **देवकृतस्य एनसः**=देवों के विषय में किये गये पापों को **अवयजनम् असि**=दूर करनेवाले हो (अवयजन =दूर करना)। हम पृथिवी आदि देवों को दूषित नहीं करते। जल में गन्द नहीं फेंकते, अग्नि में रबड़ इत्यादि नहीं जलाते। ३. **मनुष्यकृतस्य**=तुम मनुष्य के विषय में किये गये **एनसः**=पापों को **अवयजनम् असि**=दूर करनेवाले हों। मनुष्यों के प्रति हम 'मनसा, वाचा, कर्मणा' अहिंसा धर्म का पालन करनेवाले होते हैं, उनके साथ मीठे शब्द बोलते हैं, चुभनेवाले वाग्बाण नहीं चलाते रहते। ४. **पितृकृतस्य एनसः**=तुम माता-पिता के विषय में किये गये पाप को **अवयजनम् असि**=दूर करनेवाले हो। सात्त्विक अन्न का सेवन करनेवाला माता-पिता की अवज्ञा न करके सदा उनका सम्मान करता है। ५. **आत्मकृतस्य एनसः**=तुम आत्मा के विषय में किये गये पाप को **अवयजनम् असि**=दूर करनेवाले हो। आत्मा के मूल्य पर पार्थिव भोगों को भोगना ही आत्मविषयक पाप है। आत्मा के लिए तो सारी पृथिवी को भी छोड़ना पड़े तो छोड़ देना चाहिए। ६. **एनसः एनसः अवयजनमसि**=एक-एक पाप से हमें दूर करनेवाले हो। सात्त्विक भोजन से हममें कोई भी पाप नहीं रहता। ७. **यत् च**=और जिस **एनः**=पाप को **अहम्**=मैं **विद्वान्**=जानता हुआ **चकार** =करता हूँ **च**=और **यत्**=जिसको **अविद्वान्**=न जानता हुआ **चकार**=कर बैठता हूँ **तस्य सर्वस्य एनसः** =उस सारे पाप का तुम **अवयजनम् असि**=दूर करनेवाले हो।

मनुष्य कई बार **'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः'** जानता हुआ भी धर्म नहीं कर

पाता **'जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः'**=अधर्म को जानता हुआ भी उससे रुकता नहीं। यह ठीक है कि परिपक्व ज्ञान की स्थिति में तो अधर्म सम्भव ही नहीं, परन्तु सामान्यतः मनुष्य जानता हुआ भी प्रलोभनों से आक्रान्त होकर बहुधा अधर्म करता है। 'सात्त्विक आहार' ज्ञानपूर्वक होनेवाले पापों से हमें बचाएगा। अनजाने में हो जानेवाले पापों से भी यह हमें बचानेवाला हो।

भावार्थ—सात्त्विक आहार से शुद्ध बुद्धिवाले होकर हम पापों से ऊपर उठ जाएँ।

ऋषिः—भरद्वाजः। **देवता**—गृहपतयः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

आप्यायन—न्यूनता का दूरीकरण

सं वर्च॑सा॒ पय॑सा॒ सं त॒नूभि॒रग॑न्महि॒ मन॑सा॒ सꣳशि॒वेन॑।
त्वष्टा॑ सु॒दत्रो॒ वि द॑धातु॒ रायो॒ऽनु॑मार्ष्टु त॒न्वो॒ यद्विलि॑ष्टम्॥१४॥

१. सात्त्विक आहार से शुद्ध बुद्धिवाले होकर हम **वर्चसा**=ब्रह्मवर्चस् से, ज्ञानाध्ययन सम्पत्ति से **समगन्महि**=सङ्गत हों। सात्त्विक आहार से शरीर में शक्ति सुरक्षित होती है और यह ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर उसे दीप्त करती है, तब हम ब्रह्मवर्चस् को प्राप्त करते हैं। २. **पयसा**=(ओप्यायी वृद्धौ) हम सब अङ्गों का आप्यायन प्राप्त करें, हमारे सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग बढ़ें। ३. **तनूभिः**=(तनु विस्तारे) जिनकी शक्ति का विस्तार हुआ है, ऐसे अनुष्ठानक्षम शरीर के अवयवों से हम युक्त हों और ४. **शिवेन मनसा**=कल्याणकर मन से, शिवसंकल्पवाले मन से, **सम् अगन्महि**=हम सङ्गत हों। ५. सात्त्विक भोजन के परिणामरूप जब हमारा मन शिवसंकल्पोंवाला होगा तब हम असन्मार्ग से धन कमानेवाले न होंगे। वह **त्वष्टा**=देवशिल्पी, हमारे अन्दर सब दिव्य गुणों का निर्माण करनेवाला प्रभु तथा (तनूकरणे) हमारे सब दुःखों को क्षीण (thin) करनेवाला, **सुदत्रः**=(सु+द+त्र) उत्तम दान से हमारा त्राण करनेवाला प्रभु हमारे लिए **रायः**=दान देने योग्य धनों का **विदधातु**=धारण करे। 'सात्त्विकता से धनों का सम्बन्ध ही न हो' ऐसी बात नहीं है। हाँ, सात्त्विक पुरुष अन्धाधुन्ध धन नहीं कमाता। यह कमाता है—सुपथ से तथा उन्हें दान में देने की रुचिवाला होता है। ६. वह प्रभु इन सात्त्विक आहारों के द्वारा **तन्वः**=शरीर का **यत्**=जो **विलिष्टम्**=(लिश् अल्पीभावे) न्यूनता व दोष हो उसे **अनुमार्ष्टु**=दूर करके शरीर का शोधन कर डाले।

भावार्थ—सात्त्विक आहार के परिणामरूप हमारा शरीर व बुद्धि ठीक हो, हम ठीक मार्ग से ही धन कमाएँ, हमारे शरीरों में कोई न्यूनता न रहे।

ऋषिः—अत्रिः। **देवता**—गृहपतयः। **छन्दः**—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

देवों की सुमति में ('अत्रि' बनना)

समि॑न्द्र णो॒ मन॑सा नेषि॒ गोभि॑ः सꣳसू॒रिभि॑र्मघव॒न्त्सꣳस्व॒स्त्या।
सं ब्रह्म॑णा दे॒वकृ॑तं॒ यदस्ति॒ सं दे॒वाना॑ꣳसुम॒तौ य॒ज्ञिया॑ना॒ꣳस्वाहा॑॥१५॥

उसी प्रकरण में कहते हैं कि १. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विदारण करनेवाले प्रभो! आप **नः**=हमें **मनसा**=प्रशस्त मननशील मन से **संनेषि**=सम्यक्तया सङ्गत करते हैं। सात्त्विक आहार के द्वारा हमारा मन पवित्र होता है। २. **गोभिः**=(गावः इन्द्रियाणि) उत्तम इन्द्रियों से आप हमें **संनेषि**=सङ्गत करते हो। ३. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यवन्! अथवा इन ऐश्वर्यों से विविध

यज्ञों (मघ=मख) को सिद्ध करनेवाले प्रभो! आप हमें **सूरिभिः**=विद्वानों के साथ **सं**=सङ्गत करते हो। इन विद्वानों के सम्पर्क से ही हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ उत्तमोत्तम ज्ञानों को प्राप्त कराके हमें उत्तम मननशील मनवाला बनाती है और इस प्रकार ४. **स्वस्त्या संनेषि**=आप हमें उत्तम-कल्याणमय जीवन से सङ्गत करते हैं। ५. इस उत्तम जीवन के लिए **ब्रह्मणा**=उस ज्ञान से हमें **सम्**=सङ्गत करते हैं **यत्**=जो ज्ञान **देवकृतम्**=महादेव आपसे सृष्टि के प्रारम्भ में अग्नि आदि ऋषियों के हृदय में **अस्ति**=प्रकाशित किया गया है। या जो ज्ञान विद्वान् ऋषि-मुनियों से दिया गया है। ६. हे प्रभो! आप ऐसी कृपा करो, जिससे हम सात्त्विक आहार से सात्त्विक रुचिवाले बनें और आप हमें **यज्ञियानाम्**=(यज्ञसम्पादिनाम्) यज्ञों का सम्पादन करनेवाले **देवानाम्**=देवों की **सुमतौ**=कल्याणी मति में **संनेषि**=सङ्गत कीजिए। ७. हे प्रभो! इस सबके लिए हम **स्वाहा**=आपके प्रति अपना अर्पण करते हैं अथवा स्वादादि की स्वार्थवृत्तियों को छोड़ते हैं।

भावार्थ—सात्त्विक आहार के द्वारा प्रभु हमारी रुचि को ही परिवर्तित कर देते हैं और हम विद्वानों-यज्ञिय देवों के सम्पर्क में रहकर अपने जीवनों को उत्तम बना पाते हैं। देवों की कल्याणी मति में रहते हुए हम 'काम-क्रोध-लोभ' से ऊपर उठते हैं। हमारा मन उत्तम होता है, कामादि तीनों से शून्य होने के कारण हम 'अ-त्रि' होते हैं।

ऋषिः—अत्रिः। **देवता**—गृहपतयः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

'सु-द-त्रः'

सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सꣳशिवेन।
त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम्॥१६॥

गत मन्त्र का अत्रि कहता है कि **सुदत्रः**=उत्तम ज्ञानों के दान से त्राण करनेवाले **त्वष्टा**=अविद्यादि दोषों को नष्ट करनेवाले प्रभु की कृपा से **वर्चसा**=ब्रह्मवर्चस् से **पयसा**=आप्यायन (वर्धन) से **तनूभिः**=बलयुक्त शरीरों से **शिवेन मनसा**=शिवसंकल्पवाले मन से **समगन्महि**=हम सङ्गत हों। वह प्रभु **रायः विदधातु**=दान देने योग्य धनों को हममें धारण करें और **तन्वः**=शरीर का जो **विलिष्टम्**=न्यूनीभाव है, उसे **अनुमार्ष्टु**=ठीक कर डालें, शोध डालें, न्यूनता को दूर करके हमारी पूर्णता करें। हमारे शरीर, मन व मस्तिष्क में कहीं भी त्रुटि न रह जाए। हम 'अ-त्रि' बनें—हमारे शरीर भी त्रुटिशून्य हों, मन और मस्तिष्क भी।

भावार्थ—वे प्रभु हमें उत्तम ज्ञान का दान करके अल्पीभाव से शून्य करें। हम न्यूनताओं को दूर करके शरीर, मन व मस्तिष्क में पूर्णता का स्थापन करें।

ऋषिः—अत्रिः। **देवता**—विश्वेदेवा गृहपतयः। **छन्दः**—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

गृहस्थ में कौन प्रवेश करे

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपा देवोऽअग्निः।
त्वष्टा विष्णुः प्रजया सꣳरराणा यजमानाय द्रविणं दधात स्वाहा॥१७॥

गृहस्थ के प्रकरण को ही आगे ले-चलते हुए कहते हैं कि १. **इदम्**=इस गृहस्थ को **जुषन्ताम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करें। कौन? (क) **धाता**=(धा=धारणपोषणयोः) जो धारण व पोषण की योग्यता रखता है, अर्थात् जो गृहस्थ की आवश्यकताओं के लिए आवश्यक

धन तो अवश्य कमाता है। (ख) **रातिः**=जो देनेवाला है (रा दाने)। गृहस्थ ने जहाँ अपने पालन-पोषण के लिए कमाना है वहाँ यज्ञों के लिए भी कमाना है। (ग) **सविता** =जो उत्पादक है, जो निर्माणात्मक कार्यों में लगता है और उत्पादन-शक्ति रखता है, अर्थात् सन्तान-निर्माण की योग्यता रखता है। (घ) **प्रजापतिः**=सन्तान की रक्षा करने में रुचिवाला है। (ङ) **निधिपाः** =अपने खज़ाने व कोश की रक्षा करनेवाला है। शरीर में उत्पन्न सोम ही इसकी वास्तविक निधि है, इस सोम की रक्षा से ही यह अपने ज्ञानकोश की भी रक्षा करता है। (च) **देवः**=यह उत्तम व्यवहारवाला है अथवा काम-क्रोधादि वासनाओं को जीतने की कामनावाला है (दिव्=व्यवहार, विजिगीषा)। (छ) **अग्निः** =प्रगतिशील है अथवा प्रकाश को प्राप्त तथा दोषों का दहन करनेवाला है। (ज) **त्वष्टा**=दिव्य गुणों का अपने में निर्माण करनेवाला (त्वष्टा=देवशिल्पी) अथवा सब बुराइयों को क्षीण करनेवाला (त्वक्ष्= तनूकरणे) है। (झ) **विष्णुः**=व्यापक व उदार मनोवृत्तिवाला है (विष्णु व्याप्तौ)। २. उल्लिखित नौ गुणों से युक्त गृहस्थों से कहते हैं कि (क) **प्रजया संरराणाः**=अपने सन्तान के साथ (संरराणाः=संरममाणाः) आनन्द को अनुभव करते हुए, उन्हीं के साथ क्रीड़ा करते हुए, खेल-खेल में ही उनका शिक्षण करते हुए। (ख) **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए **द्रविणम्**=धन को **दधात**=धारण करनेवाले बनो, अर्थात् उत्तम कर्मों में लगे हुए, लोकहित के कार्यों में व्यापृत लोगों के लिए धनों को धारण करनेवाले बनो। इन्हें पात्र जानकर दान देनेवाले होओ। **स्वाहा**=इसके लिए स्वार्थत्याग तो करना ही है।

भावार्थ—१. धातृत्व आदि नव गुणों से युक्त पुरुष ही गृहस्थ में प्रवेश का अधिकारी है। २. उसे प्रजा के निर्माण में आनन्द अनुभव करना चाहिए, तथा ३. पात्रों में दान देनेवाला होना चाहिए।

ऋषिः—अत्रिः। **देवता**—गृहपतयः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।।

गृहस्थ की तीन बातें

सुगा वो देवाः सदनाऽअकर्म यऽआजग्मेदꣳसवनं जुषाणाः।
भरमाणा वहमाना हवीꣳष्यस्मे धत्त वसवो वसूनि स्वाहा॥१८॥

१. हे **देवाः**=उत्तम व्यवहारवालो तथा काम-क्रोध-लोभ को जीतने की कामनावाले गृहस्थो! **ये**=जो तुम **इदं सवनम्**=इस सन्तान-निर्माण के साधनभूत गृहस्थ-यज्ञ को **जुषाणाः**= प्रीतिपूर्वक सेवन करते हुए **आजग्म**=आये हो, उन **वः**=तुम्हारे **सदना**=(सदनानि) घरों को **सुगाः**=सुन्दर गतिवाला, उत्तम क्रियाओंवाला **अकर्म**=करते हैं, अर्थात् जब गृहस्थ लोग सन्तान-निर्माणरूप यज्ञ को ही गृहस्थ में प्रवेश का उद्देश्य समझते हैं, तब घरों में उत्तम कार्य ही चलते हैं। २. ऐसे गृहस्थों से प्रभु कहते हैं कि (क) **भरमाणाः**=घर के सब सदस्यों का भरण करते हुए, उनके पालन-पोषण में कमी न आने देते हुए (ख) **हवींषि वहमाना**=हवियों का वहन करते हुए, अर्थात् घरों में यज्ञों को विलुप्त न होने देते हुए (ग) **अस्मे**=हमारी प्राप्ति के लिए **वसवः**=हे उत्तम निवासवाले गृहस्थो! आप **वसूनि**= उत्तमोत्तम बातों को, उत्तम गुणों व धनों को **धत्त**=धारण करो। **स्वाहा**=इस सबके लिए तुम स्वार्थत्याग करनेवाले बनो।

मन्त्रार्थ से स्पष्ट है कि १. गृहस्थ को गृहस्थाश्रम का उद्देश्य सन्तान-निर्माण ही समझना चाहिए। इस सद्गृहस्थ को चाहिए कि २. गृहस्थ का पालन-पोषण ठीक प्रकार से कर सके (भरमाणाः)। ३. यज्ञ की वृत्तिवाला हो (वहमाना हवींषि)। ४. तथा प्रभु-प्राप्ति

के उद्देश्य से उत्तम गुणों को धारण करनेवाला बने।

भावार्थ—१. हम गृहस्थ को यज्ञ समझें। २. इसमें गृहजनों के पालन-पोषण तथा यज्ञों के लिए धन कमानेवाले बनें और ३. उत्तम रत्नों को, रमणीय गुणों को धारण करें जिससे प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषि:—अत्रि:। **देवता**—विश्वेदेवा गृहपतय:। **छन्द:**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वर:**—धैवत:॥

असु-घर्म-स्व:

याँ२॥ऽआवहऽउशतो देव देवाँस्तान् प्रेरय स्वेऽअग्ने सधस्थे।
जक्षिवाᳬंसः पपिवाᳬंसश्च विश्वेऽसुं घर्मᳬंस्वरातिष्ठतानु स्वाहा॥१९॥

पिछले मन्त्र में घरों में यज्ञों की परिपाटी का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में उन यज्ञों के सम्पादन के लिए समय-समय पर सर्वहित की कामना करनेवाले विद्वानों को आमन्त्रित करने का वर्णन है, पर यह आमन्त्रण पत्नी की अनुकूलता के साथ ही होना चाहिए। मन्त्र का 'सधस्थ' शब्द इसी बात पर बल दे रहा है।

१. हे **देव**=उत्तम व्यवहारवाले व वासनाविजिगीषु गृहस्थ! **यान्**=जिन **उशत:**=मङ्गल की कामना करनेवाले **देवान्**=देवों को **आवह:**=(आहूतवान् असि—द०) आपने बुलाया है। हे **अग्ने**=घर की उन्नति करनेवाले! तू **तान्**=उन देवों को **स्वे**=अपने **सधस्थे**=सबके मिलकर ठहरने के स्थानभूत घर में, अर्थात् जिस घर में पति-पत्नी, घर के वृद्ध व सन्तान सभी मिलकर चल रहे हैं, जिसमें विरुद्धमति के कारण लड़ाई-झगड़ा नहीं है, उस घर में **प्रेरय**=प्रेरित कर, आने के लिए आमन्त्रित कर। २. यज्ञ हो चुकने पर **जक्षिवांस:**=जिन्होंने यज्ञशेष खाया है **च**=तथा **पपिवांस:**=शुद्ध जल का पान किया है **विश्वे**=वे तुम सब **असुम् अनु**=प्राणशक्ति को लक्ष्य बनाकर तथा **घर्मं अनु**=(घर्म=यज्ञ—नि० ३।१७) यज्ञ को लक्ष्य बनाकर (घर्म यज्ञ इसलिए है कि इससे मलों का क्षरण होता है और दीप्ति प्राप्त होती है—घृ क्षरणदीप्त्यो:) तथा **स्व: अनु** =स्वर्ग को तथा सुख को लक्ष्य बनाकर **आतिष्ठत**=सर्वथा उद्योग करो और **स्वाहा**=इसके लिए जितना भी 'स्व' का त्याग आवश्यक हो उतना 'हा' छोड़नेवाले बनो। ३. घरों में विद्वान् अतिथियों के आने से यज्ञादि का कार्यक्रम चलता रहता है और वैषयिक वृत्ति न होने से प्राणशक्ति सुरक्षित रहती है—यज्ञ होते रहते हैं और घर सुखमय स्वर्ग-सा बन जाता है। ४. इस सबके लिए **स्वाहा** =स्वार्थत्याग आवश्यक है।

भावार्थ—हम घरों में विद्वान् अतिथियों को आमन्त्रित करें। उनपर यह प्रभाव न पड़े कि घर में पति-पत्नी में मेल नहीं है। हम यज्ञशेष के खानेवाले बनें। 'प्राणशक्ति की वृद्धि, यज्ञों की प्रवृत्ति व घर को स्वर्गतुल्य बनाना' हमारा लक्ष्य हो।

ऋषि:—अत्रि:। **देवता**—गृहपतय:। **छन्द:**—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वर:**—धैवत:॥

होतृ-वरण

वयᳬंहि त्वा प्रयति यज्ञेऽअस्मिन्नग्ने होतारमवृणीमहीह।
ऋधगयाऽऋधगुताशमिष्ठा: प्रजानन् यज्ञमुपयाहि विद्वान्त्स्वाहा॥२०॥

१. गत मन्त्र में विद्वानों को घर में आमन्त्रित करने का उल्लेख था। उसी बात को कहते हैं कि **वयम्** =हम **हि**=निश्चय से **त्वा**=तुझ **होतारम्**=होता को **अस्मिन्**=इस **प्रयति**=(प्रगच्छति-प्रारभ्यमाणे) चल रहे **यज्ञे**=यज्ञ में **इह**=यहाँ अपने घर में **अवृणीमहि**=वरते

हैं। आपके निरीक्षण में हम इस यज्ञ को सफलतापूर्वक करनेवाले बनते हैं। २. हे **अग्ने**=मार्गदर्शक होतः! आप हमसे वृत होकर **ऋधगयाः**=(ऋधक् अयाः) इस यज्ञ को समृद्ध करते हुए पूर्ण करनेवाले हैं। **उत**=तथा **ऋधक्**=हमें समृद्ध करते हुए ही आपने **अशमिष्ठाः**=सब विघ्नों व उपद्रवों को शान्त किया है। हमारे मनों में होनेवाली अशान्ति को भी आपने दूर किया है। ३. हे होतः! **यज्ञं प्रजानन्**=यज्ञ को अच्छी प्रकार समझते हुए **विद्वान्** =ज्ञानी आप **उपयाहि**=हमें समीपता से प्राप्त होओ। आपके सम्पर्क में आते रहने से हमारी यज्ञियवृत्ति बनी रहेगी और **स्वाहा**=यह सुहुत=उत्तम यज्ञादि कार्य सदा चलते ही रहें।

भावार्थ—हम यज्ञों के लिए ज्ञानी होता का वरण करते हैं। उनकी सङ्गति में हमारे यज्ञ निर्विघ्न पूर्ण होते रहते हैं। हमारी चित्तवृत्ति भी शान्त होती है।

ऋषिः—अत्रिः। **देवता**—गृहपतयः। **छन्दः**—स्वराडार्ष्युष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

मार्ग-वित्

देवा॑ गातुविदो गा॒तुं वि॒त्त्वा गा॒तुमि॑त।
मन॑सस्पतऽ इ॒मं दे॑व य॒ज्ञꣳस्वाहा॒ वाते॑ धाः॥२१॥

१. हे **गातुविदः**=मार्ग को जाननेवाले **देवाः**=विद्वानो! **गातुं वित्त्वा**=मार्ग को जानकर **गातुम् इत**=मार्ग पर चलो। वस्तुतः देव या विद्वान् वही है जो संसार में अपनी जीवन-यात्रा के मार्ग को ठीक से जानता है। जानता ही नहीं, जानकर उस मार्ग पर चलता भी है। २. हे **मनसस्पते**=मन के पति! अपने मन को वश में करनेवाले ! **देव**=विद्वन्! तू **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **स्वाहा**=उत्तमता से करनेवाला हो। ३. ये यज्ञ तेरे जीवन को पवित्र बनाएँगे। इन यज्ञों को तूने **वाते**=वायु के निमित्त भी **धाः**=धारण करना है। इन यज्ञों के द्वारा वायुमण्डल पवित्र होगा और ऋतुओं की अनुकूलता होगी, अतः इन यज्ञों को तूने अवश्य करना है। इन यज्ञों के लिए ही मन को अपने वश में करने का प्रयत्न करना है।

भावार्थ—यज्ञ ही हमारी जीवन-यात्रा के मार्ग हों। इनसे जहाँ हमारा जीवन पवित्र हो, वहाँ वायुमण्डल की पवित्रता से आधिदैविक आपत्तियाँ भी दूर हों।

ऋषिः—अत्रिः। **देवता**—गृहपतयः। **छन्दः**—विराडार्च्युष्णिक्[क], विराडार्चीबृहती[र]। **स्वरः**—ऋषभः[क], मध्यमः[र]॥

यज्ञ

[क]य॒ज्ञ य॒ज्ञं ग॑च्छ य॒ज्ञप॑तिं गच्छ॒ स्वां योनि॑ं गच्छ॒ स्वाहा॑।
[र]ए॒ष ते॑ य॒ज्ञो य॑ज्ञपते स॒हसू॑क्तवाकः॒ सर्व॑वीर॒स्तं जु॑षस्व॒ स्वाहा॑॥२२॥

१. गृहस्थ के ही विषय में कहते हैं कि **यज्ञ**=(यो यजति सङ्गच्छते—द०) सबके साथ मिलकर प्रीतिपूर्वक चलनेवाले गृहस्थ! **यज्ञं गच्छ**=तू यज्ञ को प्राप्त हो, अर्थात् इस गृहस्थ में (यज् देवपूजा) विद्वानों के सत्काररूप धर्म को प्राप्त हो। तेरे घर में अतिथियज्ञ नियमपूर्वक चले। २. **यज्ञपतिं गच्छ**=तू सब यज्ञों के रक्षक परमात्मा को प्राप्त हो, प्रभु की उपासना करनेवाला बन। ३. **स्वाहा**=(सत्यया क्रियया—द०) इन यज्ञादि सत्य क्रियाओं को करता हुआ तू **स्वां योनिं गच्छ**=(प्रकृतिं स्वात्मस्वभावम्—द०) अपने स्वभाव को प्राप्त हो। **पुरुष** होने के नाते 'पौरुष' ही तो तेरा स्वभाव है, **मनुष्य** होने के नाते 'मननशीलता' वाला तू हो, **पञ्चजन** होने के कारण पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों कर्मेन्द्रियों व पाँचों प्राणों का तू विकास करनेवाला हो। ४. प्रभु के प्रति तेरी यही प्रार्थना हो कि हे प्रभो! **एषः ते**

यज्ञः=यह यज्ञ आपका ही है। इसके करनेवाले आप ही हैं, हम सब तो निमित्तमात्र हैं। यह यज्ञ **सहसूक्तवाकः**=ऋग्, यजुः आदि के सूक्तों के उच्चारण से युक्त है। **सर्ववीरः**=यह यज्ञ सब वीरोंवाला है, हमारे सब सन्तान भी इसमें सम्मिलित हुए हैं। **तं जुषस्व**=उसे आप प्रीतिपूर्वक सेवन कीजिए। **स्वाहा**=इस प्रकार हम आपके प्रति अपना अर्पण करते हैं।

भावार्थ—हम विद्वानों के सत्काररूप अतिथियज्ञ व प्रभु की उपासनारूप ब्रह्मयज्ञ को प्रतिदिन करनेवाले बनें। उत्तम कर्मों द्वारा प्रभु को प्रीणित करनेवाले हों।

ऋषिः—अत्रिः[३], शुनःशेपः[क]। **देवता**—गृहपतयः। **छन्दः**—याजुष्युष्णिक्[३], निचृदार्षीत्रिष्टुप्[क], आसुरीगायत्री[र]। **स्वरः**—ऋषभः[३], धैवतः[क], षड्जः[र]॥

विशाल संसार में सभी के लिए स्थान है

[३]माहिर्भूर्मा पृदाकुः। [क]उरुꣳहि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवाऽउ। अपदे पादा प्रतिधातवेऽकरुतापवक्ता हृदयाविधश्चित्। [र]नमो वरुणायाभिष्ठितो वरुणस्य पाशः॥२३॥

१. गत मन्त्र में यज्ञियवृत्ति का उल्लेख था। यज्ञियवृत्तिवाला व्यक्ति दूसरे से लड़ता नहीं, न हानि पहुँचाता है। मन्त्र में कहते हैं कि—**मा अहिः भूः**=तू साँप मन बन, अर्थात् कभी कुटिलता का आश्रय मत ले और न ही साँप की तरह औरों को डसनेवाला बन। कभी कड़वे—चुभनेवाले शब्द न बोल। २. **मा पृदाकुः**=तू अजगर मत बन। दूसरे की सम्पत्ति को हड़पनेवाला मत बन, क्योंकि उस **राजा वरुणः**=सारे संसार के शासक वरुण ने **हि**=निश्चय से **उरुम् चकार**=इस संसार को अत्यन्त विशाल बनाया है। दूसरे के भाग को हड़पकर क्या करना? परस्पर लड़ना भी क्यों? ३. उस प्रभु ने तो **सूर्याय उ**=सूर्य के लिए भी, जोकि पृथिवी से लाखों गुणा बड़ा है, **अन्वेतवा**=अनुक्रम से चलने के लिए, **पन्थाम्**=मार्ग को **चकार**=बनाया है फिर इस छोटे से देह में प्रविष्ट मेरे लिए इस संसार में कोई कमी है क्या? नहीं, मुझे अपने हृदय को विशाल बनाना चाहिए और छोटे-छोटे भू-भागों के लिए भाइयों से लड़ना न चाहिए। ४. **अपदे**=जहाँ पाँव का रखना भी कठिन था, जहाँ नाममात्र भी आना-जाना न था, वहाँ भी **पादा प्रतिधातवे** =पाँवों के प्रतिधारण—स्थापन के लिए **अकः**=उस प्रभु ने व्यवस्था कर दी। प्रभु-कृपा से जङ्गल में भी मङ्गल हो गया। जहाँ दिन में भी चलना कठिन था वहाँ रात में भी चलना सुगम हो गया, अतः मनुष्य को चाहिए यही कि परस्पर लड़ने की बजाय तनिक पुरुषार्थ से वीरान भू-भागों को आबाद कर ले। ५. **उत**=और वे प्रभु **हृदयाविधः**=दूसरे के हृदयों को पीड़ित करनेवाली वाणी बोलनेवाले की **चित्**=भी **अपवक्ता**=भर्त्स्ना करनेवाले हैं। उसे प्रभु अपनी गोद में स्थान नहीं देते। ६. हमें चाहिए कि हम प्रातः-सायं **वरुणाय नमः**=इस वरुण के प्रति नतमस्तक हों, **वरुणस्य पाशः**=उस वरुण का पाश **अभिष्ठितः**=दोनों ओर स्थित है। वे प्रभु ऐहलौकिक व पारलौकिक दोनों ही दण्ड देते हैं। औरों का भाग हड़पनेवाले को यहाँ नींद नहीं और परलोक में यह सर्पादि की हीन योनि में ही जाता है।

भावार्थ—हम संसार में सरलवृत्ति से चलें, औरों के भाग को न हड़प जाएँ। संसार अत्यन्त विशाल है, छोटे-छोटे भू-भागों के लिए परस्पर लड़ें नहीं। कभी मर्मपीड़ाकर वचन न बोलें।

ऋषिः—अत्रिः। **देवता**—गृहपतयः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

निर्मल व दीप्त भाषण (घृतोच्चारण)

अग्नेरनीकमपऽआविवेशापान्नपात् प्रतिरक्षन्नसुर्यम्।
दमेदमे समिधं यक्ष्यग्ने प्रति ते जिह्वा घृतमुच्चरण्यत् स्वाहा॥२४॥

गृहस्थ के लिए ही कहते हैं कि १. तुम अपना जीवन ऐसा बनाओ कि **अग्नेः**=अग्नि का **अनीकम्** =बल **अपः आविवेश**=जलों में प्रविष्ट हो। तुम्हारा जीवन जल की भाँति शान्त हो, परन्तु उस शान्ति में अग्नि की तेजस्विता हो। शान्ति में शक्ति का पुट हो। अग्नि व जल तत्त्व मिल जाएँ। वस्तुतः इनके मेल में ही रस की उत्पत्ति है। जीवन का वास्तविक आनन्द 'शान्ति+शक्ति' में है। २. तू **अपांनपात्**=(आपः रेतः) रेतस् का न गिरने देनेवाला हो। शरीर में शक्ति का संयम करनेवाला हो। **असुर्यम्**=(असवः प्राणाः तान् राति, तेषु साधुः) प्राणशक्ति देनेवालों में सर्वोत्तम इस सोम का तू **प्रतिरक्षन्**=शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रक्षा करनेवाला हो। यह सुरक्षित हुआ सोम ही तेरे प्रत्येक अङ्ग को शक्तिशाली बनाएगा। ३. इस सोम की रक्षा के लिए सब इन्द्रियों का विजय व दमन आवश्यक है। इस **दमेदमे**=प्रत्येक इन्द्रिय के दमन के निमित्त हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **समिधम्**=(इन्ध् दीप्तौ) उस सर्वतो देदीप्यमान प्रभु को **यक्षि**=अपने साथ सङ्गत कर, प्रभु की उपासना कर। यह उपासना तुझे इन्द्रियदमन में समर्थ करेगी और तू अपने शरीर में इस असुर्य सोमशक्ति की रक्षा कर पाएगा। ४. उस देदीप्यमान प्रभु का उपासक बनकर तू यह ध्यान कर कि **ते जिह्वा**=तेरी जिह्वा **प्रति**=प्रत्येक व्यक्ति के प्रति **घृतम्**=निर्मल व दीप्त शब्दों का **उच्चरण्यत्**=उच्चारण करे। प्रभु-भक्त कठोर शब्द थोड़े ही बोलता है। **स्वाहा**=यह सदा सुन्दर क्रिया से युक्त होता है।

भावार्थ—हम अपने जीवनों में शान्ति व शक्ति का समन्वय करें। वीर्य की रक्षा करें, यही हमें प्राणशक्ति-सम्पन्न करेगा। हम इन्द्रिय-विजय के लिए प्रभु का उपासन करें। उपासक बनकर उत्तम शब्द ही बोलें।

ऋषिः—अत्रिः। **देवता**—गृहपतयः। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

समुद्र में हृदय का धारण

समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्तः सं त्वा विशन्त्वोषधीरुतापः।
यज्ञस्य त्वा यज्ञपते सूक्तोक्तौ नमोवाके विधेम यत् स्वाहा॥२५॥

१. **ते**=तेरा हृदय **समुद्रे**=(स-मुद्रे) सदा आनन्द के साथ निवास करनेवाले आनन्दमय प्रभु में है, अर्थात् तू अपने हृदय में सदा प्रभु का स्मरण करता है **अप्सु अन्तः**=तेरा हृदय इन रेतःकणों में है (आपः रेतो भूत्वा), अर्थात् इनकी रक्षा का तुझे सदा ध्यान रहता है। वस्तुतः इन रेतःकणों की रक्षा से ही तो प्रभु का भी दर्शन होना है। २. अथवा **ते हृदयम्**=तेरा हृदय **समुद्रे**=इस समुद्र के समान व्यवहार के गाम्भीर्यवाले गृहस्थ में है तथा **अप्सु अन्तः**=(आपः=प्रजाः) तेरा ध्यान प्रजाओं में है (**यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्। तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥**—मनु)। ३. 'तेरा ध्यान प्रभु में लग सके, तू रेतःकणों की रक्षा कर सके तथा तू गृहस्थ का सुन्दर सञ्चालन करते हुए सुन्दर प्रजाओं का निर्माण कर सके' इस सबके लिए **त्वा**=तुझमें **ओषधीः उत आपः**=ओषधियाँ व जल

संविशन्तु=सम्यक्तया प्रविष्ट हों। इन सब कार्यों के लिए मनुष्य का भोजन सात्त्विक हो, मद्य-मांस के प्रयोग से वह दूर हो। ४. सात्त्विक आहारवाले हे **यज्ञपते**=यज्ञों के रक्षक! **त्वा**=तुझे **यज्ञस्य**=यज्ञों के **सूक्तोक्तौ**=सूक्तों के उच्चारण में तथा **नमोवाके**=नमस् के उच्चारण, प्रभु के आराधन में **विधेम**=स्थापित करते हैं **यत्**=यदि **स्वाहा**=तू तनिक स्वार्थ का त्याग करता है। स्वार्थत्यागी ही यज्ञों व प्रभु-ध्यान में प्रवृत्त हो पाता है।

भावार्थ—तू प्रभु में व सोमरक्षा में अपने हृदय को स्थापित कर। वानस्पतिक भोजन व जल का सेवन करनेवाला बन। तेरा जीवन यज्ञमय हो। तू निरन्तर प्रभु-उपासन करनेवाला हो।

ऋषिः—अत्रिः। **देवता**—गृहपतयः। **छन्दः**—स्वराडार्षीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

पति-पत्नी की पारस्परिक प्रेरणा

देवीरापऽएष वो गर्भस्तꣳसुप्रीतꣳसुभृतं बिभृत।
देव सोमैष ते लोकस्तस्मिञ्छञ्च वक्ष्व परि च वक्ष्व॥२६॥

पति पत्नी से कहता है—१. **देवीः आपः**=(देदीप्यमानाः विदुष्यः, शुभगुणकर्मविद्याव्यापिन्यः—द०, अप् व्याप्तौ) हे ज्ञान से दीप्त, सदा उत्तम कर्मों में व्याप्त रहनेवाली पत्नि! **एषः**=यह **वः**=तुम्हारा **गर्भः**=गर्भ है। **तम्**=इस गर्भस्थ बालक का **सुप्रीतम्**=श्रेष्ठ प्रीति के साथ **सुभृतम्**=और जैसे उत्तम रक्षा से धारण किया जाए, वैसे **बिभृत**=धारण व पोषण करो। (क) यदि माता सदा प्रसन्न मनवाली रहती है तो गर्भस्थ बालक का शरीर भी बड़ा सुन्दर बनता है। (ख) माता एक-एक क्रिया का ध्यान करती है तो बच्चे के चरित्र का निर्माण गर्भ में ही हो जाता है। ये ही दो बातें 'सुप्रीतम्' व 'सुभृतम्' इन क्रिया-विशेषणों से कही गई हैं। २. अब पत्नी पति से कहती है कि **देव**=हे दिव्य गुणों के पुञ्ज, ज्ञान से देदीप्यमान! **सोम**=शक्ति के पुञ्ज, संयमी जीवन के द्वारा सोम की रक्षा करनेवाले पते! **एषः**=यह गर्भस्थ बालक ही तो **ते लोकः** =तेरा लोक है, तेरे वंश को चलानेवाला है। तेरे भविष्य को प्रकाशमय (लोक=प्रकाश) बनानेवाला है। **तस्मिन्** =उसमें **शम्**=शान्ति को **वक्ष्व**=प्राप्त करा। **च**=और उससे **परिवक्ष्व**=सब पीड़ाओं को दूर करनेवाला हो। (सर्वाः आर्तीः परिवह—उ०)। संक्षेप में तू ऐसी उत्तम व्यवस्था कर कि तू गर्भस्थ बालक को कल्याण प्राप्त करानेवाला और उसके अकल्याण को दूर करनेवाला बन।

भावार्थ—पत्नी गर्भ का प्रेम से व पोषण की वृत्ति से धारण करे। पति इस बालक के लिए उसकी माता के दोहद (गर्भवती की इच्छा) को पूरा करता हुआ कल्याण प्राप्त कराए और अकल्याण को दूर करे।

सूचना—'आपः' शब्द नित्य बहुवचनान्त है, अतः यहाँ बहुवचन को देखकर बहुपत्नीत्व की कल्पना ठीक नहीं।

ऋषिः—अत्रिः। **देवता**—दम्पती। **छन्दः**—भुरिक्प्राजापत्यानुष्टुप्[क], स्वराडार्षीबृहती[र]।
स्वरः—गान्धारः[क], मध्यमः[र]॥

देवदेवानां समित् दीपन

[क]अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः। [र]अव देवैर्देवकृतमेनोऽयासिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतं पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि देवानाꣳसमिदसि॥२७॥

१. **अवभृथ**=हे यज्ञान्तस्नान करनेवाले! पति एक दिन गृहस्थ-यज्ञ में प्रविष्ट हुआ

था। सन्तान होने पर यह यज्ञ सफल व पूर्ण होता है, अत: सन्तान होने पर स्नान करनेवाला यह 'अवभृथ' ही है। २. **निचुम्पुण**=(नितरां मन्दगामिन्–द०) सदा धैर्य से, विचारपूर्वक धीमे-धीमे प्रत्येक कार्य को करनेवाले! यह कभी जल्दबाजी नहीं करता। विशेषकर सन्तानोत्पादन के कार्य में यह अत्यन्त मन्द गति से चलता है। ३. **निचेरुः असि**=(यो धर्मेण द्रव्याणि नित्यं चिनोति–द०) यह सदा धर्म से द्रव्यों का चयन करनेवाला है। अथवा ('निभृतं चरति अस्मिन्'–भट्टभास्कर) तू इस गृहस्थ में बड़े विश्वास के साथ चलनेवाला है। वस्तुत: गृहस्थ का मूलमन्त्र परस्पर विश्वास ही होना चाहिए। इसके बिना प्रेम में वृद्धि नहीं हो सकती। ४. **निचुम्पुणः**=तू **निचेरुः**=नितरां चरणशील तो है, परन्तु धैर्यपूर्वक धीमे-धीमे चलनेवाला है–देखकर पग रखनेवाला है। ५. **देवैः**=इन द्योतनात्मक (ज्ञानेन्द्रियों) व व्यवहार-साधक (दिव् दीप्ति, व्यवहार) (कर्मेन्द्रियों) इन्द्रियों से **देवकृतम्**=पृथिवी आदि देवों के विषय में किये गये अथवा विद्वानों के विषय में किये गये **एनः**=पाप को **अव अयासिषम्**=मैं दूर करनेवाला होऊँ। **मर्त्यैः**=मरणधर्मा मनुष्यों से **मर्त्यकृतम्**=मनुष्यों के विषय में किये जानेवाले कटु भाषण, द्रोहादि पापों से भी मैं **अव**=अपने को दूर रखनेवाला होऊँ। ६. हे **देव**=सब दानों के पति प्रभो! **पुरुराव्णः**=इस पालन व पूरण करनेवाली (पुरु) दान की वृत्ति के द्वारा (राव्णः) **रिषः**=हिंसा से **पाहि**=मेरी रक्षा कीजिए। दान के द्वारा लोभवृत्ति का संहार होकर सब पाप दूर हो जाते हैं। मनुष्य दान के द्वारा वासनाओं का खण्डन करके अपने जीवन का शोधन करता है। ७. हे प्रभो! दानवृत्ति द्वारा ही आप **'देवानां समित् असि'** हममें दिव्य गुणों को दीप्त करनेवाले हैं। सारी उत्तमताएँ प्रभुकृपा से ही प्राप्त हुआ करती हैं। वे प्रभु ही हममें दिव्य गुणों की ज्योति जगाते हैं।

भावार्थ–हम प्रत्येक कार्य में सफल हों, शान्तिपूर्वक चलें, उत्तम गुणों का चयन करें। न देवों के विषय में पाप करें, न मर्त्यों के विषय में। वासनाओं से प्राप्त होनेवाली हिंसा को दान द्वारा विनष्ट करें। दिव्य गुणों को दीप्त करें।

ऋषिः–अत्रिः। **देवता**–दम्पती। **छन्दः**–भुरिक्साम्न्युष्णिक्[ड], भुरिगासुर्य्युष्णिक्[र], प्राजापत्यानुष्टुप्[क]।
स्वरः–ऋषभः[ड],[र], गान्धारः[क]॥

दशमास्य एजन

[ड]एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह। [क]यथायं वायुरेजति यथा समुद्रऽएजति।
[र]एवायं दशमास्योऽअस्त्रज्जरायुणा सह॥२८॥

१. अब गर्भस्थ बालक बाहर आता है। उसके लिए कहते हैं कि–यह **दशमास्यः**=दस मासों में होनेवाला **गर्भः**=(गर्भे, स्त्रीगुणान् गृह्णाति गुणाश्चास्या गृह्यन्ते अथ गर्भो भवति–नि० १०।२३) माता-पिता के गुणों को ग्रहण करनेवाला यह गर्भ, अर्थात् गर्भस्थ बालक **जरायुणा सह**=आवरण के साथ **एजतु**=कम्पमय हो, कुछ गतिवाला हो। २. **यथा**=जैसे **अयम् वायुः**=यह वायु **एजति**=चलता है **यथा**=जैसे **समुद्रः**=समुद्र **एजति**=कम्पित होता है **एव**=इसी प्रकार **अयम् दशमास्यः**=यह दसवें मास में होनेवाला **जरायुणा सह**=जरायु के साथ **अस्त्रत्**=अधः स्रवतु–नीचे स्रुत हो, अर्थात् गर्भ से बाहर आये।

भावार्थ–जैसे वायु व समुद्र की स्वाभाविक गति व कम्पन है, इसी प्रकार दशमास्य गर्भ में भी कम्पन हो और वह मातृगर्भ से बाहर आये।

ऋषिः—अत्रिः। **देवता**—दम्पती। **छन्दः**—भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

यज्ञिय-गर्भ

यस्यै ते यज्ञियो गर्भो यस्यै योनिर्हिरण्ययी।

अङ्गान्यह्रुता यस्य तं मात्रा समजीगमꣳस्वाहा॥२९॥

१. **यस्यै**=(षष्ठ्यर्थे चतुर्थी) जिस उत्तम लक्षणवाली **ते**=तेरा **गर्भः**=गर्भ **यज्ञियः**=यज्ञिय है (यज्ञमर्हति) पवित्र है, उत्तम गुणों से सङ्गतीकरण योग्य है। २. **यस्यै**=जिसका **योनिः**=जन्मस्थान **हिरण्ययी** =रोगरहित व शुद्ध है (हृ=हरणे)। ३. अतएव **यस्य**=जिस गर्भस्थ बालक के **अङ्गानि**=सब अङ्ग **अह्रुता** =अकुटिल व सरल हैं। ४. **तम्**=उस बालक को **मात्रा**=माता के साथ **स्वाहा**=सम्यक् क्रिया से **समजीगमम्** =प्राप्त होऊँ।

मन्त्रार्थ से निम्न बातें स्पष्ट हैं—१. जब बच्चा गर्भस्थ है उसी समय से माता ने उसमें उत्तम गुणों को सङ्गत करने का प्रयत्न किया है। २. माता की योनि निर्दोष है। इसकी निर्दोषता पर ही स्वस्थ बालक की उत्पत्ति निर्भर है। ३. प्रयत्न यही हो कि बालक का कोई भी अङ्ग विकल न हो। ४. नियमित उत्पत्ति में माता व बालक दोनों पूर्ण स्वस्थ होने ही चाहिएँ।

भावार्थ—माता गर्भ में बालक के चरित्र का निर्माण कर देती है। वह माता है—गर्भमानकर्त्री है—गर्भ में बच्चे को बनानेवाली है।

ऋषिः—अत्रिः। **देवता**—दम्पती। **छन्दः**—आर्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

सन्तान—इन्दु का उदय (चन्द्रोदय)

पुरुदस्मो विषुरूपऽइन्दुरन्तर्महिमानमानञ्ज धीरः।

एकपदीं द्विपदीं त्रिपदीं चतुष्पदीमष्टापदीं भुवनानु प्रथन्ताꣳस्वाहा॥३०॥

गत मन्त्र के अनुसार यदि माता गर्भ में ही बालक का सुन्दरता से निर्माण करती है और उसकी योनि रोगरहित है तो चन्द्रतुल्य मुखवाले सुन्दर सन्तान का जन्म होता है। यह सन्तान १. **पुरुदस्मः**=(पुरुः बहुः दस्म उपक्षयो दुःखानां यस्मात्—द०) माता-पिता के सब कष्टों का निवारण करनेवाला होता है। वस्तुतः इसीलिए इसे पुत्र='पुनाति त्रायते' पवित्र बनाता है और त्राण करता है' इस नाम से कहते हैं। २. **विषुरूपः** =यह अत्यन्त सुन्दर रूपवाला होता है। वस्तुतः यदि गर्भ का धारण प्रसन्नतापूर्वक (सुप्रीतम् मन्त्र २६) किया जाए और उसके सुभरण (सुभृतं मन्त्र २६) का ध्यान किया जाए तो सन्तान सुन्दर रूपवाला क्यों न होगा? ३. **इन्दुः**=यह सन्तान तो चन्द्रतुल्य होता है अथवा (इन्द् to be powerful) बड़ा शक्तिशाली होता है। ४. **अन्तः**=यह गर्भ के अन्दर ही **महिमानम्**=महिमा को **आनञ्ज**=प्राप्त होता है (अञ्ज्=गति)। गर्भावस्था में ही माता ने इसे बड़ा सुन्दर बनाया है। ५. **धीरः**=यह धीर है, ज्ञानी है। ६. ऐसा सन्तान जब बड़ा होता है तब इसके कारण **भुवना**=(भवन्ति भूतानि येषां तानि गृहाणि—द०) प्राणियों के निवास-स्थानभूत घर, **एकपदीम्**='ओम्' इस एक पद का व्याख्यान करनेवाली, **द्विपदीम्**=अभ्युदय व निःश्रेयस को प्राप्त करानेवाली, **त्रिपदीम्**=वाणी, मन व शरीर के सुखों को प्राप्त करानेवाली, **चतुष्पदीम्**='धर्मार्थ-काममोक्ष' इन चारों पुरुषार्थों की प्रतिपादिका तथा **अष्टापदीम्**=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र इन चारों वर्णों व ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वनस्थ व संन्यास इन चारों आश्रमों का वर्णन

करनेवाली वेदवाणी के **अनु**=अनुसार **प्रथन्ताम्**=विस्तार को प्राप्त हों, अर्थात् ऐसे सन्तानों के कारण घरों की उन्नति-ही-उन्नति हो। ८. **स्वाहा**=इसके लिए—ऐसी सन्तानों के निर्माण के लिए हम स्वार्थत्याग करें। स्वार्थत्याग से ही उत्तम सन्तान प्राप्त होगी।

भावार्थ—घर में सन्तान आये तो ऐसा अनुभव हो कि चन्द्रोदय हो गया है। वेदवाणी के अनुसार जीवन बनाने की हमारी प्रवृत्ति बढ़े।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—दम्पती। **छन्दः**—आर्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

मरुतः

मरु॑तो॒ यस्य॒ हि क्षये॑ पा॒था दि॒वो वि॑महसः। स सु॑गो॒पात॑मो॒ जनः॑॥३१॥

१. 'पिछले मन्त्र के वर्णन के अनुसार हमारे सन्तान सुन्दर, श्रेष्ठ बनें' इसके लिए आवश्यक है कि माता-पिता प्राणसाधना करनेवाले हों, क्योंकि इस प्राणसाधना से इन्द्रियों के दोष दूर होकर हम प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'गो-तम'=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले बनते हैं। इन गोतमों की ही सन्तानें उत्तम होती हैं। २. अतः मन्त्र में कहते हैं कि **मरुतः**=हे प्राणो! **यस्य**=जिसके **क्षये**=घर में **हि**=निश्चय से **पाथ**=रक्षा करते हो **सः**=वह **जनः**=अपनी शक्तियों का विकास करनेवाला मनुष्य **सुगोपा-तमः**=उत्तमता से इन्द्रियों की रक्षा करनेवालों में श्रेष्ठ बनता है। ३. हे प्राणो! आप **दिवः**=प्रकाशमय हो। आपकी साधना से बुद्धि सूक्ष्म होकर कठिन-से-कठिन विषय का ग्रहण करनेवाली होती है। **विमहसः**=आप विशिष्ट तेजवाले हो। यह प्राणसाधना मनुष्य को तेजस्वी बनाती है। एवं, प्राणसाधना के दो लाभ हैं—(क) मस्तिष्क ज्ञानाग्नि से दीप्त बनता है। (ख) शरीर तेजस्वी होता है। इस प्रकार के माता-पिता की सन्तान निश्चय से उत्तम होगी। इसी कारण उत्तम सन्तान के प्रतिपादक गत मन्त्र के बाद यह प्राणसाधनावाला मन्त्र आया है। दूसरे शब्दों में इस साधना के होने पर सन्तान एक प्रकार से इन मरुतों के ही पुत्र होंगे, मारुति बनेंगे।

भावार्थ—हम प्राणसाधना करेंगे तो हमारे सन्तान मारुति=हनुमान् के समान प्रभु के सेवक बनेंगे। हमारे सन्तानों की इन्द्रियाँ बड़ी शुद्ध होंगी।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—दम्पती। **छन्दः**—आर्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

महनीय माता-पिता

म॒ही द्यौः पृ॑थि॒वी च॑ न॒ऽइ॒मं य॒ज्ञं मि॑मिक्षताम्। पि॒पृ॒तां नो॒ भरी॑मभिः॥३२॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्राणसाधना करनेवाला और **मही**=(मह पूजायाम्) प्रभु उपासक **द्यौः**=प्रकाशमय जीवनवाला पिता (द्यौष्पिता) **पृथिवी च**=और शक्तियों का विस्तार करनेवाली माता (पृथिवी माता) ये दोनों **नः**=हमारे **इमम्**=इस **यज्ञम्**=उत्तम गुणों से मेल करने योग्य सन्तान को **मिमिक्षताम्**=ज्ञान व गुणों से सिक्त कर दें। माता-पिता को चाहिए कि (क) अपने जीवनों को प्रकाशमय व शक्ति-विस्तारवाला बनाएँ। (ख) दोनों प्रभु के पुजारी हों। (ग) सन्तान को प्रभु की धरोहर समझें, यह समझें कि इन्हें उत्तम बनाने के लिए प्रभु ने इन्हें सौंपा है। यह सोचकर (घ) ये सन्तान को ज्ञान व दिव्य गुणों से युक्त करने के लिए प्रयत्नशील हों, सन्तान को ये 'यज्ञ' समझें (यज सङ्गतीकरण) इसे उन्हें उत्तम गुणों से सङ्गत करना है। ३. प्रभु कहते हैं कि **नः**=हमारी इस सन्तान को **भरीमभिः**=भरण व पोषण के द्वारा **पिपृताम्** =माता-पिता तुम दोनों पालित व पूरित करो। इसके शरीर को रोगों से सुरक्षित करो और मन की किन्हीं भी न्यूनताओं को दूर करके इसके मन को पूरित

करो। इस बालक के शरीर में रोग न आएँ, मनों में वासनाएँ न आ जाएँ। ३. इस प्रकार नीरोग व निर्मल हृदय बनकर यह इस संसार में (मेधया अतति) समझदारी से चलनेवाला 'मेधातिथि' बने। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—माता-पिता प्रकाशमय जीवनवाले तथा विस्तृत शक्तियोंवाले हों। ये सन्तानों को उत्तम ज्ञान व गुणों से सङ्गत करें। ये इसके शरीर को नीरोग बनाएँ तथा मन को दिव्य गुणों से पूरित करें।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—गृहपतयः। **छन्दः**—आर्ष्यनुष्टुप्[क], आर्ष्युष्णिक्[र]। **स्वरः**—गान्धारः[क], ऋषभः[र]॥

रथाधिष्ठान

[क]आतिष्ठ वृत्रहुन्रथं युक्ता ते ब्रह्मणा हरी। अर्वाचीनꣳसु ते मनो ग्रावा कृणोतु वग्नुना। [र]उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिनऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने॥ ३३॥

१. माता-पिता 'गत मन्त्र की भावना के अनुसार बन सकें' उसके लिए प्रभु जीव को निर्देश करते हैं कि—हे **वृत्रहन्**=कामवासना को नष्ट करनेवाले जीव! तू **रथम्**=इस शरीररूप रथ पर **आतिष्ठ**=अधिष्ठित हो। तू 'रथी' है, अतः वास्तव में ही 'रथी' बन। कहीं तू सो जाए और तेरा जीवन सारथि की दया पर ही निर्भर रह जाए। नहीं! तू जाग और सारथि को इस रथ को उद्दिष्ट स्थल पर पहुँचाने के लिए निर्देश दे। २. **ते**=तेरे इस रथ में **ब्रह्मणा**=प्रभु के द्वारा **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़े **युक्ता**=जोते गये हैं। अथवा **ब्रह्मणा**=ज्ञानपूर्वक बड़ी समझदारी से वे घोड़े जोते गये हैं। ३. **ग्रावा**=(गृ) वह हृदयस्थरूप से वेदज्ञान को देनेवाला परमात्मा **ते मनः**=तेरे मन को **वग्नुना**=इस वेदवाणी के द्वारा **अर्वाचीनम्**=अन्दर ही गति करनेवाला और विषयों में न भटकनेवाला **सुकृणोतु**=उत्तमता से करे। हमारा मन विषयों में भटकने की बजाय अन्दर ही स्थित हो और हृदयस्थ प्रभु की वाणी को सुननेवाला बने। ४. इस प्रकार **उपयामगृहीतः असि**=प्रभु की उपासना के द्वारा तू यम-नियमों से गृहीत है। ५. **त्वा**=तुझे मैंने इस संसार में **इन्द्राय**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनने के लिए ही भेजा है। **षोडशिने**=इन इन्द्रियों को वश में करके तूने अपने जीवन में सोलह कलाओं को धारण करना है। ६. **एषः**=यह शरीर ही **ते**=तेरा **योनिः**=घर है। इसमें रहते हुए तूने ऊपर उठना है। **इन्द्राय त्वा षोडशिने**=तुझे सोलह कलाओं से पूर्ण इन्द्र बनने के लिए ही यह शरीर दिया गया है। ७. सोलह कलाएँ प्रश्नोपनिषद् के अनुसार ये हैं—प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, ज्योति, जल, पृथिवी, इन्द्रियाँ (१०), मन, अन्न, वीर्य तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम।

भावार्थ—'गोतम' वह बनता है जो इस शरीररूपी रथ पर इन्द्र बनकर अधिष्ठित होता है और अन्तःस्थित प्रभु की वाणी को सुनता है। जितेन्द्रिय बनकर जीव सोलह कलाओं को धारण करता है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—गृहपतयः। **छन्दः**—विराडार्ष्यनुष्टुप्[क], आर्ष्युष्णिक्[र]। **स्वरः**—गान्धारः[क], ऋषभः[र]।

अश्वयोजन

[क]युक्ष्वा हि केशिना हरी वृषणा कक्ष्यप्रा। अथा नऽइन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिं चर [र]उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिनऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने॥ ३४॥

गत मन्त्र का इन्द्र यहाँ रथ में अश्वों का योजन करता है। प्रभु कहते हैं कि १. **हि**=निश्चय से **युक्ष्व** =तू इन इन्द्रियरूप घोड़ों को रथ में जोत। ये सदा चरते ही रह गये तो यात्रा कैसे पूरी होगी? चाहिए तो यह कि ये जुते-जुते ही बीच में थोड़ा खा-पी लें। २. कैसे घोड़ों का योजन? (क) **केशिना**=(केशाः रश्मयः तेजोराशयः तद्वन्तौ) ये घोड़े तेजोराशि-सम्पन्न हों, ज्ञानेन्द्रियरूप घोड़े खूब प्रकाशमय-ज्ञान के प्रकाशवाले हों तो कर्मेन्द्रियरूप घोड़े (ख) **वृषणा**=खूब शक्तिशाली हों। दोनों ही (ग) **हरी**=उद्दिष्ट स्थान पर ले-चलनेवाले हों तथा (घ) **कक्ष्यप्रा** =(कक्षे भवं कक्ष्यं, मध्यबन्धनं प्रातः पूरयतः) ये घोड़े मध्यबन्धन को भर लेनेवाले हों, अर्थात् खूब पुष्ट अवयवोंवाले हों, निर्बल न हों। इन्द्रियों को निर्बल करके वश में करने में क्या वीरता है, क्योंकि घोड़े ही निर्बल हो गये तो यात्रा पूरी कैसे होगी? ३. **अथ**=अब, अर्थात् पुष्ट घोड़ों को रथ में जोतकर **इन्द्र**=हे इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू **नः**=हमारी **गिराम्**=वाणियों को **उपश्रुतिम्**=समीपता से श्रवण **चर**=कर। इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनकर मनुष्य प्रभु का उपासक हो और अन्तःस्थ प्रभु की वाणी को सुने। ४. **उपयामगृहीतः असि**=तू प्रभु की उपासना द्वारा यम-नियमों से स्वीकृत जीवनवाला है। **इन्द्राय त्वा षोडशिने**=तुझे इस संसार में सोलह कलाओं से युक्त इन्द्र बनने के लिए भेजा गया है। **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरा घर है। तूने इधर-उधर भटकना नहीं। **इन्द्राय त्वा षोडशिने**=षोडशी इन्द्र बनने के लिए तुझे यह जीवन दिया गया है। इसे व्यर्थ समाप्त मत कर देना।

भावार्थ—हम इन्द्रियों को इस शरीररूपी रथ के घोड़े समझें। उन्हें रथ में जोतकर यात्रा को पूरा करें। इसी जीवन में हमने संयमी बनकर षोडशी बनना है। 'इस प्रकार हमारी इच्छाएँ मधुर बनी रहीं' तो हम मन्त्र के ऋषि 'मधुच्छन्दा' होंगे।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—गृहपतयः। **छन्दः**—आर्ष्यनुष्टुप्[क], विराडार्ष्युष्णिक्[र]। **स्वरः**—गान्धार[क], ऋषभः[र]॥

स्तुति+यज्ञ

[क]इन्द्रमिद्धरी वहतोऽप्रतिधृष्टशवसम्। ऋषीणां च स्तुतीरुप यज्ञं च मानुषाणाम्। [र]उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिनऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने॥ ३५॥

१. गत मन्त्र के अनुसार इन्द्रियरूपी घोड़ों को शरीररूप रथ में जोतकर यात्रा में आगे बढ़नेवाला व्यक्ति 'गोतम'=प्रशस्तेन्द्रिय बनता है। इस **इन्द्रम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता और अतएव प्रशस्तेन्द्रिय गोतम को **इत्**=निश्चय से **हरी**=ये ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियरूप घोड़े **वहतः**=उद्दिष्ट स्थल पर पहुँचानेवाले होते हैं। **अप्रतिधृष्टशवसम्**=जितेन्द्रियता के कारण ही यह न धर्षणीय बलवाला है। २. ये घोड़े ले-जाते हैं। कहाँ? **ऋषीणां च स्तुतीः उप**=तत्त्वद्रष्टाओं के स्तवनों के समीप तथा **मानुषाणाम्**=मानवहित में तत्पर लोगों के **यज्ञम् उप**=यज्ञ के समीप, अर्थात् यह जितेन्द्रिय पुरुष ज्ञानियों के समान स्तुति करनेवाला बनता है। इसके जीवन में भक्ति और यज्ञ का समन्वय चलता है। ३. प्रभु अपने इस भक्त से कहते हैं कि तू **उपयामगृहीतः असि**=मेरे समीप रहकर यम-नियमों को स्वीकार करनेवाला बना है। **इन्द्राय त्वा** =मैंने तुझे इस संसार में इन्द्र बनने के लिए भेजा है। **षोडशिने**=सोलह कला सम्पूर्ण बनने के लिए भेजा है। **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरा घर है। इस घर में रहकर **इन्द्राय त्वा षोडशिने**=तुझे जितेन्द्रिय व सोलह कलाओं से युक्त बनना है।

भावार्थ—मेरा जीवन 'इन्द्र' का जीवन हो, जितेन्द्रिय बनकर मैं ऋषियों के समान स्तवन करनेवाला बनूँ और मानवहितकारी यज्ञों में प्रवृत्त होऊँ।

ऋषिः—विवस्वान्। **देवता**—परमेश्वरः। **छन्दः**—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।।

स्तुति का स्वरूप

यस्मा॒न्न जा॒तः परो॑ऽअ॒न्योऽअस्ति॒ यऽआ॑वि॒वेश॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑।
प्र॒जाप॑तिः प्र॒जया॑ सꣳरराणस्त्रीणि॒ ज्योतीꣳषि सचते॒ स षो॑ड॒शी।। ३६।।

गत मन्त्र में स्तुति करने का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में स्तुति का स्वरूप प्रतिपादित करते हैं। १. **यस्मात्** =जिससे अधिक **जातः**=प्रसिद्ध व **परः**=उत्तम **अन्यः**=दूसरा **न अस्ति**= नहीं है। प्रकृति व जीव भी अनादि सत्ताएँ हैं, परन्तु परमात्मा के समान न तो वे प्रसिद्ध हैं और न ही उत्कृष्ट। २. यह परमात्मा सत्ता वह है **यः**=जो **विश्वा**=सब **भुवनानि**=भुवनों में, लोक-लोकान्तरों में, **आविवेश**=प्रविष्ट हो रही है। कोई भी पिण्ड उस सत्ता की व्याप्ति के बिना नहीं है। वस्तुतः अन्य सब पिण्ड उसी सत्ता से विभूतिमत्, श्रीमत् व ऊर्जित हो रहे हैं। ३. **प्रजापतिः**=वे प्रभु ही सब प्रजाओं के पति हैं, सबके अन्दर व्याप्त होकर उनकी रक्षा कर रहे हैं। **प्रजया संरराणः**=प्रजा के साथ सम्यक् रमण करनेवाले हैं। प्रजा की रक्षा वही कर सकता है जो प्रजा के साथ रमण करे। ४. इस प्रजा के कल्याण के लिए ही वे प्रभु **त्रीणि ज्योतींषि सचते**=तीन ज्योतियों को धारण करते हैं। द्युलोक का सूर्य, अन्तरिक्षलोक का वायु व विद्युत् और पार्थिवलोक की अग्नि प्रभु की दीप्ति से ही दीप्तिवाले हो रहे हैं। **'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'**। ४. प्राकृतिक पिण्डों व देवों को तो वे प्रभु देवत्व (ज्योति) प्राप्त करा ही रहे हैं, इसके साथ **सः**=वे प्रभु ही **षोडशी**=सोलह कलाओं के भी स्वामी हैं। प्रभु की उपासना से ही जीव इन सोलह कलाओं को प्राप्त किया करता है।

भावार्थ—प्रभु सर्वोपरि सत्ता हैं। सब देवों को देवत्व व सब प्राणियों को सोलह कलाएँ वे प्रभु ही प्राप्त कराया करते हैं। इस प्रकार प्रभु-स्तवन करनेवाला 'विवस्वान्'—सूर्य के समान अन्धकार को दूर करके प्रकाशवाला बनता है।

ऋषिः—विवस्वान्। **देवता**—सम्राड्माण्डलिकौ राजानौ। **छन्दः**—साम्नीत्रिष्टुप्[क], विराडार्चीत्रिष्टुप्[र]। **स्वरः**—धैवतः।।

स्तुति के लिए सौम्य भोजन

[क]इन्द्र॑श्च स॒म्राड् वरु॑णश्च॒ राजा॒ तौ ते॑ भ॒क्षं च॑क्रतु॒रग्र॑ऽए॒तम्।
[र]तयो॑र॒हमनु॑ भ॒क्षं भ॑क्षयामि॒ वाग्दे॒वी जु॑षा॒णा सोम॑स्य तृप्यतु स॒ह प्रा॒णेन॒ स्वाहा॑।। ३७।।

१. गत मन्त्र में प्रभु-स्तवन था। 'यह प्रभु-स्तवन सतत चलता ही रहे' इसके लिए सात्त्विक भोजन नितान्त आवश्यक है, अतः उसका उल्लेख करते हैं। **इन्द्रः च सम्राट्**=मैं जितेन्द्रिय और देदीप्यमान बनूँगा तथा **वरुणः च राजा**=द्वेष का निवारण करनेवाला और श्रेष्ठ व्यवस्थित जीवनवाला बनूँगा, **तौ** =ये दो बातें **अग्रे**=सर्वप्रथम **ते**=तेरे **एतम्**=इस **भक्षम्**= भोजन को **चक्रतुः**=करती हैं। **तयोः**=इन दोनों बातों के **अनु** =अनुसार **अहम्**=मैं **भक्षम्**=भोजन को **भक्षयामि**=खाता हूँ। मेरा भोजन सदा इन दो बातों का विचार करके होता है कि मैं (क) जितेन्द्रिय व देदीप्यमान=तेजस्वी बन सकूँ तथा (ख) निर्द्वेष=श्रेष्ठ मनवाला, अत्यन्त व्यवस्थित जीवनवाला हो सकूँ। २. **वाग्देवी**=यह मेरी 'देवी'—प्रभु-स्तवन करनेवाली जिह्वा

सोमस्य जुषाणा=सोम का प्रीतिपूर्वक सेवन करती हुई, अर्थात् सौम्य भोजनों को ही आनन्दपूर्वक खाती हुई **तृप्यतु**=तृप्ति का अनुभव करे। इन्हीं भोजनों में इसे आनन्द आये। इसकी रुचि ही सौम्य भोजनों की बन जाए। ३. **सह प्राणेन**=यह प्राणशक्ति से सम्पन्न हो। वस्तुत: वैश्वानराग्नि (जाठराग्नि) प्राणापान समायुक्त होकर ही अन्न का पाचन करती है। सौम्य भोजनों को करके मैं अधिक प्राणशक्ति-सम्पन्न बनता हूँ। ४. **स्वाहा**=इस सबके लिए मैं स्वार्थ का त्याग करूँ। स्वाद को छोड़नेवाला बनूँ। स्वाद को छोड़कर ही मैं सात्त्विक सौम्य भोजनों को करनेवाला बनता हूँ।

भावार्थ—भोजन का दृष्टिकोण 'जितेन्द्रियता, तेजस्विता, मानसपवित्रता व व्यवस्थित जीवन' हो। हम सौम्य भोजन करके प्राणशक्ति-सम्पन्न बनें। स्वाद को छोड़ें। यह ध्यान रक्खें कि आग्नेय पदार्थ प्रभु ने औषधरूप में बरतने के लिए बनाये हैं। सात्त्विक भोजन करके मैं ज्ञान की दीप्तिवाला 'विवस्वान्' बनूँगा।

ऋषि:—वैखानस:। **देवता**—राजादयो गृहपतय:। **छन्द:**—भुरिक्त्रिपाद्गायत्री[उ], स्वराडार्च्यनुष्टुप्[क] भुरिगार्च्यनुष्टुप्[र]। **स्वर:**—षड्ज:[उ], गान्धार:[क,र]॥

वर्चस्वान्

[उ]**अग्ने पवस्व स्वपाऽअस्मे वर्चः सुवीर्यम्। दधद्रयिं मयि पोषम्।**
[क]**उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा वर्चसऽएष ते योनिरग्नये त्वा वर्चसे।**
[र]**अग्ने वर्चस्विन्वर्चस्वाँस्त्वं देवेष्वसि वर्चस्वानहं मनुष्येषु भूयासम्॥३८॥**

१. गत मन्त्र के अनुसार 'सात्त्विक सौम्य' भोजन करनेवाला यह विवस्वान्=ज्ञान के प्रकाशवाला सब बुराइयों को समूल नष्ट कर डालता है। बुराइयों के वृक्ष को खोदकर उखाड़ डालने से यह 'वैखानस' कहलाता है। यह वैखानस प्रार्थना करता है कि—**अग्ने**=हे अग्रगति के साधक प्रभो! **पवस्व**=आप मेरे जीवन को पवित्र कर दीजिए। **स्वपा:**=(सु अपस्) आप ही सब उत्तम कार्यों को करनेवाले हैं। २. **अस्मे**=हमारे लिए **वर्च:**=वृत्त (चरित्र) और अध्ययन-सम्पत्ति को, सदाचार व शिक्षा को तथा **सुवीर्यम्**=उत्तम वीर्य को **दधत्**=आप धारण करनेवाले होओ। ३. **रयिम्**=दान देने योग्य धन को तथा **मयि**=मुझमें **पोषम्**=पोषण को प्राप्त कीजिए। आपकी कृपा से मैं धन को भी प्राप्त करूँ और पोषण को भी। यदि 'पोषम्' को 'रयिं' का विशेषण कर दें तो अर्थ इस प्रकार होगा कि मैं पोषण के लिए आवश्यक धन को प्राप्त करनेवाला बनूँ। ४. प्रभु इस वैखानस से कहते हैं कि **उपयामगृहीत: असि**=तूने उपासना द्वारा यम-नियमों को स्वीकार किया है। **अग्नये त्वा**= तुझे इस संसार में अग्नि बनने के लिए भेजा है। **वर्चसे**=वृत्ताध्ययन-सम्पत्ति के लिए भेजा है। तूने उन्नतिशील, सदाचारी, शिक्षित और ज्ञानी बनना है। **एष: ते योनि:**=यह शरीर ही तेरा घर है। **अग्नये त्वा वर्चसे**=अग्रगति के लिए तथा वृत्ताध्ययन-सम्पत्ति के अर्जन के लिए ही तूने जीवन-यापन करना है। ५. प्रभु की इस प्रेरणा को सुनकर 'वैखानस' प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **अग्ने**=सारे ब्रह्माण्ड की अग्रगति के साधक! **वर्चस्विन्**=वृत्ताध्ययन- सम्पत्ति-सम्पन्न प्रभो! आप ही आदर्शरूप में अग्नि हो, आप ही वृत्त व विद्या के आदर्श हो। **त्वम्**=आप **देवेषु**=इन देवों में **वर्चस्वान्**=वर्चस्वाले **असि**=हैं। वस्तुत: इन देवों में आपका ही वर्चस् दीप्त हो रहा है। **अहम्**=मैं **मनुष्येषु**=मनुष्यों में **वर्चस्वान्**=वर्चस्वाला **भूयासम्**=बनूँ। मनुष्यों में मैं आपका प्रतीक बनने का प्रयत्न करूँ, जैसे देवों में आप, वैसे मनुष्यों में मैं।

भावार्थ—हम उस अग्नि के समान 'वर्चस्वान्' बनें।

ऋषिः—वैखानसः। **देवता**—राजादयो गृहस्थाः। **छन्दः**—आर्षीगायत्री[उ, क], आर्च्युष्णिक्[र]।
स्वरः—षड्जः[उ, क], ऋषभः[र]॥

ओजिष्ठ

[उ]उत्तिष्ठन्नोजसा सह पीत्वी शिप्रेऽअवेपयः। सोममिन्द्र चमू सुतम्।
[क]उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वौजसऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वौजसे।
[र]इन्द्रौजिष्ठौजिष्ठस्त्वं देवेष्वस्योजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासम्॥३९॥

१. गत मन्त्र का 'वर्चस्वान्' प्रस्तुत मन्त्र में 'ओजिष्ठ' बनता है। यह सोमपान करता है और ओजस्वी बनकर शत्रुओं के जबड़ों को हिला देता है। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **चमू सुतम्**=द्यावापृथिवी, अर्थात् मस्तिष्क व शरीर के निमित्त पैदा किये गये **सोमम्**=वीर्यशक्ति को, सोम को **पीत्वी**=पीकर **ओजसा सह**=ओज के साथ **उत्तिष्ठन्**=ऊपर स्थित होता हुआ, अर्थात् सर्वतोन्मुखी उन्नति करता हुआ तू **शिप्रे**=शत्रुओं के जबड़ों को **अवेपयः**=कम्पित कर देता है, अर्थात् इस सोम के मद में तू कामादि सब शत्रुओं को शान्त कर देता है। २. इस वैखानस से प्रभु कहते हैं कि **उपयामगृहीतः असि**=तू उपासना द्वारा यम-नियमों का स्वीकार करनेवाला है। **इन्द्राय त्वा ओजसे**=तुझे शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला इन्द्र बनने के लिए मैंने भेजा है, ओजस्वी बनने के लिए। **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरा घर है। **इन्द्राय त्वा ओजसे**=इसमें रहते हुए तूने इन्द्र और ओजस्वी बनना है। ३. इस प्रभु के निर्देश को सुनकर वैखानस आराधना करता है कि हे **इन्द्र** =प्रभो! आप ही सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले हो, **त्वम्**=आप **देवेषु**=सब देवों में **ओजिष्ठः**=अधिक-से-अधिक शक्तिशाली हैं, आपके सम्पर्क में रहता हुआ **अहम्**=मैं **मनुष्येषु**=मनुष्यों में **ओजिष्ठः**=अधिक शक्तिशाली **भूयासम्**=बन पाऊँ।

भावार्थ—हम उस 'इन्द्र' के अनुसार ओजिष्ठ बनें।

ऋषिः—प्रस्कण्वः। **देवता**—राजादयो गृहपतयः। **छन्दः**—आर्षीगायत्री[क, उ], स्वराडार्षीगायत्री[र]। **स्वरः**—षड्जः॥

भ्राजिष्ठ

[उ]अदृश्रमस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ२ऽअनु। भ्राजन्तो अग्नयो यथा।
[क]उपयामगृहीतोऽसि सूर्याय त्वा भ्राजायैष ते योनिः सूर्याय त्वा भ्राजाय।
[र]सूर्य भ्राजिष्ठ भ्राजिष्ठस्त्वं देवेष्वसि भ्राजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासम्॥४०॥

१. प्रभु के समान ओजिष्ठ बनता हुआ यह चाहता है कि **जनान् अनु**=अपनी शक्तियों का विकास करनेवाले लोगों को लक्ष्य करके प्राप्त होनेवाले **अस्य**=इस प्रभु के **केतवः**=जो प्रज्ञान हैं तथा **वि रश्मयः**=विशिष्ट रश्मियाँ हैं उनको **अदृश्रम्**=देखूँ। इस प्रकार देखूँ **यथा**=जैसे **भ्राजन्तः**=ज्ञान की ज्योति से दीप्त पुरुष और **अग्नयः**=उन्नतिशील पुरुष देखा करते हैं। इन केतुओं और रश्मियों को सदा देखनेवाला मैं अपने इस जीवन में 'भ्राजमान' बन सकूँगा। २. प्रभु इससे कहते हैं कि **उपयामगृहीतः असि**=तू सुनियमों से स्वीकृत जीवनवाला है **सूर्याय त्वा भ्राजाय**=तुझे मैंने इस संसार में सूर्य बनने के लिए, चमकने के लिए भेजा है। **'पश्य सूर्यस्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्'**=यह सूर्य चलता हुआ थकता नहीं, इसी से चमकता है। तूने भी क्रियाशील रहना है और इस सूर्य की भाँति

चमकना है। **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरा घर है। **सूर्याय त्वा भ्राजाय**=तुझे सूर्य बनने के लिए तथा चमकने के लिए ही भेजा गया है। ३. अब यह प्रस्कण्व=मेधावी पुरुष प्रभु से प्रार्थना करता है कि **सूर्य**=हे प्रभो! स्वाभाविकी क्रियावाले होते हुए आप सारे ब्रह्माण्ड को गति दे रहे हैं। सब लोगों को आप ही कर्मों में प्रेरित कर रहे हैं। **भ्राजिष्ठ**=हे सर्वतो दीप्तिमन् प्रभो ! **त्वम्**=आप ही **देवेषु**=देवों में **भ्राजिष्ठः असि**=सर्वाधिक दीप्तिवाले हैं। **अहम्**=मैं भी **मनुष्येषु**=मनुष्यों में **भ्राजिष्ठः**=सर्वाधिक दीप्तिवाला **भूयासम्**=होऊँ।

भावार्थ—हम 'सूर्य' की भाँति भ्राजिष्ठ बनें।

ऋषिः—प्रस्कण्वः। **देवता**—सूर्यः। **छन्दः**—निचृदार्षीगायत्री[क], स्वराडार्षीगायत्री[र]। **स्वरः**—षड्जः॥

'वर्चस्वान्, ओजिष्ठ व भ्राजिष्ठ' बनने का साधन

[क]उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्।

[र]उपयामगृहीतोऽसि सूर्याय त्वा भ्राजायैष ते योनिः सूर्याय त्वा भ्राजाय॥४१॥

१. गत मन्त्रों में 'वर्चस्वान्, ओजिष्ठ व भ्राजिष्ठ' बनने की प्रेरणा दी गई है। प्रस्तुत मन्त्र में वैसा बनने का साधन बताते हैं। **उत् उ**=(उत्=out, बाहर) मनुष्य वर्चस्वान् आदि बन सकता है, परन्तु प्रकृति से ऊपर उठकर ही। २. जब प्रकृति से ऊपर उठकर हम उस प्रभु की ओर झुकते हैं तभी भोगों से क्षीणशक्ति न होने के कारण हम अपने को वर्चस्वी बना पाते हैं, अतः **केतवः**=ज्ञानी लोग **त्यम्**=उस **जातवेदसम्** =प्रत्येक पदार्थ में वर्त्तमान **देवम्**=दिव्य गुणों के पुञ्ज अथवा ज्ञान से दीप्त तथा हमारे हृदयों को ज्ञान से द्योतित करनेवाले **सूर्यम्**=सदा उत्तम कर्मों में प्रेरित करनेवाले प्रभु को **वहन्ति**=अपने हृदयों में धारण करते हैं। ३. इस धारण के द्वारा वे **विश्वाय दृशे**=सब लोकों के देखनेवाले बनते हैं (दृश् to look after)। जैसे माता बच्चे का ध्यान करती है इसी प्रकार प्रभु को हृदय में धारण करनेवाले ये सब लोगों का ध्यान करते हैं। ४. प्रभु कहते हैं **उपयामगृहीतः असि**=तेरा जीवन सुनियमों से स्वीकृत है। **सूर्याय त्वा**=तुझे इस संसार में सूर्य बनने के लिए भेजा है **भ्राजाय**=सूर्य की भाँति चमकने के लिए। **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरा घर है। **सूर्याय त्वा भ्राजाय** =सूर्य बनने के लिए तुझे भेजा गया है, चमकने के लिए। यह सूर्य बनना व सूर्य के समान चमकना तभी हो सकता है जब मनुष्य **उत्**=प्रकृति से कुछ ऊपर उठे।

भावार्थ—हम प्राकृतिक भोगों से ऊपर उठें, प्रभु को हृदय में धारण करें, सर्वहित की भावना से ओत-प्रोत हों, जीवन संयमी हो और हम सूर्य की भाँति चमकनेवाले बनें।

ऋषिः—कुसुरुविन्दुः। **देवता**—पत्नी। **छन्दः**—स्वराड्ब्राह्म्युष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

कलश का आघ्राण

आजिघ्र कलशं मह्या त्वा विशन्त्विन्दवः। पुनरूर्जा निवर्त्तस्व सा नः सहस्रं धुक्ष्वोरुधारा पयस्वती पुनर्माविशताद्रयिः॥४२॥

१. पिछले मन्त्रों में 'षोडशी' शब्द का प्रयोग कई बार हुआ है। प्रभु षोडशी इसलिए हैं कि वे सोलह कलाओं के स्वामी हैं और जीव षोडशी इसलिए है कि उसने इन सोलह कलाओं को धारण करना है। इन सोलह कलाओं का मूलस्थान प्रभु 'कल-श' कहलाते हैं **'कलाः शेरते अस्मिन्'**। पति पत्नी से कहता है कि तू **कलशम्**=इन कलाओं के आधारभूत प्रभु की **आजिघ्र**=चारों ओर गन्ध लेने का प्रयत्न कर। तुझे प्रत्येक पदार्थ में प्रभु

की महिमा का दर्शन हो। क्या दूध में, क्या फलों में, क्या शाकों में और क्या सन्तान के शरीर में—तुझे सर्वत्र प्रभु की महिमा दिखे। २. इस प्रभु की महिमा को स्मरण करती हुई तू **मही**=(मह पूजायाम्) उस प्रभु की उपासिका बन। ३. इस उपासना से **त्वा**=तुझमें **इन्दवः**=शक्ति के कण अथवा ऐश्वर्य **आविशन्तु**=प्राप्त हों। प्रभु के सम्पर्क में आने से प्रभु की शक्ति तो प्राप्त होगी ही। ४. इस प्रकार **पुनः**=फिर **ऊर्जा**=शक्ति से **निवर्तस्व**='नि' निश्चयपूर्वक वर्तस्व=वर्त्तमान हो, अर्थात् प्रभु-उपासना के द्वारा तू फिर से अपने को शक्ति से भर ले। ५. शक्ति से परिपूर्ण हुई-हुई **सा**=वह तू **नः**=हमें **सहस्रम्**=आमोद-प्रमोद के साथ (स+हस्), बिना किसी प्रकार के क्रोध के, खेल-खेल में ही **धुक्ष्व**=प्रपूरित कर, घर के सब सभ्यों में अच्छाइयों को भरने का प्रयत्न कर। ६. **उरु धारा**=(उर्वी धारा यस्य, धारा=वाक्) ज्ञान की वाणियों को खूब प्राप्त करनेवाली, स्वाध्याय के द्वारा निरन्तर अपने ज्ञान को बढ़ानेवाली **पयस्वती**=सर्वतः प्रशस्त आप्यायनवाली—स्वयं अपने शरीर, मानस व बौद्धिक विकास को करनेवाली बनकर तू सन्तानों के अन्दर भी उत्तमताओं को भरनेवाली बन। ७. **पुनः**=फिर, अर्थात् उपर्युक्त बातों के होने पर **मा**=मुझे **रयिः**=धन **आविशतात्** =समन्ततः प्राप्त हो। उत्तम पत्नी जब घर के कार्य अच्छी प्रकार सँभाल लेती है तब पति निश्चिन्तता से गृहस्थ व्यय के लिए धनार्जन में लगता है।

भावार्थ—हम सर्वत्र प्रभु की महिमा देखें, प्रभु के उपासक बनें और प्रभु की शक्ति से अपने को शक्ति-सम्पन्न करें। प्रभु से अपना मेल करनेवाला व्यक्ति 'कुसुरु' है (कुस् to embrace) इस मेल से शक्ति-लाभ करनेवाला यह 'विन्दु' (विन्दति=लभते) है। एवं, इसका नाम ही 'कुसुरुविन्दु' पड़ गया है।

ऋषिः—कुसुरुविन्दुः। **देवता**—पत्नी। **छन्दः**—आर्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

अघ्न्या

इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिते सरस्वति महि विश्रुति।
एता तेऽअघ्न्ये नामानि देवेभ्यो मा सुकृतं ब्रूतात्॥४३॥

१. गत मन्त्र में मुख्य भावना प्रभु के सम्पर्क में आने की है। प्रभु के सम्पर्क में आनेवाला यह व्यक्ति प्रभु की वेदवाणी का अध्ययन करता है और कहता है कि हे **अघ्न्ये**=(अ हन् य) कभी नष्ट न करने योग्य, अर्थात् बिना विच्छेद के निरन्तर पढ़ने योग्य वेदवाणि! तू **देवेभ्यः**=विद्वानों के द्वारा **मा**=मेरे लिए **सुकृतम्** =पुण्य का **ब्रूतात्**=उपदेश कर, अर्थात् विद्वान् आचार्यों से हम इस वेद का उपदेश सुनें और अपने कर्त्तव्यों को जानें। २. हे वेदवाणि! तू **इडे**=उपासनीय है (ईड स्तुतौ=स्तोतुमर्हे—द० ईड्यते—म०) अथवा **इडा**=इ-ला= A law=तू जीवन का एक कानून (काण्ड) है। प्रभु ने मनुष्य को यह शरीर देते हुए यह वेदवाणी रूप जीवन का नियम भी दे दिया कि तूने इसके अनुसार अपना जीवन चलाना है। ३. **रन्ते**=यह वेदवाणी रमणीय है (रमयति इति) इस वेदवाणी में अत्यन्त सुन्दरता से कर्त्तव्यों व ज्ञानों का उपदेश दिया गया है। ४. **हव्ये**=यह हव्या है, उच्चारण के योग्य है। इसका नियम से पाठ करना भी पुण्य के लिए है। आचार्य के शब्दों में पाठ करनेवाले भी श्रेष्ठ हैं, अर्थज्ञ तो श्रेष्ठतर हैं और क्रिया में लानेवाले श्रेष्ठतम। ५. **काम्ये**=यह चाहने योग्य है। अथवा 'आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविण, ब्रह्मवर्चस् व मोक्ष' आदि सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाली है।

६. इन सब कामनाओं को पूर्ण करने के कारण ही **चन्द्रे**=आह्लादित करनेवाली है। ७. **ज्योते**=दीप्तिमय है, सब ज्ञानों का प्रकाश करनेवाली है। ८. **अदिते**=ज्ञान के प्रकाश के द्वारा ही यह हमें न खण्डित करनेवाली है। हमारे शरीर, मन व बुद्धियों को उत्तम बनानेवाली है। ९. **सरस्वति**=यह ज्ञान के जलवाली है। १०. **महि**=हमारे जीवनों को महनीय बनानेवाली है। ११. **विश्रुति**=यह विविध ज्ञानों के श्रवणवाली है। इसमें सब विद्याओं का श्रवण होता है। १२. इस प्रकार हे **अघ्न्ये**=अहन्तव्य, सदा पठन के योग्य वेदवाणि! **एता ते नामानि**=ये उल्लिखित तेरे नाम हैं। तू विद्वानों के द्वारा हमें पुण्यों का उपदेश कर।

भावार्थ—वेदवाणी को 'अघ्न्या' जानकर हम उसका नित्य स्वाध्याय करें और अपने कर्त्तव्यों को जानकर पुण्य का आचरण करें। यह आचरण ही हमें 'कुसुरु'=प्रभु से मेलवाला व 'विन्दु'=मोक्षलाभ करनेवाला बनाएगा।

ऋषिः—शासः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्[क], स्वराडार्षीगायत्री[र]। **स्वरः**—गान्धारः[क], षड्जः[र]॥

पापों के साथ संग्राम

[क]वि नऽइन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः। योऽअस्माँ२॥ऽअभिदासत्यधरं गमया तमः। [र]उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विमृधऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा विमृधे॥४४॥

गत मन्त्र के अनुसार वेदवाणी के द्वारा अपने कर्त्तव्यों का आचरण करनेवाला संयमी पुरुष 'शास' आत्मशासन करनेवाला है। यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि १. **इन्द्र**=हे सब आसुरवृत्तियों के संहार करनेवाले प्रभो! **नः**=हमारे **मृधः**=काम-क्रोधादि आन्तर शत्रुओं को **विजहि**=विशेषरूप से नष्ट कर दीजिए। २. **पृतन्यतः**=हमारे साथ निरन्तर संग्राम करनेवाले इन वासनात्मक शत्रुओं को **नीचा यच्छ**=नीचा दिखानेवाले होओ। इनको पाँवों तले कुचल दीजिए। ३. **यः अस्मान् अभिदासति**=जो भी हमें दास बनाना चाहता है उसे **अधरं तमः गमय**=घोर अन्धकार में, पाताललोक में प्राप्त कराइए, अर्थात् हम वासनाओं के शिकार न हों, उनसे कुचले न जाएँ, वासनाओं के दास न बन जाएँ। ४. प्रभु इस 'शास' से कहते हैं कि **उपयामगृहीतः असि**=तू यम-नियमों से स्वीकृत जीवनवाला है। **त्वा**=तुझे **इन्द्राय**=इन्द्र बनने के लिए यहाँ भेजा है, शासन करनेवाला बनने के लिए, न कि दास बनने के लिए, **विमृधे**=शत्रुओं को पूर्ण रूप से नष्ट करने के लिए भेजा है। **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरा घर है, तूने इधर-उधर भटकना नहीं है। **इन्द्राय त्वा विमृधे**=तुझे इन्द्र बनना है, शत्रुओं को कुचलना है।

भावार्थ—मैं इन्द्र बनूँ। इन्द्रियों का शासन करनेवाला 'शास' होऊँ। वासनाओं को काबू करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—शासः। **देवता**—ईश्वरसभेशौ राजानौ। **छन्दः**—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्[क], विराडार्ष्यनुष्टुप्[र]। **स्वरः**—धैवतः[क], गान्धारः[र]॥

वाचस्पति विश्वकर्मा

[क]वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजेऽअद्या हुवेम। स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा। [र]उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विश्वकर्मणऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे॥४५॥

गत मन्त्र में 'शास' ने प्रभु की इस प्रेरणा को सुना था कि 'विमृधे'=शत्रुओं के कुचलने के लिए तुझे इस संसार में भेजा है। इन शत्रुओं से युद्ध करता हुआ 'शास' प्रभु से प्रार्थना करता है कि १. **वाचस्पतिम्**=वेदवाणी के पति, **विश्वकर्माणम्**=इस विश्व-संसाररूप कर्मवाले, अर्थात् संसार का निर्माण करनेवाले **मनोजुवम्**=हृदयस्थरूपेण प्रेरणा देनेवाले आपको ही **अद्य**=आज **ऊतये**=इन शत्रुओं के आक्रमण से अपनी रक्षा के लिए तथा **वाजे**=शक्ति-प्राप्ति के निमित्त **हुवेम**=पुकारते हैं। वस्तुतः हे प्रभो! आपसे ही शक्ति प्राप्त करके मैंने इन शत्रुओं को जीतना है। २. **सः**=वह प्रभु **नः**=हमारी **विश्वानि हवनानि जोषत्**=सब पुकारों को सुने। हम अपने को इस योग्य बनाएँ कि हमारी प्रार्थना प्रभु के द्वारा अवश्य सुनी जाए। ३. वे प्रभु ही **विश्वशम्भूः**=सब प्रकार की शान्तिप्रदाता हैं। प्रभुकृपा से ही शरीरों के रोग, मनों की चिन्ताएँ दूर होती हैं और बुद्धियों की भ्रान्तियाँ भी वे प्रभु ही दूर करते हैं। ४. वे प्रभु **अवसे**=हमारे रक्षण के लिए होते हैं और **साधुकर्मा**=हमारे माध्यम से सब उत्तम कर्मों को करनेवाले हैं। ५. प्रभु 'शास' से कहते हैं **उपयामगृहीतः असि**=तू उपासना द्वारा यम-नियमों का स्वीकार करनेवाला है। **इन्द्राय त्वा**=तुझे जितेन्द्रिय बनने के लिए यह शरीर दिया गया है **विश्वकर्मणे**=तूने सब कर्म निर्माणात्मक ही करने हैं। **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरा घर है। **इन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे**=तूने जितेन्द्रिय बनना है और इस विश्व में सदा निर्माणात्मक कार्यों का करनेवाला बनना है।

भावार्थ—प्रभु वेदवाणी के पति हैं। वे हमें हृदयस्थरूपेण प्रेरणा देते हैं। हम उनकी प्रेरणा को सुनें और तदनुसार कर्मों को करते हुए जीवन को शान्त बनाएँ।

ऋषिः—शासः। **देवता**—विश्वकर्मेन्द्रः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्[क], विराडार्ष्यनुष्टुप्[र]।
स्वरः—धैवतः[क], गान्धारः[र]॥

राजा

[क]विश्वकर्मन् हविषा वर्धनेन त्रातारमिन्द्रमकृणोरवध्यम्। तस्मै विशः समनमन्त पूर्वीरयमुग्रो विहव्यो यथासत्। [र]उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विश्वकर्मणऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे॥४६॥

'लोगों के जीवन वेदानुकूल बनें' इसमें राजा का भी मुख्य हाथ होता है, अतः प्रस्तुत मन्त्र राजा के विषय में है। राजा को प्रस्तुत मन्त्र में 'अवध्य' कहा है। 'A king can do no wrong' यह अंग्रेज़ों का सिद्धान्त इसी भावना को व्यक्त कर रहा है। राष्ट्रपति पर अभियोग नहीं चलाया जा सकता। मन्त्र में कहते हैं कि—१. **विश्वकर्मन्**=हे सब कर्म करनेवाले प्रभो! **वर्धनेन**=प्रजा व राजा दोनों के वर्धन के कारणभूत **हविषा**=राष्ट्र-कर के द्वारा **त्रातारम्**=प्रजा की रक्षा करनेवाले **इन्द्रम्**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले राजा को **अवध्यम्**=न मारने योग्य **अकृणोः**=आपने बनाया है, अर्थात् (क) राजा को कर इस रूप में लेना चाहिए जिससे प्रजा व राजा दोनों का वर्धन हो। 'कर' अधिक मात्रा में न लिया जाए। अधिक कर लेने से प्रजा व राजा दोनों का ही उच्छेद हो जाता है। (ख) राजा को जितेन्द्रिय होना चाहिए। जितेन्द्रिय राजा ही शत्रुओं का विद्रावण कर पाता है (ग) राजा प्रभु का प्रतिनिधि है, अतः वह अवध्य कहा गया है। विवशता में उसे गद्दी से हटाकर, राजा न रहने पर ही दण्ड दिया जाता है। २. **तस्मै**=उस राजा के लिए **पूर्वीः**=अपना पूरण करनेवाली **विशः**=प्रजाएँ **समनमन्त**=सम्यक् आदर करनेवाली हों। ३. जब सब प्रजाएँ राजा

का सम्मान करती हैं तो **अयम्**=यह **उग्रः**=तेजस्वी होता है और **विहव्यः**=विशिष्ट 'कर' को प्राप्त करनेवाला होता है—प्रजाएँ इच्छापूर्वक उसे कर देती हैं। प्रजाओं को चाहिए कि राजा का इस रूप में आदर करें **यथा**=जिससे यह अन्य राष्ट्रों से भी **विहव्यः**=निमन्त्रित किया जाने योग्य **असत्**=हो। अन्य राष्ट्र भी इसे अपना विवाद समाप्त करने के लिए आमन्त्रित करें। ४. प्रभु इस शासक से कहते हैं कि **उपयामगृहीतः असि**=तूने उपासना द्वारा यम-नियमों का स्वीकार किया है। **इन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे**=तुझे जितेन्द्रिय बनकर सब कर्मों को करने के लिए भेजा है। **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरा घर है। **इन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे**=इसमें रहते हुए तुझे जितेन्द्रिय बनना है और निर्माण के सब कार्यों को करना है।

भावार्थ—राजा उचित कर लेनेवाला और प्रजा की रक्षा करनेवाला हो, जिससे यह प्रजा का आदरणीय बने। प्रजा का आदरणीय बनकर यह तेजस्वी हो और सब राष्ट्रों के आमन्त्रण में विहव्य=विशिष्ट आदर से निमन्त्रित किया जाने योग्य हो।

ऋषिः—शासः। **देवता**—विश्वकर्मेन्द्रः। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

राजा के लिए चार बातें

उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽस्य॒ग्नये॑ त्वा गाय॒त्रच्छ॑न्दसं गृह्णा॒मीन्द्रा॑य त्वा त्रि॒ष्टुप्छ॑न्दसं गृह्णा॒मि विश्वे॑भ्यस्त्वा दे॒वेभ्यो॒ जग॑च्छन्दसं गृह्णाम्यनु॒ष्टुप्ते॑ऽभिग॒रः॥४७॥

गत मन्त्र की भावना को ही प्रकारान्तरेण दृढ़ करते हुए कहते हैं कि—१. हे राजन्! तुम **उपयामगृहीतः असि**=उपासना द्वारा अपने जीवन में यम-नियम का स्वीकार करनेवाले हो **अग्नये त्वा**=तुझे राष्ट्र में अग्रणी बनने के लिए, राष्ट्र को आगे ले-चलने के लिए **गृह्णामि**=मैं ग्रहण करता हूँ। उस तुझे ग्रहण करता हूँ जो तू **गायत्रच्छन्दसम्**=प्रभु के स्तवन की कामनावाला है (गायति इति गायत्रः, छन्द=इच्छा) अथवा जो तू गायत्री छन्द के मन्त्रों के अर्थ के विज्ञान से युक्त है। २. **इन्द्राय त्वा**=शत्रुओं के विद्रावण के लिए तुझे **गृह्णामि**=स्वीकार करता हूँ जो तू **त्रिष्टुप् छन्दसम्**=(त्रिष्टुप्=stop) काम, क्रोध व लोभ तीनों को रोकने की कामनावाला है। अथवा त्रिष्टुप् छन्द के मन्त्रों के अर्थ के विज्ञान से युक्त है। ३. **विश्वेभ्यः त्वा देवेभ्यः**=सब दिव्य गुणों के प्रसार के लिए, राष्ट्र में अच्छाई को फैलाने के लिए तुझे **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। उस तुझे स्वीकार करता हूँ जो तू **जगत् छन्दसम्**=निरन्तर क्रियाशीलता की इच्छावाला है। अथवा जगती छन्द के मन्त्रों के अर्थ के विज्ञान से युक्त है। ४. **अनुष्टुप्**=(अनुष्टोभते स्तभ्नाति अज्ञानम्) अज्ञान का नाश ही **ते**= तेरा **अभिगरः**=(अभिष्टवः) प्रभु-स्तवन है, अर्थात् प्रजा के अज्ञानान्धकार को दूर करना ही उसकी प्रभु-स्तुति हो जाती है।

भावार्थ—राजा बनने योग्य वह है जो १. राष्ट्र की प्रगति के लिए प्रभु-स्तवन की कामनावाला है। २. शत्रुओं के विद्रावण के लिए काम-क्रोध-लोभ को जीतने की इच्छा करता है। ३. दिव्य गुणों के विस्तार के लिए निरन्तर क्रियाशील होता है। ४. प्रजा के अज्ञानान्धकार को दूर करना ही अपना प्रभु-स्तवन मानता है।

सूचना—१. राजा को अपने निज जीवन में प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाला; काम, क्रोध व लोभ को रोकनेवाला तथा क्रियाशील होना चाहिए। २. उसे राज्य को आगे ले-चलने का प्रयत्न करना है, शत्रुओं से राष्ट्र की रक्षा करनी है तथा राष्ट्र में दिव्य गुणों को फैलाने का प्रयत्न करना है और राष्ट्र से अज्ञान को दूर करना है।

ऋषिः—देवाः। देवता—प्रजापतयः। छन्दः—आसुरीत्रिष्टुप्[१], याजुषीत्रिष्टुप्[३], याजुषीजगती[२,४,५], साम्नीबृहती[६]। स्वरः—धैवतः[१,३], निषादः[२,४,५], मध्यमः[६]॥

राजा का सदाचारित्व=सच्चरित्रता

[१]व्रेशीनां त्वा पत्मन्नाधूनोमि [२]कुकूननानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि। [३]भन्दनानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि [४]मदिन्तमानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि। [५]मधुन्तमानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि [६]शुक्रं त्वा शुक्रऽआधूनोम्यह्नो रूपे सूर्यस्य रश्मिषु॥४८॥

राजा धनाधिक्य के कारण कहीं चरित्रभ्रष्ट न हो जाए, अतः राजपत्नी कहती है कि—१. **व्रेशीनाम्**=(व्रजन्ति शेरते) जो निष्प्रयोजन केवल दिखावे के लिए इधर-उधर घूमती हैं और खाली समय सोती हैं, उन सुरूप स्त्रियों में **पत्मन्**=गिर जानेवाले **त्वा**=तुझे **आधूनोमि**=सर्वतः कम्पित करती हूँ, अर्थात् उनके समीप जाने से तुझे रोकती हूँ। २. **कुकूननानाम्**=(कु शब्दे कुवन्ति) कोयल की भाँति मधुर स्वर में सङ्गीत के शब्दों को करनेवालियों में **पत्मन्**=गिर जानेवाले **त्वा**=तुझे **आधूनोमि**=सर्वतः कम्पित करती हूँ, अर्थात् उनके फन्दे में पड़ने से बचाती हूँ। ३. **भन्दनानाम्**=(भदि कल्याणे सुखे च) अधिक-से-अधिक आराम के जीवनवाली इन स्त्रियों में **पत्मन्**=गिर जानेवाले **त्वा**=तुझे **आधूनोमि**=कम्पित करके इनसे दूर करती हूँ। ४. **मदिन्तमानाम्**=मादकता को पैदा करनेवाली इन स्त्रियों में **पत्मन्**=गिर जानेवाले **त्वा**=तुझे **आधूनोमि**=कम्पित करके सर्वथा दूर करती हूँ। ५. **मधुन्तमानाम्**=अतिशयेन माधुर्य गुण से युक्त, ऊपर से अत्यन्त मीठे व्यवहारवाली इन स्त्रियों में **पत्मन्**=गिर जानेवाले **त्वा**=तुझे **आधूनोमि**=कम्पित करके दूर करती हूँ। राजा को ही क्या, वस्तुतः सभी पतियों को आपातरम्य स्त्रियों के चंगुल में फँसकर अपनी शक्ति का अपव्यय नहीं करना। ६. इन स्त्रियों में न गिरकर **शुक्रम्**=(शुच) शुद्ध,शुचि व पवित्र जीवनवाले **त्वा** =तुझे (क) **शुक्रे**=(निमित्तसप्तमी) वीर्यरक्षा के निमित्त **आधूनोमि**=मैं तुझे इन सबसे पृथक् करती हूँ। (ख) **अह्नः रूपे**=दिन के रूप के निमित्त तुझे इनसे अलग करती हूँ। जैसे दिन चमकता है उसी प्रकार तेरा जीवन भी स्वस्थ होकर चमकनेवाला होता है। (ग) **सूर्यस्य रश्मिषु**=सूर्य की रश्मियों के निमित्त मैं तुझे इनसे पृथक् करती हूँ। तू व्यसनों से बचकर ज्ञानरश्मियों से प्रकाशमय बन।

भावार्थ—असंयम या व्यभिचार मनुष्य को निर्वीर्य, निस्तेज व मूर्ख बना देता है। संयमी जीवनवाला उत्तम शुक्र (वीर्य) को प्राप्त होता है, उसका चेहरा दिन के प्रकाश के समान चमकता है और वह ज्ञानरश्मियों से सूर्य के समान देदीप्यमान होता है।

ऋषिः—देवाः। देवता—विश्वेदेवाः प्रजापतयः। छन्दः—विराट्प्राजापत्याजगती[क], निचृदार्ष्युष्णिक्[र]। स्वरः—निषादः[क], ऋषभः[र]॥

शुद्धता व शक्ति की श्रेणी में प्रथम

[क]ककुभꣳरूपं वृषभस्य रोचते बृहच्छुक्रः शुक्रस्य पुरोगाः सोमः सोमस्य पुरोगाः। [र]यत्ते सोमादाभ्यं नाम जागृवि तस्मै त्वा गृह्णामि तस्मै ते सोम सोमाय स्वाहा॥४९॥

१. गत मन्त्र के अनुसार राजा संयमी जीवनवाला बनता है तो **वृषभस्य**=शक्तिशाली राजा का **ककुभम् रूपम्**=(ककुभं इति महन्नाम—नि०) उत्कृष्ट महान् रूप **रोचते**=चमकता है। वह राजा प्रजा में सचमुच नररूपधारी महादेव प्रतीत होने लगता है। २. **बृहच्छुक्रः**=यह

वृद्धिशील शुद्ध जीवनवाला राजा **शुक्रस्य** =शुद्धता व शुचिता का **पुरोगाः**=अग्रेसर होता है। ३. यह **सोमः**=वीर्य का पुञ्ज **सोमस्य**=शक्तिशाली पर विनीत लोगों का **पुरोगाः**=मुखिया होता है, अर्थात् वीर्यरक्षा के द्वारा शक्तिशाली बनता है और विनीत होता है। ४. हे **सोम**=शक्तिशालिन् पर विनीत राजन्! **यत्**=क्योंकि **ते नाम**=तेरी ख्याति, प्रसिद्धि इस रूप में है कि तू **अदाभ्यम्**=न दबाये जाने योग्य अहिंसनीय है तथा **जागृवि**=सदा जागनेवाला है, कभी प्रजारक्षणरूप कार्य में प्रमत्त नहीं होता। **तस्मै**=इसलिए **त्वा गृह्णामि**=हम तेरा ग्रहण करते हैं। ४. हे **सोम**=शक्तिशालिन् विनीत राजन्! **तस्मै ते सोमाय**=उस तुझ सोम के लिए **स्वाहा**=हम अपना अर्पण करते हैं। शक्तिशाली परन्तु विनीत राजा के लिए प्रजा अपना जीवन देने के लिए उद्यत रहती है। ऐसा ही राजा अन्ततोगत्वा चमकता है। यह 'देव' होता है। ऐसे पति 'देवा:' कहलाते हैं।

भावार्थ—राजा शुद्धता व शक्ति के दृष्टिकोण से सर्वप्रथम बनने का प्रयत्न करता है। ऐसे ही राजा के प्रति प्रजाएँ नतमस्तक होती हैं।

ऋषिः—देवा:। **देवता**—प्रजापतय:। **छन्दः**—भुरिगार्षीजगती। **स्वरः**—निषाद:।।

प्रकाश, शक्ति व दिव्यता

उशिक् त्वं देव सोमाग्नेः प्रियं पाथोऽपीहि वशी त्वं देव सोमेन्द्रस्य प्रियं पाथोऽपीह्यस्मत्सखा त्वं देव सोम विश्वेषां देवानां प्रियं पाथोऽपीहि॥५०॥

१. **उशिक्**=(कामयमान:) प्रजा के हित की कामना करता हुआ **त्वम्**=तू **देव**=दिव्य गुणयुक्त तथा ज्ञान के प्रकाशवाला है। हे **सोम**=शक्ति व शान्ति के पुञ्ज! तू **अग्नेः**=अग्नि के **प्रियं पाथः**=प्रिय मार्ग को **अपीहि**=निश्चय से प्राप्त हो (अपि=निश्चयार्थे)। अग्नि का मार्ग प्रकाश व दोषदहन है। तूने भी प्रकाशमय जीवनवाला तथा दोषों को भस्म करनेवाला बनना है। २. **वशी**=सब इन्द्रियों को वश में करनेवाला **त्वम्**=तू **देव**=दिव्य गुणमय **सोम**=शान्ति व शक्ति के पुञ्ज! **इन्द्रस्य**=इन्द्र के **प्रियं पाथः** =प्रिय मार्ग को **अपीहि**=निश्चय से प्राप्त हो। इन्द्र का मार्ग असुरों का संहार करना है। तूने भी आसुरवृत्तियों को समाप्त करके सचमुच ही इन्द्र=वशी बनना है। अपने को वश में करके ही तू प्रजाओं को भी वश में कर सकेगा। ३. **अस्मत् सखा**=हम प्रजाओं का मित्र **त्वम्**=तू **देव सोम**=हे प्रकाशमय शान्त व शक्तिसम्पन्न राजन्! **विश्वेषां देवानाम्**=सब देवों के **प्रियं पाथः**=प्रिय मार्ग को **अपीहि**=निश्चय से प्राप्त हो। राजा प्रजा का हित चाहता हुआ स्वयं दिव्य गुणों को अपनाकर प्रजा में उन दिव्य गुणों का प्रसार करे।

भावार्थ—प्रजा का हितेच्छु राजा अग्नि बने, इन्द्र बने, देव बने। प्रजाओं में प्रकाश, शक्ति व दिव्यता का प्रसार करे।

ऋषिः—देवा:। **देवता**—प्रजापतयो गृहस्था:। **छन्दः**—भुरिगार्षीजगती। **स्वरः**—निषाद:।।

रति-धृति-स्वधृति

इह रतिरिह रमध्वमिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहा। उपसृजन्धरुणं मात्रे धरुणो मातरं धयन्। रायस्पोषमस्मासु दीधरत् स्वाहा॥५१॥

गृहस्थाश्रम में प्रवेश करनेवाले पति-पत्नी से कहते हैं कि—१. **इह रतिः**=यहीं, अपने घर पर ही आनन्द है। **इह रमध्वम्**=यहाँ ही आनन्द लेने का प्रयत्न करो। आनन्द-प्राप्ति

के लिए क्लब्स आदि में जाना घर के लिए सबसे विघातक है। पति-पत्नी का पारस्परिक प्रेम तो इनके कारण समाप्त होता ही है, सन्तानों का निर्माण भी नहीं हो पाता। २. **इह**=यहाँ घर पर ही **धृतिः**=धारण व पोषण है, धारण-पोषण के लिए प्रतिदिन के प्रवास की आवश्यकता नहीं ३. **इह**=इस गृहस्थ में ही **स्व-धृतिः**=आत्मा का भी धारण हो जाता है। आत्मा-परमात्मा को ढूँढने के लिए तीर्थों व मन्दिरों में भटकते रहने की आवश्यकता नहीं। एवं, न आनन्द प्राप्ति के लिए, न आजीविका के लिए और न ही आत्मदर्शन के लिए इधर-उधर जाने की आवश्यकता है। घर पर रहते हुए ही हम ऐहिक व आमुष्मिक कल्याण प्राप्त कर सकते हैं। **स्वाहा** =यहाँ घर में ही हम 'स्व' का 'हा' करनेवाले बनें, कुछ स्वार्थत्याग का पाठ पढ़ें और घर को स्वर्ग बनाने का प्रयत्न करें।

४. **मात्रे**=माता के लिए **धरुणः**=धारण करनेवाले-सब प्रकार से माता-पिता का धारण-पोषण करने में समर्थ पुत्र को **उपसृजन्**=प्राप्त कराता हुआ पुरुष 'पिता' हो। **धरुणः**= धारण करनेवाला पुत्र **मातरं धयन्**=माता का दूध पीनेवाला हो। इस दूध से वह केवल शारीरिक पोषण को ही नहीं प्राप्त होता, अपितु सब उत्तम गुणों को भी अपने अन्दर ग्रहण करता है और धारणात्मक वृत्तिवाला होता है-तोड़-फोड़ करने की ओर इसका झुकाव नहीं होता। ५. यह सन्तान बड़ा होकर **अस्मासु**=हममें **रायस्पोषम्**=धन के पोषण को **दीधरत्**=धारण करे। बड़ा होकर कमानेवाला बने, माता-पिता को भूल न जाए। **स्वाहा**=इस पितृयज्ञ को नियम से करनेवाला यह स्वार्थ का त्याग करे।

भावार्थ-घर में ही आनन्द, ऐश्वर्य व आत्मदर्शन है। इधर-उधर भटकने का क्या लाभ? सन्तान को दूध पिलाने के साथ ही माता उसे धारणात्मक वृत्तिवाला बनाने का प्रयत्न करे।

ऋषिः-देवाः। **देवता**-प्रजापतिः। **छन्दः**-निचृदार्षीबृहती। **स्वरः**-मध्यमः॥

प्रजा द्वारा अमृतत्व

स॒त्रस्य॒ऽ ऋद्धि॑र॒स्यग॑न्म॒ ज्योति॑र॒मृता॑ऽअभूम।

दिवं॑ पृ॒थि॒व्याऽअध्यारु॑हा॒मावि॑दाम दे॒वान्त्स्व॒र्ज्योतिः॑॥५२॥

पिछले मन्त्र के अनुसार घर में 'रति, धृति व स्वधृति' को समझनेवाले पति-पत्नी 'धरुण' पुत्र को प्राप्त करके कहते हैं कि-१. हे धरुण! तू ही **सत्रस्य**=हमारे इस गृहस्थ-यज्ञ की **ऋद्धिः असि**=समृद्धि व सफलता है। तुझे प्राप्त करके हमारा यह यज्ञ पूर्ण होता है। २. **ज्योतिः अगन्म**=हमने आज प्रकाश प्राप्त किया है। हमें अब अपने आगे अन्धकार प्रतीत नहीं होता। **अमृताः अभूम**=अब हम तुम्हारे द्वारा अमर हो गये हैं-**'प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम'**। ३. अब हम गृहस्थ को समाप्त करके **पृथिव्याः**=इन पार्थिव भोगों से **दिवे अध्यारुहाम**=ऊपर उठकर द्युलोक=प्रकाशमय लोक में पहुँचने का प्रयत्न करें। **'स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्'**, हम सदा स्वाध्याय में तत्पर रहकर अपने ज्ञान को बढ़ानेवाले बनें। **देवान् अविदाम**=दिव्य गुणों को प्राप्त करें अथवा विद्वानों के समीप पहुँचें और अपने ज्ञान को बढ़ाकर **स्वर्ज्योतिः**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति परमात्मा को प्राप्त करें।

भावार्थ-गृहस्थ की सफलता इसी बात में है कि हम धारणात्मक सन्तान को प्राप्त करें। उसके बाद स्वाध्याय आदि से अपने ज्ञान को बढ़ाने में लगे रहें और विद्वानों के सम्पर्क में आते हुए हम स्वयं देदीप्यमान ज्योति प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—देवाः। **देवता**—गृहपतयः। **छन्दः**—आर्ष्यनुष्टुप्[१], आसुर्य्युष्णिक्[२], प्राजापत्याबृहती[३], विराट्प्राजापत्यापङ्क्तिः[४]। **स्वरः**—गान्धारः[१], ऋषभः[२], मध्यमः[३], पञ्चमः[४]॥

इन्द्रापर्वता

[१]युवं तमिन्द्रापर्वता पुरोयुधा यो नः पृतन्यादप तन्तमिद्धतं वज्रेण तन्तमिद्धतम्। [२]दूरे चत्ताय छन्त्सद् गहनं यदिनक्षत्। [३]अस्माकꣳशत्रून् परि शूर विश्वतो दर्मा दर्षीष्ट विश्वतः। [४]भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याम सुवीरा वीरैः सुपोषाः पोषैः॥५३॥

पति-पत्नी को आत्मालोचन की वृत्तिवाला बनकर अपनी सब बुराइयों को दूर करनेवाला बनना चाहिए। पति 'इन्द्र' हो, सब आसुरवृत्तियों का संहार करनेवाला जितेन्द्रिय। पत्नी 'पर्वत' हो (पर्व पूरणे) अपनी सब न्यूनताओं को दूर कर अपने में अच्छाइयों को भरनेवाली। इन पति-पत्नी से कहते हैं कि **यः**=जो भी बुराई **नः**=हमपर **पृतन्यात्**=आक्रमण करती है, हमारे साथ संग्राम करने आती है **युवम् इन्द्रापर्वता**=तुम दोनों इन्द्र व पर्वत बनकर **पुरोयुधा**=पहले ही इनसे युद्ध करनेवाले, प्रारम्भ में ही इन्हें समाप्त कर देनेवाले, इन्हें जड़ पकड़ने का अवकाश न देनेवाले **तं तम्**=उस-उस बुराई को **इत्**=निश्चय से **हतम्**=मार दो। **वज्रेण**=वज्र से, गतिशीलता से (वज गतौ) **तं तं इत् हतम्**=उसे निश्चय से नष्ट कर दो। **दूरे चत्ताय**=(चततिर्गतिकर्मा) दूर गये हुए के लिए भी यह वज्र (गतिशीलता) **छन्त्सत्**=नष्ट करने की कामना करे। यदि कोई बुराई दूर तक पहुँच गई हो, अर्थात् कुछ बढ़ भी गई हो, तब भी यह क्रियाशीलता उस बुराई को समाप्त करनेवाली हो। **यत्**=यदि **गहनम्**=(cave, a hiding place) हृदयरूप गुहा में भी **इनक्षत्**=व्याप्त हो गई है तो भी यह क्रियाशीलतारूप वज्र उस बुराई को समाप्त करने की कामना करे। २. हे **शूर**=कामादि शत्रुओं का हिंसन करनेवाले वीर! **अस्माकम्**=हमारा **विश्वतः शत्रून्**=सब दृष्टिकोणों से शातन (विनाश) करनेवाले इन कामादि शत्रुओं को **विश्वतः दर्मा**=सब ओर से विदीर्ण करनेवाला यह तेरा वज्र—तेरी क्रियाशीलता **परिदर्षीष्ट**=चारों ओर से विदीर्ण कर दे। ३. इन शत्रुओं के विनाश से हम **भूः**=स्वस्थ बनें, **भुवः**=ज्ञानी बनें, **स्वः**=जितेन्द्रिय व प्रकाशमय हों। **प्रजाभिः**=सन्तानों से **सुप्रजाः**=उत्तम प्रजाओंवाले **स्याम**=हों, **वीरैः**=वीरों से **सुवीराः**=उत्तम वीरोंवाले हों तथा **पोषैः**=धनादि के दृष्टिकोण से **सुपोषः**=उत्तम धनों का पोषण करनेवाले हों।

वस्तुतः 'देवाः'=दिव्य गुणोंवाले वे ही होते हैं जो शत्रुओं का नाश करके शरीर के दृष्टिकोण से **भूः** =स्वस्थ बनते हैं, बौद्धिक दृष्टिकोण से **भुवः**=ज्ञानी बनते हैं तथा मानस दृष्टिकोण से जितेन्द्रिय (स्वः) बनते हैं। इनकी सन्तान भी उत्तम होती है, ये वीर होते हैं और न्याय्य धनों का अर्जन करते हैं।

भावार्थ—हम क्रियाशीलता से कामादि शत्रुओं को समाप्त करनेवाले हों। इन शत्रुओं को हम प्रारम्भावस्था में ही नष्ट करने का प्रयत्न करें। हम सुप्रजा, सुवीर व सुपोष हों।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—परमेष्ठी प्रजापतिः। **छन्दः**—निचृद्ब्राह्म्युष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

परमेष्ठी-पूषा

परमेष्ठ्यभिधीतः प्रजापतिर्वाचि व्याहृतायामन्धोऽअच्छेतः।
सविता सन्यां विश्वकर्मा दीक्षायां पूषा सोमक्रयण्याम्॥५४॥

गत मन्त्र के ऋषि 'देवाः' थे, वे सब देवों को अपने अनुकूल बनाकर उत्तम

निवासवाले बनते हैं और इसी कारण 'वसिष्ठ' कहलाते हैं। वसुओं में सर्वाधिक वसु। ये अपनी इन्द्रियों, मन व बुद्धि पर पूर्ण प्रभुत्व के कारण 'वशिष्ठ' भी कहलाते हैं—सर्वोत्तम वशी। १. **परमेष्ठी**=ये अपने जीवन को उत्तम बनाते हुए परम स्थान पर पहुँचने का प्रयत्न करते हैं। २. ये **अभिधीतः**=(अभि=अन्दर-बाहर दोनों ओर, धीतम्=ध्यान) अन्दर-बाहर दोनों ओर, क्या सृष्टि में और क्या शरीर में, ये उस प्रभु की महिमा का ही ध्यान करते हैं। शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग की रचना में, हिमाच्छदित पर्वतों, समुद्रों व पृथिवी के वनों व रेगिस्तानों—सभी में प्रभु की महिमा का दर्शन करते हैं। इस प्रकार अन्दर-बाहर प्रभु-महिमा को देखते हुए ये व्यक्ति पापों से ऊपर उठकर 'परमे-ष्ठी' बन जाते हैं। ३. **वाचि व्याहृतायाम्**=वेदवाणी का अध्ययन करने पर **प्रजापतिः**=ये प्रजाओं के रक्षक बनते हैं। घरों में उत्तम सन्तानों का निर्माण करते हैं तो राष्ट्र के अधिकारी बनकर सारी प्रजा को अच्छा बनाने का प्रयत्न करते हैं। ४. **अच्छ इतः**=उस प्रभु की ओर गया हुआ व्यक्ति **अन्धः**=(अदृक्) संसार की वस्तुओं को फिर नहीं देखता, इन वस्तुओं के प्रति उसकी 'रति' नष्ट हो जाती है, ब्रह्ममार्ग पर चलनेवाले के लिए सांसारिक आनन्द तुच्छ हो जाते हैं। ५. **सन्याम्**=(संभक्तौ) सम्यक् यज्ञ द्वारा बाँटकर खाने से **सविता**=(षु=ऐश्वर्य) मनुष्य ऐश्वर्यशाली बनता है। देने से धन बढ़ता ही है—**'दक्षिणां दुहते सप्तमातरम्** (ऋ०)' देने से धन सप्तगुणित हो जाता है। ६. **दीक्षायाम्**=व्रत ग्रहण करने पर मनुष्य **विश्वकर्मा**=देवशिल्पी—निर्माणात्मक कार्यों को कुशलता से करनेवाला बनता है। व्रती पुरुष की वृत्ति तोड़-फोड़ की न होकर निर्माण की होती है। ७. **सोमक्रयण्याम्**=सोम का क्रयण, अर्थात् 'द्रव्य-विनिमय' अन्य द्रव्य देकर सोम लेने पर **पूषा**=मनुष्य पोषण की देवता बन जाता है, अर्थात् वह सब दृष्टिकोणों से पुष्ट होता है। सब द्रव्यों से वह सोम का विनिमय करने के लिए उद्यत होता है तो यह सोम उसके शरीर, मन व मस्तिष्क सभी को पुष्ट करता है।

भावार्थ—हम मन्त्रवर्णित ध्यान आदि उपायों द्वारा 'परमेष्ठी' बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—इन्द्रादयः। **छन्दः**—आर्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

इन्द्र-नरन्धिष

इन्द्रश्च मरुतश्च क्रयायोपोत्थितोऽसुरः पण्यमानो मित्रः क्रीतो
विष्णुः शिपिविष्टऽऊरावासन्नो विष्णुर्नरन्धिषः॥५५॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति 'सोम-क्रयणी' पर थी। **क्रयाय**=इस सोम के क्रय के लिए **इन्द्रः च**=मनुष्य को जितेन्द्रिय बनना है तथा साथ ही **मरुतः च**=प्राणों की साधना करनी है। जितेन्द्रियता व प्राणसाधना ये दो सोमरक्षा के मौलिक उपाय हैं। २. इस प्रकार जितेन्द्रियता व प्राणसाधना से सोम की ऊर्ध्वगति होती है (**उप** up) **उत्थितः**=ऊपर उठा हुआ यह सोम **असुरः**=प्राणशक्ति देनेवाला होता है (असून् राति)। शरीर का अङ्ग-प्रत्यङ्ग प्राणशक्ति के सञ्चारवाला हो जाता है। ३. **पण्यमानः**=सब द्रव्यों को देकर खरीदा जाता हुआ यह सोम **मित्रः**=(प्रमीतेः त्रायते) रोगों से बचानेवाला होता है। ४. **क्रीतः**=खरीदा गया यह सोम **विष्णुः**=सारे शरीर में व्याप्त होनेवाला होता है। ५. **शिपिविष्टः**=(शिपिषु प्राणिषु प्रविष्टः) प्राणियों में प्रविष्ट हुआ यह सोम **ऊरौ**=(आच्छादने—द०) सब ओर से रोगादि के आक्रमण से बचाने की क्रिया में **आसन्नः**=निकटतम उपाय होता है। ६. **विष्णुः**=वस्तुतः शरीर में ही प्रविष्ट हुआ

और सम्पूर्ण रुधिर में व्याप्त हुआ यह सोम **न-रन्धिषः**=अ-हन्ता, न नष्ट करनेवाला होता है अथवा मनुष्यों को धारण करनेवाले (नरन्धि) इस संसार को ज्ञान द्वारा समाप्त करनेवाला (स्यति) होता है, अर्थात् यह सुरक्षित हुआ सोम उस सोम (परमात्मा) को प्राप्त कराके मनुष्य को मुक्त कर देता है।

भावार्थ—हम सोमरक्षा द्वारा अपने को नाश से बचाएँ और इस संसार के आवागमन से ऊपर उठकर मुक्त होने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—विश्वेदेवा गृहस्थाः। **छन्दः**—आर्षीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः।।

प्रोह्यमाण-उपावह्रियमाण

प्रोह्यमाणः सोमऽआगतो वरुणऽआसन्द्यामासन्नो ऽग्निराग्नीध्रऽइन्द्रो हविर्द्धाने ऽथर्वोपावह्रियमाणः॥५६॥

१. पिछले मन्त्र के अन्तिम वाक्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि **प्रोह्यमाणः**=(वह् to carry) प्रकर्षेण उह्यमान होता हुआ **सोमः**=सोम **आगतः**=आता है, उद्दिष्ट स्थल पर पहुँच जाता है, यह लक्ष्य-स्थान से दूर नहीं होता। २. यह लक्ष्य-स्थान परमात्म-प्राप्ति ही तो है। यहाँ पहुँचा हुआ यह व्यक्ति मानो **आसन्द्याम्**=आरामकुर्सी पर **आसन्नः**=बैठा हुआ, परमात्मरूपी माता की गोद में बैठा हुआ **वरुणः** =आच्छादित (वृ आच्छादने) होता है, जैसे एक बच्चा माता की गोद में बैठा हुआ अत्यन्त सुरक्षित होता है, इसी प्रकार यह वसिष्ठ भी प्रभु की गोद में बैठा हुआ किसी भी प्रकार की वासनाओं के आक्रमण से आक्रान्त नहीं होता। ३. परन्तु क्या यह अकर्मण्य होता है? नहीं। **आग्नीध्रे**=(अग्निमिन्धे इति अग्नीत् तस्य भावः आग्नीध्रम्) अग्निसमिन्धनादि कार्यों में, अग्निहोत्रादि में यह **अग्निः**=प्रगतिशील होता है। यज्ञादि कार्यों में उत्साहवाला होता हुआ अपने जीवन को उन्नत करनेवाला होता है। ४. **हविर्धाने**=(हु=दान) दान के धारण में, अर्थात् दानादि करने पर **इन्द्रः**=परमैश्वर्यवाला होता है। दानादि से अपने ऐश्वर्य को बढ़ानेवाला होता है। ५. **उप अवाह्रियमाणः**=विषयों से इन्द्रियों को (अव=away) दूर करता हुआ और (उप) प्रभु की उपासना करता हुआ यह **अथर्वा**=डाँवाडोल नहीं होता, स्थितप्रज्ञ बनता है।

भावार्थ—विषयव्यावृत्त होकर स्थितप्रज्ञ बनना हमारे जीवन का ध्येय हो।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—निचृद्ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः।।

अंशुषु न्युप्तः सक्तुश्रीः

विश्वे देवाऽअꣳशुषु न्युप्तो विष्णुराप्रीतपाऽआप्याय्यमानो यमः सूयमानो विष्णुः सम्भ्रियमाणो वायुः पूयमानः शुक्रः पूतः। शुक्रः क्षीरश्रीर्मन्थी सक्तुश्रीः॥५७॥

१. गत मन्त्र का स्थितप्रज्ञ **अंशुषु**=ज्ञान की किरणों में **न्युप्तः**=बोया हुआ, अर्थात् (नित्यं स्थापितः) नित्य स्थापित किया हुआ **विश्वेदेवाः**=सब दिव्य गुणों का पुञ्ज बनता है। ज्ञानग्नि में सब बुराइयाँ दग्ध हो जाती हैं, अतः उसका जीवन उत्तमोत्तम बन जाता है। २. **विष्णुः**=उदार-व्यापक मनोवृत्तिवाला (विष्लृ व्याप्तौ) यह **आप्रीतपा**=सब ओर प्रेम से (प्रीतं यथा स्यात्तथा) सबकी रक्षा करनेवाला **आप्यायमानः**=समन्तात् वृद्ध होता है, सब दृष्टिकोणों से बढ़ा हुआ होता है। ३. **यमः**=नियमित जीवनवाला यह **सूयमानः**=(षु=ऐश्वर्य)

ऐश्वर्य में स्थापित किया जा रहा होता है। ४. **विष्णुः**=व्यापक मनोवृत्तिवाला यह **संभ्रियमाणः**=सम्यक् धारित-पोषित किया जा रहा होता है, औरों के धारण से वस्तुतः इसका अपना ही धारण होता है। यह औरों का धारण करता है, सब इसका धारण करते हैं। ५. **वायुः**=निरन्तर गतिवाला यह **पूयमानः**=पवित्र किया जा रहा होता है, कर्म मनुष्य के जीवन को शुद्ध करनेवाले हैं। ६. **शुक्रः**=(शुक् गतौ) शीघ्रता से कार्यों को करनेवाला (आशुकर्ता–द०) यह **पूतः**=पूर्ण पवित्र हो जाता है, पूर्ण पवित्र ही क्या? ७. **शुक्रः** =(शुक् दीप्तौ) पवित्र व दीप्त हुआ-हुआ यह **क्षीरश्रीः**=(क्षीरस्य श्रीरिव श्रीर्यस्य) दूध के समान उज्ज्वल कान्तिवाला होता है, इसका जीवन शुद्ध दूध के समान उज्ज्वल बन जाता है। ८. **मन्थी**=ज्ञान का खूब आलोडन व अवगाहन करनेवाला यह **सक्तुश्रीः**=(सक्तुः=सर्वत्र समवेतः प्रभुः) उस सर्वव्यापक प्रभु की कान्ति के समान कान्तिवाला होता है। उपनिषद् के शब्दों में 'ब्रह्म इव'=प्रभु-जैसा बन जाता है।

भावार्थ—हम अपने जीवन में सदा ज्ञान व सत्त्वगुण में स्थापित हुए-हुए उस प्रभु की कान्ति के समान कान्तिवाले बनें।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—निचृदार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

विश्वेदेवाः पितरः

विश्वे देवाश्चमसेषून्नीतोऽसुर्होमायोद्यतो रुद्रो हूयमानो वातोऽभ्यावृतो नृचक्षाः प्रतिख्यातो भक्षो भक्ष्यमाणः पितरो नाराशꣳसाः॥५८॥

१. **चमसेषु**='सत्य, यश व श्री' (truth, glory and prosperity) के आचमनों के होने पर **उन्नीतः**=यह ऊपर ले-जाया गया होता है, उन्नति के शिखर पर पहुँचता है। वस्तुतः यह **विश्वेदेवाः**=सब दिव्य गुणोंवाला हो जाता है। इस मन्त्रभाग का अर्थ इस प्रकार भी होता है कि **चमसेषु**=अन्नमयादि कोशों में (तिर्यग् बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः) **उन्नीतः**=ऊर्ध्वगति को प्राप्त कराया गया सोम **विश्वेदेवाः**=सब दिव्य गुणों का कारण बनता है। २. **होमाय उद्यतः**=सदा अग्निहोत्रादि यज्ञों में लगा हुआ यह **असुः**=(असु क्षेपणे) सब रोगों को अपने से परे फेंकनेवाला बनता है। ३. **हूयमानः**=लोगों से पुकारा जाता हुआ यह **रुद्रः**=(रुत्+र) उपदेश देनेवाला, ज्ञान देनेवाला होता है। ४. **वातः**=निरन्तर कार्यों में लगा हुआ यह **अभ्यावृतः**=सब ओर से विषयों से व्यावृत्त होता है। ५. **प्रतिख्यातः**=लोगों में प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ-हुआ यह **नृचक्षाः**=(looks after men) लोगों का रक्षण करनेवाला होता है, अर्थात् लोगों में इसकी ऐसी प्रसिद्धि हो जाती है कि यह सबका ध्यान करता है। ६. **भक्ष्यमाणः भक्षः**=खानेवाले लोगों के खा लेने पर ही यह खानेवाला होता है, अर्थात् यह कभी अकेला नहीं खाता। इसकी आय में 'आध्र (आधार देने योग्य ग़रीब लोग), मन्यमानः, तुरः (आदरणीय अज्ञानान्धकार को दूर करनेवाला पुरुष) और राजा—इन सभी को भाग मिलता है। यह ग़रीबों की मदद करता है, मान्य विद्वानों की सेवा करता है, राजा को कर देता है और बचे हुए को खाता है। ७. **नाराशंसाः**=मनुष्यों के प्रति ज्ञान का शंसन करनेवाला यह सचमुच **पितरः**=लोगों का रक्षक होता है। सच्चे पिता ऐसे ही व्यक्ति होते हैं।

भावार्थ—लोकहित में प्रवृत्त हुए-हुए ज्ञान के देनेवाले लोग ही सच्चे पिता होते हैं।

ऋषि:—वसिष्ठ:। देवता—विंश्वेदेवा:। छन्द:—निचृदार्षीजगती [क], विराडार्षीगायत्री [र]। स्वर:—निषाद: [क], षड्ज: [र]॥

स्व-स्वामित्व

[क]सन्नः सिन्धुरवभृथायोद्यतः समुद्रोऽभ्यवह्रियमाणः सलिलः प्रप्लुतो ययोरोजसा स्कभिता रजांश्सि वीर्येभिर्वीरतमा शविष्ठा। [र]या पत्येतेऽअप्रतीता सहोभिर्विष्णूऽअगन्वरुणा पूर्वहूतौ॥५९॥

१. **सिन्धुः**=(स्यन्दते) अपने कार्यमार्ग पर नदी-जल की भाँति निरन्तर चलनेवाला यह **सन्नः**=एक दिन प्रभु की गोद में बैठा हुआ होता है, निरन्तर आगे बढ़ता हुआ प्रभु को प्राप्त कर लेता है। २. प्रभु को प्राप्त करने पर **समुद्रः**=(स-मुद्र) अत्यन्त आनन्द से युक्त यह **अवभृथाय उद्यतः**=यज्ञान्त स्नान के लिए उद्यत होता है। आज इसके जीवन का उद्देश्य पूर्ण होता है, उसी पूर्ति के उपलक्ष्य में यह यज्ञान्त स्नान होता है। ३. आज इसके जीवन में **सलिलः प्रप्लुतः**=प्रभु-प्राप्ति के आनन्द का अथाह जल ही उमड़ पड़ा है और यह **अभ्यवह्रियमाणः**=इन सांसारिक भोगों व स्वर्गादि के सुखों से पराङ्मुख हो गया है। प्रभु-प्राप्ति के आनन्द के सामने ये सब आनन्द अत्यन्त तुच्छ हैं। ४. इस प्रकार जिन पति-पत्नियों के जीवन में वे ३४ जीवन-सूत्र मिलते हैं, वे ऐसे होते हैं कि **ययोः**=जिनके **ओजसा**=ओज से, शक्ति से, **रजांसि**=ये लोक **स्कभिता**=थामे गये हैं। वस्तुत: संसार ऐसे सुन्दर जीवनवाले पुरुषों के सहारे ही स्थित है। ये पति-पत्नी **वीर्येभिः**=शक्तियों से **वीरतमा**= अतिशयेन शक्तिशाली होते हैं। **शविष्ठा**=अत्यन्त बलवान् व क्रियाशील होते हैं (शवस्=बल, शव् गतौ)। ५. **या पत्येते**=ये वे पति-पत्नी हैं जो अपना स्वामित्व करते हैं, जितेन्द्रिय होते हैं। **सहोभिः**=अपने बलों से ये **अप्रतीता**=(अ प्रति इत) अद्वितीय matchless होते हैं। **विष्णू**=व्यापक मनोवृत्तिवाले होते हैं **वरुणा**=श्रेष्ठ होते हैं, क्योंकि **पूर्वहूतौ**=(हूति=आकारण= आह्वान) प्रभु की प्रार्थना में ये सर्वप्रथम **अगन्**=प्राप्त होते हैं। इनके जीवन में प्रतिदिन का पहला कार्य प्रभु का आराधन होता है।

भावार्थ—हमारा दैनिक जीवन प्रभु-प्रार्थना से ही प्रारम्भ हो।

सूचना—५३ मन्त्र के 'युवं तमिन्द्रापर्वता' से पति-पत्नी का वर्णन ५९ मन्त्र के 'ययोरोजसा' तक चल रहा है। बीच के मन्त्र जीवन में लाने योग्य ३४ तन्तुओं का उल्लेख करते हैं। परमात्मा-जैसा तो बनना ही है। शेष ३३ देवों को भी हमें जीवन में धारण करना है। ये ३३ दिव्य गुण ही ५४ से ५९ मन्त्र के प्रारम्भ तक वर्णित हुए हैं।

ऋषि:—वसिष्ठ:। देवता—विश्वेदेवा:। छन्द:—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वर:—धैवत:॥

प्रात: प्रार्थना

देवान् दिवमगन्यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु मनुष्या नन्तरिक्षमगन्यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु पितृन् पृथिवीमगन्यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु यं कं च लोकमगन्यज्ञस्ततो मे भद्रमभूत्॥६०॥

पिछले मन्त्र की समाप्ति 'अगन्.......पूर्वहूतौ' इन शब्दों पर हुई थी कि ये पति-पत्नी प्रात: प्रभु-प्रार्थना में उपस्थित होते हैं। उस प्रार्थना का स्वरूप प्रस्तुत मन्त्र में निर्दिष्ट हुआ है कि—१. **यज्ञः**=यज्ञ **देवान्**=देवों को—दिव्यवृत्ति पुरुषों को **दिवम्**=द्युलोक को, प्रकाश को, **अगन्**=प्राप्त कराता है **मा**=मुझे **ततः**=उससे **द्रविणम्**=द्रविण—ज्ञानरूप धन **अष्टु**=प्राप्त

हो। यज्ञ से देवों का जीवन अधिक प्रकाशमय होता है, मुझे भी ज्ञानरूप धन प्राप्त हो और मेरा जीवन भी प्रकाशमय हो। २. **यज्ञः**=यज्ञ **मनुष्यान्**=(मत्वा कर्माणि सीव्यति—नि०) विचारपूर्वक कार्य करनेवालों को **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्षलोक को **अगन्**=प्राप्त कराता है। **ततः**=उस यज्ञ से **मा**=मुझे **द्रविणम्**=मध्यमार्ग में चलनारूप धन **अष्टु**=प्राप्त हो। मैं सदा मध्यमार्ग (अन्तरा+क्षि बीच में रहना) में चलनेवाला बनूँ। ३. **यज्ञः**=यज्ञ **पितॄन्**=रक्षकों (guardians) को **पृथिवीम्**=पृथिवी को (प्रथ विस्तारे) शक्तियों के विस्तार को **अगन्**=प्राप्त कराता है **ततः**=उस यज्ञ से **मा**=मुझे भी **द्रविणम्**=शक्तियों का विस्ताररूप धन **अष्टु**=प्राप्त हो। ४. **यज्ञः**=यज्ञ **यं कं च लोकम्**=जिस किसी भी लोक को **अगन्** =प्राप्त कराता है **ततः**=उससे **मे**=मेरा **भद्रम्**=कल्याण और सुख **अभूत्**=हो। ५. इस यज्ञ से ही देवों का जीवन प्रकाशमय होता है। मनुष्य सदा मध्यमार्ग से चलने की वृत्तिवाले होते हैं और पितर=(रक्षण की वृत्तिवाले लोग) शक्तियों के विस्तार को प्राप्त करते हैं। ये तीनों ही बातें हमारे ऐहिक व आमुष्मिक जीवन को क्रमशः सुखी व कल्याणमय बनाती हैं।

भावार्थ—हम यज्ञों को अपनाएँ जिससे हम प्रकाश को प्राप्त हों। हमारा जीवन मध्यमार्ग से चलनेवाला हो तथा हम अपनी सब शक्तियों का विस्तार करनेवाले हों।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—ब्राह्म्युष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

चौंतीस सूत्र

चतुस्त्रिꣳशत्तन्तवो ये वितत्निरे यऽइमं यज्ञꣳस्वधया ददन्ते।
तेषां छिन्नꣳसम्वेतद्दधामि स्वाहा घर्मोऽअप्येतु देवान्॥६१॥

१. मन्त्र ५३ से ५९ के पूर्वार्ध तक जीवन के ३४ सूत्रों का वर्णन हुआ है। ये ३४ सूत्र ही जीवन का उत्तमता से धारण करते हैं। **ये**=जो **चतुस्त्रिंशत्**=३४ **तन्तवः**=सूत्र **वितत्निरे**=विशेषरूप से फैले हुए हैं **ये**=जो सूत्र **इमं यज्ञम्**=इस सृष्टि-यज्ञ को और तदन्तर्गत हमारे जीवन-यज्ञ को **स्वधया**=अपनी धारणशक्ति से **ददन्ते**=धारण करते हैं (दद दानधारणयोः), **तेषाम्**=उन सूत्रों का **छिन्नम्**=जो भी कुछ अंश टूटता है **उ**=निश्चय से **एतत्**=इसको **संदधामि**=ठीक-ठीक कर देता हूँ, अर्थात् मैं यथासम्भव जीवन के नियमों का पालन करता हूँ, उनमें होनेवाली त्रुटियों को दूर करता हूँ। २. इन त्रुटियों के दूरीकरण के लिए **स्वाहा**=मैं अपने (स्व+हा) स्वार्थ का त्याग करता हूँ। स्वार्थ ही त्रुटियों का कारण हुआ करता है। स्वार्थ के दूर करने से त्रुटियाँ दूर हो जाती हैं। ३. त्रुटियों के दूर होने पर मनुष्य का जीवन दिव्य बनता है। इन **देवान्**=देवों को—दिव्य गुणयुक्त जीवनवालों को **घर्मः**=(Heat, Warmth, Sunshine) शक्ति की उष्णता व ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है। ४. संक्षेप में संसार के धारण करनेवाले ३४ सूत्र हैं। ये ही वैयक्तिक जीवन के नियम हैं। इनके पालन में त्रुटि न आने देना ही हमारा कर्त्तव्य है। जब इनका पालन ठीक प्रकार से होता है तब जीवन में शक्ति की उष्णता व ज्ञान का प्रकाश दोनों उपस्थित होते हैं।

भावार्थ—हम अपने जीवनों को नियमबद्ध करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

यज्ञ का दोह

यज्ञस्य दोहो विततः पुरुत्रा सोऽअष्टधा दिवमन्वाततान।
स यज्ञ धुक्ष्व महि मे प्रजायाꣳरायस्पोषं विश्वमायुरशीय स्वाहा॥६२॥

१. **यज्ञस्य**=यज्ञ का **दोहः**=प्रपूरण **पुरुत्रा**=बहुत प्रकार से व बहुत स्थानों में **विततः**=फैला हुआ है। मन्त्र संख्या ६० में कहा था कि वह द्युलोक में प्रकाश के रूप से, अन्तरिक्षलोक में विचारपूर्वक कर्म करने की वृत्ति के रूप से तथा पृथिवीलोक में शक्तियों के विस्तार के रूप से परिणत होता है। यज्ञ मस्तिष्क को ज्ञान से भरता है, हृदय को मध्यमार्ग में चलने की प्रवृत्ति से युक्त करता है और शरीर में सब अङ्गों की शक्ति का विस्तार करता है। २. **सः**=वह यज्ञ **अष्टधा**=आठ प्रकार से **दिवम् अनु आततान**=इस आकाश में विस्तृत हुआ है, अर्थात् यज्ञशील के जीवन में **'दया सर्वभूतेषु, क्षांतिः, अनसूया, शौचं, अनायासः, मङ्गलम्, अकार्पण्यम्, अस्पृहा'** इन आठ गुणों का विस्तार होता है। यज्ञशील (क) सब प्राणियों पर दया करता है, (ख) सहनशील होता है, (ग) दूसरों के गुणों में दोषदर्शन नहीं करता, (घ) पवित्रता को अपनाता है, (ङ) सब कार्यों को सहज स्वभाव से शान्तिपूर्वक करता है, (च) मङ्गल कार्यों में प्रवृत्त होता है, (छ) उदारता को अपनाता है, (ज) किसी भी वस्तु के लिए अत्यन्त आसक्तिवाला नहीं होता। ३. **यज्ञ**= हे यज्ञ! **सः** वह तू **मे**=मुझमें **महि** =महिमा को अथवा (मह पूजायाम्) पूजा की वृत्ति को **धुक्ष्व**=पूरित कर। यज्ञ करता हुआ जहाँ मैं महिमा को प्राप्त होऊँ वहाँ मेरी वृत्ति प्रभु-पूजा की बने। ४. **प्रजायां रायस्पोषम्**=प्रजा के होने पर मैं धन के पोषण को प्राप्त करूँ। यज्ञ की महिमा से मेरी सन्तान उत्तम हो और मैं उनके पोषण के लिए उचित धन प्राप्त करनेवाला होऊँ। ५. **विश्वम्**=पूर्ण **आयुः**=जीवन को **अशीय**=प्राप्त करूँ। ६. **स्वाहा**=इस सबके लिए मेरा जीवन स्वार्थ के त्यागवाला हो, यज्ञ की वृत्तिवाला हो।

भावार्थ—यज्ञ से मेरा जीवन दया आदि आठ गुणों से युक्त हो, मुझमें पूजा की वृत्ति बढ़े, सन्तान व उनके पोषण के लिए मैं धन प्राप्त करूँ, पूर्ण आयुवाला होऊँ। वस्तुतः वसिष्ठ का जीवन ऐसा होना ही चाहिए।

ऋषिः—कश्यपः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—स्वराडार्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

पवित्रता व शक्ति

आपवस्व हिरण्यवदश्ववत्सोम वीरवत्। वाजं गोमन्तमाभर स्वाहा॥६३॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि कश्यप=ज्ञानी (पश्यक) है। यह प्रभु का सोम नाम से स्मरण करता है। यह सोम शरीर में वीर्य का भी प्रतिपादक है। यज्ञियवृत्ति से शरीर में इस सोम की रक्षा होती है। इस सुरक्षित सोम से हम अन्ततः उस सोम—'प्रभु' को प्राप्त करनेवाले बनते हैं। इस सोम से यह कश्यप—पश्यक—प्रभुद्रष्टा प्रार्थना करता है कि—१. **सोम**=हे शान्त, ज्ञानमय प्रभो! **आ पवस्व**=आप हमारे जीवन को सर्वथा पवित्र कर दो। २. और **वाजम्**=उस शक्ति को **आभर**=हममें सर्वथा भर दो जो (क) **हिरण्यवत्**=**'हिरण्यं वै ज्योतिः'**=ज्ञान से युक्त है। हमारी शक्ति के साथ ज्योति का समन्वय हो। (ख) **अश्ववत्**=(अश्नुते कर्मसु) जो शक्ति कर्मों में व्याप्त होनेवाली है। हम क्रियाशील हों। (ग) **वीरवत्**=हमारी वह शक्ति वीरतावाली हो (वि+ईर) कामादि शत्रुओं को विशेषरूप से दूर भगानेवाली हो। (घ) **गोमन्तम्**=(गावः इन्द्रियाणि) हमारी वह शक्ति उत्तम इन्द्रियोंवाली हो। ३. **स्वाहा**=इस शक्ति की प्राप्ति के लिए हम स्वार्थत्याग करते हैं।

भावार्थ—हमारा जीवन पवित्र हो। हमें वह शक्ति प्राप्त हो जो ज्योति, क्रिया, वीरता व प्रशस्तेन्द्रियता से युक्त है।

॥ इत्यष्टमोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

नवमोऽध्यायः

ऋषिः—इन्द्राबृहस्पती। देवता—सविता। छन्दः—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

इन्द्र+बृहस्पति

देव॑ सवितः प्रसु॑व यज्ञं प्रसु॑व यज्ञप॑तिं भगा॑य।

दिव्यो ग॑न्धर्वः के॑तपूः केतं॑ नः पुनातु वाचस्पतिर्वाजं॑ नः स्वदतु स्वाहा॑॥१॥

गत अध्याय के अन्तिम मन्त्र में प्रभु से जीवन को पवित्र बनाने के लिए प्रार्थना की गई थी। उसी प्रार्थना को प्रकारान्तर से प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं कि—१. हे **सवितः देव**=सबके प्रेरक, दिव्य गुणों के पुञ्ज अथवा प्रकाशमय प्रभो! **यज्ञं प्रसुव**=हममें यज्ञ की भावना को प्रेरित कीजिए। हमारा जीवन यज्ञशील हो। २. **यज्ञपतिम्**=यज्ञों के रक्षक को **भगाय**=ऐश्वर्य के लिए **प्रसुव**=प्रेरित कीजिए। अपने जीवन को यज्ञमय बनाता हुआ पुरुष ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाला हो। ३. **दिव्यः**=सदा प्रकाश में स्थित होनेवाला वह (दिवि भवः) **गन्धर्वः**=(गां धरति) वेदवाणी को धारण करनेवाला **केतपूः**=(केतं ज्ञानं पुनाति)=हमारे ज्ञानों को पवित्र करनेवाला प्रभु **नः**=हमारे **केतम्**=ज्ञान को **पुनातु**=पवित्र करे। ज्ञान की पवित्रता ही सब पवित्रताओं का मूल है। ज्ञान पवित्र होने पर वाणी पवित्र होती है और वाणी के पवित्र होने पर क्रियाएँ पवित्र होती हैं। 'विचार, उच्चार व आचार' यह क्रम है। विचार की पवित्रता शब्दों में आती है, वही क्रिया में। ४. **वाचस्पतिः**=वाणी का पति प्रभु **नः**=हमारे **वाजम्**=अन्न को **स्वदतु**=माधुर्यवाला करे। इस अन्न के माधुर्य पर वाणी व मन का माधुर्य निर्भर है। वस्तुतः बुद्धि का सौन्दर्य व पवित्रता भी इसी अन्न की मधुरता पर आश्रित है। ५. **स्वाहा**=इस ज्ञान की पवित्रता व अन्न के मधुर परिणाम के लिए मैं स्वार्थ का त्याग करूँ, स्वार्थ से ऊपर उठूँ। राजस् व तामस् भोजनों का चस्का छोड़ूँ। भोजन सात्त्विक होगा तो ज्ञान भी पवित्र होगा और वाणी भी माधुर्ययुक्त होगी। ६. 'वाज' शब्द का अर्थ शक्ति भी है। मेरी शक्ति मधुर हो, क्रूरता से ऊपर उठी हुई हो। शक्तिशाली बनकर मैं 'इन्द्र' बनूँ, ज्ञानी बनकर 'बृहस्पति'। इस प्रकार मैं मन्त्र का ऋषि 'इन्द्राबृहस्पती' होऊँ।

भावार्थ—हमारा ज्ञान पवित्र हो। हमारा अन्न व शक्ति मधुर हो।

ऋषिः—बृहस्पतिः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—आर्षीपङ्क्तिः[क], विकृतिः[र]। स्वरः—पञ्चमः[क], मध्यमः[र]॥

राजा

[क]ध्रुवसदं॑ त्वा नृषदं॑ मनःसद॑मुपयामगृ॑हीतोऽसीन्द्रा॑य त्वा जुष्टं॑ गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्रा॑य त्वा जुष्ट॑तमम्। [र]अप्सुषदं॑ त्वा घृतसदं॑ व्योमसद॑मुपयामगृ॑हीतोऽसीन्द्रा॑य त्वा जुष्टं॑ गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्रा॑य त्वा जुष्ट॑तमम्। पृथिविसदं॑ त्वाऽन्तरिक्षसदं॑ दिविसदं॑ देवसदं॑ नाकसद॑मुपयामगृ॑हीतोऽसीन्द्रा॑य त्वा जुष्टं॑ गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्रा॑य त्वा जुष्ट॑तमम्॥२॥

'पिछले मन्त्रों की भावना के अनुसार सबके जीवन बड़े सुन्दर हों' इसके लिए राजा का उत्तम होना आवश्यक है। वास्तव में राजशक्ति ही प्रजाओं में सब उत्तमताओं को लाने

का कारण बनती है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में राजा का वर्णन करते हैं कि–१. **ध्रुवसदम्**=(ध्रुवम् यथा स्यात्तथा सीदतीति) ध्रुवता से अपने धर्मों में स्थित होनेवाले २. **नृषदम्**=(नृषु सीदति) मनुष्यों में अवस्थित होनेवाले, अर्थात् हर समय प्रजा-रक्षण के कार्य में तत्पर रहनेवाले, ३. **मनः सदम्**=अपने मन पर आसीन होनेवाले, अर्थात् अपने मन को पूर्णरूप से वश में करनेवाले ऐसे **त्वा**=तुझ राजा को **गृह्णामि**=हम ग्रहण करते हैं। हे राजन्! ४. **उपयामगृहीतः असि**=आप उपासना द्वारा यम-नियमों से स्वीकृत जीवनवाले हैं। **इन्द्राय त्वा**=आपको राष्ट्र के ऐश्वर्य की वृद्धि के लिए स्वीकार करते हैं। **जुष्टम्**=आप प्रीतिपूर्वक राष्ट्र का सेवन करनेवाले हो। **एषः ते योनिः**=यह राष्ट्र ही तेरा घर है। **इन्द्राय**=राष्ट्र के ऐश्वर्य के लिए, **जुष्टतमम्**=सर्वाधिक प्रीति से राष्ट्र का सेवन करनेवाले **त्वा**=तुझे हम स्वीकार करते हैं। ५. **अप्सुषदम्**=सदा कार्यों में अवस्थित होनेवाले, अर्थात् सदा क्रियाशील **त्वा**=तुझे हम स्वीकार करते हैं। ६. **घृतसदम्**=(घृ क्षरणदीप्त्योः) मलों के क्षरण के द्वारा दीप्ति को लाने के कार्य में स्थित तुझे हम ग्रहण करते हैं। राजा का महत्त्वपूर्ण कार्य यही है कि वह प्रजा की मलिनताओं को दूर करे और उनके जीवन को उज्ज्वल बनाये। ७. **व्योमसदम्**=(व्योम्नि सीदति, व्योमन्=वी+ओम्+अन्=प्रकृति, परमात्मा व जीव) जो तू प्रकृति, परमात्मा व जीव तीनों में स्थित है। प्रजा की प्राकृतिक आवश्यकताओं [खान-पान] को पूर्ण करने का ध्यान करता है। उनकी वृत्ति को प्रभु-प्रवण बनाने का ध्यान करता है और जीवों के पारस्परिक व्यवहार को उत्तम बनाता है। ८. ऐसा यह राजा **उपयामगृहीतः असि**=उपासना द्वारा यम-नियमों को अपनानेवाला है। **इन्द्राय**=राष्ट्र के ऐश्वर्य के लिए हम **त्वा**=तुझे स्वीकार करते हैं। **जुष्टम्**=राष्ट्र का प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले तुझे **गृह्णामि**=ग्रहण करते हैं। **एषः ते योनिः**=यह राष्ट्र ही तेरा घर है। **इन्द्राय त्वा जुष्टतमम्**=राष्ट्र के ऐश्वर्य के लिए सर्वाधिक प्रीतिपूर्वक राष्ट्र की सेवा करनेवाले **त्वा**=तुझे हम स्वीकार करते हैं। ९. **पृथिविसदम्, अन्तरिक्षसदम्, दिविसदम्**=(पृथिवी=शरीरम्, हृदय=अन्तरिक्ष, मूर्धन्=द्यौः) शरीर, हृदय व मस्तिष्क में स्थित **त्वा**=तुझे ग्रहण करते हैं–तू शरीर, हृदय व मस्तिष्क तीनों का अधिष्ठाता है, तूने शरीर को स्वस्थ बनाया है, हृदय को निर्मल तथा मस्तिष्क को उज्ज्वल। १०. **देवसदम्**=तेरा उठना-बैठना सदा देवों के साथ है, अतः तुझे अपने व प्रजाओं के जीवन को दिव्य बनाना है। ११. **नाकसदम्**=(न+अक) तू आनन्दस्वरूप प्रभु में स्थित है। प्रातः-सायं तू प्रभु का स्मरण अवश्य करता है। यह प्रभु-स्मरण ही तुझे कर्त्तव्यमार्ग पर ध्रुवता से चलने की शक्ति देता है। ऐसे **त्वा**=तुझे हम ग्रहण करते हैं। १२. आप **उपयामगृहीतः असि**=उपासना द्वारा यम-नियमों से स्वीकृत जीवनवाले हो। **जुष्टम्**=प्रीतिपूर्वक राष्ट्र की सेवा करनेवाले **त्वा**=तुझे **इन्द्राय**=राष्ट्र के ऐश्वर्य के लिए **गृह्णामि**=ग्रहण करते हैं। **एषः ते योनिः**=यह राष्ट्र ही तेरा घर है। **जुष्टतमम्**=राष्ट्र का सर्वाधिक प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले **त्वा**=तुझे **इन्द्राय**=राष्ट्र के ऐश्वर्य के लिए ग्रहण करता हूँ।

भावार्थ–राजा ध्रुव वृत्तिवाला हो–मानव-कार्यों में ही रुचिवाला हो (हर समय शिकार ही न खेलता हो), अपने मन का अधिष्ठाता हो, सदा कार्यव्यापृत हो, मलों का क्षरण करके दीप्ति का लानेवाला हो। वह प्रजाओं की प्राकृतिक आवश्यकताओं का ध्यान करे, उन्हें प्रभु-प्रवण बनाये। उनके पारस्परिक व्यवहारों को उत्तम करे, शरीर, मन व मस्तिष्क तीनों का ध्यान करे, अच्छे पुरुषों के साथ उसका उठना-बैठना हो, प्रातः-सायं प्रभु का ध्यान करनेवाला हो।

ऋषिः—बृहस्पतिः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदतिशक्वरी। **स्वरः**—पञ्चमः॥

प्रजा में सर्वोत्तम

अपाᳬरसमुद्वयसᳯसूर्यै सन्तᳯसमाहितम्। अपाᳬरसस्य यो रसस्तं वो गृह्णाम्युत्तममुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम्॥३॥

१. गत मन्त्र में राजा का वर्णन था। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि राजा किसे चुनें? जो **अपाम्**=प्रजाओं का **रसम्**=रस—सारभूत व्यक्ति हो—अर्थात् प्रजाओं में जो सर्वोत्कृष्ट हो। २. **उद्वयसम्**=उत्कृष्ट जीवनवाले को, अर्थात् राजा का चरित्र ऊँचा होना चाहिए, आयु के दृष्टिकोण से भी बड़ी आयुवाला ही ठीक है, क्योंकि इसे पर्याप्त अनुभव होगा। ३. **सूर्ये सन्तम्**=जो सदा प्रकाश में निवास करता है। पिछले मन्त्र में 'दिविषदं' शब्द इसी भावना को व्यक्त कर रहा था (दिवि=सूर्ये षदं=सन्तम्) ४. **समाहितम्**=एकाग्रचित्तवृत्तिवाले को। यही भावना 'ध्रुवसदम्' शब्द से पहले मन्त्र में कही गई थी। ५. **अपाम्**=प्रजाओं के **रसस्य यः रसः**=रस का भी जो रस है, अर्थात् जो प्रजाओं में सर्वोत्तम जीवनवाला हो **तम्**=उस तुझे **वः**=तुम्हारे लिए, प्रजाओं के हित के लिए **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। **उपयामगृहीतः असि**=तू उपासना द्वारा स्वीकृत यम-नियमोंवाला है। **जुष्टम्**=प्रीतिपूर्वक राष्ट्र की सेवा करनेवाले **त्वा**=तुझे **इन्द्राय**=राष्ट्र के ऐश्वर्य के लिए **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। **एषः**=यह राष्ट्र ही **ते योनिः**=तेरा घर है। **जुष्टतमम्** =राष्ट्र का सर्वाधिक प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले **त्वा**=तुझे **इन्द्राय**=राष्ट्र के ऐश्वर्य के लिए ग्रहण करता हूँ।

भावार्थ—राजा उसे चुना जाए जो १. प्रजाओं में सर्वोत्तम जीवनवाला हो २. कुछ बड़ी आयु का हो। ३. सदा प्रकाश में निवास करनेवाला हो। ४. एकाग्रचित्तवृत्ति का हो ५. राष्ट्र को ही अपना घर समझनेवाला और उसकी प्रीतिपूर्वक सेवा करनेवाला हो।

ऋषिः—बृहस्पतिः। **देवता**—राजधर्मराजादयः। **छन्दः**—भुरिक्कृतिः। **स्वरः**—निषादः॥

राजा व प्रजा

ग्रहाऽऊर्जाहुतयो व्यन्तो विप्राय मतिम्। तेषां विशिप्रियाणां वोऽहमिषमूर्जᳯसमग्रभमुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम्। सम्पृचौ स्थः सं मा भद्रेण पृङ्क्तं विपृचौ स्थो वि मा पाप्मना पृङ्क्तम्॥४॥

१. राजा कहता है कि हे **ग्रहाः**=(ग्रहीतारः) उत्तमोत्तम वस्तुओं का ग्रहण करनेवाले गृहाश्रमियो! तुम २. **ऊर्जाहुतयः**=(ऊर्जं आह्वयन्ति) अन्न व रस का आह्वान करनेवाले हो। श्रम करते हुए प्रभु से अन्न व रस की याचना करते हो। ३. **विप्राय**=विशेषरूप से अपना पूरण करने के लिए **मतिम्**=बुद्धि को **व्यन्तः**=(गमयन्तः) अपने को प्राप्त कराते हो। ४. **वि-शिप्रियाणाम्**=विहीन जबड़ोंवाले, अर्थात् बहुत अधिक न खाने-पीनेवाले, खाने-पीने में आसक्त न हो जानेवाले **तेषाम्**=उन **वः**=आपके **इषम् ऊर्जम्**=अन्न व रस को **समग्रभम्**= सम्यक्तया ग्रहण करता हूँ। मनु के निर्देशानुसार **'धान्यानामष्टमो भागः'** आपके अन्नादि के आठवें भाग को मैं लेता हूँ। ५. प्रजा कहती है—हे राजन्! तू **उपयामगृहीतः असि**= उपासना द्वारा यम-नियम से स्वीकृत जीवनवाला है। **जुष्टम्**=राष्ट्र का प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले **त्वा**=तुझे **इन्द्राय**=राष्ट्र के ऐश्वर्य के लिए **गृह्णामि**=ग्रहण करती हूँ। **एषः ते**

योनिः=यह राष्ट्र ही तेरा घर है। **जुष्टतमम्**=राष्ट्र की सर्वाधिक प्रीतिपूर्वक सेवा करनेवाले **त्वा**=तुझे **इन्द्राय**=राष्ट्र के ऐश्वर्य के लिए ग्रहण करते हैं। ६. प्रजा राजा व रानी से कहती है कि **सम्पृचौ स्थः**=आप सदा अपने जीवनों को उत्तमताओं से संयुक्त करनेवाले हो। **मा**=मुझे भी **भद्रेण**=शुभ से **संपृक्तम्**=संपृक्त करो। **विपृचौ स्थः**=आप अपने को बुराइयों से अलग करनेवाले हो, **मा**=मुझे **पाप्मना**=पाप से **विपृङ्क्तम्**=अलग करो। वस्तुतः राजा का जीवन प्रजा के जीवन को अत्यधिक प्रभावित करता है। राजा उत्तम होगा तो प्रजा भी उत्तम होगी। राजा व्यसनी होगा तो प्रजा भी वैसी ही हो जाएगी।

भावार्थ—राजा प्रजाओं से उचित कर ग्रहण करे। अपने जीवन को उत्तम बनाता हुआ प्रजाओं के जीवन को भी उत्तम बनाये।

सूचना—ऊपर 'विशिप्रियाणाम्' शब्द इस भावना को सुव्यक्त कर रहा है कि प्रजाएँ अपनी विषयलोलुपता को बढ़ा लेती हैं तो उन्हें कर देना भारी प्रतीत होने लगता है। उनकी इन्द्रियाँ खाने-पीने के व्यसनों में नहीं फँसतीं तो वे कर देने में उत्साहवाली होती हैं।

ऋषिः—बृहस्पतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—भुरिगष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः॥

सेनापति व सम्प्रदाय-विहीन राज्य [Secular State]

इन्द्रस्य वज्रोऽसि वाजसास्त्वयाऽयं वाजꣳसेत्। वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदितिं नाम वचसा करामहे। यस्यामिदं विश्वं भुवनमाविवेश तस्यां नो देवः सविता धर्म साविषत्॥५॥

गत मन्त्रों में राष्ट्र के अन्दर की सुव्यवस्था का चित्रण है। उस सुव्यवस्था से प्रजाओं के जीवन भद्र से युक्त तथा अभद्र से वियुक्त हुए हैं। प्रस्तुत मन्त्र में बाह्य आक्रमण से राष्ट्र की रक्षा का विधान है। यह रक्षा का कार्य सेनापति पर निर्भर करता है, अतः सेनापति से कहते हैं कि—२. **इन्द्रस्य वज्रः असि**=तू राष्ट्र के ऐश्वर्य को बढ़ानेवाले राजा का वज्र है। वज्र की तरह शत्रुओं का छेदन करनेवाला है। ३. **वाजसाः**=(वाजान् संग्रामान् सनोति, सन्ध्वन्=win) तू संग्रामों को विजय करनेवाला है। **अयम्**=यह राजा **त्वया**=तेरे द्वारा **वाजम्**=संग्राम का **सेत्**=(सिनुयात्) प्रबन्ध करनेवाला हो, अर्थात् युद्ध का सारा प्रबन्ध आपके द्वारा ही राजा से किया जाए (षिञ् बन्धने)। ४. **वाजस्य**=संग्राम के **प्रसवे**=उत्पन्न होने पर **नु**=अब **वचसा**=वेदोपदिष्ट निर्देशों के अनुसार **मातरं महीम्**=हम अपनी मातृभूमि को **अदितिम् नाम**=निश्चय से अखण्डित **करामहे**=करते हैं, अर्थात् अधिक-से-अधिक त्याग करके अपनी मातृभूमि को शत्रु द्वारा छिन्न-भिन्न नहीं होने देते। ५. हमारा राष्ट्र ऐसा है कि **यस्याम्**=जिसमें **इदम्**=ये **विश्वं भुवनम्**=सब लोक **आविवेश**=प्रविष्ट हुए हैं, अर्थात् हमारे राष्ट्र में अन्य राष्ट्रों के लोगों को भी रहने की पूरी सुविधा है। 'यहाँ धर्मविशेष के माननेवाले लोग ही रह सकें', ऐसी बात नहीं है। यह राष्ट्र सभी मत वालों व सभी देशवालों को रहने की सुविधा प्राप्त कराता है। ६. **तस्याम्**=सबको निवास देनेवाली मातृभूमि में **सविता देवः**=सबका प्रेरक प्रभु **धर्म**=धारणात्मक कर्मों को **साविषत्**=प्रेरित करे। धारणात्मक कर्मों को करना ही हमारा धर्म हो। हम निर्माण को धर्म समझें, तोड़-फोड़ को अधर्म। 'घर्म' पाठ हो तो अर्थ होगा यज्ञों को प्रेरित करे। हम यज्ञात्मक कर्मों में लगे रहें।

भावार्थ—सेनापति शत्रुओं के आक्रमण से राष्ट्र की रक्षा करे। युद्ध उपस्थित होने पर हम अपने राष्ट्र को खण्डित न होने दें। हमारे राष्ट्र में सभी के लिए स्थान हो और

निर्माणत्मक कर्मों को ही हम धर्म समझें।

ऋषिः—बृहस्पतिः। **देवता**—अश्वः। **छन्दः**—भुरिग्जगती। **स्वरः**—निषादः॥

आपः-अश्वः

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तिष्वश्वा भवत वाजिनः।
देवीरापो यो वऽऊर्मिः प्रतूर्तिः ककुन्मान्वाजसास्तेनायं वाजꣳसेत्॥६॥

१. गत मन्त्र में शत्रु-आक्रमण से राष्ट्र की रक्षा का विषय वर्णित था। राष्ट्र-रक्षा के लिए वीर पुरुषों को जन्म देना माताओं का काम है, अतः कहते हैं कि **अप्सु अन्तः**= (आप् व्याप्तौ) निरन्तर कर्मों में व्याप्त—व्यस्त रहनेवाली (योषा वा अपः) स्त्रियों में ही **अमृतम्**= अमृत है, अर्थात् वे ही ऐसी सन्तानों को जन्म देती हैं जो असमय में रोगाक्रान्त होकर मृत्यु को प्राप्त नहीं हो जाती। **अप्सु**=इन निरन्तर क्रिया में व्याप्त, कर्मशील स्त्रियों में ही **भेषजम्**=औषध है, अर्थात् इनके सन्तानों को रोग नहीं सता पाते। इनके भोजन, रस व दूध में रोगकृमियों को नष्ट करने की शक्ति होती है। २. **उत**=और **अपाम्**=इन कर्मों में व्याप्त स्त्रियों के **प्रशस्तिषु**=प्रशस्त कार्यों में ही तुम **अश्वाः**=उत्तम वीर्यवान् (वीर्यं वा अश्वः), सदा कर्मों में व्याप्त रहनेवाले **वाजिनः**=शक्तिशाली व (वज गतौ) गतिशील **भवत** होवो, अर्थात् कर्मों में व्याप्त होनेवाली माताएँ शक्तिशाली, गतिशील सन्तानों को जन्म देती हैं। ३. **देवीः**=हे दिव्य गुणोंवाली **आपः**=उत्तम कर्मों में व्यापनेवाली माताओ! **यः**=जो **वः**=तुम्हारी **ऊर्मिः**=लहर—तरङ्ग व उत्साह है, **प्रतूर्तिः**=(प्रत्वरणः) वेग है तथा **ककुन्मान्**=शिखरवाला, शिखर पर पहुँचने की भावना है **तेन**=उससे **अयम् वाजसाः**=यह संग्रामों का विजय करनेवाला **वाजम् सेत्**=संग्राम का प्रबन्ध करे। माताएँ ऐसी ही सन्तानों को जन्म दें जो तरंगित हृदयोंवाले, अर्थात् उत्साहमय हृदयोंवाले, वेगवाले, न मरियल, शिखर तक पहुँचने की भावनावाले हों। ऐसी ही सन्तान राष्ट्र की रक्षा करने में समर्थ होगी।

भावार्थ—माताएँ वीर सन्तानों को जन्म देनेवाली हों।

ऋषिः—बृहस्पतिः। **देवता**—सेनापतिः। **छन्दः**—भुरिगुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

२७ गन्धर्व

वातो वा मनो वा गन्धर्वाः सप्तविꣳशतिः।
तेऽअग्रेऽश्वमयुञ्जँस्तेऽअस्मिन् जवमादधुः॥७॥

१. राष्ट्र के सञ्चालन में सेनाओं को वायु-वेग से एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले-जानेवाला सेनापति **वातः**=है। वह सेनाओं को निरन्तर प्रेरणा दे रहा है। उत्तम मन्त्रणा करनेवाला मुख्यमन्त्री **'मनः'** है और **'त्रीणि राजाना विदथे पुरुणि'** इस मन्त्र में वर्णित 'राजार्य, धर्मार्य और विद्यार्य सभाओं' के दशावर अर्थात् नौ-नौ सभ्य, कुल मिलकर २७ सभ्य वेदवाणी का धारण करनेवाले होने से 'गन्धर्व' हैं (गां धरति)। २. **ते**=वे सेनापति, मुख्यमन्त्री तथा **सप्तविंशतिः**=सत्ताईस **गन्धर्वाः**=वेदों के धारण करनेवाले विद्वान् सभ्य—ये सब मिलकर **अश्वम्**=शक्तिशाली तथा निरन्तर कार्यों में व्याप्त होनेवाले राजा को **अग्रे**=सबसे अग्रस्थान पर **अयुञ्जन्**=नियुक्त करते हें। वे इसे अपना मुखिया बनाते हैं। **ते**=वे ही **अस्मिन्**=इस अग्रस्थान पर स्थित होनेवाले राष्ट्रपति में **जवम्**=स्फूर्ति व गति को **आदधुः**=स्थापित करते हैं। उन्हीं के परामर्श के अनुसार ही यह कार्य करता है।

भावार्थ—राष्ट्र के मुख्य अधिकारी सेनापति, मुख्यमन्त्री, सभासद तथा राष्ट्रपति हैं।

ऋषिः—बृहस्पतिः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

वातरंहाः

वार्तरꣳहा भव वाजिन् युज्यमान॑ऽ इन्द्र॑स्येव दक्षि॑णः श्रियैधि।
युञ्जन्तु॑ त्वा मरुतो॑ विश्ववे॑दसऽआ ते त्वष्टा॑ पत्सु जवं द॑धातु॥८॥

१. पिछले मन्त्र में कहा था कि 'सेनापति, मुख्यमन्त्री तथा सत्ताईस सभासद' राष्ट्रपति को नियुक्त करते हैं। अब वे कहते हैं—हे **वाजिन्**=शक्तिशालिन्! राष्ट्र के अग्रभाग में नियुक्त हुआ-हुआ तू **वातरंहाः**=वायु के समान वेगवाला **भव**=हो। राजा आलसी व विलासी होगा तो वह राष्ट्र की क्या रक्षा करेगा? २. **दक्षिणः**=कार्यकुशल बनकर तू **इन्द्रस्य इव**=इन्द्र के समान **श्रिया एधि**=श्री से सम्पन्न हो। राजा बिना कोश के राजा ही नहीं रहता। राजा को कोश की वृद्धि के लिए पूर्ण प्रयत्न करना है। कार्यकुशलता ही कोशवृद्धि में सहायक होगी। ३. **त्वा**=तुझे **मरुतः**=प्राणसाधना करनेवाले तथा **विश्ववेदसः**=सम्पूर्ण ज्ञानवाले पुरुष **युञ्जन्तु**= विभिन्न कार्यों में युक्त करें, अथवा ऐसे पुरुषों के साथ तेरा मेल हो। तेरे अध्यक्षादि सब प्राणापान के अभ्यासी व ज्ञानी हों। प्राणसाधना उनके इन्द्रिय-दोषों का दहन करनेवाली होगी तथा ज्ञान उनको ठीक तरीके से काम करने के योग्य बनाएगा। राजा को मूर्ख अध्यक्ष मिल जाएँ तो राष्ट्रसहित उसका नाश ही कर देंगे। ४. **त्वष्टा**=देवशिल्पी, अर्थात् तेरे राष्ट्र के वैज्ञानिक कारीगर **ते पत्सु**=तेरे पाँव में **जवम्**=वेग को **आदधातु**=स्थापित करे, अर्थात् तेरे लिए इस प्रकार का वाहन (Motor car) बना दे कि तू शीघ्रता से राष्ट्र के एक भाग से दूसरे भाग में पहुँच सके।

भावार्थ—१. राजा वायु के समान वेगवाला हो, शीघ्रता से कार्य करनेवाला हो। २. वह कार्यकुशलता से श्री की वृद्धि करे। ३. उसके अध्यक्ष ज्ञानी व प्राणायाम के अभ्यासी हों। ४. राष्ट्र सर्वत्र गमन-आगमन के लिए उसके वाहन वेगयुक्त हों।

ऋषिः—बृहस्पतिः। देवता—वीरः। छन्दः—धृतिः। स्वरः—ऋषभः॥

गुहा-श्येन-वात (बृहस्पति के भाग का गन्धोपादन)

जवो यस्ते॑ वाजिन्निहि॑तो गुहा यः श्येने परी॑त्तोऽअच॑रच्च वाते॑।
तेन॑ नो वाजिन् बल॑वान् बले॑न वाजजिच्च भव सम॑ने च पारयिष्णुः।
वाजि॑नो वाजजितो वाज॑ꣳसरिष्यन्तो बृहस्पते॑र्भागमव॑जिघ्रत॥९॥

१. हे **वाजिन्**=बल-सम्पन्न व क्रियाशील राजन्! **यः**=जो **ते जवः**=तेरा वेग **गुहा**=बुद्धि में **निहितः**=स्थापित है, **यः**=जो तेरा वेग **श्येने**=(श्यैङ् गतौ) क्रियाशीलता में व शत्रुओं पर बाज़ की भाँति झपट्टा मारने में **परीत्तः**=स्थापित है (परिदत्तः परिततो वा) **च**=और जो तेरा वेग **वाते**=वायु में, अर्थात् वायु के समान राष्ट्र के सब भागों में विचरने में **अचरत्**=गतिवाला होता है, **तेन**=उस बुद्धि में, शत्रु पर आक्रमण करने में तथा वायुवत् सम्पूर्ण राष्ट्र में भ्रमण करने में परिणत होनेवाले **बलेन**=बल से **बलवान्**=बलवाला **वाजिन्**= क्रियाशील तू **नः**=हमारे लिए **वाजजित् भव**=सब प्रकार के अन्नो व बलों को जीतनेवाला हो **च**=और **समने**=युद्ध में **पारयिष्णुः**=हमें पार लगानेवाला हो। २. इस मन्त्रार्थ में यह स्पष्ट है कि राजा का वेग तीन जगह प्रकट हो (क) शासन के अर्थों के उद्देश्य को

समझने में, (ख) शत्रु पर श्येनवत् आक्रमण करके शत्रु को समाप्त करने में तथा (ग) राष्ट्र के सब भागों के निरीक्षण में। ऐसा राजा ही राष्ट्र के अन्नादि के अभाव को दूर करेगा और युद्ध में शत्रुओं का शातन करने में समर्थ होगा। ३. इन राजकार्य-व्यापृत लोगों के लिए कहते हैं कि तुम (क) **वाजिनः**=(वज गतौ) ख़ूब क्रियाशील बनो (ख) **वाजजितः**=संग्रामों को जीतनेवाले बनो (ग) **वाजम् सरिष्यन्तः**=अन्न की ओर चलनेवाले होओ, अर्थात् राष्ट्र में कभी अन्नादि की कमी न होने दो (घ) ऐसा करते हुए तुम **बृहस्पतेः**=उस ब्रह्मणस्पति—वेदवाणी के पति परमात्मा की **भागम्**=(भज सेवायाम्) भजनीय, सेवनीय—इस वेदवाणी को भी **अवजिघ्रत**=ज़रा सूँघो, उसकी गन्ध का भी ग्रहण करो, अर्थात् ज्ञान-प्राप्ति के लिए थोड़ा-सा समय अवश्य निकालो। शूरता के साथ ज्ञान का सम्पुट आवश्यक है, अन्यथा शूरता कुछ बर्बरता को लिये हुए हो जाती है।

भावार्थ—राजा शूर हो, उसकी शूरता विद्वत्ता के मिश्रणवाली हो। ज्ञानपूर्वक वह राष्ट्र-शत्रुओं का दमन करनेवाला हो।

ऋषिः—बृहस्पतिः। **देवता**—इन्द्राबृहस्पती। **छन्दः**—विराडुत्कृतिः। **स्वरः**—षड्जः॥

ज्ञानी व जितेन्द्रिय का स्वर्ग

देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यसवसो बृहस्पतेरुत्तमं नाकꣳ रुहेयम्।
देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यसवसऽइन्द्रस्योत्तमं नाकꣳ रुहेयम्।
देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यप्रसवसो बृहस्पतेरुत्तमं नाकमरुहम्।
देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यप्रसवसऽइन्द्रस्योत्तमं नाकमरुहम्॥१०॥

१. राजा के शासन के उत्तम होने पर राष्ट्र स्वर्गतुल्य बन जाता है। उस राष्ट्र में मूर्ख व अज्ञानियों का निवास नहीं होता, अतः वह स्वर्ग 'बृहस्पति' का कहलाता है तथा इसमें कोई भी व्यक्ति अजितेन्द्रिय नहीं होता, अतः यह 'इन्द्र' का स्वर्ग होता है। मन्त्र में कहते है कि—२. **अहम्**=मैं **सवितुः देवस्य**=प्रेरक प्रभु की, जो **सत्यसवसः**=सदा सत्य की ही प्रेरणा देते हैं **सवे**=प्रेरणा में, अनुज्ञा में **बृहस्पतेः**=बृहस्पति के **उत्तमं नाकम्**=उत्कृष्ट स्वर्ग को **रुहेयम्**=आरुढ़ होऊँ। बृहस्पति का स्वर्ग वह है जहाँ योग्यतम आचार्यों का निवास है। ३. **अहम्**=मैं **सत्यसवसः**=उस सत्य-प्रेरणावाले **सवितुः देवस्य**=प्रेरक प्रभु की **सवे**=प्रेरणा में **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **उत्तमं नाकम्**=उत्कृष्ट स्वर्ग में **रुहेयम्**=आरुढ़ होऊँ। 'इन्द्र' का स्वर्ग वह है जहाँ कि सब पुरुष 'जितेन्द्रिय' हैं, जहाँ अजितेन्द्रियों का निवास नहीं। ४. 'आरुढ़ होऊँ' इस प्रकार की कामना ही क्यों करता रहूँ—बस, अब तो मैं 'आरूढ़ हो ही गया'। दृढ़ संकल्प का यह परिणाम होना ही चाहिए कि वह संकल्प क्रिया में परिणत हो जाए, अतः यहाँ कहते हैं कि 'आरूढ़ हो जाऊँ, नहीं बस आरूढ़ हो ही गया'। ५. **अहम्**=मैं **सत्यप्रसवसः**=सत्य की उत्कृष्ट प्रेरणावाले **सवितुः देवस्य**=प्रेरक प्रभु की **सवे**=अनुज्ञा में **बृहस्पतेः**=बृहस्पति के **उत्तमं नाकम्**=उत्कृष्ट स्वर्ग में **आरुहम्**=आरूढ़ हुआ हूँ और **सत्यप्रसवसः**=उस उत्कृष्ट प्रेरणावाले **सवितुः देवस्य**=प्रेरक प्रभु की **सवे**=प्रेरणा में मैं **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय के **उत्तमं नाकम्**=उत्कृष्ट स्वर्ग में **अरुहम्**=आरूढ़ हुआ हूँ। ६. मन्त्रार्थ से ये बातें स्पष्ट हैं कि (क) स्वर्ग 'बृहस्पति व इन्द्र' का है, अर्थात् ज्ञानी व जितेन्द्रिय का है। स्वर्ग में पहुँचने के लिए हम जितेन्द्रिय व ज्ञानी बनें। जितेन्द्रयता व ज्ञान ही हमारे

घर व जीवन को स्वर्ग बनाते हैं। (ख) जितेन्द्रिय व ज्ञानी बनने के लिए प्रभु की प्रेरणा में चलें। (ग) जीवन को स्वर्ग बनाने का संकल्प दृढ़ होगा तभी हम इसे स्वर्ग बना पाएँगे।

भावार्थ—हम सब प्रभु के निर्देशानुसार चलनेवाले हों। ज्ञानी व जितेन्द्रिय बनें और इस प्रकार हमारा जीवन 'स्वर्ग' हो।

ऋषिः—बृहस्पतिः। **देवता**—इन्द्राबृहस्पती। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः॥

बृहस्पते+इन्द्र

बृह॑स्पते॒ वाजं॑ जय॒ बृह॒स्पत॑ये॒ वाचं॑ वदत॒ बृह॒स्पतिं॒ वाजं॑ जापयत।
इन्द्र॒ वाजं॑ ज॒येन्द्रा॑य॒ वाचं॑ वद॒तेन्द्रं॒ वाजं॑ जापयत॥११॥

१. गत मन्त्र के अनुसार राष्ट्र की उत्तमता इस बात पर निर्भर है कि प्रत्येक व्यक्ति ज्ञानी व जितेन्द्रिय बनने का प्रयत्न करे। विशेषतः राजा व सेनापति—जो राष्ट्र के मुख्य अधिकारी हैं, उन्हें तो ज्ञानी व जितेन्द्रिय बनना ही चाहिए। ये जितेन्द्रिय होंगे तभी शत्रुओं पर विजय पा सकेंगे। २. **बृहस्पते**=हे ज्ञान के अधिपति राजन्! **वाजं जय**=तू संग्राम को जीतनेवाला बन। ३. इन उल्लिखित शब्दों में राजा को विजय की प्रेरणा देकर पुरोहित उपस्थित सब सभ्यों से भी कहता है कि **बृहस्पतये**=इस ज्ञान के स्वामी राजा के लिए तुम सब भी **वाचं वदत**=उत्साह की वाणी को कहो। 'अवश्य जीतना है' इस प्रकार राजा को उत्साहित करो। **बृहस्पतिम्**=इस ज्ञानी राजा को **वाजं जापयत**=संग्राम में विजय दिलाओ। वस्तुतः राष्ट्र के सभी व्यक्ति राजा की पीठ पर हों तभी विजय सम्भव है। ४. अब पुरोहित सेनापति को सम्बोधित करते हुए कहता है कि **इन्द्र**=हे शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले! तू **वाजम्**=संग्राम को **जय**=जीत। हे प्रजाओ! तुम भी **इन्द्राय**=इस सेनापति के लिए **वाचं वदत**=उत्साह की वाणी बोलो। **इन्द्रं वाजं जापयत**=इस प्रकार उत्साह की वाणी को बोलते हुए तुम इस इन्द्र को अवश्य युद्ध में विजय दिलाओ।

भावार्थ—१. राजा को ज्ञानी बनना है, सेनापति को पूर्ण जितेन्द्रिय बनकर शत्रुओं को जीतना है। २. प्रजा ने राजा व सेनापति को उत्साहित करना है। ३. वस्तुतः विजय प्रजा को ही दिलानी होती है। प्रजा साथ है तो विजय है, प्रजा साथ न दे तो विजय का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

ऋषिः—बृहस्पतिः। **देवता**—इन्द्राबृहस्पती। **छन्दः**—स्वराडतिधृतिः। **स्वरः**—षड्जः॥

सत्या संवाक्

ए॒षा वः॒ सा स॒त्या सं॒वाग॑भू॒द्यया॒ बृह॒स्पतिं॒ वाज॒मजी॑जप॒ताजी॑जपत॒ बृह॒स्पतिं॒ वाज॒ं वन॑स्पतयो॒ विमु॑च्यध्वम्। ए॒षा व॒ः सा स॒त्या सं॒वाग॑भू॒द्ययेन्द्रं॒ वाज॒मजी॑जप॒ताजी॑जप॒तेन्द्रं॒ वाज॒ं वन॑स्पतयो॒ विमु॑च्यध्वम्॥१२॥

१. पुरोहित सभ्यों से कहता है कि तुम लोगों ने राजा के लिए जो उत्साह की वाणी कही है **एषा**=यह **वः**=तुम्हारी **सा**=वह **संवाक्**=उत्तम वाणी **सत्या**=सत्य **अभूत्**=हुई है। वह वाणी **यया**=जिससे कि **बृहस्पतिम्**=ज्ञान के अधिपति राजा को **वाजम्**=संग्राम को **अजीजपत**=तुमने जिताया है। हे **वनस्पतयः**=ज्ञान की रश्मियों के अधिपतियो! तुमने उत्साह का सञ्चार करनेवाली वाणी के द्वारा **बृहस्पतिम्**=इस ज्ञानी राजा को **वाजम्**=संग्राम में

अजीजपत=विजय प्राप्त कराई है। अब तुम शत्रुओं के उपद्रवों से जनित क्लेशों से **विमुच्यध्वम्**=मुक्त हो जाओ। जब तक युद्ध रहता है या शत्रुओं का उपद्रव बना रहता है तब तक कुछ-न-कुछ क्लेश बना ही रहता है। २. **एषा सा**=यह वह **वः**=तुम्हारी **संवाक्**=उत्तम वाणी **सत्या अभूत्**=सत्य हुई है **यया**=जिससे आपने **इन्द्रम्**=सेनापति को **वाजं अजीजपत**=संग्राम में विजयी किया है। हे **वनस्पतयः**=ज्ञानरश्मियों के अधिपति सभ्यो! आपने अपनी उत्साहमयी वाणी से **इन्द्रम्**=सेनापति को **वाजम्**=संग्राम में **अजीजपत**=विजय प्राप्त कराई है। परिणमतः **विमुच्यध्वम्**=अब तुम्हारा जीवन क्लेशों से मुक्त हो गया है। ३. राष्ट्र में जब सभ्य ज्ञानी होते हैं और राजा व सेनापति के साथ उनकी अनुकूलता होती है तब अवश्य विजय होती है और राष्ट्र विविध क्लेशों व अशान्तियों से मुक्त हो जाता है।

भावार्थ—युद्ध के समय सब सभ्यों का राष्ट्रपति व सेनापति के साथ पूर्ण सहयोग आवश्यक है। संकटकाल में विरोधी वाणी मानस शक्ति को नष्ट करने का कारण बनती है।

ऋषिः—बृहस्पतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—निचृदतिजगती। **स्वरः**—निषादः॥

लक्ष्य-प्राप्ति (काष्ठा-गमन)

देवस्याहꣳसवितुः सवे सत्यप्रसवसो बृहस्पतेर्वाजजितो वाजं जेषम्।
वाजिनो वाजजितोऽध्वन स्कभ्नुवन्तो योजना मिमानाः काष्ठां गच्छत॥१३॥

१. **अहम्**=मैं **सत्यप्रसवसः**=सत्य की उत्कृष्ट प्रेरणा देनेवाले **सवितुः देवस्य**=सविता देव की, प्रेरक प्रभु की **सवे**=प्रेरणा में, अनुज्ञा में, **वाजजितः**=संग्रामों को जीतनेवाले **बृहस्पतेः**=ज्ञानी राजा के **वाजम्**=संग्राम को **जेषम्**=जीतूँ। राष्ट्र के एक-एक व्यक्ति की भावना यही होनी चाहिए कि वह प्रभु-अनुज्ञा में चलता हुआ राजा का पूरा सहयोग दे और उस राजा को किसी भी युद्ध में पराजित न होने दे। २. पुरोहित इन राष्ट्र-वीरों को सम्बोधित करता हुआ कहता है कि **वाजिनः**=हे शक्तिसम्पन्न राष्ट्रवीरो! **वाजजितः**=संग्रामों को जीतनेवालो! **अध्वनः स्कभ्नुवन्तः**=विघ्नों के मार्गों को रोकते हुए अथवा शत्रुओं के मार्गों को निरुद्ध करते हुए, अर्थात् काम-क्रोधादि के वशीभूत न होनेवाले तुम **योजना मिमानाः**=उन्नति की योजनाओं को बनाते हुए **काष्ठां गच्छत**=अपने लक्ष्य तक पहुँचो। ३. राष्ट्र के प्रत्येक प्रमुख पुरुष को शक्ति-सम्पन्न बनना है (वाजी), संग्राम में विजयी होना है (वाजजित्), काम-क्रोधादि उन्नति के विघ्नभूत शत्रुओं को अपने तक नहीं पहुँचने देना (अध्वनः स्कभ्नुवन्तः), जीवन को एक प्रोग्राम के साथ चलाना है (योजना मिमानाः)। यही लक्ष्यस्थान पर पहुँचने का उपाय है, अन्यथा मनुष्य पराजित होगा और जन्म-मरण के चक्र में ही फँसा रहेगा।

भावार्थ—हम विजयी बनें। विजय के लिए प्रभु की अनुज्ञा में चलें।

ऋषिः—दधिक्रावा। **देवता**—बृहस्पतिः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः॥

त्रिधा बद्ध=(राजा)

एष स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धोऽअपिकक्षऽआसनि।
क्रतुं दधिक्राऽअनु सꣳसनिष्यदत्पथामङ्काꣳस्यन्वापनीफणत् स्वाहा॥१४॥

प्रस्तुत मन्त्र में राजा के त्रिविध संयम का और परिणामतः विजय का उल्लेख करते हुए कहते हैं—१. **एषः स्यः**=यह जो **वाजी**=शक्तिशाली राजा **क्षिपणिम्**=शत्रुओं को सुदूर

प्रक्षेपण की क्रिया को **तुरण्यति**=(त्वरयति) शीघ्रता से करता है। 'क्या अन्तःशत्रु और क्या बाह्य शत्रु' यह उन सभी को अपने से दूर फेंकता है। २. यह राजा **ग्रीवायाम्**=ग्रीवा के विषय में **बद्धः**=तीव्र नियम में बद्ध होता है, अर्थात् इसका खान-पान बड़े संयम से चलता है। २. **कक्षे अपि**=कमरे में भी यह **बद्धः**=बड़े संयमवाला होता है, अर्थात् इसके सन्तानोत्पादनादि क्रिया में पूर्ण संयम रहता है। ४. **आसनि**=यह मुख में भी **बद्धः**=संयमवाला होता है। इसका बोलना भी बड़ा नपा-तुला होता है। संक्षेप में इस राजा का खान-पान, सन्तानोत्पादन, बोल-चाल सभी क्रियाओं में संयम दीखता है। ५. **दधिक्रा**=(दधत् क्रामति) राष्ट्र का धारण करता हुआ गति करनेवाला यह राजा **क्रतुं अनु**=संकल्प के अनुसार **संसनिष्यत्**=(स्यन्दू प्रस्रवणे) विविध क्रियाओं में प्रस्तुत होता है। इसका प्रत्येक कार्य संकल्पपूर्वक (पूर्वनिर्मित योजना के अनुसार) होता है, इसीलिए इस राजा का कोई कार्य ऐसा नहीं होता जो धारणात्मक न हो। ६. यह राजा **पथाम्**=शास्त्र-निर्दिष्ट मार्गों के **अङ्कांसि**=चिह्नों के **अनु**=अनुसार **आ**=सर्वथा **पनीफणत्**=खूब ही गति करता है, अर्थात् यह शास्त्र-निर्दिष्ट मार्ग से रेखामात्र भी विचलित नहीं होता। पूर्वजों के पदचिह्नों पर ही चलता है। ७. **स्वाहा**=इस राजा के लिए ही प्रशंसात्मक शब्द कहे जाते हैं (सु+आह)।

भावार्थ—१. राजा को शत्रुओं को दूर करने के कार्य में आलस्य नहीं करना। २. त्रिविध संयम का जीवन बिताना है। ३. इसका कोई भी कार्य असंकल्पित व अधारणात्मक नहीं होता। ४. शास्त्र-निर्दिष्ट मार्गों के चिह्नों पर ही यह चलता है।

ऋषिः—दधिक्रावा। **देवता**—बृहस्पतिः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः॥

राजा का रथ

उत स्मास्य द्रवतस्तुरण्यतः पर्णं न वेरनुवाति प्रगर्धिनः।
श्येनस्येव ध्रजतोऽअङ्कसं परि दधिक्राव्णः सहोर्जा तरित्रतः स्वाहा॥१५॥

१. राष्ट्ररक्षा में व्यापृत राजा प्रजा के अन्दर अपने रथ से सर्वत्र विचरता है **उत**=और **अस्य**=इस **द्रवतः**=गति करते हुए **तुरण्यतः**=शत्रुओं का संहार करते हुए राजा का **पर्णम्**=रथ (सर्वं स्याद् वाहनं यानं युग्यं पत्रं च धोरणम्। पत्रम्=पर्णम्) **प्रगर्धिनः वेः**=मांसादि में लालचवाले (गृध्र आदि) पक्षी के **पर्णं न**=पंख के समान **अनुवाति**=गति करता है। जिस प्रकार मांस का लोभ पक्षी के पंखों को तीव्र गति देता है उसी प्रकार राष्ट्ररक्षा अथवा राष्ट्र को उत्तम बनाने का लोभ इस राजा के रथ को तीव्र गति देता है। ('पर्ण' शब्द के दोनों ही अर्थ हैं—रथ और पंख)। 'राष्ट्ररक्षा' की प्रबल कामनावाले राजा का रथ सदा तीव्र गति से इधर-से-उधर दौड़ा करता है। २. **ध्रजतः श्येनस्य इव**=शिकार पर आक्रमण करनेवाले बाज़ के समान इस राजा का रथ शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाला होता है। ३. **ऊर्जा सह**=बल और प्राणशक्ति के साथ **तरित्रतः**=शत्रुओं को तीर्ण करनेवाले इस **दधिक्राव्णः**=(दधत् क्रामति) राष्ट्र का धारण करते हुए गति करनेवाले राजा का रथ **अङ्कसं परि**=वेदानुमोदित मार्गचिह्नों पर ही गति करता है। इसका रथ कभी मार्गभ्रष्ट नहीं होता। ४. इस राजा के लिए **स्वाहा**=प्रशंसात्मक शब्द कहे जाते हैं।

भावार्थ—शत्रुसंहार करनेवाले तथा राष्ट्ररक्षा करनेवाले राजा का रथ प्रजाओं में व राष्ट्र में सर्वत्र गति करनेवाला होता है।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—बृहस्पतिः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

'अहि-वृक-रक्षस्' जम्भन

शन्नो भवन्तु वाजिनो हवेषु देवताता मितद्रवः स्वर्काः।
जम्भयन्तोऽहिं वृकःरक्षांꣳसि सनेम्यस्मद्युयवन्नमीवाः॥१६॥

१. 'राष्ट्रपति की अध्यक्षता में काम करनेवाले राजपुरुष कैसे हों', इस बात का वर्णन करते हुए कहते हैं कि १. **वाजिनः**=ये शक्तिशाली राजपुरुष **हवेषु**=हमारी प्रार्थनाओं पर (पुकारों पर) **नः**=हमारे लिए **शम्**=शान्ति व सुख प्राप्त करानेवाले **भवन्तु**=हों। २. **देवताताः**=(देवान् तन्वन्ति इति) वे राजपुरुष दिव्य गुणों का विस्तार करनेवाले हों। ३. **मितद्रवः**=ये नपी-तुली गतिवाले हों, प्रत्येक कर्म में युक्तचेष्ट हों। ४. **स्वर्काः**=(सु अर्च्) ये प्रभु के उत्तम उपासक हों। ज्ञानी ही तो सर्वोत्तम उपासक है, अतः ये ज्ञानी बनें और प्रभु की उपासना करनेवाले हों। ५. ये राष्ट्र में **अहिम्**=सर्प के समान कुटिल गति को **वृकम्**=भेड़िये के समान अत्यधिक खाने की वृत्ति को तथा **रक्षांसि**=अपने रमण के लिए औरों का क्षय करने की वृत्ति को **जम्भयन्तः**=(नाशयन्तः—म०) नष्ट करते हुए ६. **सनेमि**=शीघ्र ही (सनेमि=क्षिप्रम्—म०) **अस्मत्**=हमसे **अमीवाः**=रोगों व व्याधियों को **युयवन्**=दूर करें। ७. राज्य की व्यवस्था ऐसी सुन्दर होनी चाहिए कि उसमें धूर्तता, कुटिलता, ठगी (अहि), लोभ व उदरम्भरिता (वृक) तथा औरों की हानि करके मौज मारने की वृत्ति (रक्षस्) का नितान्त अभाव हो और लोग व्याधियों के शिकार न हों।

भावार्थ—राज्य वही ठीक है १. जिसमें 'अहि, वृक व रक्षसों' का अभाव है। २. जिसमें लोग स्वस्थ हैं। ३. और जिसमें लोगों की चित्तवृत्ति शान्त है। इस व्यवस्था को लाने के लिए राष्ट्रपुरुष वे होने चाहिएँ जो शक्तिशाली, दिव्य गुणों का विस्तार करनेवाले, नपी-तुली गतिवाले तथा उत्तम उपासक हैं।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। **देवता**—बृहस्पतिः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः॥

उपासना व युद्ध

ते नोऽअर्वन्तो हवनश्रुतो हवं विश्वे शृण्वन्तु वाजिनो मितद्रवः।
सहस्रसा मेधसाता सनिष्यवो महो ये धनꣳसमिथेषु जभ्रिरे॥१७॥

राजपुरुषों का ही प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि १. **ते**=वे **विश्वे**=सब **नः**=हमारी **हवम्**=प्रार्थना व पुकार को **शृण्वन्तु**=सुनें, **ये**=जो (क) **अर्वन्तः**=(अर्व हिंसायाम्) शत्रुओं का संहार करनेवाले हैं, क्या बाह्य व क्या आन्तर—सभी शत्रुओं को वशीभूत करनेवाले हैं (ख) **हवनश्रुतः**=प्रजा के आह्वान को सुननेवाले हैं (ग) **वाजिनः**=शक्तिशाली व ज्ञानी हैं (घ) **मितद्रवः**=नपी-तुली गतिवाले हैं, प्रत्येक कर्म में युक्तचेष्टावाले हैं (ङ) **सहस्रसाः**=सहस्रों देनेवाले हैं, अर्थात् अत्यन्त उदार हैं (च) **मेधसातौ**=(मेधः सन्यते यत्र यज्ञशाला—म०) यज्ञशालाओं में **सनिष्यवः**=(पूजयितारः) आत्मा की उत्तम भक्ति करनेवाले तथा जो (छ) **समिथेषु**=संग्रामों में **महः धनम्**=(महत्—द०) बड़े धन का **जभ्रिरे**=भरण व पोषण करते हैं २. राजपुरुष जहाँ यज्ञशालाओं में प्रभु का पूजन करते हैं वहाँ संग्रामों में प्रभूत धन का विजय भी करते हैं। वस्तुतः यज्ञशालाओं में प्रभु-उपासन द्वारा अपने में शक्ति भरकर ही ये संग्रामों में शत्रुओं को जीतकर धनों के विजेता बनते हैं। ३. राजपुरुषों की राज्य-व्यवहार में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये प्रजा की पुकार को उपेक्षित नहीं करते। ४. अपने निज

जीवन में ये कामादि शत्रुओं का संहार करनेवाले (अर्वन्तः), शक्तिशाली (वाजिनः) तथा युक्तचेष्ट होते हैं (मितद्रवः)। कर्मों में युक्तचेष्टता ही इनकी विजय का सबसे बड़ा रहस्य है।

भावार्थ—राजपुरुष कामादि शत्रुओं के विजेता, शक्तिशाली व युक्तचेष्ट हों। वे उपासना की प्रवृत्तिवाले तथा संग्रामों में धनों के विजेता हों।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—बृहस्पतिः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

मधुपान—आर्थिक स्थिति का ठीक करना

वाजेवाजेऽवत वाजिनो नो धनेषु विप्राऽअमृताऽऋतज्ञाः।
अस्य मध्वः पिबत मादयध्वं तृप्ता यात पथिभिर्देवयानैः॥१८॥

राजपुरुष क्या करें? १. हे **वाजिनः**=शक्तिशाली पुरुषो! **नः**=हमें **वाजेवाजे**=प्रत्येक संग्राम में **अवत**=सुरक्षित करो। संग्राम के समय इस प्रकार की व्यवस्था की जाए कि आम जनता के कार्य अव्यवस्थित न हो जाएँ। २. **धनेषु**=धनों के विषयों में तुम **विप्राः**=विशेषरूप से हमारा पूरण करनेवाले होओ। राजा व्यापार के नियम इस प्रकार के प्रचलित करे कि सारी प्रजा धनधान्य से परिपूर्ण हो। राज्य में शिल्पों को राज्य द्वारा प्रोत्साहन व संरक्षण मिले। ३. ये राजपुरुष **अमृताः**=नाना प्रकार के रोगों के शिकार न हों (मृत्यु=रोग)। ४. **ऋतज्ञाः**=ऋत के ये जाननेवाले हों, इनका अपना जीवन ऋतमय हो। इनकी दिनचर्या बड़ी व्यवस्थित हो। ५. **अस्य मध्वः पिबत**=इस सोमरूप मधु का ये पान करें और **मादयध्वम्**=आनन्दित हों। जिस प्रकार विविध पुष्प-रसों का सारभूत मधु=शहद होता है उसी प्रकार नाना ओषधियों का सारभूत सोम (वीर्य) शरीर के अन्दर उत्पन्न होता है। इस सोम का ये पान करनेवाले हों। ऐसे ही राजपुरुष प्रजा के रक्षण-कार्यों में शक्त होते हैं। ६. **तृप्ताः**=ये सदा तृप्त और सन्तुष्ट हों, इन्हें सदा भूख न लगती रहे। अतृप्त राजपुरुष ही रिश्वत आदि की ओर झुकाववाले होते हैं। और ७. ये सदा **देवयानैः पथिभिः यात**=देवयान मार्गों से चलें। राजपुरुष उत्तम मार्गों को ही अपनाएँ, ये देवताओं के चलने योग्य मार्गों से चलेंगे तो प्रजा भी देवयानमार्गानुयायिनी होगी। **'यथा राजा तथा प्रजा'**=प्रजा तो राजाओं के ही मार्गों को अपनाती है।

भावार्थ—राजपुरुष नीरोग, व्यवस्थित जीवनवाले, सोम के रक्षक, सदा तृप्त तथा उत्तम मार्गों से चलनेवाले हों। ऐसे ही राजपुरुष संग्रामों में विजेता बनकर प्रजा के रक्षक होते हैं तथा प्रजा की आर्थिक स्थिति को ठीक कर पाते हैं।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—निचृद्धृतिः। **स्वरः**—ऋषभः॥

पूर्ण-शोधन

आ मा वाजस्य प्रसवो जगम्यादेमे द्यावापृथिवी विश्वरूपे।
आ मा गन्तां पितरा मातरा चा मा सोमोऽअमृतत्त्वेन गम्यात्।
वाजिनो वाजजितो वाजꣳससृवाꣳसो बृहस्पतेर्भागमवजिघ्रत निमृजानाः॥१९॥

राष्ट्र में राजा तथा सारे प्रजाजन धर्माचरण द्वारा यही कामना करें कि—१. **मा**=मुझे **वाजस्य**=ज्ञान व शक्ति का **प्रसवः**=ऐश्वर्य **अजगम्यात्**=सब प्रकार से प्राप्त हो। २. मुझे **इमे**=ये **विश्वरूपे**=पूर्णरूपवाले न कि अधूरे **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क व शरीर **आ**=प्राप्त हों। ज्ञान के ऐश्वर्य के परिणामस्वरूप मेरा मस्तिष्क पूर्ण विकासवाला तथा शक्ति के

ऐश्वर्य के परिणामरूप मेरा शरीर नीरोग व पूर्ण होगा। ज्ञान मस्तिष्क की अपूर्णता को दूर करेगा तो शक्ति शरीर की अपूर्णता को। ३. **मा**=मुझे **पितरा मातरा**=सच्चे अर्थों में माता और पिता **आगन्ताम्**=प्राप्त हों। मेरे माता व पिता प्रशस्त हों, विद्यायुक्त होते हुए वे मेरे जीवन का सुन्दर निर्माण करनेवाले हों। ४. **च**=और **मा**=मुझे **सोमः**=सोम (=वीर्य) **अमृतत्वेन**=नीरोगता के साथ **आगम्यात्**=प्राप्त हो। मैं सोम की रक्षा करनेवाला बनूँ और इस प्रकार नीरोग होऊँ। (५) उल्लिखित प्रार्थना को सुनकर प्रभु कहते हैं कि (क) **वाजिनः**=शक्तिशाली व ज्ञानी होते हुए **वाजजितः**=तुम संग्रामों को जीतनेवाले बनो। काम-क्रोधादि शत्रुओं से तुम्हें पराजित नहीं होना है। (ख) **वाजं ससृवांसः**=शक्ति की ओर चलनेवाले तुम **बृहस्पतेः**=ब्रह्मणस्पति परमात्मा की **भागम्**=भजनीय वेदवाणी को **अवजिघ्रत**=अवश्य ग्रहण करो। ज्ञान की गन्ध से शून्य शक्ति राक्षसी व हानिकर हो जाती है। (ग) ज्ञान व शक्ति प्राप्त करके तुम **निमृजानाः**=निश्चय से अपना शोधन करनेवाले बनो।

भावार्थ—हम शक्तिशाली व ज्ञानी बनें। शरीर व मस्तिष्क को पूर्ण करें। उत्तम माता-पितावाले हों। सोम-रक्षा द्वारा नीरोग बनें। शक्ति की ओर चलनेवाले हम ज्ञान की गन्ध का भी ग्रहण करें और इस प्रकार अपने जीवन को शुद्ध बनाएँ।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—भुरिक्कृतिः। **स्वरः**—निषादः॥

प्रजापति

आपये स्वाहा स्वापये स्वाहाऽपिजाय स्वाहा क्रतवे स्वाहा वसवे स्वाहाऽहर्पतये स्वाहाऽह्ने मुग्धाय स्वाहा मुग्धाय वैनꣳशिनाय स्वाहा विनꣳशिनऽआन्त्यायनाय स्वाहाऽऽन्त्याय भौवनाय स्वाहा भुवनस्य पतये स्वाहाऽधिपतये स्वाहा॥२०॥

'राजा कैसा हो?' इस प्रश्न का विस्तृत विचार देखिए—१. **आपये**=राष्ट्र को (आपयति) उत्तम समृद्धि प्राप्त करानेवाले राजा के लिए **स्वाहा**=(सु आह) उत्तम शब्दों को कहते हैं। २. **स्वापये**=(सु आपये) राष्ट्र के सर्वोत्तम मित्रभूत राजा के लिए **स्वाहा**= हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। ३. **अपिजाय**=(अपि=निश्चयार्थे जन्=विकास) निश्चय से राष्ट्र का विकास करनेवाले के लिए **स्वाहा**=उत्तम शब्द कहे जाते हैं। ४. **क्रतवे**=ज्ञान, संकल्प व कर्म से युक्त राजा के लिए **स्वाहा**=उत्तम शब्द कहते हैं। ५. **वसवे**=सब प्रजाओं को उत्तमता से बसानेवाले राजा के लिए **स्वाहा**=हम उत्तम शब्द कहते हैं। ६. **अहर्पतये**=प्रकाश के पति, अर्थात् सूर्य के समान राष्ट्र में प्रकाश फैलानेवाले राजा के लिए **स्वाहा**=हम उत्तम शब्दों को कहते हैं। ७. **मुग्धाय**=सुन्दर **अह्ने**=दिनों के कारणभूत राजा के लिए **स्वाहा**=प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। सुन्दर दिन वे ही हैं जिनमें सारा राष्ट्र सुख-समृद्धि-सम्पन्न होता है। आजकल की भाषा में इसे ही शानदार समय=glorious period कहते हैं। ८. **मुग्धाय**=राष्ट्र को सुन्दर बनानेवाले **वैनंशिनाय**=बुराइयों का नाश करनेवाले के लिए **स्वाहा**=प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। ९. **विनंशिने**=सब बुराइयों को समाप्त करनेवाले, चोरी इत्यादि को दूर करनेवाले, और इस प्रकार **आन्त्यायनाय**=सब असमृद्धि का अन्त करनेवाले राजा के लिए **स्वाहा**=हम प्रशंसा के शब्द कहते हैं। १०. **आन्त्याय**=सब बुराइयों का अन्त करनेवाले **भौवनाय**=सब भुवनों=प्राणियों का हित करनेवाले राजा के लिए **स्वाहा**=हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। ११. **भुवनस्य पतये स्वाहा**=राष्ट्र की रक्षा करनेवाले राजा के लिए हम शुभ शब्द कहते हैं। १२. **अधिपतये स्वाहा**=राष्ट्र के सबसे मुख्य अधिष्ठाता के लिए हम

शुभ शब्द बोलते हैं।

भावार्थ—उल्लिखित १२ गुणों से युक्त प्रजापति ही श्रेष्ठ है।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—अत्यष्टिः। **स्वरः**—गान्धारः॥

यज्ञ और शक्ति

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पताᳬश्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्। प्रजापतेः प्रजाऽअभूम स्वर्देवाऽअगन्मामृताऽअभूम ॥२१॥

गत मन्त्र के अनुसार जब राजा राष्ट्र की उत्तम व्यवस्था करता है तब सब लोगों के जीवन उत्तम बनते हैं और वे चाहते हैं कि १. **आयुः**=हमारा जीवन **यज्ञेन**=यज्ञ से **कल्पताम्**=(क्लृप् सामर्थ्ये) शक्तिशाली बने। हमारे जीवन में (क) **देवपूजा**=बड़ों का आदर हो। (ख) **सङ्गतीकरण**=हम सब परस्पर मेल से चलनेवाले हों। (ग) **दान**=हममें देने की वृत्ति सदा बनी रहे (यज् देवपूजा-सङ्गतीकरण-दानेषु)। ये बातें हमारे जीवन में शक्ति का सञ्चार करनेवाली हों। २. **प्राणः**=हमारी प्राणशक्ति **यज्ञेन**=यज्ञियवृत्ति से **कल्पताम्**=वृद्धि को प्राप्त हो। यज्ञियवृत्ति में त्याग का अंश है, यह त्याग हमें विलास से बचाता है और विलास का अभाव हमारी प्राणशक्ति को पुष्ट करता है। प्राणशक्ति के पुष्ट होने पर हमारे सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग—सब इन्द्रियाँ सशक्त होती हैं, अतः कहते हैं कि ३. **चक्षुः**=हमारी दृष्टिशक्ति **यज्ञेन कल्पताम्**=यज्ञ से सशक्त हो तथा ४. **श्रोत्रम्**=हमारे कान **यज्ञेन कल्पताम्**=यज्ञ से शक्तिशाली हों। ५. **पृष्ठम्**=हमारी पृष्ठ (पीठ) **यज्ञेन कल्पताम्**=यज्ञ से शक्तिशाली बने। ६. **यज्ञः**=हमारा यज्ञ भी **यज्ञेन**=यज्ञिय भावना से **कल्पताम्**=सफल हो। लोकहित के लिए किये गये कर्म यज्ञ हैं। ये कर्म भी सङ्गरहित होने पर और फल की इच्छा को छोड़कर किये जाने पर अत्यन्त उत्तम हो जाते हैं। यही यज्ञों को यज्ञिय भावना से करने का आशय है। देवों के यज्ञ इसी प्रकार के होते हैं। ७. यज्ञ से अपने जीवनों को ओत-प्रोत करते हुए हम **प्रजापतेः**=प्रजाओं के रक्षक प्रभु के **प्रजाः**=सच्चे सन्तान **अभूत्**= हों। प्रभु ने प्रजाओं को यज्ञ के साथ ही उत्पन्न किया था और कहा था कि इसी से तुम फूलो-फलोगे, अतः इन यज्ञों को करनेवाला व्यक्ति प्रभु का सच्चा पुत्र होता है। यह अपने यज्ञादि सुचरितों से प्रभु को प्रीणित करता है। ८. इस प्रकार यज्ञों से हमारा जीवन दिव्य गुणों की वृद्धिवाला हो और **देवाः**=हे देवो! दिव्य गुणो! **स्वः अगन्म** =हम स्वर्ग को, सुखमय स्थिति को प्राप्त हों। अथवा उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति प्रभु को प्राप्त करनेवाले हों। और ९. **अमृताः अभूम**=हम रोगरूप मृत्युओं से कभी आक्रान्त न हों।

भावार्थ—१. यज्ञों से हमारा जीवन शक्ति-सम्पन्न बनता है। २. यदि यज्ञ को यज्ञिय भावना से करते हैं तो हम प्रभु के सच्चे पुत्र होते हैं। ३. हमारा जीवन सुखमय व नीरोग होता है अथवा हम ऐहिक व आमुष्मिक कल्याण प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—दिशः। **छन्दः**—निचृदत्यष्टिः। **स्वरः**—गान्धारः॥

यज्ञमय जीवन

अस्मे वोऽअस्त्विन्द्रियमस्मे नृम्णमुत क्रतुरस्मे वर्चाᳬसि सन्तु वः। नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्याऽइयं ते राड्यन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि धरुणः। कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा ॥२२॥

गत मन्त्र की यज्ञियवृत्ति को ही प्रस्तुत मन्त्र में स्पष्ट करते हैं—१. **वः**=तुम्हारी **इन्द्रियम्**=सब इन्द्रियों की शक्ति **अस्मे**=हमारे लिए **अस्तु**=हो। प्रभु कहते हैं कि तू सब इन्द्रियों को हमारे प्रति अर्पण करनेवाला बन। २. तुम्हारा **नृम्णम्**=धन **अस्मे**=हमारे लिए हो। प्रभु के लिए होने का अभिप्राय स्पष्ट है कि वह 'सर्वभूतहित' के लिए विनियुक्त हो। 'सर्वभूतहिते रतः' व्यक्ति ही प्रभु का सच्चा भक्त है। **उत**=और **क्रतुः**=तुम्हारी प्रज्ञा व कर्म हमारे लिए हो। ३. **वः**=तुम्हारी **वर्चांसि**=शक्तियाँ **अस्मे**=हमारे लिए **सन्तु**=हों। तुम्हारी शक्तियाँ स्वार्थ-सम्पादन में विनियुक्त न होकर सारे राष्ट्र के हित के लिए हों। ४. तुम **मात्रे पृथिव्यै नमः**=इस पृथिवी माता का आदर करनेवाले होओ। **मात्रे पृथिव्यै नमः**=इस भूमि माता के लिए तुम्हारा नमन हो। **इयम्**=यह भूमिमाता ही **ते राट्**=तेरे सब कार्यों को नियमित (regulated) करनेवाली हो, अर्थात् तेरे सब कार्य मातृभूमि के हित के दृष्टिकोण से हों। ५. **यन्ता असि**=तू अपने इस शरीररूप रथ का उत्तम नियन्ता=काबू में रखनेवाला है। ६. तू **यमनः**=उद्यमशील है। ७. **ध्रुवः असि**=तू स्थिर चित्तवृत्तिवाला है। ८. तू **धरुणः**=धारणात्मक कर्मों में लगा हुआ है। ९. **कृष्यै त्वा**=मैं तुझे कृषि के लिए प्रेरित करता हूँ और **क्षेमाय त्वा**=इसे कृषि के द्वारा कल्याण-प्राप्ति में लगाता हूँ। यह कृषि ही तेरे जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन होगी। १०. **रय्यै त्वा**=मैं तुझे धन के लिए प्राप्त कराता हूँ और इस प्रकार **पोषाय त्वा**=तुझे उचित प्रकार से पोषण में समर्थ करता हूँ। संक्षेप में यह कृषि ही तेरे क्षेम के लिए होगी और पोषण के लिए पर्याप्त धन हो जाएगा।

भावार्थ—१. यज्ञमय जीवन में हमारी इन्द्रियाँ, धन, प्रज्ञा व कर्म, और सब शक्तियाँ पृथिवी माता के लिए होती हैं। (२) हमारा जीवन संयमवाला व धारणात्मक कर्मों में लगा हुआ होता है। (३) हम कृषि द्वारा क्षेम को सिद्ध करते हैं और पोषण के लिए पर्याप्त धन प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—स्वराट्त्रिष्टुपः। **स्वरः**—धैवतः॥

राष्ट्र-पुरोहित

वाजस्येमं प्रसवः सुषुवेऽग्रे सोमꣳराजानमोषधीष्वप्सु।
ताऽअस्मभ्यं मधुमतीर्भवन्तु वयꣳराष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः स्वाहा॥२३॥

१. **इमं सोमं राजानम्**=इस सौम्य गुणयुक्त अथवा सोमशक्ति-सम्पन्न राजा को, **अग्रे**=सबसे प्रथम **ओषधीषु अप्सु**=ओषधियों व जलों का ही खान-पान करने पर, अर्थात् भोजन में मद्य-मांसादि का प्रवेश न होने पर, **वाजस्य**=शक्ति व ज्ञान का **प्रसवः**= उत्पादन **सुषुवे**=ऐश्वर्ययुक्त करता है, अर्थात् सात्त्विक भोजन से सौम्यता बनी रहती है और शक्ति व ज्ञान में वृद्धि होती है। २. **ताः**=वे ओषधियाँ व जल **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **मधुमतीः**= माधुर्यवाली **भवन्तु**=हों, अर्थात् इन ओषधियों व जलों के खान-पान से हमारे मनों और व्यवहार में माधुर्य हो। ३. **वयं पुरोहिताः**=हम पुरोहित **राष्ट्रे**=राष्ट्र में **जागृयाम**=सदा जागरूक रहें। ज्ञान-प्रकाश फैलाने का कार्य इनपर ही निर्भर है। ये सो जाएँ, तो राष्ट्र में अन्धकार-ही-अन्धकार हो जाए। एवं, ये राष्ट्र-पुरोहित वानस्पतिक भोजन करनेवाले हों, इनके व्यवहार में अत्यन्त माधुर्य हो, इनके प्रभाव से राजा व प्रजा के जीवन में भी मद्य-मांसादि का प्रवेश न हो और राजा को शक्ति व ज्ञान का ऐश्वर्य प्राप्त हो। ५. **स्वाहा**=इस कार्य के लिए पुरोहित स्वार्थ के त्यागवाले हों।

भावार्थ—हम वानस्पतिक भोजन को ही अपनाते हुए शक्ति व ज्ञान के ऐश्वर्य का सम्पादन करनेवाले हों। हमारा व्यवहार अत्यन्त मिठास को लिये हुए हो। मांसाहार मनोवृत्ति को क्रूर बनाता है।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः॥

समृद्धि=Prosperity

वाजस्येमं प्रसवः शिश्रिये दिवमिमा च विश्वा भुवनानि सम्राट्।
अदित्सन्तं दापयति प्रजानन्त्स नो रयिꣳसर्ववीरं नियच्छतु स्वाहा॥२४॥

१. गत मन्त्र के अनुसार राजा व पुरोहितों के सात्त्विक होने पर **इमाम्**=इस भूमि-माता (राष्ट्र) को **वाजस्य** =शक्ति व ज्ञान का **प्रसवः**=ऐश्वर्य **शिश्रिये**=आश्रय करता है। सारा राष्ट्र शक्ति-सम्पन्न होता है, इसमें सर्वत्र ज्ञान का प्रकाश होता है तथा २. **सम्राट्**=राजा **दिवम्**=प्रकाश का **शिश्रिये**=आश्रय करता है **च**=और **इमा**=इन **विश्वा**=सब **भुवनानि**=लोकों की **शिश्रिये**=(श्रिञ् सेवायाम्) सेवा करता है। राजा अपना मुख्य कर्त्तव्य लोकसेवा समझता है। वह सम्राट् है, राष्ट्र का सबसे बड़ा सेवक। ३. **प्रजानन्**=उत्कृष्ट ज्ञानवाला होता हुआ यह **अदित्सन्तम्**=राज-कर आदि देने की इच्छा न करते हुए से कर **दापयति**=दिलाता है। यह राष्ट्र में ऐसी व्यवस्था करता है कि सब कोई अपना कर-भाग अवश्य देता रहे। देय कर से कोई बच न सके। ४. **सः**=ऐसा वह राजा **नः**=हमें **सर्ववीरम्**=सब वीरों को प्राप्त करानेवाला **रयिम्**=धन **नियच्छतु**=दे, अर्थात् राजा हमें ऐसा धन प्राप्त कराए, जिस धन से हमारे सन्तान वीर हों तथा उस धन को प्राप्त करके हम विलासग्रसित व क्षीणशक्ति न हो जाएँ। हमारा अङ्ग-प्रत्यङ्ग वीरता से पूर्ण बना रहे। ५. **स्वाहा**=वीरता से पूर्ण बनाने के लिए सब राष्ट्रवासी स्वार्थ को त्याग करनेवाले हों।

भावार्थ—राष्ट्र-व्यवस्था ऐसी सुन्दर हो कि सारा राष्ट्र शक्ति व ज्ञान से सुशोभित हो। समझदार राजा ऐसी व्यवस्था करे कि कोई भी कर आदि देने में गड़बड़ न करे। राष्ट्र के सभी व्यक्ति वीर व धन-सम्पन्न हों। मन्त्र में 'सर्ववीर' शब्द को क्रियाविशेषण रक्खें तो अर्थ होगा, धन का इस प्रकार नियमन करें कि धन कहीं केन्द्रित न हो जाए और सभी वीर=समर्थ बने रहें।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—स्वराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

'प्रजा-पुष्टि'-वर्धन

वाजस्य नु प्रसव आबभूवेमा च विश्वा भुवनानि सर्वतः।
सनेमि राजा परियाति विद्वान्प्रजां पुष्टिं वर्धयमानोऽअस्मे स्वाहा॥२५॥

१. राज्य-व्यवस्था के उत्तम होने पर गत मन्त्र की भावना के अनुसार जब कर आदि देने में कोई किसी प्रकार की ढील नहीं करता तब **नु**=निश्चय से **वाजस्य**=शक्ति व ज्ञान का **प्रसवः**=ऐश्वर्य **इमा च विश्वा भुवनानि**=इन सब लोकों में **सर्वतः**=सब ओर से-सब दृष्टिकोणों से **आबभूव**=उपस्थित होता है, अर्थात् राज्यव्यवस्था के उत्तम होने पर राष्ट्र के सभी लोग-राष्ट्र के सब प्रान्तों में निवास करनेवाली प्रजाएँ-शरीर, मन व बुद्धि सभी दृष्टिकोणों से उन्नत होती हैं। २. इस राष्ट्र का **विद्वान्** =ज्ञानी-प्रजा की ठीक-ठीक अवस्था को जाननेवाला **राजा**=राष्ट्र का व्यवस्थापक पुरुष **सनेमि**=(नेमि=परिधि) सदा मर्यादानुकूल आचरणवाला होता हुआ **परियाति**=राष्ट्र में चारों ओर गति करता है। **'स**

ताननुपरिक्रामेत् सर्वानेव सदा स्वयम्'=इस मनुवाक्य के अनुसार यह राष्ट्र के सब कर्मचारियों के कार्यों को स्वयं घूमकर देखा करता है। ३. इस नियमित भ्रमण व निरीक्षण के द्वारा राष्ट्र-व्यवस्था को ठीक रखता हुआ यह राजा **अस्मै**=इन सब प्रजाओं के लिए **प्रजां पुष्टिम्**=सब प्रकार के विकास को (प्र+जा) तथा धन, शक्ति व ज्ञानादि के पोषण को **वर्धयमानः**=बढ़ाता हुआ होता है। राजा के नियमित निरीक्षण से सब कर्मचारी कार्यों को ठीक करते हैं और प्रजाओं का पोषण व शक्तियों का विकास ठीक प्रकार से होता रहता है। ४. **स्वाहा**=इस राजा के लिए प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं अथवा **स्व**=कर रूप में देय धन को **हा**=प्रसन्नतापूर्वक देते हैं, इसे राष्ट्र-यज्ञ में एक आहुति समझते हैं।

भावार्थ—राजा का जीवन अत्यन्त मर्यादित होना चाहिए। उसे राष्ट्र में सर्वत्र भ्रमण करते हुए राष्ट्र-कार्यों का उत्तमता से सञ्चालन करना चाहिए तभी प्रजा की शक्तियों का विकास व पोषण होता है।

ऋषिः—तापसः। **देवता**—सोमाग्न्यादित्यविष्णुसूर्यबृहस्पतयः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

राज-विश्वास

सोम॑ꣳ राजा॑नमव॑सेऽग्निमन्वार॑भामहे।
आ॒दि॒त्यान्विष्णु॒ꣳसूर्यं॑ ब्र॒ह्माणं॑ च॒ बृह॒स्पति॑ꣳ स्वाहा॑॥२६॥

'कैसे व्यक्ति को राजा बनाएँ', इस विषय का वर्णन करते हुए प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **अवसे**=रक्षणादि क्रियाओं के लिए **अनु आरभामहे**=पीछे चलते हुए हम उस राजा पर विश्वास करते हैं (आरभ=to rely on)। हमें राजा पर पूर्ण विश्वास है we have full faith (complete confidence) in him=हम उसके विरोध में 'no confidence motion' अविश्वास प्रस्ताव ही पेश नहीं करते रहते। हम उसके बनाये हुए नियमों का ठीक से पालन करते हैं। १. हम उस राजा पर विश्वास करते हैं जो **सोमम्**=गुण-सम्पन्न है, घमण्ड से रहित है तथा क्रूर मनोवृत्तिवाला नहीं है। २. **राजानम्**=जो ज्ञान की दीप्तिवाला है अथवा स्वास्थ्य के कारण चमकता है तथा प्रजा के जीवन को बड़ा व्यवस्थित=regulated करनेवाला है। ३. **अग्निम्**=जो प्रगतिशील है, उत्तम नेतृत्व देनेवाला है। ४. **आदित्यान्**=जो सदा उत्तमता का आदान करनेवाला है अथवा अग्निवत् शत्रुओं का दाहक है (आदानात् आदित्यः)। ५. **विष्णुम्**=जो व्यापक व उदार मनोवृत्तिवाला है। ६. **सूर्यम्**=(सूरिषु विद्वत्सु भवम्) सदा विद्वानों के सम्पर्क में रहनेवाला है। ७. **ब्रह्माणम्**=जो चतुर्वेदवेत्ता है अथवा उत्पादक (creator) है—सदा उत्पादन के कार्यों में रुचिवाला है। **च**=और ८. **बृहस्पतिम्**= सर्वोच्च दिशा का अधिपति है, अर्थात् अत्यन्त उच्च जीवनवाला है। **स्वाहा**=ऐसे राजा के लिए हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं और ऐसे राजा के लिए ही हम **स्व+हा**=अपने धन का नियत अंश कररूप में देते हैं। इन गुणों से युक्त राजा सच्चा 'तापस'=तपस्वी है। यही मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—राजा के लिए सोमादि गुण-सम्पन्न होना आवश्यक है। ऐसे राजा में ही प्रजा पूर्ण रूप से विश्वास करती है और उसे उचित कर प्रदान करती है।

ऋषिः—तापसः। **देवता**—अर्यमादिमन्त्रोक्ताः। **छन्दः**—स्वराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

मन्त्रिवर्ग-प्रेरण

अ॒र्य॒मणं॒ बृह॒स्पति॒मिन्द्रं॒ दाना॑य चोदय।
वाचं॒ विष्णु॒ꣳसर॑स्वतीꣳ सवि॒तारं॑ च वा॒जिन॒ꣳ स्वाहा॑॥२७॥

गत मन्त्र के राजा को चाहिए कि वह १. **अर्यमणम्**=(अरीन् यच्छति) चोर आदि राष्ट्र के शत्रुओं का नियमन करनेवाले न्यायसचिव को २. **बृहस्पतिम्**=(बृहतां पतिम्) बड़े-बड़े मन्त्रियों के भी पति मुख्यमन्त्री को ३. **इन्द्रम्**=(इदि परमैश्वर्ये) अर्थसचिव को ४. **वाचम्**=वेदवाणी में निपुण धर्मसचिव (पुरोहित) को ५. **विष्णुम्** (विष्लृ व्याप्तौ) विदेश-सचिव को ६. **सरस्वतीम्**=शिक्षासचिव को, ज्ञान का विस्तार करनेवाले को ७. **सवितारम्**=(सु=उत्पन्न करना) उद्योग व व्यापार-सचिव को **च**=और ८. **वाजिनम्**=संग्रामों के विजेता सेना-सचिव को **दानाय**=(दाप् लवणे) राष्ट्र में उत्पन्न बुराईरूप घास-फूस को काटने के लिए और इस प्रकार (दैप् शोधने) राष्ट्र की शुद्धि के लिए **चोदय**=प्रेरित करे। राजा सदा अपने मन्त्रिमण्डल को यही प्रेरणा देता रहे कि वे राष्ट्र में कहीं भी बुराइयों को उत्पन्न न होने दें और जीवन को सदा शुद्ध बनाने का प्रयत्न करें। राष्ट्र में कहीं भी भ्रष्टाचार (corruption) आदि शब्द तो सुनाई ही न पड़े। ९. **स्वाहा**=ऐसे राजा के लिए हम सदा प्रशंसात्मक शब्द कहें और कर आदि के रूप में अपने धन का त्याग करें।

भावार्थ—राजा के मन्त्रिमण्डल में, **'सचिवान् सप्त चाष्टौ वा'** इस मनु के शब्दों के अनुसार आठ मन्त्री हैं। राजा उन्हें सदा राष्ट्र-शोधन की प्रेरणा देता रहे।

ऋषिः—तापसः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

प्रजा पर प्रीति

अग्नेऽअच्छा वदेह नः प्रति नः सुमना भव।
प्र नो यच्छ सहस्रजित् त्वꣳहि धनदाऽअसि स्वाहा॥२८॥

प्रजा राजा से कहती है कि १. **अग्ने**=राष्ट्र को आगे ले-चलनेवाले राजन्! आप **इह**=इस राष्ट्र में **नः अच्छ**=हमारी ओर अर्थात् हमें लक्ष्य करके **आवद**=सब विषयों का उत्तम ज्ञान दो। राजा को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि राष्ट्र में प्रत्येक व्यक्ति ज्ञानी बने, राष्ट्रोन्नति की बातों को समझे और राष्ट्र के लिए सदा वैयक्तिक स्वार्थों को छोड़ने के लिए उद्यत हो। २. **नः प्रति**=हमारे—प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति के प्रति **सुमनाः**=उत्तम मनवाले **भव**=होओ। राजा प्रजा को अपने पुत्रतुल्य समझे, उनकी रक्षा के लिए सदा उद्यत हो। ३. हे **सहस्रजित्**=शतशः धनों के विजेता राजन्! तू **नः प्रयच्छ**=हमें उत्तम धन देनेवाला हो। राजा व्यापार आदि की इस प्रकार सुव्यवस्था करे कि राष्ट्र में कोई भी व्यक्ति अपनी जीविका कमाने में असमर्थ न रहे। हे राजन्! **त्वम्**=आप **हि**=निश्चय से **धनदाः**=धन देनेवाले **असि**=हो। वस्तुतः राज्य-व्यवस्था के ठीक न होने पर धनार्जन बड़ा कठिन हो जाता है। मात्स्यन्याय में जिस प्रकार छोटी मछली के लिए जीना सम्भव नहीं होता उसी प्रकार राष्ट्र-व्यवस्था के ठीक न होने पर छोटे व्यापारी के लिए जीना कठिन हो जाता है। बड़े-बड़े पनपते हैं तो छोटे उजड़ते हैं। राष्ट्र में 'अति सम्पन्न और अति विपन्न' इन दो श्रेणियों का निर्माण होकर राष्ट्र की अधोगति होती है। ४. **स्वाहा**=उत्तम व्यवस्था करनेवाले राजा के लिए हम **स्व**=धन का **हा**=त्याग करें, उचित कर आदि के देनेवाले हों।

भावार्थ—जैसे एक पिता सब पुत्रों का ध्यान करता है, इसी प्रकार राजा सारी प्रजा पर प्रीतिवाला हो और सभी को जीविकोपार्जन में सक्षम बनाये।

ऋषिः—तापसः। **देवता**—अर्यमादिमन्त्रोक्ताः। **छन्दः**—भुरिगार्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

निर्धनता व अज्ञान का निरसन

प्र नो यच्छत्वर्यमा प्र पूषा प्र बृहस्पतिः। प्र वाग्देवी ददातु नः स्वाहा॥२९॥

गत मन्त्र में धनदाः='हे राजन्! आप ही धन देनेवाले हो' ऐसा कहा था। उसी को कुछ विस्तार से कहते हैं कि १. **नः**=हमें **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) शत्रुओं का नियमन करनेवाला राजा **प्रयच्छतु**=प्रकृष्ट धन देनेवाला हो। राजा हमें ऐसा धन दे जिसे प्राप्त करके हम काम-क्रोधादि शत्रुओं के विजेता बनें। यह धन हमें व्यसनी बनानेवाला न हो २. **पूषा**=सारे राष्ट्र का पोषण करनेवाला राजा **प्र**=हमें प्रकृष्ट धन प्राप्त कराये, अर्थात् प्रजा में प्रत्येक व्यक्ति को पोषण के लिए पर्याप्त धन अवश्य प्राप्त हो। ३. **बृहस्पतिः**=सर्वोच्च दिशा का अधिपति (ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिः) **नः**=हमें उत्तम धन को **प्र**=खूब ही प्राप्त करानेवाला हो। यह बृहस्पति अपना ज्ञानरूप उत्तम धन हमें दे, जिससे हमारा जीवन अधिकाधिक पवित्र हो। ५. **वाग्देवी**=वाणी की अधिदेवता **नः**=हमें **प्रददातु**=खूब ही ज्ञान देनेवाली हो। राष्ट्र में ऐसी सुव्यवस्था होनी चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति ज्ञान प्राप्त कर सके। प्रत्येक व्यक्ति पर 'सरस्वती' की कृपा हो, अर्थात् राष्ट्र में कोई अविद्वान् न हो। ६. **स्वाहा**=इस प्रकार से व्यवस्था करनेवाले राजा के लिए हम (सु+आह) प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं और उचित कर देते हैं (स्व+हा)।

भावार्थ—राष्ट्र में कोई निर्धन व अतिधनी न हो। राष्ट्र में कोई अविद्वान् न हो। इस प्रकार से व्यवस्था करनेवाला राजा ही प्रशंसनीय है।

ऋषिः—तापसः। **देवता**—सम्राट्। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः॥

राज्याभिषेक

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। सरस्वत्यै वाचो यन्तुर्यन्त्रियै दधामि बृहस्पतेष्ट्वा साम्राज्येनाभिषिञ्चाम्यसौ॥३०॥

पुरोहित राजा का अभिषेक करता हुआ कहता है कि १. **त्वा**=तुझे **असौ**=वह मैं **साम्राज्येन**=साम्राज्य के हेतु से **अभिषिञ्चामि**=अभिषिक्त करता हूँ। तुझे इस सिंहासन पर बिठाते हैं, इसलिए कि राष्ट्र का सारा कार्यक्रम बड़े व्यवस्थित (regulated) प्रकार से चले। यह व्यवस्थित ही नहीं, सम्यग् व्यवस्थित हो। २. **त्वा** =तुझे **सवितुः देवस्य**=प्रेरक प्रभु की **प्रसवे**=आज्ञा में **दधामि**=धारण करता हूँ। तू इस सिंहासन पर बैठकर प्रभु की वेदोपदिष्ट नीति से राज्य का शासन कर। ३. मैं तुझे **अश्विनोः**=प्राणापान के **बाहुभ्याम्**=(बाहृ प्रयत्ने) प्रयत्नों के हेतु से **दधामि**=इस गद्दी पर बिठाता हूँ। 'प्राण' का काम शक्ति का धारण है—तूने भी राष्ट्र को शक्ति-सम्पन्न बनाना है। 'अपान' का काम दोषों का दूरीकरण है—तुझे भी राष्ट्र में से मलों व बुराइयों को समाप्त करना है। ४. **पूष्णः**=पूषा के **हस्ताभ्याम्**=हाथों के हेतु से मैं तुझे इस गद्दी पर बिठाता हूँ, अर्थात् तूने राष्ट्र में ऐसी सुन्दर व्यवस्था करनी है कि राष्ट्र का कोई भी व्यक्ति अकर्मण्य न हो और साथ ही प्रत्येक व्यक्ति को पोषण के लिए पर्याप्त धन प्राप्त हो। संक्षेप में प्रत्येक व्यक्ति अपनी कार्यक्षमता के अनुसार कार्य करे और आवश्यकतानुसार उसे धन प्राप्त हो। वस्तुतः यही समाजवाद का सिद्धान्त है जो प्रत्येक घर में लागू होता है—'इसी सिद्धान्त को राष्ट्र में भी लागू करना' राजा का कर्त्तव्य है। ५. **सरस्वत्यै**=सरस्वती के लिए मैं तुझे इस सिंहासन पर बिठाता हूँ। राष्ट्र में सर्वत्र विद्या के प्रसार के लिए तुझे गद्दी पर बिठाया गया है। ६. **वाचो यन्तुः**=वेदवाणी के अर्थ का नियमन करनेवाले, अर्थात् वेदार्थ के स्पष्ट करनेवाले **बृहस्पतेः**=(ब्रह्मणस्पतेः) चतुर्वेदवेत्ता विद्वान् के **यन्त्रिये**=नियमन में मैं तुझे **दधामि**=स्थापित करता हूँ। प्रत्येक राजा किसी ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण के नियन्त्रण में होना चाहिए तभी वह राजा ग़लतियाँ न करता हुआ राष्ट्र

की उत्तम रक्षा करनेवाला होता है।

भावार्थ—राजा विद्वान् आचार्य के नियन्त्रण में रहता हुआ राष्ट्र की उत्तम व्यवस्था करे।

ऋषिः—तापसः। **देवता**—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः। **छन्द**—स्वराडतिधृतिः **स्वरः**—षड्जः॥

'अग्निः, अश्विनौ, विष्णुः, सोमः' उज्जिति=उत्कृष्ट विजय

अग्निरेकाक्षरेण प्राणमुदजयत्तमुज्जेषमश्विनौ द्व्यक्षरेण द्विपदो मनुष्यानुदजयतां तानुज्जेषं विष्णुस्त्र्यक्षरेण त्रींल्लोकानुदजयत्तानुज्जेषः सोमश्चतुरक्षरेण चतुष्पदः पशूनुदजयत्तानुज्जेषम्॥३१॥

१. **अग्निः**=(अग्रेणीः) आगे बढ़ने की मनोवृत्तिवाला—सारे राष्ट्र का सञ्चालक राजा **एकाक्षेरण=(व्याहरन्)** 'ओम्' इस अद्वितीय अक्षर के जप से **प्राणम्**=प्राण को **उदजयत्**=जीतता है। **तम्**=उस प्राण को **उज्जेषम्**=मैं भी जीतूँ। 'ओम्' के जप से मनुष्य वासनाओं से बचा रहता है और वासनाओं का शिकार न होने से इसकी प्राणशक्ति ठीक बनी रहती है। यही 'एक अक्षर से प्राणों का विजय' है। आगे बढ़ने की वृत्तिवाले 'अग्नि' के लिए यह आवश्यक है। बिना प्रणव-जप के किसी भी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं। २. **अश्विनौ**=प्राण और अपान **द्व्यक्षरेण**=दो व्यापक सिद्धान्तों से (अश् व्याप्तौ), अर्थात् विद्या और श्रद्धा से **द्विपदः मनुष्यान्**=दो पाँववाले मनुष्यों को (पद् गतौ)—द्विविध गतिवाले मनुष्यों को **उदजयताम्**=उन्नत करते हैं—उत्कृष्ट विजयवाला करते हैं। **तान् उज्जेषम्**=मैं इन मनुष्यों को जीत जाऊँ, अर्थात् श्रद्धा व विद्या-सम्पन्न पुरुषों में मेरा स्थान प्रमुख हो। ३. 'ओम्' का जप करनेवाला विषयों में न फँसकर प्राणशक्ति का विजय करता है तथा प्राणापान की साधना करनेवाला श्रद्धा व विद्या-सम्पन्न होकर 'अभ्युदय व निःश्रेयस' दोनों को सिद्ध करनेवाले मनुष्यों को जीत जाता है, अर्थात् उनका अग्रणी बनता है। अब यह **'विष्णुः'** (विष्लृ=व्याप्तौ) व्यापक उन्नति करनेवाला बनता है और **त्रि अक्षरेण**=तीन व्यापक तत्त्वों के द्वारा मस्तिष्क में 'प्रज्ञा', मन में 'उत्साह' और शरीर में 'बल' के द्वारा यह **त्रीन् लोकान्**=तीनों लोकों को **उदजयत्**=जीतता है। आध्यात्म में ये तीन लोक 'शरीर, मन और बुद्धि' हैं। **तान् उज्जेषम्**=मैं भी इन तीनों लोकों का विजय करनेवाला बनूँ। मेरा शरीर बल-सम्पन्न हो तो मन उत्साहमय हो और मस्तिष्क प्रज्ञा से पूर्ण हो। ४. इस व्यापक उन्नति को करनेवाला मैं **सोमः**=सौम्य स्वभाववाला—विनीत बनूँ। यह सोम **चतुरक्षरेण**='साम, दाम, भेद व दण्ड' इन चार व्यापक सिद्धान्तों के द्वारा **चतुष्पदः पशून्**=चार पाँववाले, चारों ओर भटकनेवाले पशुओं को भी **उदजयत्**=जीत जाता है। **तान् उज्जेषम्**=मैं भी इनको जीतनेवाला बनूँ। सोम होता हुआ मैं सभी का विजेता होऊँ। विजय के लिए मैं क्रमशः 'साम, दान, भेद व दण्ड' इन उपायों का प्रयोग करूँ।

५. यहाँ मन्त्र में चारों वाक्यों के कर्तृपदों का क्रम यह है—'अग्नि, अश्विनौ, विष्णु, सोम'। एक वाक्य में कहें तो अर्थ यह होगा कि 'आगे बढ़नेवाला (अग्नि) प्राणापान की (अश्विनौ) साधना करता है और शरीर, मन व मस्तिष्क सभी दृष्टिकोणों से व्यापक उन्नति करता हुआ यह (विष्णु) अधिक-से-अधिक विनीत (सोम) होता है।

६. मन्त्र के करणपदों का क्रम यह है 'एकाक्षरेण—द्व्यक्षरेण—त्र्यक्षरेण—चतुरक्षरेण' इनके अर्थ एक वाक्य में इस प्रकार होंगे कि—मनुष्य एकाक्षर 'ओम्' का सतत जप करता हुआ द्व्याक्षर 'श्रद्धा व विद्या' को विकसित करने के लिए यत्नशील हो। 'इसका मस्तिष्क प्रज्ञा से परिपूर्ण हो तो इसका हृदय सदा उत्साहमय हो और शरीर में यह बल-सम्पन्न हो।

इस प्रकार निज जीवन को उन्नत बनाकर यह अपने व्यावहारिक जीवन में 'साम, दाम, भेद व दण्ड' का ठीक प्रयोग करता हुआ सभी को अपने वश में करनेवाला हो। ७. मन्त्र के कर्मपदों का क्रम यह है 'प्राणम्–द्विपदो मनुष्यान्–त्रीन् लोकान्–चतुष्पदः पशून्' इनका अभिप्राय यह है कि हम प्राण का विजय करें। प्राणों की साधना करके मस्तिष्क में विद्या तथा हृदय में श्रद्धा का विकास करें तब अभ्युदय व निःश्रेयस को सिद्ध करनेवाले मनुष्यों को जीत जाएँगे। इस विद्या व श्रद्धा का परिणाम हमारे जीवन पर यह होगा कि हमारा शरीर सबल होगा, हृदय सोत्साह तथा मस्तिष्क सप्रज्ञ (बुद्धियुक्त)। इस प्रकार त्रिविध उन्नति करके हम तीनों लोकों का विजय कर रहे होंगे। यह विजय हमें इस योग्य बनाएगी कि हम चतुष्पद पशुओं पर भी सामादि उपायों द्वारा विजय पाएँगें।

भावार्थ–हमारा जीवन क्रमशः उन्नति करता हुआ विजयी और विजयी ही बनता चले।

ऋषिः–तापसः। **देवता**–पूषादयो मन्त्रोक्ताः। **छन्दः**–कृतिः। **स्वरः**–निषादः॥

पूषा–सविता–मरुतः–बृहस्पतिः

पूषा पञ्चाक्षरेण पञ्च दिशऽउदजयत्ताऽउज्जेषꣳसविता षडक्षरेण षड्ऋतूनुदजयत्तानुज्जेषं मरुतः सप्ताक्षरेण सप्त ग्राम्यान् पशूनुदजयँस्तानुज्जेषं बृहस्पतिरष्टाक्षरेण गायत्रीमुदजयत्तामुज्जेषम्॥३२॥

१. **पूषा**=अपना पोषण करनेवाला **पञ्च**=पाँच **अक्षरेण**=व्यापक तत्त्वों के द्वारा पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश की अनुकूलता के द्वारा **पञ्च दिशः**=पाँचों दिशाओं को **उदजयत्**=जीत लेता है, पाँचों दिशाओं में उन्नति करता है। इसकी पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ–पार्थिव घ्राणेन्द्रिय, अम्मय रसनेन्द्रिय, तैजस् चक्षु, वायवीय त्वचा और आकाशैकदेशभूत श्रोत्रेन्द्रिय–ठीक प्रकार से विकसित होती हैं–पाँचों कर्मेन्द्रियों का यह ठीक विकास कर पाता है। इसके पाँचों प्राण इसके वश में होकर ठीक-ठीक कार्य करते हैं। इस प्रकार यह सचमुच ही पूषा बन जाता है। इसकी यह कामना पूर्ण होती है कि **ताः उज्जेषम्**=मैं भी इन पाँचों दिशाओं को जीत लूँ। २. **सविता**=सबका प्रेरक तथा सब ऐश्वर्यों से युक्त यह सूर्य **षडक्षरेण**=छह व्यापक शक्तियों के द्वारा–जो शक्तियाँ छह ऋतुओं को पैदा करने का कारण बनती हैं, उन शक्तियों के द्वारा **षट् ऋतून्**=छह ऋतुओं का **उदजयत्**=विजय करता है। **तान् उज्जेषम्**=मैं भी उन छह ऋतुओं का विजेता बनूँ। ये छह-की-छह ऋतुएँ मेरे अनुकूल हों। ऋतु शब्द 'ऋ' गतौ से बनकर छह गतियों का संकेत करता हैं। राजा के क्षेत्र में ये छह गतियाँ 'सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव व समाश्रय' इन शब्दों से कही जाती हैं। सामान्य व्यक्ति के जीवन में भी पाँच कर्मेन्द्रियों व छठे मन की गतियाँ छह ऋतुओं से अभिप्रेत हैं। समय के अनुकूल उस-उस क्रिया के द्वारा मनुष्य सर्वदा स्वस्थ रह पाता है–कोई भी ऋतु उसके प्रतिकूल नहीं होती। ३. **मरुतः**=(मितराविणः) परिमित बोलनेवाले योगसाधनरत मुनिलोग **सप्ताक्षरेण**=सात व्यापक तत्त्वों के द्वारा **सप्त**=सात **ग्राम्यान् पशून्**=इन्द्रिय-ग्रामों में निवास करनेवाले शीर्षण्य प्राणों को **उदजयत्**=जीत लेते हैं। मैं भी **तान् उज्जेषम्**=इन सप्त शीर्षण्य प्राणों का विजेता बनूँ। 'पशु' शब्द 'दृश्' धातु से बनता है। 'दृश्' की पर्यायभूत धातु 'ऋष' है; जिससे 'ऋषि' शब्द बनता है। एवं, पशु व ऋषि पर्याचवाची हो जाते हैं। इन्हीं सात ऋषियों का उल्लेख **'सप्तऋषयः प्रतिहिताः शरीरे'** इस मन्त्र में है। शरीर पञ्चभूतों का बना होने से पञ्चभौतिक ग्राम-सा है। उस ग्राम में रहनेवाले **'कर्णाविमौ नासिके अक्षणी मुखम्'** ये सप्त शीर्षण्य प्राण हैं। मितरावी मुनि इनका विजय करते हैं।

मुख्यरूप से ये सात कहलाते हैं। इनकी साधना से सप्त ऋषि स्वस्थ रहते हैं। ४. **बृहस्पतिः**=सर्वोच्च दिशा का अधिपति **अष्टाक्षरेण**=आठ व्यापक तत्त्वों के द्वारा 'पञ्चभूत तथा अंहकार, महान् व अव्यक्त' इस अष्टधा प्रकृति के द्वारा **गायत्रीम्**=(गाया: प्राणा: तान् तत्रे) प्राणरक्षा का **उदजयत्**=उत्कृष्ट विजय करता है **ताम्**=उस प्राणरक्षा को मैं भी **उज्जेषम्**=जीतनेवाला बनूँ। पञ्चभूतों की विजय से अन्नमय व प्राणमयकोशों का स्वास्थ्य प्राप्त होता है। स्थूल भूत अन्नमयकोश में काम करते हैं तो सूक्ष्म भूत प्राणमयकोश में। अहंकार के विजय से मनोमयकोश का स्वास्थ्य प्राप्त होता है और महान् के विजय से विज्ञानमयकोश स्वस्थ होता है। अव्यक्त प्रकृति-विजय से आनन्दमयकोश ठीक होता है। इस अष्टधा प्रकृति का विजय ही गायत्री का विजय है।

५. **'पूषा, सविता, मरुतः, बृहस्पतिः'** इन कर्तृपदों से यह बात स्पष्ट है कि पोषण करनेवाला ही ऐश्वर्य का अधिपति होता है और प्राणसाधना करनेवाला मितरावी मुनि ही सर्वोच्च दिशा का अधिपति बनता है। ६. मन्त्र के **'पञ्च दिशा, षड् ऋतून्, सप्त ग्राम्यान् पशून्** तथा **गायत्रीम्'** इन कर्मपदों का उपदेश यह है कि (क) पाँचों दिशाओं में उन्नति करनेवाला, अर्थात् पृथिवी आदि सभी भूतों को अपने अनुकूल बनानेवाला ही सब ऋतुओं का विजेता बनता है। (ख) और सप्त शीर्षण्य प्राणों का विजेता ही अष्टधा प्रकृति का विजय कर पाता है। ७. मन्त्र के करणपदों का संकेत स्पष्ट है कि हम (क) शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय व पाँच प्राण सभी दिशाओं में उन्नति करें। (ख) अपने जीवन में पाँचों कर्म-इन्द्रियों व मन-इन छह-की-छह गतियों को ठीक करें। (ग) सप्त शीर्षण्य प्राणों को सप्त मरुतों की साधना से ठीक रक्खें। (घ) **'पञ्चभूत, अहंकार, महान्** व **अव्यक्त'** इस अष्टधा प्रकृति की अनुकूलता का सम्पादन करें।

भावार्थ—हमें अपने जीवनों में क्रमशः उन्नति करते हुए 'पूषा, सविता, मरुतः व बृहस्पति' बनना है।

ऋषिः—तापसः। **देवता**—मित्रादयो मन्त्रोक्ताः। **छन्दः**—कृतिः। **स्वरः**—निषादः॥

मित्र—वरुण—इन्द्र—विश्वेदेवाः

मि॒त्रो नवा॑क्षरेण त्रि॒वृत॒ᳬस्तोम॒मुद॑जय॒त्तमुज्जे॑षं॒ वरु॑णो॒ दशा॑क्षरेण वि॒राज॒मुद॑जय॒त्तामुज्जे॑ष॒मिन्द्र॒ऽएका॑दशाक्षरेण त्रि॒ष्टुभ॒मुद॑जय॒त्तामुज्जे॑षं॒ विश्वे॑ दे॒वा द्वाद॑शाक्षरेण॒ जग॑ती॒मुद॑जयँ॒स्तामुज्जे॑षम् ॥३३॥

१. **मित्रः**=(प्रमीतेः त्रायते) मृत्यु से अपने को बचानेवाला **नवाक्षरेण**=नौ व्यापक तत्त्वों के हेतु से—(पाँच ज्ञानेन्द्रियों व पाँच कर्मेन्द्रियों में जिह्वा के दोनों ओर होने से कुल नौ ही गिनते हैं) इन नौ इन्द्रियों की शक्ति के हेतु से **त्रिवृतं स्तोमम्**=त्रिगुणित 'सत्त्व, रज व तम्' अथवा वात, पित्त व कफ़ इन गुणों के समुदाय को **उदजयत्**=जीत लेता है। **तम्**=उस 'त्रिगुणित गुण समुदाय' को मैं भी **उज्जेषम्**=जीतनेवाला बनूँ। 'सत्त्व, रज व तम्' **'स्तोम'** इसलिए हैं कि ये परस्पर मिले होते हैं और 'उत्तम, मध्यम, निकृष्ट' भेद से त्रिगुणित होकर ये नौ हो जाते हैं। इनके ठीक कार्य करने पर सब इन्द्रियाँ ठीक रहती हैं। इन्द्रियों का ठीक रहना ही स्वास्थ्य है, रोगों से बचना है। एवं, मित्र=रोगों से अपने को बचानेवाला इस त्रिवृत् स्तोम को जीतने का ध्यान करता है। २. **वरुणः**=श्रेष्ठ अथवा (वारयति) रोगों का निवारण करनेवाला, रोगों को उत्पन्न ही न होने देनेवाला **दशाक्षरेण**=दस व्यापक तत्त्वों के द्वारा अर्थात् 'प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान नाग, कूर्म, कृकल,

देवदत्त, धनञ्जय' इन दस प्राणशक्तियों की साधना के द्वारा **विराजम्**=विशिष्ट दीप्ति को **उदजयत्**=जीतता है **ताम्**=उस विशिष्ट दीप्ति को **उज्जेषम्**=मैं भी विजय करूँ। वस्तुतः प्राणशक्ति से ही रोग-निवारण सम्भव होता है और इस रोग-निवारण का परिणाम 'स्वास्थ्य की दीप्ति' है, उसे ही यहाँ 'विराज्' कहा गया है। ३. **इन्द्रः**=सब इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव **एकादशाक्षरेण**=दस इन्द्रियाँ व ग्यारहवें मन की व्यापक शक्ति के द्वारा **त्रिष्टुभम्**=काम, क्रोध व लोभ के रोकने को (स्तुभ्=stop) **उदजयत्**=जीतता है, अर्थात् काम, क्रोध व लोभ को अपने में प्रवेश नहीं करने देता। **ताम्**=इस त्रिष्टुभ् को **उज्जेषम्**=मैं भी जीतूँ अर्थात् काम-क्रोधादि को अपने में उत्पन्न न होने दूँ। वैयक्तिक साधना के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है। ४. अब इन्द्र अर्थात् कामादि शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला बनकर मैं 'विश्वेदेवाः' बनता हूँ। सब दिव्य गुणों को अपना पाता हूँ। **द्वादशाक्षरेण**=दस इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इन बारह व्यापक शक्तियों के द्वारा **जगतीम्**=सारे लोक को **उदजयन्**=जीत लेते हैं, **ताम्**=उस जगती को **उज्जेषम्**=मैं भी जीतनेवाला बनूँ। मनुष्य मन को वश में करके काम-क्रोधादि को जीतकर शान्ति प्राप्त करता है और बुद्धि का सम्पादन होने पर वह सारे व्यवहार को बुद्धिपूर्वक करता हुआ सारे लोक को अनुकूल बना पाता है। ऐसा कर लेने पर उसमें सब दिव्य गुणों का वास होता है।

५. (क) मन्त्र के कर्तृपदों का बोध यह है कि रोगों से अपने को बचाना, अर्थात् रोगों के साथ संघर्ष करके उनपर विजय पाना आवश्यक है। (ख) उससे भी उत्तम यह है कि हम वरुण बनें, रोगों को आने ही न दें। (ग) इन उद्देश्यों से हम इन्द्र=इन्द्रियों के अधिष्ठाता बनें और काम आदि आसुर वृत्तियों का विद्रावण करनेवाले हों। इन वृत्तियों को दूर करके हम (घ) **विश्वेदेवाः**=सब दिव्य गुणों को अपने में विकसित करें। ६. कर्मपदों का बोध इस रूप में है कि (क) परस्पर सम्बद्ध सत्त्व, रज व तम के स्तोमों को जीतकर हम (ख) नीरोग बनकर विशिष्ट दीप्तिवाले हों। शारीरिक दृष्टि से हम स्वास्थ्य की चमकवाले हों। (ग) अब काम, क्रोध व लोभ को जीतकर इन्हें अपने से पूर्णरूप से दूर करके (घ) सम्पूर्ण जगती के प्रिय बनें।

७. करणपदों का बोध यह है कि हम (क) सब इन्द्रियों के स्वास्थ्य का सम्पादन करें। (ख) दश प्राणों को स्वाधीन करें। (ग) इन्द्रियरूप घोड़ों को मनरूप लगाम द्वारा वशीभूत करके (घ) मनरूप लगाम को भी बुद्धिरूप सारथि द्वारा थामनेवाले हों, अर्थात् हमारे जीवनों में बुद्धि का सर्वोपरि महत्त्व हो।

भावार्थ—हम क्रमशः 'मित्र, वरुण, इन्द्र व विश्वेदेवाः' बनने का यत्न करें।

ऋषिः—तापसः। **देवता**—वस्वादयो मन्त्रोक्ताः। **छन्दः**—निचृज्जगती[क], निचृद्धृतिः[२]। **स्वरः**—निषादः[क], ऋषभः[२]॥

वसवः—रुद्राः—आदित्याः—अदितिः—प्रजापतिः

[क]वसवस्त्रयोदशाक्षरेण त्रयोदशꣳस्तोममुदजयँस्तमुज्जेषꣳ रुद्राश्चतुर्दशाक्षरेण चतुर्दशꣳस्तोममुदजयँस्तमुज्जेषमादित्याः पञ्चदशाक्षरेण पञ्चदशꣳस्तोममुदजयँस्तामुज्जेषमदितिः षोडशाक्षरेण षोडशꣳस्तोममुदजयत्तमुज्जेषं प्रजापतिः सप्तदशाक्षरेण सप्तदशꣳस्तोममुदजयत्तमुज्जेषम् ॥ ३४॥

१. **वसवः**=अपने निवास को उत्तम बनानेवाले वसु ब्रह्मचारी **त्रयोदश अक्षरेण**=तेरह अविनाशी व व्यापक तत्त्वों से **त्रयोदशं स्तोमम्**=तेरह के समूह को—अर्थात् इन्द्रियरूप नव द्वारों तथा मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार को **उदजयत्**=जीत लेते हैं। मैं भी **तम्**=नव द्वारों

तथा अन्तःकरण चतुष्टय को **उज्जेषम्**=जीत लूँ। वस्तुतः उत्तम निवास के लिए इन सबका ठीक होना आवश्यक है। २. **रुद्राः**=(रुत् + र) ज्ञान देनेवाले रुद्र ब्रह्मचारी **चतुर्दश अक्षरेण**= चौदह व्यापक शक्तियों के द्वारा **चतुर्दशं स्तोमम्**=चौदह के समूह को, दश इन्द्रियाँ (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ) तथा मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार को **उदजयन्**=जीत लेते हैं। **तम्**=उस समूह को **उज्जेषम्**=मैं भी जीत लूँ। ३. **आदित्याः**=सब स्थानों से उत्तमताओं का ग्रहण करनेवाले आदित्य ब्रह्मचारी **पञ्च दशाक्षरेण**=पन्द्रह व्यापक शक्तियों के द्वारा **पञ्चदशं स्तोमम्**=दश इन्द्रियाँ—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार तथा हृदय के समूह को **उदजयन्**=जीत लेते हैं **तम्**=उस समूह को मैं भी **उज्जेषम्**=जीत लूँ। ४. **अदितिः** =अदीना देवमाता **षोडश अक्षरेण**=सोलह व्यापक शक्तियों के द्वारा **षोडशं स्तोमम्**=सोलह के समूह को—शरीर में निवास करनेवाली सोलह कलाओं को **उदजयत्**=जीत लेती है **तम्**= उस सोलह कलाओं के समूह को **उज्जेषम्**=मैं भी जीत लूँ। ५. **प्रजापतिः**=प्रजाओं का रक्षक अथवा प्रजा—विकास की रक्षा करनेवाला राजा **सप्तदशाक्षरेण**=सत्रह व्यापक शक्तियों के द्वारा **सप्तदशं स्तोमम्**=दस इन्द्रियों, पञ्च प्राण तथा मन व बुद्धि के समूहरूप सूक्ष्म व लिङ्गशरीर को **उदजयत्**=जीत लेता है, **तम्**=मैं भी सत्रह तत्त्वों से बने सूक्ष्म शरीर को **उज्जेषम्**=जीत लूँ। इस शरीर की विजय के बाद ही तो मैं कारणशरीर के विजय के लिए उद्यत होऊँगा। अथवा १. वसु—नव द्वार व अन्तःकरण चतुष्टय की तेरह व्यापक शक्तियों के द्वारा 'सत्याकारास्त्रयोदश' इस वाक्य में कहे गये सत्य के सब रूपों को जीत लेते हैं। मैं भी इसी प्रकार सत्य के त्रयोदश रूपों का विजेता बनूँ। २. रुद्र—दस इन्द्रियों व अन्तःकरण चतुष्टय की व्यापक शक्तियों के द्वारा चौदह विद्याओं के समूह को जीत लेते हैं। मैं भी चौदह विद्याओं के समूह का विजेता बनूँ (षडङ्गमिश्रिता वेदा धर्मशास्त्रं पुराणकम्। मीमांसा तर्कमपि च एता विद्याश्चतुर्दश) ३. आदित्य—दस इन्द्रियाँ अन्तःकरण चतुष्टय तथा हृदय की व्यापक शक्तियों के द्वारा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ व पाँच प्राणों के समूह को जीत लेते हैं। मैं भी इस समूह को जीतूँ। ४. आदित्य सोलह कलाओं की व्यापक शक्तियों के द्वारा सोलह कलाओं का विजय करते हैं। मैं भी इनका विजय करूँ तथा ५. प्रजापति सप्तदश शक्तियों से, अविनाशी तत्त्वों से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण तथा मन व बुद्धि से बने सूक्ष्मशरीर का विजय करता है। मैं भी इसका विजेता बनूँ।

भावार्थ—१. हमें क्रमशः विकास करते हुए स्वस्थ शरीरवाला **'वसु'**, उत्तम ज्ञान देनेवाला **'रुद्र'**, सब गुणों का अंशदान करनेवाला **'आदित्य'**, कामादि सब शत्रुओं से अखण्डित **'अदिति'** तथा सम्पूर्ण विकासों का स्वामी **'प्रजापति'** बनना है। २. हमें सत्य के तेरह रूपों को, चतुर्दश विद्याओं को, इन्द्रिय दशक व प्राण पञ्चक को, सोलह कलाओं को तथा सत्रह तत्त्वों से बने सूक्ष्मशरीर को जीतना है। यही वस्तुतः सच्ची तपस्या है। इस तपस्या को करनेवाले हम 'तापस' बनते हैं। तापस ही प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि है।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—विराडुत्कृतिः। **स्वरः**—षड्जः॥

राजा व मन्त्रीवर्ग

एष ते निर्ऋते भागस्तं जुषस्व स्वाहाऽग्निनेत्रेभ्यो देवेभ्यः पुरःसद्भ्यः स्वाहा यमनेत्रेभ्यो देवेभ्यो दक्षिणासद्भ्यः स्वाहा विश्वदेवनेत्रेभ्यो देवेभ्यः पश्चात्सद्भ्यः स्वाहा मित्रावरुणनेत्रेभ्यो वा मरुन्नेत्रेभ्यो वा देवेभ्यऽउत्तरासद्भ्यः स्वाहा सोमनेत्रेभ्यो देवेभ्यऽउपरिसद्भ्यो दुवस्वद्भ्यः स्वाहा ॥३५॥

१. राष्ट्र में राजा व सभ्य चुने जाते हैं। चुने जाने के कारण इनका नाम 'वरुण' है (व्रियन्ते)। इनमें सर्वप्रथम राजा का उल्लेख करते हैं कि—हे **निर्ऋते**=('तिग्मतेजा वा निर्ऋतिः' श० ७।८।१।१०) तीव्र तेजवाले राजन्! **एषः**=यह राष्ट्र, यह देश **ते**=तेरा **भागः** (भज्यते सेव्यते कर्मणि घञ्)=सेवनीय है, तूने इस देश की सेवा करनी है। **तं जुषस्व**=तू उस देश की प्रीतिपूर्वक सेवा कर। पूर्ण उत्साह से राष्ट्र की सेवा में प्रवृत्त हो। **स्वाहा**=तू इस राष्ट्र की सेवा के लिए स्वार्थ का त्याग करनेवाला हो। २. इस राजा के पूर्वभाग में वे सभ्य बैठे हैं जो **अग्निनेत्रेभ्यः**=राष्ट्र को उन्नत करने के दृष्टिकोणवाले हैं, जिनका कार्य सदा राष्ट्र की उन्नति के विषय में सोचनामात्र है, जो सदा उन्नति की योजनाएँ (plannings) बनाते रहते हैं। इन **पुरःसद्भ्यः**=पूर्वभाग में बैठनेवालों **देवेभ्यः**=देदीप्यमान मस्तिष्कवालों के लिए **स्वाहा**=हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। ३. अब **यमनेत्रेभ्यः**=नियन्त्रण के दृष्टिकोणवाले—राष्ट्र में व्यवस्था स्थापित करनेवाले (होम-मिनिस्ट्री के सदस्यों के लिए) **देवेभ्यः**=अनियन्त्रण पर विजय पानेवाले विद्वानों के लिए **दक्षिणा सद्भ्यः**=राजा के दक्षिण पार्श्व में स्थित देवों के लिए **स्वाहा**=हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। अग्निनेत्र देवों ने आगे और आगे ले-चलना है, अतः अग्रगति की प्रतीक 'प्राची' दिशा उनका स्थान है और नियन्त्रण के द्वारा कार्यकुशलता में वृद्धि करनेवाले देवों की दिशा 'दक्षिण' है—यही दिशा दाक्षिण्य व कुशलता का प्रतीक है। ४. **विश्वदेवनेत्रेभ्यः**=सब दिव्य गुणों के विकास के दृष्टिकोणवाले **पश्चात् सद्भ्यः**=पश्चिम में स्थित होनेवाले, क्योंकि यही दिशा प्रत्याहार=(फिर से वापस लाने) की प्रतीक है **देवेभ्यः**=देवों के लिए **स्वाहा**=हम शुभ शब्द बोलते हैं। पश्चिम दिशा 'प्रतीची' कहलाती है। इसमें सूर्यकिरणें 'प्रति अञ्च्' वापस आती हैं। इसी प्रकार इसमें स्थित देवों का कार्य प्रजाओं को विषयों से व्यावृत्त करना है। विषयों से वापस लाकर ही तो ये उन्हें दिव्य गुणोंवाला बनाएँगे। इसी दृष्टिकोण से ये विश्वदेवनेत्र हैं—अर्थात् राष्ट्र में प्रत्येक व्यक्ति को ज्ञानी बनाने के दृष्टिकोणवाले हैं। ५. **उत्तरासद्भ्यः**=उन्नति की प्रतीकभूत उत्तर दिशा में बैठनेवाले **मित्रावरुणनेत्रेभ्यः**=प्राणापान की वृद्धि के दृष्टिकोणवाले अथवा स्नेहवर्धन व द्वेष-निवारण के दृष्टिकोणवाले **देवेभ्यः**=देवों के लिए अथवा **मरुन्नेत्रेभ्यः**=सब प्राण-भेदों के वर्धन के दृष्टिकोणवाले देवों के लिए **स्वाहा**=हम शुभ शब्द कहते हैं। प्राणों की शक्ति की वृद्धि ही सब उन्नतियों का मूल है। ६. अन्त में **सोमनेत्रेभ्यः**=सौम्यता ही जिनका दृष्टिकोण है उन **उपरिसद्भ्यः**=जो राजा के भी ऊपर हैं (जैसे रामचन्द्र के ऊपर वसिष्ठ थे), जिनकी बात राजा भी आज्ञावत् मानता है, उन **दुवस्वद्भ्यः**=प्रभु परिचर्यारत **देवेभ्यः**=विद्वानों के लिए **स्वाहा**=हम प्रशंसा के शब्द बोलते हैं। इन्हीं के लिए ४० वें मन्त्र में इस प्रकार के शब्द कहे जाएँगे कि **'एष वो अमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा'** अर्थात् **अमी**=हे प्रजाओ। **वः**=आपका **एषः**=यह **राजा**=राजा है, परन्तु **अस्माकम्**=हम (ब्रह्मणि स्थितानाम्) सदा ब्रह्म में स्थित होनेवालों का तो **सोमः**=परमात्मा ही **राजा**=राजा व शासक है। एवं, ये प्रभु परिचर्यारत 'दुवस्वत्' लोग 'उपरिसद्' हैं, राजा से भी ऊपर हैं।

भावार्थ—राजा राष्ट्र का सबसे बड़ा सेवक है। उसके मन्त्रीवर्ग क्रमशः राष्ट्र की उन्नति, नियन्त्रण, दिव्य गुणवृद्धि, ज्ञान का विस्तार व प्राणशक्ति की वृद्धि करने में लगे हैं। कुछ लोग वे भी हैं जिनका कार्य यह है कि इन सब अधिकारियों को सौम्य बनाये रहें।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—विकृतिः। **स्वरः**—मध्यमः॥

राष्ट्र सञ्चालक देव

ये देवाऽअग्निनेत्राः पुरःसदस्तेभ्यः स्वाहा ये देवा यमनेत्रा दक्षिणासदस्तेभ्यः स्वाहा ये देवा विश्वदेवनेत्राः पश्चात्सदस्तेभ्यः स्वाहा ये देवा मित्रावरुणनेत्रा वा मरुन्नेत्रा वोत्तरासदस्तेभ्यः स्वाहा ये देवाः सोमनेत्राऽउपरिसदो दुवस्वन्तस्तेभ्यः स्वाहा ॥३६॥

१. **ये देवाः**=जो राष्ट्र के व्यवहार के चलानेवाले मन्त्री **अग्निनेत्राः**=राष्ट्र को आगे और आगे ले-चलने के दृष्टिकोणवाले हैं, **पुरःसदः**=जो राजा के पूर्व की दिशा में स्थित होते हैं **तेभ्यः**=उनके लिए **स्वाहा**=हम उत्तम शब्द कहते हैं अथवा हम (स्व+हा=) अपने कर-भाग को देते हैं। इसी कर द्वारा प्राप्त आय से ही तो वे राष्ट्रोन्नति की सब योजनाएँ बना सकेंगे। एवं, स्पष्ट है कि राजा ने सबसे पूर्व योजना-मन्त्रियों (Planning Commission) की स्थापना करनी है। 'प्राची' (पूर्व) में इनका स्थान इसलिए है कि यह दिशा 'प्र-अञ्च=आगे बढ़ने का संकेत करती है और इन्हें सदा अपने कार्य का स्मरण कराती है। २. **ये देवाः**=जो देव **यमनेत्राः**=राष्ट्र में नियन्त्रण-स्थापना की दृष्टिवाले हैं **दक्षिणासदः**=दक्षिण दिशा में जिनका स्थान है **तेभ्यः स्वाहा**=उनके लिए भी हम **स्वाहा**=शुभ बोलते हुए अपने नियत कर-भाग को देते हैं। ये मन्त्री व कार्यसचिव राष्ट्र को सुव्यवस्थित करते हुए लोगों की कार्यकुशलता व दाक्षिण्य को बढ़ाते हैं। 'दक्षिण' दिशा इन्हें अपने कार्य का स्मरण कराती रहती है। ३. **ये देवाः**=जो राष्ट्र को ज्ञान की ज्योति से दीप्त करनेवाले **विश्वदेवनेत्राः**=सभी को ज्ञानी व दिव्य गुणोंवाले बनाने के दृष्टिकोणवाले हैं और **पश्चात् सदः**=पश्चिम की ओर बैठे हैं, जिन्हें यह प्रतीची (पश्चिम) दिशा (प्रति-अञ्च्) विषय-व्यावृत्त होने का संकेत दे रही है, **तेभ्यः**=उन देवों के लिए **स्वाहा**= शुभ शब्द बोलते हुए हम अपना कर-भाग देते हैं। ४. **ये देवाः** =जो देव राष्ट्र में सब रोगों को जीतने की कामनावाले हैं (दिव् विजिगीषा) अतएव **मित्रावरुणनेत्राः**=प्राणापान की वृद्धि के दृष्टिकोणवाले हैं अथवा मित्रता व द्वेष-निवारण के दृष्टिकोणवाले हैं **वा**=अथवा **मरुत् नेत्राः**=सब प्राणशक्तियों को बढ़ाने के दृष्टिकोण को अपनाये हुए हैं और **उत्तरासदः**=उत्तर दिशा में स्थित हुए सदा स्मरण करते हैं कि हमें राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को नीरोग बनाते हुए ऊपर और ऊपर उठने की क्षमतावाला बनाना है, **तेभ्यः स्वाहा**=उनके लिए हम शुभ शब्द बोलते हैं और अपना कर-भाग देते हैं। ५. **ये देवाः**=जो देवता-'दैवी सम्पत्ति' को प्राप्त व्यक्ति **सोमनेत्राः**=सौम्यता के दृष्टिकोणवाले हैं, निरभिमानता को प्रचरित करनेवाले हैं, **उपरिसदः**=राजशासन से भी ऊपर हैं, जिनका शासन प्रभु द्वारा ही हो रहा है **दुवस्वन्तः**=जो बहुत प्रकार के धर्म के सेवन से युक्त हैं, **तेभ्यः**=उन जितेन्द्रिय देवों के लिए भी **स्वाहा**=हम शुभ शब्द बोलते हैं और अपना कर-भाग देते हैं। ६. इन उल्लिखित पाँचों सचिवों की सलाह के अनुसार राजा ने राष्ट्र में कार्यों को करना है। इन देवों से प्रेरणा प्राप्त करने से राजा 'देववात' कहलाता है।

भावार्थ—राष्ट्र में राजा ने मन्त्रियों के मन्त्र के अनुसार ही कार्य करना है। राजा स्वच्छन्द नहीं है। सब मन्त्रिवर्ग भी ब्रह्मनिष्ठ लोगों के उपदेशों से सदा सौम्य व निरभिमान बने रहते हैं।

ऋषिः—देववातः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

अग्नि

अग्ने सहस्व पृतनाऽअभिमातीरपास्य। दुष्टरस्तरन्नरातीर्वर्चो धा यज्ञवाहसि॥३७॥

प्रस्तुत मन्त्र में राजा के मुख्य कार्य का प्रतिपादन इन शब्दों में करते हैं कि १. **अग्ने**=हे राष्ट्र को सब दृष्टिकोणों से उन्नत करनेवाले राजन्! **पृतनाः**=(पृङ् व्यायामे, तनु विस्तारे) व्यायाम के द्वारा शक्तियों को विस्तृत करनेवाले लोगों को ही **सहस्व**=सहो, अर्थात् ('षह् मर्षणे'=show mercy) उन्हीं पर आपकी दया हो, अर्थात् राष्ट्र में अकर्मण्य लोगों के लिए स्थान न हो। राष्ट्र में सभी व्यक्ति कार्यों में लगे हों। २. **अभिमातीः**=अभिमान से भरे लोगों को, अर्थात् अन्याय मार्गों से अर्जित धन के गर्व में सब कार्य नौकरों से करानेवाले, स्वयं अभिमान के मद में चूर होने के कारण आराम का जीवन बितानेवाले लोगों को **अपास्य**=राष्ट्र से दूर (अप) अस्य=फेंक दे। अकर्मण्य धनियों का राष्ट्र में स्थान न हो। ३. **दुष्टरः**=हे सब विघ्नों व बुराइयों को तैर जानेवाले राजन्! **अरातीः**=(अ=न रातिः=देना) राष्ट्र के लिए उचित कर आदि न देनेवाले लोगों को—**तरन्**=(subdue, destroy, become master of) अभिभूत करते हुए, आप ४. **यज्ञवाहसि**=कर आदि को ठीक प्रकार से देने के द्वारा (यज्=दान) राष्ट्र-यज्ञ के चलाने में सहायक लोगों में **वर्चः**=तेजस्विता को **धाः**=स्थापित कर, अर्थात् राष्ट्र में शक्ति उन लोगों के हाथ में हो जो क्रियाशील हैं, अभिमानरहित हैं और सदा अपने देयभाग को देनेवाले हैं। ऐसा होने पर ही राष्ट्र की उन्नति होगी और राजा भी अपने 'अग्नि' नाम को सार्थक कर पाएगा।

भावार्थ—१. राष्ट्र में क्रियाशील लोगों को ही सहन किया जाए। २. अभिमान में चूर, अन्यायार्जित धन से धनी लोगों को राष्ट्र से निर्वासित कर दिया जाए (अपास्य) तथा ३. उचित कर आदि को न देनेवालों को अभिभूत किया जाए। ४. यज्ञशील लोगों की ही शक्ति को बढ़ाया जाए। धार्मिकों का ही राष्ट्र में प्रभुत्व हो, अधार्मिकों का नहीं।

ऋषिः—देववातः। **देवता**—रक्षोघ्नः। **छन्दः**—भुरिग्ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

रक्षो-वध

**देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
उपाꣳशोर्वीर्येण जुहोमि हतꣳरक्षः स्वाहा रक्षसां त्वा
वधायावधिष्म रक्षोऽवधिष्मामुमसौ हतः॥३८॥**

पुरोहित राज्याभिषेक के समय राजा से कहता है कि १. **त्वा**=तुझे **सवितुः देवस्य**=उस सर्वप्रेरक प्रभु की **प्रसवे**=प्रेरणा में, अर्थात् प्रभु से वेद में उपदिष्ट राजकर्त्तव्यों को पूरा करने के लिए **जुहोमि**=यह सिंहासन देता हूँ। तूने इस गद्दी पर बैठकर वेदानुकूल ही शासन करना है। २. **अश्विनोः बाहुभ्याम्**=प्राणापान के (बाहृ प्रयत्ने) प्रयत्न के हेतु से **जुहोमि**=यह सिंहासन देता हूँ। तूने इस सिंहासन पर बैठकर अपनी प्राणशक्ति के अनुसार पूर्ण प्रयत्न से राष्ट्रोन्नति के कार्यों में लगना है। ३. **पूष्णः हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों के हेतु से **जुहोमि**=तुझे यह सिंहासन सौंपता हूँ। तूने इस गद्दी पर बैठकर अपने हाथों से इस प्रकार के ही कार्य करने हैं जिनसे राष्ट्र का अधिकाधिक पोषण हो। ४. **उपांशोः**=(उपांशुः silence) मौन की **वीर्येण**=शक्ति के हेतु से **जुहोमि**=तुझे यह सिंहासन सौंपता हूँ। राजा व राष्ट्रपति को बहुत बोलनेवाला नहीं होना चाहिए। बोले कम, करे अधिक। ५. तू राष्ट्र-व्यवस्था को

इस प्रकार सुन्दरता से चलानेवाला बन कि **रक्षः**=अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाले लोग **हतम्**=नष्ट कर दिये जाएँ। **स्वाहा**=तू इस कार्य के लिए अपनी आहुति देनेवाला हो। **त्वा**=तुझे **रक्षसाम्**=राक्षसी वृत्तिवाले लोगों के **वधाय**=वध के लिए ही इस गद्दी पर बिठाया है। ६. तेरे मुख से तो हमें यही सुनने को मिले कि **अवधिष्म रक्षः**=राक्षस का वध कर दिया गया, **अवधिष्म अमुम्**=उसको मार डाला, **असौ हतः**=अमुक राक्षस मारा गया। आपस्तम्ब ऋषि के **'प्रजापालनदण्डयुद्धानि'** ये शब्द यही कह रहे हैं कि राजा प्रजा की रक्षा करे। प्रजा की रक्षा के लिए राज्य के अन्तर्गत राक्षसों को दण्ड दे और बाह्य राक्षसों से युद्ध करे।

भावार्थ—राजा का मौलिक कर्त्तव्य 'रक्षो-वध' है। राक्षस वे हैं जो अपने रमण के लिए औरों का क्षय करें।

ऋषिः—देववातः। **देवता**—रक्षोघ्नः। **छन्दः**—अतिजगती। **स्वरः**—निषादः॥

देवों का प्रेरण

सविता त्वा सवानाᳬसुवतामग्निर्गृहपतीनाᳬसोमो वनस्पतीनाम्। बृहस्पतिर्वाचऽइन्द्रो ज्यैष्ठ्याय रुद्रः पशुभ्यो मित्रः सत्यो वरुणो धर्मपतीनाम्॥३९॥

१. हे राजन्! **सविता**=सबको कर्मों में प्रेरणा देनेवाला यह सूर्य **त्वा**=तुझे **सवानाम्**=यज्ञों के, उत्तमोत्तम कर्मों के लिए **सुवताम्**=प्रेरित करे। जैसे सूर्य स्वयं सब दुर्गन्ध को समाप्त करके प्राणशक्ति का प्रसार कर रहा है, एवं राजा को भी सब बुराइयों को समाप्त करके उत्तम कर्मों को प्रचारित करना है। २. **अग्निः**=अग्नि देवता **गृहपतीनाम्**=गृहपतियों के आधिपत्य में **त्वा**=तुझे **सुवताम्**=प्रेरित करे। जैसे अग्नि के बिना घर के कार्य नहीं चल पाते इसी प्रकार तू भी राज्य के लिए अपरिहार्य हो जाए। अथवा गृहपतियों में तू अग्नि के समान हो। तू इस राष्ट्ररूप गृह का उत्तम पति बन। ३. **वनस्पतीनां सोमः**=जैसे वनस्पतियों में 'सोम' श्रेष्ठ है, इसी प्रकार तू **वनस्पतीनाम्**=(वनसु=उपासना) उपासकों में श्रेष्ठ बन। ४. **वाचः**=वाणी के दृष्टिकोण से तू **बृहस्पतिः**=देवगुरु बृहस्पति के समान हो। ५. तू **ज्यैष्ठ्याय**=ज्येष्ठता के लिए **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय बन। ६. **पशुभ्यः**=ज्ञानरहित होने के कारण जो केवल (पश्यन्ति) देखते हैं, विचारते नहीं, उनके लिए **रुद्रः**=तू ज्ञान देनेवाला हो। सारे राष्ट्र में ज्ञान का प्रसार कर। ७. **मित्रः**=तू सबके साथ स्नेह करनेवाला तथा सभी को पापों से बचानेवाला (प्रमीतेः त्रायते) हो। ८. **सत्यः**=तू (सत्सु भवः) सदा सज्जनों के सङ्गवाला हो। रद्दी लोग—'अघशंस' लोग—खुशामद आदि के द्वारा तेरे कृपापात्र न बन जाएँ। तू सदा ऐसे खुशामदियों से ही घिरा न रहे। ९. **धर्मपतीनाम्**=धर्म के रक्षकों में तू **वरुणः**=वरुण के समान हो। (क) 'वरुण' द्वेष का निवारण करनेवाला है। राजा ने भी प्रजा की द्वेष-भावना को दूर करना है। (ख) वरुण 'पाशी' है—ये अनृत बोलनेवालों को पाशों में जकड़ देता है। राजा ने भी उचित दण्ड-व्यवस्था से पापों को विनष्ट करना है।

भावार्थ—राजा को मन्त्रवर्णित अपने कर्त्तव्यों का पालन करना है। उसे देवों से प्रेरणा प्राप्त करके उत्तमोत्तम व्यवस्थाओं के द्वारा राष्ट्रोन्नति को सिद्ध करना है।

ऋषिः—देववातः। **देवता**—यजमानः। **छन्दः**—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

चुनाव

इमं देवाऽअसपत्नᳬसुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय। इममुमुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विशऽएष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाᳬराजा॥४०॥

पुरोहित चुनाव के समय एकत्र विद्वानों से कहता है कि १. हे **देवाः**=ज्ञान से दीप्त प्रजा के प्रतिनिधियो! **इमम्**=इस निर्दिश्यमान व्यक्ति को **असपत्नम्**=ऐकमत्य से, बिना किसी सपत्न rival के **सुवध्वम्**=चुनो। ऐकमत्य से चुना गया राजा ही सारी प्रजा की शक्ति को अपने में केन्द्रित कर पाता है। वही कुछ कार्य कर पाएगा। २. इसे चुनो **महते क्षत्राय**=क्षतों से त्राणरूप महान् कार्य के लिए। यह राजा राष्ट्र को सब प्रकार के आघातों से बचाएगा। ३. **महते ज्यैष्ठ्याय**=महान् बड़प्पन के लिए। यह राजा राष्ट्र को संसार में उच्च स्थान प्राप्त कराएगा। ४. **महते जानराज्याय**=महान् जनराज्य के लिए। यह राजा जनहित के दृष्टिकोण से ही राज्य करेगा। ५. **इन्द्रस्य इन्द्रियाय**=इन्द्र के वीर्य के लिए। इस राजा ने स्वयं जितेन्द्रिय बनकर शक्ति का सम्पादन किया है। यह राष्ट्र में ऐसा ही वातावरण उत्पन्न करने का ध्यान करेगा कि लोग जितेन्द्रिय बनकर शक्तिशाली बनें। एवं, यह राजा आपसे चुना जाकर (क) राष्ट्र को आघातों से बचाएगा। (ख) ज्येष्ठता प्राप्त कराएगा। (ग) शासन में लोकहित के दृष्टिकोण को अपनाएगा। (घ) और यह प्रयत्न करेगा कि लोग जितेन्द्रिय बनकर शक्तिशाली बनें। ६. अतः आप सब **इमम्**=इसे (इस नामवाले को) **अमुष्यपुत्रम्**=अमुक पिता के पुत्र को **अमुष्यै पुत्रम्**=अमुक माता के पुत्र को **अस्यै विशे**=इस प्रजा के हित के लिए चुनो। ७. **एषः**=आपसे चुना जाकर **अमी**=हे प्रजाओ! यह **वः**=आपका **राजा**=राजा है। आपने इसके आदेशों के अनुसार चलना है। **अस्माकं ब्राह्मणानाम्**=हम ब्राह्मणों का **राजा**=नियन्ता तो **सोमः**=वह सर्वज्ञ शान्त प्रभु ही है। राजा इन ब्रह्मनिष्ठ लोगों के निर्देशानुसार शासन करने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—राजा का चुनाव सर्वसम्मति से हो तो अच्छा है। वह राष्ट्र को आघातों से बचाये, ज्येष्ठ बनाये, लोकहित के दृष्टिकोण से राज्य करे और प्रयत्न करे कि लोग इन्द्रियों के दास न होकर शक्ति-सम्पन्न बनें। ब्रह्मनिष्ठ व्यक्तियों के कथनानुसार चलें।

॥ इति नवमोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

दशमोऽध्यायः

ऋषिः—वरुणः। देवता—आपः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

राजा व प्रजा

अपो देवा मधुमतीरगृभ्णन्नूर्जस्वती राजस्वश्चितानाः।
याभिर्मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन् याभिरिन्द्रमनयन्नत्यरातीः॥१॥

इस अध्याय के प्रथम सतरह मन्त्रों का ऋषि 'वरुण' है। 'वरुण' के दो अर्थ हैं (क) जो चुनते हैं, और (ख) जो चुना जाता है। जब चुनाव का समय आता है उस समय **देवाः**=चुनाव में जीतने की कामनावाले (दिव्=विजिगीषा) उम्मीदवार (candidates) **अपः**=प्रजाओं को **अगृभ्णन्**=इकट्ठा करते हैं, उनकी सभा बुलाते हैं, जिससे प्रजाएँ उम्मीदवार के भाषण से उसकी योग्यता व अयोग्यता का आभास ले-सकें। ये प्रजाएँ १. **मधुमतीः**=माधुर्यवाली हैं। इन प्रजाओं के अन्दर कटुता नहीं है। वोट देनेवालों में द्वेषादि के भाव कार्य न करते हों। यदि वे द्वेषादि से प्रेरित होकर चुनाव में भाग लेंगे तो चुनाव ग़लत ही होगा। २. **उर्जस्वतीः**=ये बल और प्राणशक्तिवाली हैं। बीमार व्यक्ति स्वस्थ मन से कार्य नहीं कर सकता। ३. **राजस्वः**=ये राजा को जन्म देनेवाली हैं। इन्हें यह समझ है कि हमें शासन के लिए अपने में से ही एक व्यक्ति को राजा चुनना है। राजा ने कहीं बाहर से नहीं आना। ४. **चितानाः**=ये प्रजाएँ चेतना—संज्ञानवाली हैं, सामान्यतः अपना हिताहित समझती हैं। ५. ये प्रजाएँ वे हैं **याभिः**=जिनसे **मित्रावरुणौ**=मित्र और वरुण का **अभ्यषिञ्चन्**=अभिषेक होता है, अर्थात् उस व्यक्ति को शासनाधिकार सौंपा जाता है जो सबके साथ स्नेह करनेवाला है और द्वेष के निवारण के लिए प्रयत्नशील होता है। प्रजाएँ जिसका चुनाव करें उसकी प्रथम विशेषता यही होनी चाहिए कि यह स्नेह की वृद्धि व द्वेष के दूरीकरण के लिए प्रयत्नशील हो। ६. ये प्रजाएँ वे हैं **याभिः**=जो **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय—विषयों में अनासक्त राजा को **अरातीः**=शत्रुओं के **अतिअनयन्**=पार ले-जाती हैं। जब प्रजाएँ राजा के साथ होती हैं तो राजा के पराजय की आशंका नहीं होती।

भावार्थ—चुनाव की अधिकारिणी प्रजा वह है जो माधुर्यवाली, शक्तिशाली, समझदार, अर्थात् हिताहित को समझनेवाली है तथा राजा बनने के योग्य वह है जो स्नेह, निर्द्वेषता व जितेन्द्रियता से युक्त है।

ऋषिः—वरुणः। देवता—वृषा। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

ये+अमुष्मै

वृष्णऽऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा वृष्णऽऊर्मिरसि राष्ट्रदा
राष्ट्रममुष्मै देहि वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा
वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि॥२॥

प्रस्तुत मन्त्र में पुरोहित प्रजा से कह रहा है कि तुम राष्ट्र को पहले मुझे सौंपो और फिर इस राजा को। राष्ट्र को केवल क्षत्रिय के हाथों में नहीं सौंपना है, उसे ब्राह्मण तथा

क्षत्रिय दोनों के हाथों में सौंपना ही ठीक है। १. हे प्रजे! तू **वृष्णः**=अग्नि व सोम का (शक्ति व शान्ति का) **ऊर्मिः**=(ऊर्णुञ् आच्छादने) अपने अन्दर आच्छादन करनेवाली है, **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र को देनेवाली है। प्रजा ही तो राष्ट्र को बनाती है। यह इस राष्ट्र को कुछ व्यक्तियों के हाथ में सौंपती है। पुरोहित कह रहा है कि **राष्ट्रम्**=इस राष्ट्र को **मे देहि**=तुम मुझे सौंपो। **स्वाहा**=और स्व का हा=त्याग करो, अर्थात् उचित कर देनेवाली बनो। **वृष्णः ऊर्मिः असि**=हे प्रजे! तू अग्नि व सोम की आच्छादिका है, **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र को देनेवाली है। **राष्ट्रम्**=राष्ट्र को **अमुष्मै**=उस सभापतिरूप से चुने गये राज्याभिषिक्त व्यक्ति के लिए **देहि**=सौंप। २. यह राष्ट्र का पुरुषवर्ग **वृषसेनः असि**=शक्तिशाली सेनावाला है। राष्ट्र के नवयुवकों में से ही तो शक्तिशाली सेना का निर्माण होना है। हे वृषसेन! तू **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र को देनेवाला है। बिना सेना के भी राष्ट्र का निर्माण नहीं हो पाता। **राष्ट्रम्**=राष्ट्र को **मे**=मुझ पुरोहित के लिए **देहि**=तू सौंप और **स्वाहा**=स्वार्थ का त्याग करके राष्ट्र को शक्तिशाली बना। हे पुरुषवर्ग! तू **वृषसेनः असि**=शक्तिशाली सेनावाला है। **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र को देनेवाला है। **राष्ट्रम्**=राष्ट्र को **अमुष्मै**=अमुक राज्याभिषिक्त पुरुष के लिए **देहि**=सौंप। ३. विधेय 'प्रजा' शब्द के स्त्रीलिंग होते हुए भी 'वृषसेनः' यह पुल्लिंग का प्रयोग इसलिए है कि सेना पुरुषों में से ही एकत्र होनी है।

भावार्थ—प्रजा अपने में वृषन्, अर्थात् अग्नि व सोम दोनों तत्त्वों को रक्खे हुए है। प्रजा में उत्साह भी चाहिए, शान्ति भी। प्रजा को ही अपने में से सेना को जुटाना है। यह प्रजा राष्ट्र को पुरोहित तथा सभापति के हाथों में सौंपती है।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—अपांपतिः। **छन्दः**—अभिकृतिः[क], निचृज्जगती[र]। **स्वरः**—ऋषभः[क], निषादः[र]॥

ब्रह्म+क्षत्र

[क]अर्थेत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहार्थेत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तौजस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहौजस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तापः परिवाहिणी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहापः परिवाहिणी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तापां पतिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे [र]देहि स्वाहाऽपां पतिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देह्यपां गर्भोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहाऽपां गर्भोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि ॥३॥

१. हे प्रजाजनो! तुम **अर्थेतः (अर्थं यन्ति) स्थ**=धन को कमानेवाले हो। **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र के देनेवाले हो। **राष्ट्रम्**=राष्ट्र को **मे दत्त**=मुझे (पुरोहित को) सौंपो। **स्वाहा**=अपने उचित कर भाग के त्याग करनेवाले बनो। तुम **अर्थेतः स्थ**=धन कमानेवाले हो, **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र के देनेवाले हो। **राष्ट्रं अमुष्मै दत्त**=राष्ट्र को अमुक चुने गये सभापति के लिए सौंपो। २. **ओजस्वतीः स्थ**=हे प्रजाओ! तुम शक्ति व प्रकाश-(vigour, light)-वाली हो। **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र के देनेवाली हो। **राष्ट्रं मे दत्त**=राष्ट्र को मुझ पुरोहित के लिए सौंपो। तुम **स्वाहा**=उचित कर देनेवाली हो। **ओजस्वतीः स्थ**=तुम शक्ति व प्रकाशवाली हो। **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र के देनेवाली हो। **राष्ट्रं अमुष्मै दत्त**=राष्ट्र को अमुक चुने गये राज्याभिषिक्त पुरुष के लिए सौंपो। ३. **आपः परिवाहिणीः स्थ**=(आप्लृ व्याप्तौ) सदा कर्मों में व्याप्त होनेवाली तथा (परितः वहन्ति) एक स्थान से दूसरे स्थान पर व्यापार के पदार्थों को ले-जानेवाली हो। **राष्ट्रदाः**=अपने व्यापार से उचित धनवृद्धि करती हुई तुम राष्ट्र को कर-भाग देनेवाली हो। **राष्ट्रं मे**

दत्त=राष्ट्र को मुझ पुरोहित के लिए दो। **स्वाहा**=उचित कर देनेवाली हो। तुम **आपः परिवाहिणीः स्थ**=व्यापक कर्मोंवाली तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर पदार्थों को ले-जानेवाली हो, **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र को देनेवाली हो। **राष्ट्रं अमुष्मै दत्त**=राष्ट्र को अमुक पुरुष के लिए दो। ४. राष्ट्र का एक-एक पुरुष **अपांपतिः असि**=(आपः=रेतांसि) वीर्यशक्ति का रक्षक है, **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र को देनेवाला है। **राष्ट्रं मे देहि**=तू राष्ट्र को मुझ पुरोहित के लिए सौंप और **स्वाहाः**=उचित धन का कर के रूप में त्याग कर। **अपांपतिः असि**=तू अपनी शक्तियों का रक्षक है, **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र को देनेवाला है। **राष्ट्रम् अमुष्मै देहि**=राष्ट्र को उस राज्याभिषिक्त पुरुष के लिए दे। ५. **अपां गर्भः असि**=(गर्भ=full of) तू शक्तियों से परिपूर्ण है। तू ही **राष्ट्रदाः**=वास्तविक राष्ट्र को देनेवाला है। **राष्ट्रं मे देहि**=राष्ट्र को मुझे दे, और **स्वाहा**=उसके लिए उचित त्याग करनेवाला बन। **अपां गर्भः असि**=तू शक्तियों से परिपूर्ण है। **राष्ट्रदा**=राष्ट्र को देनेवाला है। **राष्ट्रं अमुष्मै देहि**=राष्ट्र को अमुक पुरुष को देनेवाला बन। ६. ऊपर मन्त्र में '**अर्थेतः, ओजस्वतीः, आपः, परिवाहिणीः**' शब्द बहुवचनान्त हैं ,पर '**अपांपतिः** तथा **अपां गर्भः**' ये एकवचन रक्खे गये हैं, क्योंकि 'एक-एक व्यक्ति को शक्ति की रक्षा करनी है—शक्ति से परिपूर्ण बनना है' इस बात की ओर वैयक्तिक ध्यान खींचना आवश्यक था।

भावार्थ—प्रजाएँ १. धन कमानेवाली बनें। २. शक्ति व प्रकाश को धारण करें। ३. वीर्य की रक्षा करें। और ४. शक्ति से परिपूर्ण हों। ऐसी ही प्रजाएँ एक शक्तिशाली राष्ट्र का निर्माण करनेवाली होती हैं।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—सूर्यादयो मन्त्रोक्ताः। **छन्दः**—जगती[१], स्वराट्पङ्क्तिः[२], स्वराडब्राह्मीबृहती:[३,४], आर्चीपङ्क्तिः[५], भुरिक्त्रिष्टुप्[६,७]। **स्वरः**—निषादः[१], पञ्चमः[२,५], मध्यमः[३], धैवतः[६,७]॥

प्रजा

[१]सूर्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा सूर्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा [२]सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त [३]व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त वाशा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा वाशा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त [४]शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त शक्वरी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा शक्वरी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त [५]जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त [६]विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तापः स्वराज स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त। [७]मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्तां महि क्षत्रं क्षत्रियाय वन्वानाऽअनाधृष्टाः सीदत सहौजसो महि क्षत्रं क्षत्रियाय दधतीः ॥४॥

गत मन्त्र के अनुसार प्रस्तुत मन्त्र में भी कहते हैं कि हे प्रजाओ! आप १. **सूर्यत्वचसः स्थ**=सूर्य के समान देदीप्यमान त्वचावाली हो। स्वास्थ्य की दीप्ति आपके सारे शरीर को दीप्त कर रही है। २. **सूर्यवर्चसः स्थ**=सूर्य के समान वर्चस्वाली आप हो। उपनिषद् में

कहते हैं कि '**प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः**'—यह सूर्य प्रजाओं का प्राण ही है। आप भी उसी प्रकार प्राणशक्ति-सम्पन्न हो। ३. **मान्दाः स्थ**=सदा प्रसन्न रहनेवाली हो। ४. **व्रजक्षितः स्थः**=(व्रज गतौ) सदा गति में निवास करनेवाली हो—सदा क्रियाशील जीवनवाली हो अथवा (**व्रजान् गवादिस्थित्यर्थान् देशान् क्षियन्ति निवासयन्ति**—द०) गौ आदि पशुओं के स्थानों को बसानेवाले हो। ५. **वाशाः स्थ** (वाशृ शब्दे)=सदा शुभ शब्दों—वेदमन्त्रों का उच्चारण करनेवाले हो। ६. **शविष्ठाः स्थ**=अत्यन्त बल-सम्पन्न हो (शवस्=बल) ७. **शक्वरी:स्थ**=कार्यों को करने में शक्तिशाली हो। ८. अपनी इस क्रियाशीलता के द्वारा ही **जनभृत:स्थ**=सब लोगों का धारण करनेवाली हो। ९. लोगों का ही क्या, आप **विश्वभृतः स्थ**=सारे संसार का भरण व पोषण कर रही हो। आपके कार्य विश्व के कल्याण के उद्देश्य से प्रेरित होकर हो रहे हैं। इस प्रकार बनकर आप **राष्ट्रदाः**=एक सच्चे राष्ट्र को देनेवाली हो, **राष्ट्रं मे दत्त**=तुम राष्ट्र को मुझ पुरोहित के लिए दो। **स्वाहा**=कर के रूप में उचित धन का त्याग करनेवाली बनो तथा **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र के देनेवाली तुम **अमुष्मै राष्ट्रं दत्त**=उस चुने गये राज्याभिषिक्त राजा के लिए राष्ट्र को दो। १०. आप **स्वराजः**=स्वयं अपना शासन करनेवाली **आपः**=सदा कर्मों में व्याप्त हो। **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र को देनेवाली आप **राष्ट्रं अमुष्मै दत्त**=अमुक चुने गये सभापति के लिए राष्ट्र को दो। यहाँ इस अन्तिम वाक्य में केवल राजा के लिए राष्ट्र को सौंपने का विधान है। वस्तुतः शासन-भार राजा पर ही तो पड़ता है। पुरोहित राजा को मार्ग से विचलित न होने की प्रेरणा देता है। ११. **मधुमतीः**=माधुर्यवाली प्रजाएँ **मधुमतीभिः**=माधुर्यवाली प्रजाओं के साथ **पृच्यन्ताम्**=संपृक्त हों, अर्थात् प्रजाओं का परस्पर प्रेम हो, पारस्परिक प्रेम न होने पर राष्ट्र का बल क्षीण हो जाता है, अतः प्रजाएँ परस्पर मधुर व्यवहारवाली होती हुई **क्षत्रियाय**=राष्ट्र को आघातों से बचानेवाले राजा के लिए **महि क्षत्रम्**=महान् बल को **वन्वानाः**=संभक्त करानेवाली हों। राजा के बल को ये परस्पर एकता से रहती हुई ही बढ़ा सकती हैं। १२. पुरोहित इन प्रजाओं से कहता है कि **सह ओजसः**=एकता के बलवाली तुम **क्षत्रियाय**=राष्ट्र को आघातों से बचानेवाले राजा के लिए **महि क्षत्रं**=महनीय बल को **दधतीः**=धारण करती हुई तुम **अनाधृष्टाः**=किन्ही भी शत्रुओं से धर्षित न होती हुई **सीदत**=इस राष्ट्र में विराजमान होओ।

भावार्थ—प्रजा शक्तिशाली व माधुर्य से पूर्ण हो, परस्पर मेल से राष्ट्र की शक्ति को बढ़ानेवाली हो। ऐसी स्थिति में ही यह शत्रुओं से अनाधृष्य होती है।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः। **छन्दः**—स्वराड्धृतिः। **स्वरः**—ऋषभः॥

राजा

सोम॑स्य॒ त्विषि॑रसि॒ तवे॑व मे॒ त्विषि॑र्भूयात्। अ॒ग्नये॒ स्वाहा॒ सोमा॑य॒ स्वाहा॑ सवि॒त्रे स्वाहा॒ सर॑स्वत्यै॒ स्वाहा॑ पू॒ष्णे स्वाहा॒ बृह॒स्पत॑ये॒ स्वाहेन्द्रा॑य॒ स्वाहा॒ घोषा॑य॒ स्वाहा॒ श्लोका॑य॒ स्वाहांशा॑य॒ स्वाहा॒ भगा॑य॒ स्वाहा॑र्य॒म्णे स्वाहा॑॥५॥

प्रजा राजा से कहती है कि १. **सोमस्य त्विषिः असि**=तू सोम की कान्तिवाला है। शरीर में सोम की रक्षा के द्वारा तू अद्भुत तेजस्विता को धारण किये हुए है। **मे**=मेरी **त्विषिः**=दीप्ति **तव इव**=तेरे समान **भूयात्**=हो। हम सब भी सोम की रक्षा के द्वारा कान्ति-सम्पन्न बनें। २. **अग्नये स्वाहा**=राष्ट्र को निरन्तर आगे ले-चलनेवाले तेरे लिए हम कररूप में धन

देते हैं। ३. **सोमाय**=सोम की रक्षा के द्वारा शक्ति के पुञ्ज, परन्तु फिर भी सौम्य आपके लिए हम **स्वाहा**=कररूप में धन देते हैं। ४. **सवित्रे स्वाहा**=राष्ट्र का ऐश्वर्य बढ़ानेवाले आपके लिए हम कर देते हैं। ५. **सरस्वत्यै स्वाहा**=राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षित करनेवाले आपके लिए हम कर देते हैं। ६. **पूष्णे स्वाहा**=एक-एक व्यक्ति का पोषण करनेवाले, किसी को भी भूखा न मरने देनेवाले आपके लिए हम कर देते हैं। ७. **बृहस्पतये स्वाहा**=सर्वोच्च दिशा के अधिपति और अतएव लोगों को भी उत्थान की ओर ले-चलनेवाले आपके लिए हम कर देते हैं। ८. **इन्द्राय स्वाहा**=जितेन्द्रिय के लिए और जितेन्द्रिय बनकर औरों को भी वश में करनेवाले आपके लिए हम कर देते हैं। ९. **घोषाय स्वाहा** =प्रातः वेदमन्त्रों का उच्चारण करनेवाले आपके लिए अथवा राष्ट्र में राष्ट्रीय नियमों की उद्घोषणा करवानेवाले आपके लिए हम कर देते हैं। १०. **श्लोकाय स्वाहा**=उत्तम कर्मों के कारण यशस्वी आपके लिए हम कर देते हैं। ११. **अंशाय स्वाहा**=राष्ट्र में धनों का ठीक विभाजन करनेवाले आपके लिए हम कर देते हैं। राजा को इस बात का बड़ा ध्यान करना है कि किसी एक व्यक्ति में अत्यधिक धन केन्द्रित न हो जाए, और कुछ लोग धनाभाव से भूखे न मरने लगें। उसके राष्ट्र में haves और have-nots के—अत्यधिक धनी व अतिनिर्धन के दो समाजखण्ड न बन जाएँ। १२. **भगाय स्वाहा**=उत्तम कर्मों का सेवन करनेवाले राजा के लिए हम कर देते हैं 'भज सेवायाम्'। १३. **अर्यम्णे स्वाहा**=(अरीन् यच्छति) शत्रुओं को वशीभूत करनेवाले राजा के लिए हम कर देते हैं। अथवा **'अर्यमा इति तमाहुर्यो ददाति'** इस वाक्य के अनुसार अर्यमा वह है जो देता है। 'भग' शब्द ऐश्वर्यवाचक है, अतः १२ व १३ का अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है कि हम उस राजा को कर देते हैं जो खूब ऐश्वर्य को सिद्ध करनेवाला बनकर हम सब प्रजाओं के लिए ही उस धन का उचित विनियोग करे।

भावार्थ—राजा को अग्नि आदि के गुणों से सम्पन्न होकर उत्तमता से राष्ट्र की सुव्यवस्था करनी है।

ऋषिः—वरुणः। देवता—आपः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

राष्ट्र के 'स्त्री-पुरुष'

पवित्रे॑ स्थो वैष्ण॒व्यौ॒ सवि॒तुर्वः॑ प्रस॒वऽउत्पु॑ना॒म्यच्छि॑द्रेण प॒वित्रे॑ण॒ सूर्य॑स्य र॒श्मिभिः॑। अनि॑भृष्टमसि वा॒चो बन्धु॑स्तपो॒जाः सोम॑स्य दा॒त्रम॑सि॒ स्वाहा॑ राज॒स्वः॑ ॥६॥

राष्ट्र के स्त्री-पुरुषों को सम्बोधित करके पुरोहित कहता है कि १. **पवित्रे स्थः**= आप पवित्र जीवनवाले, **वैष्णव्यौ**=व्यापक मनोवृत्तिवाले हो। वस्तुतः इस व्यापक मनोवृत्ति का ही परिणाम है कि वे पवित्र हैं। व्यापकता में ही पवित्रता है, संकोच में अपवित्रता। २. **सवितुः**=उस प्रेरक प्रभु की **प्रसवे**=अनुज्ञा में **वः**=तुम्हें **उत् पुनामि**=विषयों से **उत्**= out=बाहर करता हुआ पवित्र करता हूँ। मैं वेद में दिये गये प्रभु के आदेशों के अनुसार व्यवस्था करता हुआ तुम्हारे जीवनों को उज्ज्वल करता हूँ। ३. **अच्छिद्रेण पवित्रेण**=छेदशून्य-कहीं भी खाली स्थान न रखनेवाली इस वायु से तथा **सूर्यस्य रश्मिभिः**=सूर्य-किरणों से मैं तुम्हें पवित्र करता हूँ, अर्थात् लोगों के रहने का प्रकार ऐसा हो कि उनके घरों में वायु का पर्याप्त आना-जाना हो और सूर्य-किरणों का खूब प्रवेश हो। ऐसे ही घरों में नीरोगता

रहती है। ४. **अनिभृष्टम् असि**=(अनाधृष्टाः—उ०) तुम किसी भी प्रकार के रोगों से पराभूत नहीं होते हो। ५. **वाचो बन्धुः**=वाणी के तुम बन्धु हो। वेदवाणी को पढ़कर उसे अपने कार्यों में व्यक्त करनेवाले हो। इस प्रकार वेदवाणी को जीवन से बाँधनेवाले हो। ६. **तपोजाः**=तप के द्वारा तुम अपना प्रादुर्भाव—विकास करनेवाले हो। ७. **सोमस्य दात्रम् असि**=सोम की दराँतीवाले हो। शरीर में सुरक्षित सोम रोगों व द्वेषादि भावों को काटनेवाला होता है। ८. **स्वाहा**=तुम राष्ट्र के लिए **स्व**=अपने धन का **हा**=त्याग करनेवाले हो। ९. **राजस्वः**=तुम राजा को जन्म देनेवाली हो। वस्तुतः उल्लिखित गुणों से सम्पन्न प्रजाएँ ही राजा का ठीक चुनाव कर सकती हैं।

भावार्थ—राष्ट्र का प्रत्येक स्त्री-पुरुष पवित्र बनने का प्रयत्न करे।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—वरुणः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

अपां शिशुः

स॒ध॒मादो॑ द्यु॒म्नि॑नी॒राप॑ऽए॒ताऽअना॑धृष्टाऽअप॒स्यो॒॑ वसा॑नाः।
प॒स्त्या॒सु च॒क्रे॒ वरु॑णः स॒धस्थ॑म॒पाᳬशिशु॑र्मा॒तृत॑मास्व॒न्तः ॥७॥

प्रजाओं का चित्रण करते हुए कहते हैं कि १. ये **सधमादः**=(सह मद्) साथ—मिलकर रहने में आनन्द लेनेवाली हैं। प्रजाओं में परस्पर प्रेम है—लड़ाई-झगड़ों में ये उलझी हुई नहीं हैं। २. **द्युम्निनीः**=ज्ञानरूप ज्योतिवाली हैं, मूर्ख नहीं है। ३. **आपः**=सदा कर्मों में व्याप्त रहनेवाली हैं। ४. इसी कारण **एताः**=ये प्रजाएँ **अनाधृष्टाः**=काम-क्रोधादि शत्रुओं से धर्षित होनेवाली नहीं हैं। ५. **अपस्यः**=(अपःसु कर्मसु साध्व्यः, जस्=सुः—द०) कर्मों में उत्तम हैं, अर्थात् सदा उत्तम कर्मों में व्यापृत रहती हैं। ६. **वसानाः**=अपने को आच्छादित करनेवाली हैं, दोषों से बचानेवाली हैं। ७. **पस्त्यासु**=घरों में रहनेवाली ऐसी प्रजाओं में **वरुणः**=प्रजाओं से वरण किया गया राजा **सधस्थं चक्रे**=(सह स्थ) उनके साथ मिलकर निवास करता है। यह प्रजाओं से दूर, उनके लिए अनभिगम्य नहीं बन जाता। ८. **अपां शिशुः**=प्रजाओं का ही यह सन्तान है। प्रजाओं ने ही इसे जन्म दिया है। इसी कारण प्रजाएँ 'राजस्वः' कहलाती हैं। यह प्रजाओं का सन्तानभूत राजा **मातृतमासु अन्तः**=इन अत्यन्त उत्तम माताओं के अन्दर ही निवास करता है। राजा एक दृष्टिकोण से प्रजारूप मातावाला है। उन्हीं के गर्भ में इसका निवास है। प्रजाओं को माता इसलिए कहा है कि उन्हें राष्ट्र में सदा निर्माण के कार्यों में व्यापृत रहना चाहिए। **माता निर्माता**=निर्माण करनेवाली ही राष्ट्र की उत्तम माताएँ होती हैं।

भावार्थ—उत्तम प्रजाएँ वे ही हैं जो परस्पर मेलवाली, ज्ञान के प्रकाशवाली, कर्मों में व्यापृत, वासनाओं से अनाधृष्ट, कर्म-कुशल व दोषों से अपने को बचानेवाली हैं। इन्हीं प्रजाओं के अन्दर राजा का निवास है। राजा प्रजाओं की सन्तान है, प्रजाएँ राजा की उत्कृष्ट माताएँ हैं।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—यजमानः। **छन्दः**—कृतिः। **स्वरः**—निषादः॥

क्षत्र का उल्ब

क्ष॒त्रस्योल्ब॑मसि क्ष॒त्रस्य॑ ज॒राय्व॑सि क्ष॒त्रस्य॒ योनि॑रसि क्ष॒त्रस्य॒ नाभि॑र॒सीन्द्र॑स्य॒ वार्त्र॑घ्नमसि मि॒त्रस्या॑सि॒ वरु॑णस्यासि॒ त्वया॒यं वृ॒त्रं व॑धेत्। दृ॒वासि॑ रु॒जासि॑ क्षु॒मासि॑। पा॒तैनं॒ प्राञ्चं॑ पा॒तैनं॑ प्र॒त्यञ्चं॑ पा॒तैनं॑ ति॒र्यञ्चं॑ दि॒ग्भ्यः पा॑त ॥८॥

राजा के लिए कहते हैं कि १. हे राजन्! तू **क्षत्रस्य उल्ब असि**='उल्ब' शब्द

गर्भाधारभूत उदक के लिए आता है, अत: तू क्षत्र का उल्ब है, आधारभूत है। राष्ट्र को आघातों से बचानेवाली शक्ति 'क्षत्र' है। राजा उस शक्ति का आधार है। २. **क्षत्रस्य जरायु असि**=क्षत्र का तू गर्भवेष्टन है। यह क्षत्र नामक बल तुझमें सुरक्षित है। ३. **क्षत्रस्य योनि: असि**=क्षत्र का तू उत्पत्ति-स्थान है। ४. **क्षत्रस्य नाभि: असि**=क्षत्र का तू केन्द्र है। उसे अपने में बाँधनेवाला है। ५. **इन्द्रस्य वार्त्रघ्नं असि**=तू इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनकर ज्ञान के आवरणभूत वृत्र का संहारक है। ६. **मित्रस्य असि वरुणस्य असि**=तू मित्र का है और तू वरुण का है, अर्थात् तू सदा सबके साथ स्नेह करनेवाला है, किसी के भी प्रति द्वेष करनेवाला नहीं है। **त्वया अयं वृत्रं वधेत्**=तेरे साथ मिलकर, तेरे साहाय्य से यह प्रजा-वर्ग भी वृत्र का-काम का संहार करे। ७. हे राजन्! **दृवा असि**=(दृणाति) तू शत्रुओं का विदारण करनेवाला है। **रुजा असि**=रणक्षेत्र में शत्रुओं को भगानेवाला और **क्षुमा असि**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाला है। ९. हे प्रजाओ! आप **एनम्** =ऐसे राजा को **प्राञ्चं पात**=पूर्व दिशा से सुरक्षित करो। **एनम्**=इसे **प्रत्यञ्चं पात**=पश्चिम से सुरक्षित करो। **तिर्यञ्चं एनं पात**=इसे एक सिरे से दूसरे सिरे तक (crosswise) सुरक्षित करो। संक्षेप में **दिग्भ्य: पात**=सब दिशाओं से सुरक्षित करो।

भावार्थ—राजा को शक्ति का केन्द्र व पुञ्ज होना चाहिए। यही शत्रुओं को नष्ट करनेवाला है। प्रजाओं को चाहिए कि उसकी सर्वत: रक्षा करें।

ऋषि:—वरुण:। देवता—प्रजापति:। छन्द:—भुरिगष्टि:। **स्वर:**—मध्यम:॥

राजा की योग्यताएँ

आविर्मर्याऽआवित्तोऽअग्निर्गृहपतिरावित्तऽइन्द्रो वृद्धश्रवाऽआवित्तौ मित्रावरुणौ धृतव्रतावावित्त: पूषा विश्ववेदाऽआवित्ते द्यावापृथिवी विश्वशम्भुवावावित्तादितिरुरुशर्मा ॥९॥

हे **मर्या:**=मनुष्यो! **आवि:**=तुम्हारे सामने यह राजा प्रकटरूप से उपस्थित है। १. **अग्नि: गृहपति:** =राष्ट्र को आगे ले-चलनेवाला, गृहों का रक्षक यह राजा **आवित्त:**=सब ओर प्रसिद्ध है। यह जिस योजना को हाथ में लेता है उसे आगे ले-चलता है—उसमें बड़ी उन्नति कर देता है और राष्ट्ररूप घर का रक्षक प्रमाणित होता है। २. यह **इन्द्र:**=जितेन्द्रिय है, **वृद्धश्रवा:**=बढ़ी हुई कीर्तिवाला है अथवा अत्यन्त उत्कृष्ट ज्ञानवाला है **आवित्त:**=वह चारों ओर सबसे इसी रूप में जाना गया है। सब लोग इसकी जितेन्द्रियता व उन्नत ज्ञान की चर्चा करते हैं। ३. **धृतव्रतौ मित्रावरुणौ आवित्तौ**=यह व्रतों को धारण करनेवाले मित्र और वरुण के रूप में प्रसिद्ध है। यह स्नेह को फैलानेवाला और द्वेष का दूर करनेवाला होगा। स्नेह और निर्द्वेषता तो मानो इसके व्रत ही हैं। ४. **पूषा विश्ववेदा आवित्त:**=फिर यह इस रूप में प्रसिद्ध है कि यह पोषण करनेवाला है और सम्पूर्ण धनों-(विद् लाभे, वदेस्=धन)-वाला है। यह सभी को पोषण के लिए आवश्यक धन प्राप्त कराता है। ५. **द्यावापृथिवी आवित्ते**=(द्यावा=मस्तिष्क, पृथिवी=शरीर) इस राजा के मस्तिष्क व शरीर दोनों ही प्रसिद्ध हैं। ज्ञान के दृष्टिकोण से यह ऋषि है तो शरीर के दृष्टिकोण से एक मल्ल। इसका शारीरिक बल व बुद्धि का ज्ञान दोनों ही **विश्वशम्भुवौ**=सब संसार में शान्ति को जन्म देनेवाले हैं। ६. **आवित्ता अदिति:**=यह अदीना देवमाता के रूप में प्रसिद्ध है। यह दीन नहीं है व दिव्य गुणों से विहीन नहीं है। **उरुशर्मा**=विशाल कल्याण को करनेवाला है। यह

राष्ट्र को सम्मान देनेवाला है।

भावार्थ—राजा उसे ही बनाना चाहिए जिसकी प्रसिद्धि इस रूप में हो कि यह 'अग्नि, गृहपति, इन्द्र, वृद्धश्रवाः मित्र, वरुण, धृतव्रत, पूषा, विश्ववेदाः=उत्तम शरीर व मस्तिष्कवाला, सबको शान्ति प्राप्त करानेवाला, अदिति व उरुशर्मा' है।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—यजमानः। **छन्दः**—१० विराडार्षीपङ्क्तिः, ११, १३ आर्चीपङ्क्तिः, १२ निचृदार्ष्यनुष्टुप्, १४ भुरिग्जगती। **स्वरः**—१०, ११, १३ पञ्चमः, १२ गान्धारः, १४ निषादः॥

नातिमानिता

अवेष्टा दन्दशूकाः प्राचीमारोह गायत्री त्वावतु
रथन्तरꣳसाम त्रिवृत् स्तोमो वसन्तऽऋतुर्ब्रह्म द्रविणम् ॥१०॥
दक्षिणामारोह त्रिष्टुप् त्वावतु बृहत्साम पञ्चदश स्तोमो
ग्रीष्मऽऋतुः क्षत्रं द्रविणम् ॥११॥
प्रतीचीमारोह जगती त्वावतु वैरूपꣳसाम सप्तदश स्तोमो
वर्षाऽऋतुर्विड् द्रविणम् ॥१२॥
उदीचीमारोहानुष्टुप् त्वावतु वैराजꣳसामैकविꣳश स्तोमः
शरदृतुः फलं द्रविणम् ॥१३॥
ऊर्ध्वामारोह पङ्क्तिस्त्वावतु शाक्वररैवते सामनी त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ
स्तोमौ हेमन्तशिशिरावृतू वर्चो द्रविणं प्रत्यस्तं नमुचेः शिरः॥१४॥

१. हे राजन्! तू राष्ट्र में ऐसी व्यवस्था कर कि **दन्दशूकाः**=औरों को अकारण ही डसनेवाले सर्पवृत्ति के लोग, कुटिल चाल से चलनेवाले औरों को पीड़ित करनेवाले लोग **अवेष्टाः**=(अवयज=नाशि) नष्ट कर दिये जाएँ, राष्ट्र में ऐसे लोग न पनप पाएँ। इसके लिए तू निम्न प्रयत्न कर—२. **प्राचीम् आरोह**=पूर्व दिशा में आरूढ़ हो। यह 'प्राची' दिशा (प्र+अञ्च्) आगे बढ़ने की दिशा है। तू अग्रगति का अधिपति बन। यदि तू निरन्तर आगे बढ़ने का ध्यान रखेगा तो **दक्षिणाम् आरोह**=दक्षिण का आरोहण करनेवाला होगा, अर्थात् तू प्रत्येक कार्य को करने में दक्षिण=कुशल बन पाएगा। यह कार्य-कुशलता तेरे ऐश्वर्य-वृद्धि का कारण बनेगी। उस समय तूने **प्रतीचीम् आरोह**=प्रतीची का आरोहण करना है। प्रतीची अर्थात् प्रति-अञ्च्=वापस होना—विषयों में न फँस जाना, अर्थात् विषय-व्यावृत्त होना—प्रत्याहार का पाठ पढ़ना अत्यन्त आवश्यक है। ऐसा करने पर तू **उदीचीम् आरोह**=उत्तर दिशा का आरोहण करनेवाला होगा, अर्थात् तेरी उन्नति प्रारम्भ होगी और एक दिन **ऊर्ध्वाम् आरोह**=तू सर्वोच्च दिशा पर आरूढ़ हुआ होगा। ३. इस उल्लिखित मार्ग पर चलने से तुझे क्रमशः **ब्रह्म द्रविणम्**=ज्ञानरूप धन प्राप्त होगा। निरन्तर आगे बढ़नेवाला व्यक्ति कण-कण करके ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञानी व कार्यकुशल बनकर यह **क्षत्रं द्रविणम्**=शक्तिरूप धन प्राप्त करता है। क्रियाशीलता शक्तिवृद्धि का कारण बनती है। **विट् द्रविणम्**=ज्ञान और शक्ति प्राप्त करके अब यह (विट्) 'उत्तम प्रजा' रूप धनवाला होता है। इस उत्तमता को स्थायी बनाने के लिए **फलं द्रविणम्**=फलरूप धनवाला होता है। यह राजा राष्ट्र में फलों के उत्पादन का इस रूप में आयोजन करता है कि सब लोगों का मुख्य भोजन ये फल ही

हो जाते हैं। इस सात्त्विक भोजन से ही प्रजाओं का जीवन उत्तम बनता है। उनके ज्ञान व शक्ति की वृद्धि होती है। इन फलों से **वर्चः द्रविणम्**=वर्चस्–प्राणशक्तिरूप धन प्राप्त होता है। वस्तुतः **प्राची**=निरन्तर आगे बढ़ना **ब्रह्म**=ज्ञान-प्राप्ति का मुख्य उपाय है। **दक्षिणा**=कार्यकुशलता **क्षत्र** =बल का कारण है। **प्रतीची**=विषयनिवृत्ति **विट्**=उत्तम प्रजा का कारण है। **उदीची** =उन्नति के लिए शाकाहारी फल=वनस्पति आदि का भोजन आवश्यक है। सर्वोच्च स्थिति **ऊर्ध्वा**=में पहुँचने पर मनुष्य ब्रह्म के समान वर्चस्वी बनता है। इस प्रकार इन मन्त्रों में पहले और अन्तिम वाक्यों का परस्पर सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध आगे चलकर दूसरे व पाँचवें वाक्यों में होगा और तीसरे व चौथे में यह सम्बन्ध दिखेगा। साहित्य में यह शैली 'चक्रबन्ध काव्य' के नाम से प्रसिद्ध है। ४. दूसरे स्थान पर स्थित वाक्यों का अर्थ इस प्रकार है कि **'गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती-अनुष्टुप्** और **पङ्क्तिः**'=ये सब छन्द **त्वा**=तेरी **अवतु**=रक्षा करें। परिणामतः तेरे जीवन में पाँचवें-पाँचवें वाक्यों के अनुसार क्रमशः **वसन्तः, ग्रीष्म, वर्षा, शरद् ऋतुः, हेमन्त-शिशिरौ ऋतू**='वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-शरद् व हेमन्त-शिशिर' ऋतुओं का आगमन होगा। क. **गायत्री**=(गयाः प्राणाः तान् तत्रे) प्राण-रक्षण से वसन्त=तेरा उत्तम निवास होगा। जिस प्रकार वसन्त ऋतु पुष्प-फल-वृद्धिवाली होती है, उसी प्रकार तेरे जीवन में सब शक्तियों का विकास होगा। ख. **त्रिष्टुप्** (त्रिष्टुप् stop) काम, क्रोध व लोभ को रोक देने से तेरा जीवन 'ग्रीष्म' ऋतुवाला होगा। तेरे जीवन में सचमुच उष्णता व उत्साह होगा। ग. **जगती**=निरन्तर गति शक्तिशीलता से तेरे जीवन की ऋतु-चर्या **वर्षा**=सब सुखों की वर्षावाली होगी। तू निरन्तर क्रियाशील होगा और सुखी जीवनवाला होगा। घ. **अनुष्टुप्**=तू दिन-ब-दिन, अर्थात् सदा प्रभु का स्तवन करनेवाला होगा और तेरे जीवन में शरत् का प्रवेश होगा। जैसे शरत् में सब पत्ते शीर्ण हो जाते हैं उसी प्रकार इस स्तुति से तेरे सारे पाप शीर्ण हो जाएँगे। (ङ) **पङ्क्तिः**=तू पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों कर्मेन्दियों व पाँचों प्राणों के पञ्चकों से सुरक्षित होगा तो तेरे जीवन में हेमन्त व शिशिर ऋतुओं का उदय होगा, अर्थात् हेमन्त (**हन्ति पाप्मानं, हिनोति वर्धयति बलं वा**)=तेरे रोग व पाप नष्ट होंगे और तेरा बल बढ़ेगा तथा **शिशिरः**=(शश प्लुतगतौ) तू द्रुतगतिवाला होगा। तेरी चाल मन्द न होगी। तू तीव्र गति से आगे बढ़नेवाला बनेगा। ५. अब तीसरे-व-चौथे-वाक्यों का अर्थ यह है कि (क) **रथन्तरम्**=रथन्तर तेरी **साम**=उपासना है और **त्रिवृत्** तेरी **स्तोमः**=स्तुति है। प्रभु की सच्ची उपासना यही है कि मनुष्य रथन्तर=इस शरीररूप रथ से भवसागर को तैरने का यत्न करे और सच्ची स्तुति यही है कि मनुष्य **त्रिवृत्**=शरीर, मन व बुद्धि की त्रिगुण उन्नति करनेवाला हो। (ख) **बृहत्**=बृहत् तेरी **साम**=उपासना है और **पञ्चदशः**=पञ्चदश तेरी **स्तोम** =स्तुति है। **बृहत्** (बृहि वृद्धौ)=निरन्तर वृद्धि-बढ़ना-उन्नति करना ही तेरी उपासना है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों कर्मेन्द्रियों व पाँचों प्राणों को उन्नत करना-इनका अधिपति बनता ही स्तवन है। (ग) **वैरूपम्**=विशिष्ट रूपवाला बनना ही **साम**=उपासना है **सप्तदशः** पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन और बुद्धि को ठीक रखना ही **स्तोमः**=स्तुति है। (घ) **वैराजम्**=विशिष्ट रूप से चमकना ही **साम**=तेरी उपासना है और **एकविंशः स्तोमः**=शरीर का धारण करनेवाली २१ शक्तियोंवाला होना ही तेरी स्तुति है। (ङ) **शाक्वररैवते**=शक्तिशाली बनना व ज्ञान-धनवाला होना। **सामनी**=तेरी उपासनाएँ हैं और **त्रिणवत्रयस्त्रिंशः**=(**इमे वै लोकास्त्रिणवः**-ता० ६।२।३) (**देवता एव त्रयस्त्रिंशस्यायतनम्**-ता० १०।१।१६) (**वर्ष्म वै त्रयस्त्रिंशः**-ता० १९।१०।१०) तीन लोक व ३३ देवता ही **स्तोमौ**=तेरी स्तुति हैं, अर्थात् यदि तू शरीररूप पृथिवीलोक को, हृदयरूप अन्तरिक्षलोक

को तथा मस्तिष्करूप द्युलोक को ठीक रखता है और इन्हें अपने-अपने देवताओं से अलंकृत करता है तो तू सच्चा स्तवन कर रहा होता है। ६. इस प्रकार सारे देवताओं का अधिष्ठान बनकर भी तूने इस बात का पूरा ध्यान रखना है कि **नमुचेः**=(न मुचिः, last infirmity of the noble minds) नमुचि को बड़े-बड़े शक्तिशाली भी जीत नहीं पाते, उस अहंकार का **शिरः प्रत्यस्तम्**=सिर कुचल दिया जाए। सम्पूर्ण दैवी सम्पत्तिवाला बनकर भी तुझमें '**नतिमानिता**'=अभिमान का न होना आवश्यक है। यह अभिमान सारे किये-कराये पर पानी फेर देता है।

भावार्थ—राजा सब दिशाओं में उन्नति करके निरभिमानिता से प्रजाओं का कल्याण करने में प्रवृत्त हो।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—परमात्मा। **छन्दः**—विराडार्चीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

सोमस्य त्विषिः ओज-सहस-अमृत

सोम॑स्य॒ त्विषि॑रसि॒ तवे॑व मे॒ त्विषि॑र्भूयात्।
मृ॒त्योः पा॑ह्योजो॑ऽसि॒ सहो॑ऽस्य॒मृत॑मसि ॥१५॥

प्रस्तुत मन्त्र का देवता 'परमात्मा' है। उससे प्रार्थना करते हैं कि १. हे परमात्मन्! **सोमस्य त्विषिः असि**=तू चन्द्र की दीप्ति है। चन्द्रमा की दीप्ति में सौन्दर्य यह है कि यह प्रकाशमय है और प्रकाश के साथ शान्ति देनेवाला है। एवं, इसमें दीप्ति व शान्ति का मेल है। **मे**=मेरी **त्विषिः**=दीप्ति **तव इव**=तेरी भाँति ही **भूयात्**=हो। २. हे आत्मन्! **ओजः असि**=तू ओज का पुञ्ज है (splendour, light), प्रकाश का पुञ्ज है। **सहः असि**=सहस् का पुतला है, सहनशक्ति का तू स्वरूप ही है। **अमृतम् असि**=तू अमृत है। मृत्यु से तू परे है। काल का भी तू काल है। आप मुझे भी **मृत्योः पाहि**=मृत्यु से बचाइए। मेरे मस्तिष्क में प्रकाश (ओज) हो, मेरे मन में 'सहस्' हो तथा मेरे शरीर में अमृतत्व=नीरोगता हो। इस प्रकार तीनों क्षेत्रों में स्वस्थ होकर मैं सोम की त्विषिवाला होऊँ।

भावार्थ—मुझे ओज, सहस् तथा अमृतत्व की प्राप्ति हो।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—स्वराडार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

राज्य-निरीक्षण

हिर॑ण्यरूपाऽउ॒षसो॑ विरो॒कऽउ॒भावि॑न्द्राऽउदि॑थः॒ सूर्य॑श्च। आरो॑हतं वरुण मित्र॒ गर्त्तं॒ तत॑श्चक्षाथा॒मदि॑तिं॒ दितिं॑ च मि॒त्रो॑ऽसि॒ वरु॑णोऽसि ॥१६॥

१. राष्ट्र में राजा 'मित्र' है, सारी प्रजा को 'प्रमीतेः त्रायते' मृत्यु एवं पापों से बचाने के लिए प्रयत्नशील है तो 'वरुण' सेनापति है, जो राष्ट्र पर होनेवाले शत्रुओं के आक्रमण का निवारण करता है। ये **उभौ**=दोनों **हिरण्यरूपौ**=ज्योतिर्मय रूपवाले हैं। हिरण्य के समान अति तेजस्वी हैं, **इन्द्रौ**=परमैश्वर्यवाले अथवा सामर्थ्य से युक्त हैं। ये दोनों **उषसः विरोके**=रात्रि की समाप्ति पर, उषा के व्युत्थान काल में **उदिथः**=(उद्गच्छतः) उठते हैं। **सूर्यः च** (उदेति)=इसी समय सूर्य भी उदय होता है, जिससे सूर्य के प्रकाश में ये मित्र और वरुण अपना कार्य सुचारुरूपेण कर सकें। २. हे **वरुण**=शत्रु के आक्रमण के वारक सेनापते! **मित्र**=रोगों व पापों से बचानेवाले राजन्! आप दोनों **गर्तं आरोहतम्**=अपने रथ पर अधिरूढ़ हों और **ततः**=तब **अदितिम्**=नियमों के न तोड़नेवाले, मर्यादाओं का पालन करनेवाले,

अदीन, राजनियमों के अनुष्ठाता को-शास्त्रनिर्दिष्ट बातों के करनेवाले को, **दितिं च**=और नियमों के तोड़नेवाले को, नास्तिकवृत्त को 'कोई क़ानून-वानून नहीं है' (नास्तीति) ऐसा मानकर मनमाना आचरण करनेवाले को **चक्षाथाम्**=देखो। 'यह पापी और यह पुण्यवान् है' इस प्रकार आप लोगों का विवेक करनेवाले बनो। 'कौन आर्य है और कौन दस्यु' यह आपको पता हो। ३. ऐसा करने पर ही आप **मित्रः असि**=राष्ट्र को मृत्यु से बचाते हो व **वरुणः असि**=राष्ट्र पर होनेवाले आक्रमणों का निवारण करते हो।

भावार्थ—राजा के मुख्य कार्य दो हैं। पाप व रोगों से बचाना, शत्रुओं के आक्रमण को रोकना। इससे राजा मित्र और वरुण नामवाला होता है। उसे उषःकाल में ही जाग जाना चाहिए और सूर्योदय के साथ ही रथारूढ़ हो राज्य के निरीक्षण में प्रवृत्त हो जाना चाहिए, जिससे वह आर्य व दस्युओं का विवेक कर सके।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—क्षत्रपतिः। **छन्दः**—आर्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

सोम-अग्नि-सूर्य-इन्द्र

सोम॑स्य त्वा द्युम्नेना॒भिषि॑ञ्चाम्य॒ग्नेर्भ्राज॑सा॒ सूर्य॑स्य॒ वर्च॒सेन्द्र॑स्येन्द्रि॒येण॑ क्ष॒त्राणां॑ क्ष॒त्रप॑तिरे॒ध्यति॑ दि॒द्यून् पा॑हि ॥१७॥

१. राज्याभिषेक के समय राजा की चार विशेषताओं का विशेष रूप से ध्यान किया जाता है। पुरोहित कहता है कि **त्वा**=तुझे **सोमस्य**=चन्द्रमा के **द्युम्नेन**=यश से **अभिषिञ्चामि**= अभिषिक्त करता हूँ। चन्द्रमा के प्रकाश में जैसे दीप्ति व शान्ति का समन्वय है उसी प्रकार तेरी तेजस्विता 'शक्ति व शान्ति' के मेल से तुझे राज्याभिषेक के योग्य बनाती है। शक्ति के कारण तू अधृष्य है तो शान्ति के कारण तू अभिगम्य बना है। २. **अग्नेः**=अग्नि की **भ्राजसा**=दीप्ति से **त्वा**=तुझे अभिषिक्त करता हूँ। तू स्वास्थ्य के कारण इस प्रकार चमकता है जैसे आग चमकती है। ३. **सूर्यस्य वर्चसा**=सूर्य-सदृश वर्चस् के कारण मैं तुझे अभिषिक्त करता हूँ। '**प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः**'=सूर्य प्राणशक्ति का पुञ्ज है, तुझमें भी प्राणशक्ति का पूर्ण विकास हुआ है, अतः तुझे राज्याभिषिक्त करता हूँ। ४. **इन्द्रस्य इन्द्रियेण**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता होने से तू सब इन्द्रियों की शक्ति से सम्पन्न है, अतः तुझे राज्याभिषिक्त करता हूँ। ५. **क्षत्राणां क्षत्रपतिः एधि**=तू क्षत्रियों में क्षत्रियेश्वर है, बलवानों में बलवान् है। राष्ट्र को आघातों से बचानेवाला है। ६. **दिद्यून्**=इषुओं को, बाणों को, **अति**=लाँघकर **पाहि**=रक्षा कर, अर्थात् हे राजन्! तू शत्रुओं के बाणों से बचाकर हमें सुरक्षित कर।

भावार्थ—राजा वही होने योग्य है जो चन्द्रमा के समान दीप्ति व शान्तिवाला है, अग्नि के समान स्वास्थ्य की दीप्तिवाला है, सूर्य के समान प्राणशक्ति का पुञ्ज है, जितेन्द्रिय पुरुष के बलवाला है। बलवानों से भी बलवान् है, राष्ट्र को सब आक्रमणों से बचाता है।

ऋषिः—देववातः। देवता—यजमानः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

ऐकमत्येन वरण (Unanimous Voting)

इ॒मं दे॑वाऽअसप॒त्नꣳ सु॑वध्वं मह॒ते क्ष॒त्राय॑ मह॒ते ज्यैष्ठ्या॑य मह॒ते जान॑राज्या॒येन्द्र॑स्येन्द्रि॒याय॑। इ॒मम॒मुष्य॑ पु॒त्रम॒मुष्यै॑ पु॒त्रम॒स्यै वि॒शऽए॒ष वो॑ऽमी॒ राजा॒ सोमो॒ऽस्माकं॑ ब्राह्म॒णाना॒ꣳराजा॑ ॥१८॥

हे **देवाः**=विद्वानो! **इमम्**=इस व्यक्ति को **असपत्नम्**=ऐकमत्य से **सुवध्वम्**=चुनो,

इसलिए कि १. **महते क्षत्राय**=महान् आघात से रक्षणरूप कार्य को वह करे। २. **महते ज्यैष्ठ्याय**=महान् ज्येष्ठता सम्पादनरूप कार्य को करनेवाला वह हो। राष्ट्र को वह ऊँचा ले-जानेवाला हो। ३. **महते जानराज्याय**=महान् जनराज्य के लिए—लोकहित का राज्य करनेवाला हो। ४. **इन्द्रस्य इन्द्रियाय**=इसे इसलिए चुनो कि यह राष्ट्र में प्रत्येक व्यक्ति को शक्तिशाली बनानेवाला हो। ५. **इयम्**=इसको **अमुष्य पुत्रम्**=अमुक व्यक्ति के पुत्र को **अमुष्यै पुत्रम्**=अमुक माता के पुत्र को **अस्यै विशः**=इसी प्रजा के अङ्गभूत व्यक्ति को तुम चुनो। **एषः**=यह **अमी**=हे प्रजाओ! **वः**=तुम्हारा **राजा**=नियन्ता है। **अस्माकं ब्राह्मणानां राजा**=हम ब्राह्मणों का राजा तो **सोमः**=वह शान्त प्रभु ही है। ब्राह्मण किसी भी प्रकार की सम्पत्ति का मालिक नहीं है। वह सब परिग्रहों से ऊपर उठा हुआ होता है। यह पापों से भी ऊपर उठा रहता है, इसी से यह राजा का भी पथ-प्रदर्शन करनेवाला होता है।

भावार्थ—राष्ट्रपति का वरण यथासम्भव ऐकमत्येन होना ही ठीक है। विद्वान् बृहस्पति-तुल्य ब्राह्मण इस राष्ट्रपति का मार्ग-प्रदर्शक होता है। इनसे प्रेरणा प्राप्त करनेवाला राजा यहाँ 'देववात' कहलाता है।

ऋषिः—देववातः। **देवता**—यजमानः। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

विक्रमण-विक्रान्ता-क्रान्त

प्र पर्वतस्य वृषभस्य पृष्ठान्नावश्चरन्ति स्वसिचऽइयानाः।
ताऽआववृत्रन्नधरागुदक्ताऽअहिं बुध्न्यमनु रीयमाणाः।
विष्णोर्विक्रमणमसि विष्णोर्विक्रान्तमसि विष्णोः क्रान्तमसि॥१९॥

१. **पर्वतस्य**=पर्वाणि विद्यन्ते यस्य=अमावास्या-पूर्णिमा आदि पर्वों में तथा प्रतिदिन दिन-रात्रि के पर्वरूप प्रातः-सायं के समय जिसका उद्बोधन किया जाता है उस 'पर्वत' नामवाली **वृषभस्य**=(वर्षितुः—उ०) वर्षा करनेवाली अग्नि के **पृष्ठात्**=पृष्ठ से उठकर **नावः**=(नूयन्ते स्तूयन्ते) स्तुति के योग्य **स्वसिचः**=धनों का सेचन करनेवाले **इयानाः**=गमनशील जल **प्रचरन्ति**=आदित्यमण्डल के प्रति प्राप्त होते हैं। मनु के शब्दों में '**अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते**' अग्नि में डाली हुई आहुतियाँ सूर्य तक पहुँचती हैं। '**स्व-सिचः**' शब्द का अर्थ है 'धनों का सेचन करनेवाले'। समय पर वर्षा होती है तो कृषकों के मुख से भी यह शब्द निकलता है कि 'सोना बरस रहा है'। एवं, ये जल धन का सेचन करते हैं। ये मेघजल **नावः**=स्तुत्य तो हैं ही, ये 'अमरवारुणी' देवताओं की मद्य कहलाते हैं। २. **ताः उदक्ताः**=ऊपर (उत्) आदित्यमण्डल तक गये हुए (अक्ताः) जल **बुध्न्यम्**=(बुध्न=अन्तरिक्ष) अन्तरिक्ष में होनेवाले **अहिम्**=मेघ में **अनुरीयमाणाः**=क्रमशः गति करते हुए **आववृत्रन्**=इस पृथिवी पर लौट आते हैं। ३. इस प्रकार इन जलों की गति आदित्य के आधारभूत द्युलोक में, मेघ के आधारभूत अन्तरिक्षलोक में तथा अग्नि के आधारभूत इस पृथिवीलोक में दिखती है। ये जल शरीर में रेतस्रूप से हैं और स्थूलशरीररूप पृथिवी में ये नीरोगता के कारण होते हैं, मनरूप अन्तरिक्ष में ये नैर्मल्य का कारण बनते हैं और बुद्धि व मस्तिष्करूप द्युलोक में ये उज्ज्वलता का साधन होते हैं। ४. ये रेतस्रूप आपः शरीर में व्याप्त होने पर 'विष्णु' कहलाते हैं। '**यो वै विष्णुः सोमः सः**'—श० ३।३।४।२। '**वीर्यं विष्णुः**'—तै० १।७।२।२। यह 'विष्णु' तीनों लोकों का—शरीर, मन व बुद्धि का—विजय

करता है। यही इसकी 'विक्रमण त्रयी' कही गई है। मन्त्र के ऋषि देववात से कहते हैं कि तू **विष्णोः**=इस सोम के **विक्रमणम्**=पृथिवीलोकरूप विजयवाला है, **विष्णोः**=सोम के **विक्रान्तम् असि**=अन्तरिक्षलोकरूप विजयवाला है और अन्ततः **विष्णोः**=सोम के **क्रान्तमसि**=द्युलोकरूप विजयवाला है। इन सब लोकों का विजय करके तू सब देवताओं को अपनानेवाला होता है–**'विष्णुः सर्वा देवताः'** ऐ०–१।१, अर्थात् मनुष्य रेतस् की रक्षा के द्वारा सब दिव्य गुणों को प्राप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ–प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह रेतस् की रक्षा द्वारा इन रेतःकणों को शरीर में ही व्याप्त करनेवाला बने और अपने शरीर, मन व बुद्धि को स्वस्थ रखनेवाला हो।

ऋषिः–देववातः। **देवता**–प्रजापतिः। **छन्दः**–भुरिगतिधृतिः। **स्वरः**–षड्जः॥

नाम-स्मरण

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परि ता बभूव। यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नोऽअस्त्वयममुष्य पिताऽसावस्य पिता वयꣳस्याम पतयो रयीणाꣳस्वाहा। रुद्र यत्ते क्रिवि परं नाम तस्मिन् हुतमस्यमेष्टमसि स्वाहा॥२०॥

गत मन्त्र में रेतस् की रक्षा द्वारा त्रिलोकी के विक्रमण का उपदेश था। उसी को क्रियात्मक रूप देने के लिए प्रभु का स्मरण करते हुए देववात (मन्त्र का ऋषि) कहता है कि १. हे **प्रजापते**=सब प्रजाओं के रक्षक प्रभो! **एतानि तानि**=इन प्रसिद्ध अथवा समीप व सुदूर देश में वर्त्तमान **विश्वा रूपाणि**=सब रूपों को, विविध जातीय प्राणियों व लोकों को **त्वत् अन्यः न**=आपसे भिन्न और कोई नहीं, अर्थात् आप ही **परि बभूव**=व्याप्त कर रहे हो। आप ही इनका सर्जन व संहार करने में समर्थ हो। २. **यत्कामाः**=जिस कामनावाले होकर **ते जुहुमः**=हम आपकी प्रार्थना करते हैं **तत् नः अस्तु**=हमारी वह कामना पूर्ण हो। ३. हम संसार में इस बात को समझें कि **अयम्**=हमारे समीप वर्त्तमान यह प्रजापति ही (तद्दूरे तदु अन्तिके) **अमुष्य**=दूर देश में वर्त्तमान व्यक्ति का भी **पिता**=पिता व रक्षक है और **असौ**=वह दूर-से-दूर देश में वर्त्तमान प्रजापति (तत् दूरे) **अस्य**=इस समीपस्थ व्यक्ति का पिता है। एवं, हम सब उस एक ही प्रजापति के पुत्र हैं और परस्पर भाई-भाई हैं। हमें रुपये का गुलाम बनकर लोभवश परस्पर लड़ना नहीं है। **वयम्**=हम तो **रयीणाम्**=इन धनों के **पतयः स्याम**=स्वामी हों। हम इनके दास न बन जाएँ। हम **स्वाहा**=इस **स्व**=धन का **हा**=त्याग करते हैं। ४. देववात तो यह निश्चय करता है कि हे **रुद्र**=असुर-संहारक प्रभो! **यत्**=जो **ते**=तेरा **क्रिवि**=(हिंसित) सब वासनाओं को विनष्ट करनेवाला **परम्**=उत्कृष्ट **नाम**=नाम है **तस्मिन्**=उस नाम में **हुतम् असि**=तू हमसे हुत होता है, अर्थात् हम तेरे उस नाम में अपने को अर्पित करने का प्रयत्न करते हैं। **अमा**=इस मेरे शरीररूप घर में **इष्टं असि**=आप सदा पूजित होते हो। **स्वाहा**=हम आपके प्रति अपना अर्पण करते हैं। ५. वस्तुतः यह प्रभु नाम-स्मरण ही हमें वासनात्मक जगत् से ऊपर उठाता है। वासना-विजय ही शरीर में रेतस् की रक्षा का साधन बनती है और हमें त्रिलोकी के विजय में समर्थ करती है।

भावार्थ–प्रभु ही सबका धारण कर रहे हैं, वे ही हम सबके पिता हैं। उस प्रभु के नाम-स्मरण में अपने को अर्पित करते हुए हम लोक-त्रयी का विजय करें।

ऋषिः—देववातः। **देवता**—क्षत्रपतिः। **छन्दः**—भुरिग्ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

अरिष्ट-अर्जुन

इन्द्रस्य वज्रोऽसि मित्रावरुणयोस्त्वा प्रशास्त्रोः प्रशिषा युनज्मि। अव्यथायै त्वा स्वधायै त्वाऽरिष्टो अर्जुनो मरुतां प्रसवेन जयापाम मनसा समिन्द्रियेण॥२१॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्रभु-नामस्मरण करनेवाले देववात से कहते हैं कि तू **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली, सब शत्रुओं के संहारक प्रभु के **वज्रः असि**=वज्रवाला (वज्रम् अस्य अस्तीति वज्रः) है। प्रभु का नाम तेरे लिए वज्रतुल्य बन गया है। इस वज्र से तू अपनी सब वासनाओं का संहार कर पाया है। २. अब **त्वा**=तुझे **प्रशास्त्रोः**=उत्तम प्रशासन करनेवाले **मित्रावरुणयोः**=मित्र और वरुण के, स्नेह की देवता तथा द्वेष-निवारण की देवता के **प्रशिषा**=प्रशासन से **युनज्मि**=युक्त करता हूँ। ३. और इस प्रकार **त्वा**=तुझे **अव्यथायै**=(व्यथ भयचलनयोः) अभय व अविचलन, अर्थात् स्थिरता के लिए प्राप्त कराता हूँ, तथा **स्वधायै त्वा**=(स्व-धा) आत्मधारण के योग्य बनाता हूँ। ४. **अरिष्टः**=किन्हीं भी वासनाओं व रोगों से न हिंसित हुआ तू **अर्जुनः**=उज्ज्वल (श्वेत=शुद्ध) चरित्रवाला हो। ५. **मरुताम्**=प्राणों के **प्रसवेन**=प्रकृष्ट ऐश्वर्य से, अर्थात् उत्कृष्ट प्राण-साधना के द्वारा **जय**=तू चित्तवृत्तिनिरोध से वासना का विजय कर। ६. तुम सदा यह कह सको कि **मनसा**=मन के द्वारा, मन के वशीकरण के द्वारा **अपाम**=हमने सोम का पान किया है और **इन्द्रियेण**=वीर्य से, प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति से **सम्**=हम सङ्गत हुए हैं।

भावार्थ—प्रभु का नाम हमारा वज्र हो। स्नेह व निर्द्वेषता हमारे जीवन का सूत्र हो। हमारा जीवन वासनाओं से अहिंसित व उज्ज्वल हो। हम सोम पान करें, शक्ति से युक्त हों।

ऋषिः—देववातः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

नास्तिकता का वि-दसन

मा तऽइन्द्र ते वयं तुराषाडयुक्तासोऽअब्रह्मता विदसाम। तिष्ठा रथमधि यं वज्रहस्ता रश्मीन्देव यमसे स्वश्वान्॥२२॥

१. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं के संहारक प्रभो! **तुराषाट्**=(तूर्णं सहते) शीघ्रता से शत्रुओं का पराभव करनेवाले प्रभो! **वयम्**=हम सब **ते**=तेरे हों और **ते अयुक्तासः**=आपसे अपने को न जोड़नेवाले **मा**=न हों। हम सदा अपनी चित्तवृत्ति को विषयों से व्यावृत्त करके आपके साथ लगाएँ। २. **अब्रह्मता**=(अब्रह्मतां) नास्तिकवृत्तिता को, 'संसार का सञ्चालक ईश्वर कोई नहीं है', इस आसुरी विचारधारा को (जगदाहुरनीश्वरम्—गीता) **विदसाम**=हम विशेषरूप से नष्ट कर दें। हममें अनीश्वरता की भावना कभी उत्पन्न न हो। ३. **रथं तिष्ठ**=मैं उस शरीररूप रथ में बैठूँ **वज्रहस्त यं अधि**=हे वज्रहस्त प्रभो! जिसके अधिष्ठाता आप हैं। प्रभु ही मेरे शरीररूप रथ के सञ्चालक हों। ऐसा होने पर क्या कोई वासना मेरी यात्रा को विहत कर पाएगी? वे प्रभु तो वज्रहस्त हैं, काम को भस्म करने के लिए उनका तो नाम ही पर्याप्त है। ४. **देव**=हे सब विघ्नों के विजेता प्रभो! आप ही मेरे इस शरीररूप रथ पर स्थित हुए-हुए **रश्मीन्**=लगामों को **यमसे**=काबू करते हैं। आप ही **अश्वान्**=इन मेरे इन्द्रिय-रूप अश्वों को **सुयमसे**=उत्तमता से काबू करते हैं। वस्तुतः प्रभु-नामस्मरण हमें इस योग्य बनाता है कि

हमारा मन विषय-व्यावृत्त हो पाये और हम इन्द्रियों को विषयपङ्क से मलिन न होने दें।

भावार्थ—हम ईश्वर के हों। अनीश्वरवाद हमारे नाश का कारण बनता है। वे प्रभु ही वज्रहस्त हैं, हमारे शत्रुओं का शीघ्रता से विनाश करनेवाले हैं।

ऋषिः—देववातः। **देवता**—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः॥

पारस्परिक अहिंसन

अग्नये गृहपतये स्वाहा सोमाय वनस्पतये स्वाहा मरुतामोजसे स्वाहेन्द्रस्येन्द्रियाय स्वाहा। पृथिवि मातर्मा मा हिꣳसीर्मोऽअहं त्वाम्॥२३॥

देववात प्रार्थना करता है कि गत मन्त्र के अनुसार मैं अपने शरीर-रूप रथ की लगाम प्रभु के हाथों में सौंपनेवाला बनूँ, और अपनी इस जीवन-यात्रा में १. **अग्नये**=निरन्तर आगे बढ़ने के लिए तथा **गृहपतये**=इस शरीर-रूप गृह का उत्तम रक्षक बनने के लिए **स्वाहा**=उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण करूँ। यह प्रभु के प्रति अर्पण मुझे 'अग्नि' बनाएगा। २. **सोमाय**=सौम्य स्वभाव का बनने के लिए अथवा सोम (वीर्य) शक्ति का पुञ्ज बनने के लिए और परिणामतः **वनस्पतये**=ज्ञान की रश्मियों का पति बनने के लिए **स्वाहा**=मैं उस प्रभु के प्रति अर्पण करता हूँ। यह प्रभु-अर्पण मुझे 'सोम' बनाएगा, यह प्रभु-अर्पण मुझे 'वनस्पति' बनाएगा। ३. **मरुताम्**=प्राणों के **ओजसे**=ओज के लिए **स्वाहा**=मैं उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता हूँ, अर्थात् प्रभु-चरणों में बैठना मुझे वासनाओं से बचाकर ओजस्वी बनाता है, मैं प्राणशक्ति-सम्पन्न होता हूँ। ४. **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष की **इन्द्रियाय**=प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति-सम्पन्नता के लिए **स्वाहा**=मैं प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता हूँ। ५. **मा**=इस अर्पण करनेवाले मुझको हे **पृथिवि मातः**=मातृतुल्य पृथिवि! **मा हिंसीः**=मत हिंसित कर। यद्यपि शरीर पञ्चभौतिक है तथापि पृथिवीतत्त्व की प्रधानता के कारण इसे पार्थिव कहने की परिपाटी है, अतः उस पृथिवीतत्त्व को ही मुख्यता देते हुए कहते हैं कि तू मेरे अनुकूल हो। **उ**=और **अहम्**=मैं **त्वाम्**=तुझे **मा**=मत हिंसित करूँ। मैं अतिभोजनादि व विषयासक्ति के कारण इस पार्थिव शरीर को विकृत करनेवाला न होऊँ। प्रभु के प्रति अर्पण का यह परिणाम तो होगा ही। उस 'महान् देव' प्रभु से निरन्तर प्रेरणा (वात) प्राप्त करके यह 'देववात' निश्चित रूप से ही अहिंसित होगा।

भावार्थ—'हम अग्नि, गृहपति, सोम, ज्ञानी, ओजस्वी व इन्द्र' बनें।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—सूर्यः। **छन्दः**—भुरिग्जगती। **स्वरः**—निषादः॥

हंसः

हꣳसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजाऽऋतजाऽअद्रिजाऽऋतं बृहत्॥२४॥

२२वें मन्त्र में अपने को प्रभु से अयुक्त न करने की भावना थी। जब हम सदा प्रभु का स्मरण करते हैं, प्रभु-स्मरण के साथ ही हमारी सब क्रियाएँ होती हैं तब वे प्रभु हमारे लिए १. **हंसः**=(हन्ति पापानाम्) सब पापों को नष्ट करनेवाले होते हैं। पापों के नाश से हमारा जीवन शुचि=पवित्र होता है और वे प्रभु **शुचिषत्**=हमारे पवित्र हृदयों में निवास करनेवाले होते हैं। २. जब मैं अपने हृदय में प्रभु के निवास को अनुभव करता हूँ तब **वसुः**=(वासयति) वे प्रभु मेरे जीवन को उत्तम बना देते हैं। उत्तम जीवन वही है जो

सीमाओं को छोड़कर सदा मध्य-मार्ग का अवलम्बन करता है। **अन्तरिक्षसत्**=प्रभु का निवास उसी में है जो **'अन्तराक्षि'**=मध्य में गति करता है (क्षि=गति)। योग इसी मध्य मार्ग पर चलनेवाले का कल्याण करता है। सितार के तार को अधिक कसा जाए तो वह टूट जाता है, ढीला छोड़ दिया जाए तो स्वर ही नहीं निकलता। न बहुत कसा जाए और न बहुत ढीला छोड़ा जाए तभी मधुर स्वर निकलता है। इस मध्य मार्ग में रहने व चलनेवाले में प्रभु का निवास है। ३. **होता**=वे प्रभु ही सब-कुछ देनेवाले हैं और **वेदिषत्**=जो व्यक्ति अपने इस शरीर को यज्ञवेदी बना देता है उसी में प्रभु का निवास होता है। सब-कुछ देनेवाले वे प्रभु हैं तो हमें लोभ करना ही क्यों? लोभ को छोड़कर हम यज्ञवृत्ति को अपनाएँ और प्रभु के निवास-स्थान बनें। ४. **अतिथिः**=वे प्रभु तो 'अत् सातत्यगमने'=हमें निरन्तर प्राप्त होनेवाले हैं। **दुरोणसत्**=(दुर=बुराई ओणृ अपनयने) बुराई को दूर करनेवाले में बैठनेवाले हैं। 'दुरोण' शब्द गृहवाची है, क्योंकि यह हमें सर्दी-गर्मी, वर्षा-ओले आदि से बचाता है। इसी प्रकार अपने को वासनाओं से बचानेवाला व्यक्ति भी 'दुरोण' है।

५. **नृषत्**=वह प्रभु 'नृषु सीदति'=अपने को आगे ले-चलनेवालों में निषण्ण होता है। ६. **वरसत्** =वह प्रभु श्रेष्ठ व्यक्तियों में आसीन होते हैं ७. **ऋतसत्**=जो भी ऋत का पालन करते हैं वे प्रभु का निवास-स्थान बनते हैं। ८. **व्योमसत्**=वे प्रभु उस व्यक्ति में निवास करते हैं जो कि **वी+ओम्**=(वी गति, अव रक्षणे) सदा क्रियाशीलता के द्वारा अपना बचाव करता है। क्रियाशीलता के परिणामस्वरूप शुद्ध बना रहता है। ९. **अब्जाः**=(अप्सु जायते) वे प्रभु जलों में प्रकट होते हैं। **'यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः'** ये हिमाच्छादित पर्वत, समुद्र व पृथिवी उस प्रभु की महिमा को प्रकट कर रहे हैं। १०. **गोजाः**=(गवि जायते) वे प्रभु इस पृथिवी के अनन्त विस्तृत मैदानों, वनों व पर्वतों में प्रकट होते हैं, उन स्थानों पर उस प्रभु की महिमा दिखती है। ११. **ऋतजाः**=वे सूर्य, चन्द्र, तारे व अन्य लोक-लोकान्तरों की नियमित गति में प्रकट होते हैं। १२. **अद्रिजाः**=गगनचुम्बी घाटियोंवाले, ध्रुवता से स्थित (अविदारणीय) पर्वतों में वे प्रभु प्रकट होते हैं। १३. वे प्रभु **ऋतम्**=सत्य हैं, **बृहत्**=सदा वर्धमान हैं (वर्धमानं स्वे दमे)।

भावार्थ—हम इस सृष्टि में प्रभु की महिमा को देखें। जीवन को पवित्र बनाकर प्रभु के निवास-स्थान बनें। हम अनुभव करें कि वे प्रभु सत्य हैं, वे सदा वृद्ध हैं। इस प्रकार जीवन बनाते हुए हम 'वामदेव' सुन्दर दिव्य गुणोंवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—सूर्यः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः॥

एतावानस्य महिमा

इयदस्यायुरस्यायुर्मयि धेहि युङ्ङसि वर्चोऽसि वर्चो मयि धेह्यूर्गस्यूर्जं मयि धेहि। इन्द्रस्य वां वीर्यकृतो बाहूऽअभ्युपावहरामि॥२५॥

१. वामदेव प्रभु-आराधन करता हुआ कहता है कि **'इयत् असि'**=आप 'एतावान् अस्य महिमा' इन शब्दों के अनुसार इतनी महिमावाले हैं। गत मन्त्र के शब्दों में 'जलों में, पृथिवी में, पर्वतों में' सर्वत्र उसी की महिमा है। इस जड़-जगत् के कण-कण में प्रभु की महिमा है, २. चेतन जगत् में भी **आयुः असि**=आप सबको जीवन देनेवाले हैं। **मयि आयुः धेहि**=मुझमें जीवन का आधान कीजिए। आपकी कृपा से मैं दीर्घायुष्य प्राप्त करूँ। ३. **युङ् असि**=इस दीर्घ जीवन में आप हमें उस-उस कार्य में प्रेरित करनेवाले हैं। हम कभी-कभी

असफलता से निराश होकर कर्म छोड़ बैठते हैं तो आप हमें उत्साहित व शक्ति-सम्पन्न करके फिर कार्य-व्यापृत करते हैं। ४. **वर्चः असि**=आप शक्ति के पुञ्ज हैं। **मयि वर्चः धेहि**=मुझमें शक्ति का आधान कीजिए। **ऊर्क् असि**=आप (ऊर्ज् बलप्राणनयोः) बल और प्राण-शक्ति के आधार हैं। **ऊर्जं मयि धेहि**=मुझमें बल और प्राण-शक्ति को धारण कीजिए। ५. इस प्रकार प्रभु की आराधना से शक्ति-सम्पन्न होकर वामदेव अपनी भुजाओं को सम्बोधित करके कहता है कि **वाम्**=आप दोनों को जो आप **वीर्यकृतः**=शक्ति-उत्पन्न करनेवाले **इन्द्रस्य**=सब शत्रुओं के संहारक प्रभु की **बाहू**=प्रयत्नशील (बाह्व प्रयत्ने) भुजाएँ हो, उन आपको **अभि+उप+अवहरामि**=प्रभु की समीपता में विषयों से दूर कर्मों की ओर ले-चलता हूँ, अर्थात् मैं प्रभु का स्मरण करते हुए, विषयपङ्क से अलिप्त रहते हुए कर्मों में लगा रहता हूँ। वामदेव=सुन्दर दिव्य गुणोंवाला बनने का यही तो मार्ग है।

भावार्थ—प्रभु के सम्पर्क से हमें 'आयु, वर्चस् व ऊर्ज्' प्राप्त होता है। प्रभु-स्मरण करते हुए शक्ति-सम्पन्न बनकर हम सदा भुजाओं को कार्यव्याप्त रक्खें।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—आसन्दी राजपत्नी। **छन्दः**—भुरिगनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

स्योना-सुषदा

स्योनासि सुषदासि क्षत्रस्य योनिरसि।
स्योनामासीद सुषदामासीद क्षत्रस्य योनिमासीद॥२६॥

गत मन्त्र की भावना के अनुसार प्रभु-स्मरण से शक्ति-सम्पन्न बनकर निरन्तर क्रिया करनेवाला व्यक्ति इस पृथिवी को बड़ा सुन्दर बनाता है। मन्त्र में कहते हैं कि १. हे पृथिवि! तू **स्योना असि**=सुखरूप है। प्रयत्नशील व्यक्ति के लिए पृथिवी सुखरूप है ही। २. **सु-सदा असि**=सुख से बैठने के योग्य है (सुखेन सीदन्ति यस्याम्)। श्रमशील लोग तेरे आश्रय से जीवन व्यतीत करते हैं। ३. **क्षत्रस्य योनिः असि**=क्रियाशीलता के द्वारा बल का तू कारण है। इस पृथिवी पर निवास करते हुए हम यदि क्रियाशील बनते हैं तो शक्ति-सम्पन्न भी होते हैं। क्रियाशीलता व शक्ति आनुपातिक हैं। ४. वामदेव से कहते हैं कि हे वामदेव! तू **स्योनाम्**=इस सुखरूप पृथिवी पर **आसीद**=आसीन हो। **सु-षदाम् आसीद**=सुख से बैठने योग्य इस पृथिवी पर आसीन हो। **क्षत्रस्य योनिम्**=बल की कारणभूत इस पृथिवी पर **आसीद**=आसीन हो।

भावार्थ—यह पृथिवी सुखरूप है, सुख से बैठने योग्य है, शक्ति का स्रोत है। निरन्तर क्रियाशीलता के द्वारा 'वामदेव' पृथिवी को ऐसा ही बना लेता है।

ऋषिः—शुनःशेपः। देवता—वरुणः। **छन्दः**—पिपीलिकामध्याप्रतिष्ठागायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

धृतव्रतः

निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा। साम्राज्याय सुक्रतुः॥२७॥

१. उल्लिखित मन्त्रों में वर्णित 'वामदेव' लोगों में से चुना जाकर (वरुण) जीवन को उत्तमता से व्यवस्थित करने के लिए सिंहासन पर बिठाया जाता है। इसने उत्तम शासन के द्वारा सुख का निर्माण करना होता है, अतः यह 'शुनःशेप' (शुनम्=सुख, शेप=बनाना, to make) कहलाता है। २. यह शुनःशेप **पस्त्यासु**=प्रजाओं में से ही चुना जाकर **धृतव्रतः**=धारण किये हुए व्रतवाला **वरुणः**=श्रेष्ठ व्यक्ति **आ निषसाद**=सब व्यक्तियों की ओर से

सिंहासन पर बैठता है। 'प्रजा का कल्याण' यह इसका व्रत होता है। अपने जीवन को भी यह बड़ा संयमी बनाकर 'वरुण'=व्रत-बन्धनों में अपने को बाँधता है। ३. यह सिंहासन पर **साम्राज्याय**=साम्राज्य के लिए आसीन होता है। यह राजा बनकर सचमुच देश को बड़ा व्यवस्थित कर देता है। उत्तम व्यवस्था से राज्य में चोरी आदि सब बुराइयाँ समाप्त हो जाती हैं और राज्य चमक उठता है, देश की सर्वांगीण उन्नति होती है। ४. **सुक्रतुः**=यह राजा उत्तम संकल्पों व कर्मोंवाला है साथ ही उत्तम प्रजावाला भी होता है (क्रतु=संकल्प, कर्म, प्रज्ञा)। इस प्रज्ञा की तीव्रता व संकल्प की दृढ़ता से यह राज्य को एक साम्राज्य बना देता है। यह उसे ऐसा बनाने के लिए 'धृत-व्रत' होता है।

भावार्थ—राजा को 'धृत-व्रत व सुक्रतु' होना चाहिए, जिससे उसका राज्य साम्राज्य में परिवर्तित हो जाए।

ऋषिः—शुनःशेप। **देवता**—यजमानः। **छन्दः**—विराड्धृतिः। **स्वरः**—ऋषभः॥

अभिभूः

**अभिभूरस्येतास्ते पञ्च दिशः कल्पन्तां ब्रह्मँस्त्वं ब्रह्मासि सवितासि सत्यप्रसवो वरुणोऽसि सत्यौजाऽइन्द्रोऽसि विशौजा रुद्रोऽसि सुशेवः।
बहुकार श्रेयस्कर भूयस्करेन्द्रस्य वज्रोऽसि तेन मे रध्य॥२८॥**

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार जो 'धृतव्रत व सुक्रतु' होता है वह **'अभिभूः असि'**=सब शत्रुओं का पराभव करनेवाला होता है। **एताः**=वे **पञ्च दिशः**=पाँचों दिशाएँ **ते**=तेरे लिए **कल्पन्ताम्**=शक्तिशाली बनें। 'प्राची-दक्षिणा-प्रतीची-उदीची व ऊर्ध्वा' इन पाँच दिशाओं का उल्लेख इसी अध्याय में १० से १४ तक के मन्त्रों में हुआ है। यहाँ उन दिशाओं का दूसरे प्रकार से उल्लेख हुआ है। २. दसवें मन्त्र में प्राची दिशा का द्रविण 'ब्रह्म' कहा गया है। यहाँ कहते हैं कि हे **ब्रह्मन्**=ज्ञान-सम्पन्न **त्वम्**=तू **ब्रह्मा**=चतुर्वेदवेत्ता है, ज्ञानी है। **सविता असि**=(षु=ऐश्वर्य) तू ज्ञानरूप सच्चे ऐश्वर्यवाला है। ३. **सत्यप्रसवः वरुणः**=तू सत्य की प्रेरणा देनेवाला **असि**=है। **'ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः। छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु'**=वरुण असत्यवादी को अपने पाशों से बाँध डालता है। सत्यवादी ही वरुण के पाशों से बच पाता है। तू **सत्यौजाः**=सत्य के ओजवाला है। ११वें मन्त्र में दक्षिणा दिशा का द्रविण **'क्षत्र'**= बल ही कहा गया है। यह वरुण भी निर्द्वेषता के कारण तथा अपने को व्रतों के बन्धन में बाँधने के कारण ओजस्वी है। सच्चे ओजवाला है। ४. **इन्द्रः असि**=तू इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। १२वें मन्त्र में प्रतीची के आरोहण का अभिप्राय यही है कि यह इन्द्रियों को विषयों से व्यावृत्त करता है, इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनता है और **विशौजाः**=प्रजा के ओजवाला अथवा दूसरे शब्दों में ओजस्वी प्रजावाला होता है। इस दिशा का द्रविण १२वें मन्त्र में 'विट्'=प्रजा ही है। ५. **रुद्रोऽसि**=(रोरूयमाणो द्रवति) यह प्रभु का स्मरण करते हुए कार्यव्यापृत होता है। १३वें मन्त्र में इसे 'अनुष्टप्'=प्रतिक्षण प्रभु का स्तवन करनेवाला कहा गया है। इसी कारण यह **'सुशेवः'**=उत्तम कल्याणवाला होता है। ६. अन्त में यह **इन्द्रस्य वज्रोऽसि**=उस प्रभु के वज्रवाला है। प्रभु ही इसके वज्र हैं। १४वें मन्त्र में इसी वज्र से नमुचि नामक असुर के शिरश्छेदन का उल्लेख है। यह प्रभु को ही अपना वज्र बनाता है, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि यह निकम्मा हो जाता है। स्वयं अकर्मण्य न होकर

बहुकार=यह खूब ही करनेवाला होता है, **श्रेयस्कर**=शुभ कार्यों को करनेवाला होता है। **भूयस्कर**=निरन्तर उत्तम क्रियाओं में लगा रहता है। **तेन**=उससे, क्योंकि मैं कर्मव्यापृत हूँ और प्रभु का नाम-स्मरण कर रहा हूँ, अतः **मे रध्य**=मेरे शत्रुओं को मेरे वशीभूत कीजिए। सब शत्रुओं को अभिभूत करके मैं सचमुच 'अभिभूः' बनूँ।

भावार्थ—मैं ज्ञानी बनूँ, सत्य के ओजवाला होऊँ, ओजस्वी प्रजावाला तथा उत्तम कल्याण को प्राप्त करनेवाला बनूँ। प्रभु ही मेरे वज्र हों। मैं क्रियाशील रहता हुआ सब शत्रुओं को अपने वश में कर सकूँ।

ऋषिः—शुनःशेपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराडार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

सजातों में मध्यमेष्ठ

अग्निः पृथुर्धर्मणस्पतिर्जुषाणोऽअग्निः पृथुर्धर्मणस्पतिराज्यस्य वेतु स्वाहा। स्वाहाकृताः सूर्यस्य रश्मिभिर्यतध्वꣳसजातानां मध्यमेष्ठ्याय॥२९॥

गत मन्त्र का 'अभिभूः'=सब शत्रुओं का अभिभव करनेवाला १. **अग्निः**=निरन्तर आगे बढ़ता है। २. **पृथुः**=(प्रथ विस्तारे) अपनी शक्तियों का विस्तार करता है। ३. **धर्मणः पतिः**=सदा धर्म का रक्षक होता है। ४. **जुषाणः**=अपने धर्म का प्रीतिपूर्वक सेवन करता है। ४. यह 'अग्नि, पृथु व धर्मणस्पति' **आज्यस्य**=घृत का **वेतु**=पान करे। 'घृतमायुः' इस वाक्य में घृत को उत्तम जीवन का कारण कहा गया है। अथवा 'घृत' का अभिप्राय 'क्षरण व दीप्ति' है। यह मलों का क्षरण करनेवाला हो और दीप्ति प्राप्त करे। ५. इसके लिए यह **स्वाहा**=स्वार्थ का त्याग करनेवाला हो। ६. इन स्वार्थ-त्याग करनेवालों से कहते हैं कि हे **स्वाहाकृताः**=स्वार्थ-त्याग करनेवालो! तुम **सूर्यस्य रश्मिभिः**=सूर्य-किरणों के साथ **यतध्वम्**=यत्नशील बनो। सूर्योदय के साथ ही कर्त्तव्य-कर्मों में व्यापृत हो जाओ और जब तक ये किरणें रहती हैं, अर्थात् सूर्यास्त तक कर्मों में लगे रहो। ३. **सजातानाम्**=समानरूप से उत्पन्न हुए लोगों में **मध्यमेष्ठ्याय**=मध्यम स्थान में अवस्थित होने के लिए यही मार्ग है। जैसे राजा केन्द्र में अवस्थित होता है और मन्त्रिवर्ग उसके दायें-बायें स्थित होते हैं, उसी प्रकार यह सूर्य-किरणों के साथ कार्य-व्यापृत व्यक्ति अपने सजातों के मध्य-स्थान में स्थित होता है, अर्थात् अपने सजातों में श्रेष्ठ बनता है।

भावार्थ—हम 'अग्नि-पृथु-धर्मणस्पति' बनकर मलों का क्षरण करें और दीप्ति प्राप्त करें। स्वार्थ की भावना से ऊपर उठकर निरन्तर क्रिया में लगे रहें और इस प्रकार अपने सजातों में श्रेष्ठ बनें।

ऋषिः—शुनःशेपः। **देवता**—सवित्रादिमन्त्रोक्ताः। **छन्दः**—भुरिग्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

देवतया-प्रसूतः

सवित्रा प्रसवित्रा सरस्वत्या वाचा त्वष्ट्रा रूपैः पूष्णा पशुभिरिन्द्रेणास्मे बृहस्पतिना ब्रह्मणा वरुणेनौजसाऽग्निना तेजसा सोमेन राज्ञा विष्णुना दशम्या देवतया प्रसूतः प्रसर्पामि॥३०॥

इस मन्त्र का मुख्य वाक्य यह है कि **देवतया**=देवता से **प्रसूतः**=(प्रेरितः) प्रेरित हुआ-हुआ **प्रसर्पामि**=मैं अपनी इस जीवन-यात्रा में आगे और आगे बढ़ता हूँ। 'किन-किन देवताओं से और किस-किस दृष्टिकोण से प्रेरित हुआ-हुआ', इस प्रश्न का उत्तर निम्न

वाक्यों में द्रष्टव्य है–१. **सवित्रा**=सविता देव से, सूर्य से **प्रसवित्रा**=प्रकृष्ट प्रेरणा के दृष्टिकोण से प्रेरित हुआ-हुआ मैं आगे और आगे चलता हूँ। सूर्य मुझे तीन वाक्यों में यह उत्कृष्ट प्रेरणा दे रहा है कि (क) मेरी तरह आगे और आगे बढ़ते चलो, (ख) स्तुति-निन्दा से विचलित न होओ (ग) तुम्हारी सब क्रियाएँ बिना पक्षपात के हों। मैं राजा व रंक दोनों के भवनों व झोंपड़ों में समानरूप से प्रकाश प्राप्त कराता हूँ। तूने भी बिना भेदभाव के अपना व्यवहार करना। २. **सरस्वत्या**=विद्या की अधिदेवता सरस्वती से **वाचा**=वाणी के दृष्टिकोण से, ज्ञान की वाणी के हेतु से प्रेरित हुआ-हुआ मैं चलता हूँ। सरस्वती की प्रेरणा यही है कि कण-कण ज्ञानसंग्रह करके तथा एक-एक क्षण का उपयोग करते हुए तूने जीवन-यात्रा में चलना। ३. **त्वष्ट्रा**=त्वष्टा से **रूपैः**=रूपों के दृष्टिकोण से प्रेरित हुआ-हुआ मैं चलता हूँ। त्वष्टा देवशिल्पी है, यह गर्भस्थ बालक के अङ्ग-प्रत्यङ्ग को सुरूप बनाता है। यह यही प्रेरणा देता है कि अपने स्वास्थ्य का पूर्ण ध्यान करते हुए उत्तम रूपवाले बने रहना। हम स्वस्थ रहें और उत्तम रूपवाले बने रहें। ४. **पूषणा**=पूषादेवता से **पशुभिः**=पशुओं के दृष्टिकोण से प्रेरित हुआ-हुआ मैं चलता हूँ। पोषण की देवता 'पूषा' है। यह एक ही बात कहती है कि घर में गौ आदि पशुओं को अवश्य रखना। गौ के बिना सबका समुचित पोषण सम्भव नहीं। गौ ही दुग्धादि से समुचित पोषण करती हुई हमें 'वसु, रुद्र व आदित्य' बनाती है। ५. **इन्द्रेण**=परमैश्वर्यशाली प्रभु से, देवराट् से, **अस्मे**='हमारा ही बने रहना' इस प्रकार प्रेरणा लेता हुआ मैं जीवन-यात्रा में चलता हूँ। प्रभु कहते हैं कि संसार में विषयों में उलझकर हमें भुला न देना। हम संसार में रहें, पर प्रभु को भूल न जाएँ। ६. **बृहस्पतिना**=सर्वोच्च दिशा के, ऊर्ध्वा के, अधिपति बृहस्पति से **ब्रह्मणा**=बड़ा बनने के दृष्टिकोण से प्रेरित हुआ-हुआ मैं चलता हूँ। बृहस्पति यही कहते हैं कि संसार में बड़ा बनने का प्रयत्न करना, कोई-न-कोई निर्माण का कार्य अवश्य करना–यही ब्रह्म बनने का मार्ग है। ब्रह्मा (creator) निर्माता है। ७. **वरुणेन**=वरुणदेव से **ओजसा**=ओजस्वी बनने के हेतु से प्रेरित हुआ-हुआ मैं चलता हूँ। वरुण देव मुझे यही कह रहे हैं कि द्वेष का निवारण करना, व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधना, जिससे तुम ओजस्वी बन सको। द्वेषाग्नि में जलता हुआ अनियन्त्रित जीवनवाला व्यक्ति ओजस्वी नहीं होता। ८. **अग्निना**=अग्निदेव से **तेजसा**=तेज के दृष्टिकोण से प्रेरित हुआ-हुआ मैं चलता हूँ। अग्नि मुझे यही कह रही है कि जैसे मैं अपने तेज से सब मलों को भस्म कर देती हूँ, उसी प्रकार तूने सब मलों का दहन करते हुए संसार में आगे बढ़ना। ९. **सोमेन**=सोमदेवता से **राज्ञा**=(राजृ दीप्तौ) दीप्त, यशस्वी (glorious) जीवन बिताने के लिए प्रेरित हुआ-हुआ मैं जीवन-यात्रा में आगे बढ़ता हूँ। सोम मानो मुझे यही कह रहा है कि मेरी रक्षा करते हुए स्वस्थ-शरीर, निर्मल-मन व तीव्र बुद्धिवाला होकर उज्ज्वल जीवनवाला बनना (सोम=वीर्य)। इस उज्ज्वल जीवन में सौम्यता हो, उग्रता न हो। १०. अब **दशम्या**=दशमी देवता **विष्णुना** =विष्णु से प्रेरित हुआ-हुआ मैं सब व्यवहार करता हूँ। इस देवता की प्रेरणा यही है कि 'विष् व्याप्तौ' व्यापक दृष्टिकोणवाला बनना, उदार हृदयवाला बनना। संकुचित मनोवृत्तिवाला न बन जाना। तेरा सारा व्यवहार विशालता, उदारता को लिये हुए हो। **'उदारं धर्ममित्याहुः'**=यह उदारता ही धर्म है।

भावार्थ–हमारा जीवन देवों के आशीर्वाद से प्रेरणा लेकर चले। प्रेरणा यह है–**सूर्य**–आगे बढ़ो, स्तुति-निन्दा से विचलित न होओ, बिना पक्षपात के तुम्हारा व्यवहार हो। **सरस्वती**–अधिक-से-अधिक ज्ञानवाणियों का उपादान करना। **त्वष्टा**–स्वास्थ्य से सुरूप रहना। **पूषा**–घर में गौ अवश्य रखनी। गौ का स्थान कुत्ता न ले-ले। **इन्द्र**–प्रभु का ही बने

रहना। **बृहस्पति**—बड़ा बनना। **वरुण**—ओजस्वी बनना। **अग्नि**—तेजस्वी होना। **सोम**—यशस्वी होना। **विष्णु**—उदार बनना।

ऋषिः—शुनःशेपः। देवता—क्षत्रपतिः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

प्रभु का सतत मित्र

अश्विभ्यां पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्वेन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व।
वायुः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ्क्सोमो अतिस्रुतः। इन्द्रस्य युज्यः सखा॥३१॥

१. गत मन्त्र के अनुसार देवों से प्रेरणा प्राप्त करके जब हम अपनी जीवन-यात्रा में चलेंगे तो यात्रा के अन्तिम प्रयाण=पड़ाव तक पहुँचेंगे। यह अन्तिम प्रयाण प्रस्तुत मन्त्र की समाप्ति पर 'इन्द्रस्य युज्यः सख़ा' इन शब्दों में कहा गया है। हे जीव! अब तो तू उस **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली, सर्वशक्तिमान् प्रभु का **युज्यः** =सदा साथ रहनेवाला **सखा**=मित्र हो गया है। २. ऐसा बनने के लिए तू **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के लिए **पच्यस्य** =अपना परिपाक कर। प्राणापान की साधना में अपने को परिपक्व कर। प्राणायाम के दैनन्दिन अभ्यास से तू इन्हें अपने वश में करनेवाला बन। ३. **सरस्वत्यै**=विद्या की अधिदेवता के लिए **पच्यस्व**=तू अपना परिपाक कर। ज्ञानाग्नि में अपने को परिपक्व करके वैदुष्य प्राप्त कर। ४. इस प्रकार प्राण व ज्ञान की अग्नि में अपने को परिपक्व करता हुआ तू **सुत्राम्णे**= अत्यन्त उत्तम रक्षक **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यवान्, सर्वशत्रुसंहारक प्रभु के लिए **पच्यस्व**=परिपक्व बन। प्राण-साधना और ज्ञान-प्राप्ति ही तुझे प्रभु-प्राप्ति-क्षम करेंगी। ५. प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर चलता हुआ तू **वायुः**=(वा गतिगन्धनयोः) गति के द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाला होगा। क्रियाशील बना रहकर तू अपने में मलिनता को न आने देगा। ६. और वस्तुतः **पवित्रेण पूतः**=तू ज्ञान से निरन्तर पवित्र किया जा रहा होगा। ज्ञानाग्नि तेरी सब रागद्वेषादि मलिनताओं को भस्म कर रही होगी। इन मलिनताओं के दूर हो जाने पर ७. **प्रत्यङ् सोमः**=तू अपने अन्दर उस **सोम** =शान्तात्मावाला होगा (You will realise the God within)। तुझे हृदयस्थ प्रभु के दर्शन होंगे। ८. **अतिस्रुतः** =(स्रु गतौ) ब्रह्मनिष्ठ होकर तू अतिशयेन क्रियाशील होगा। तेरा जीवन अकर्मण्य न होगा। और ९. तू **इन्द्रस्य युज्यः सखा**=उस प्रभु का सतत साथ रहनेवाला मित्र बनेगा।

भावार्थ—प्राण-साधना व ज्ञान-प्राप्ति मुझे उस सोम का सतत सखा बनने में समर्थ करें।

ऋषिः—शुनःशेपः। देवता—क्षत्रपतिः। छन्दः—निचृद्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

प्रभु-प्राप्ति की यात्रा

कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय।
इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमऽउक्तिं यजन्ति।
उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णे॥३२॥

१. गत मन्त्र में प्रभु-प्राप्ति के लिए प्राण-साधना व ज्ञान-प्राप्ति का उल्लेख किया था। उसी प्रसङ्ग में कहते हैं कि **कुवित्**=ख़ूब और **अङ्ग**=शीघ्र ही **यवमन्तः**=जौ के खेतवाले **यवम्**=जौ को **चित्**=निश्चय से **यथा**=जैसे **अनुपूर्वम्**=क्रमशः **वियूय**=पृथक् करके **दान्ति**=काटते हैं, तीन-चार दण्डों (stalks=डण्ठलों) को बायें हाथ में पकड़कर

दायें हाथ से दराँती द्वारा काटते जाते हैं, इसी प्रकार ये आत्म-जिज्ञासु लोग भी एक-एक करके कोशों को पृथक् करते जाते हैं और अन्त में सारी मूँज के अलग हो जोने पर जैसे इषिका (सींक) के दर्शन होते हैं उसी प्रकार सब कोशों से ऊपर उठ जाने पर अन्तःस्थित आत्म-तत्त्व का दर्शन होता है। २. इन आत्म-जिज्ञासुओं में कोई अन्नमयकोश को पृथक् करने में लगा है, कोई प्राणमयकोश को अलग कर रहा है। कोई एक पग और आगे बढ़कर मनोमयकोश तक जा पहुँचा है। एक-आध विज्ञानमयकोश तक पहुँच गया है और आनन्दमय कोश पर पहुँचने के लिए प्रयत्नशील है।

हे प्रभो! **इह इह**=उस-उस स्थान पर पहुँचे हुए **एषाम्**=इन आत्म-जिज्ञासुओं की **भोजनानि**=(भुज=पालन) पालन-व्यवस्थाओं को **कृणुहि**=आप ही करने की कृपा कीजिए। आपसे पालित व सुरक्षित होकर ही ये आगे बढ़ पाएँगे। हे प्रभो! आपने ही इन सबका पालन करना है **ये**=जो **बर्हिषः**=उस-उस कोश का उद्बर्हण करनेवाले उपासक **नमः उक्तिम्**=नमन के कथन से **यजन्ति**=आपकी उपासना करते हैं। ३. हे साधक! **उपयामगृहीतः असि**=तू उपासना द्वारा यम-नियमों का स्वीकार करनेवाला बना है। **अश्विभ्यां त्वा**=प्राणापान की साधना के लिए तुझे प्रेरित करता हूँ। **सरस्वत्यै त्वा**=ज्ञान की देवता के आराधन के लिए तुझे प्रेरित करता हूँ। **त्वा**=तुझे **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु-प्राप्ति के लिए प्रेरित करता हूँ, जो **सुत्राम्णे**=सबका उत्तम त्राण करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम एक-एक कोश से ऊपर उठते हुए आत्म-तत्त्व का दर्शन करनेवाले बनें। उपयामगृहीत बनें। प्राणापान की साधना करें, ज्ञान-प्राप्तिवाले हों।

ऋषिः—शुनःशेपः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

पति-पत्नी (आत्मा+परमात्मा)

युवꣳसुराममश्विना नमुचावासुरे सचा।
विपिपाना शुभस्पतीऽइन्द्रं कर्मस्वावतम्॥३३॥

१. जब जीवात्मा परमात्मा से सम्पर्क स्थापित कर लेता है तब प्रभु पति हैं जीवात्मा पत्नी है। उस समय **युवम्**=तुम दोनों **अश्विना**=(अश् व्याप्तौ) कर्मों में व्याप्त होनेवाले, **आसुरे नमुचा**=असुरों के प्रधान अहंकार (न+मुच्) के संहार के निमित्त **सचा**=मेलवाले **सुरामम्**=उत्तम रमणीय सोम को (सुरमणीयम्) **विपिपाना**=विशेषरूप से पीते हुए **शुभस्पती**=शुभ कार्यों के रक्षक होते हुए **इन्द्रम्**=इन्द्र को **कर्मसु**=कर्मों के करने के निमित्त **आवतम्**=पालित करो, अर्थात् इन्द्र को स्वकर्मक्षम बनाओ। २. परमात्मा व जीवात्मा पति-पत्नी के समान हैं। दोनों अश्विना=कर्मों में व्याप्त रहनेवाले हैं। प्रयत्न उनका गुण है। प्रभु के कर्म सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति व प्रलयरूप हैं। जीव के कर्म ज्ञानोपार्जन, सन्तान-पालन, आत्म-दर्शन व ज्ञान-प्रसार आदि हैं। ३. परमात्मा अहंकार-शून्य है। जीव में अल्पज्ञता के कारण अहंकार आ जाता है, परन्तु जब यह जीव प्रभु के सम्पर्क में आता है तब अहंकार को जीत लेता है। उसी समय अन्य वासनाओं के विजय से यह सोम के पान में भी समर्थ होता है—वीर्य-रक्षा कर पाता है। इस सोमपान का परिणाम यह होता है कि यह शुभ कार्यों में प्रवृत्त होता है, अशुभ कर्मों का त्याग कर देता है। ४. इस सोमपान से उसकी सब इन्द्रियों की शक्ति का वर्धन होता है और वह इन्द्र स्वकर्मक्षम बनता है।

भावार्थ—परमात्मा के सम्पर्क से हमारा अहंकार नष्ट हो। हम सोम का पान करें

और शुभ कार्यों में प्रवृत्त रहें।

ऋषिः—शुनःशेपः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

प्राणापान का रक्षक

पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दꣳसनाभिः।
यत्सुरामं व्यपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक्॥३४॥

१. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **इव पितरौ**=जैसे माता-पिता **पुत्रम्**=पुत्र को **अवथुः**=रक्षित करते हैं, इसी प्रकार **काव्यैः**=कवि-कर्मों से, मन्त्र-दर्शनों से, अर्थात् तत्त्व-ज्ञान की प्रतिपादिका वाणियों से तथा **दंसनाभिः**=उत्तम कर्मों से **उभा अश्विना**=ये दोनों प्राणापान **अवथुः**=तेरी रक्षा करते हैं। प्राण-साधना से जहाँ इन्द्रियदोष दूर होकर अपवित्र कर्म नहीं होते वहाँ बुद्धि तीव्र होकर सूक्ष्म-तत्त्वों के ज्ञानवाली भी होती है। २. इस प्राण-साधना से सोम की भी शरीर में ऊर्ध्व गति होती है। हे इन्द्र! **यत्**=जब तू **सुरामम्**=सुरमणीय इस सोम को **व्यपिबः**=पीता है, जब इसका अपव्यय न होने देकर तू इसे शरीर में ही सुरक्षित करता है तब **शचीभिः**=उत्तम प्रज्ञानों व कर्मों से **सरस्वती**=यह विद्या की अधिदेवता हे **मघवन्**=ज्ञानैश्वर्य-सम्पन्न तथा (मघ=यज्ञ) यज्ञमय जीवनवाले जीव! **त्वा**=तुझे **अभिष्णक्**=उपसेवित करती है। (निणाज् उपसेवायाम्)। ३. यह प्रज्ञान व यज्ञात्मक कर्म ही वे दो पंख हैं, जिनसे जीवरूप सुपर्ण उस प्रभु-रूप सुपर्ण को प्राप्त करता है। सुपर्ण को सुपर्ण बनकर ही पाया जा सकता है, अतः हम ज्ञान व यज्ञकर्म रूप सुपर्णोंवाले बनें और इसके लिए प्राण-साधना करें।

भावार्थ—प्राण-साधना से हम तत्त्व-ज्ञान व यज्ञात्मक कर्मोंवाले बनें, यही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है।

॥ इति दशमोऽध्यायः सम्पूर्णः॥